सम्पूर्ण मूत्रवह संस्थान एवं सम्बन्धित अङ्गों-उपाङ्गों के रोगों के
लक्षण, निदान, सापेक्ष-निदान एवं चिकित्सा का
विस्तृत साङ्गोपाङ्ग विवेचन

लेखक एवं संकलनकर्त्ता

आयु. वाच. कवि. गिरिधारीलाल मिश्र

ए एम०बी०एम०, एम०ए०एम० एस०, एम०एफ़०ए० , साहित्य रत्न, साहित्यालंकार
अधीक्षक चिकित्सक—श्री केदारमल स्मारक धर्मार्थ आयुर्वेद चिकित्सालय,
तेजपुर (असम)—७८४ ००१

—: प्रकाशक :—

निर्मल आयुर्वेद संस्थान, अलीगढ़ ।

प्रथमावृत्ति
१९८३

अपने कृपालु पाठकों की सेवा में यह "मूत्र रोग चिकित्सा" प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आजकल गलत खान-पान एवं आचार व्यवहार के कारण बहुत से व्यक्ति मूत्रवह संस्थान के रोगों से ग्रसित होते हैं। बहुत से व्यक्ति तो शर्म के कारण प्रारम्भ में ही चिकित्सक के पास न जाकर जब रोग अपनी उग्रावस्था में पहुँच जाता है तब चिकित्सक के पास आते हैं और ऐसी स्थिति देखकर चिकित्सक भी किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है और रोगी को किसी अच्छे चिकित्सालय में जाकर चिकित्सा कराने का परामर्श दे देता है अर्थात् स्वत: ही आयुर्वेद से चिकित्सा न कर उसे ऐलोपैथी की शरण में भेज देता है और इस कारण से आयुर्वेद को उपहास का पात्र बनाता है। यह स्थिति मैंने प्रत्यक्षत: कई चिकित्सकों के पास देखी और इस दिशा मे प्रयास करने की प्रेरणा हुई। सन् १९८१ में 'धन्वन्तरि' का एक लघु विशेषांक "मुख एवं कण्ठ रोग चिकित्साङ्क" आचार्य श्री गिरिधारी लाल जी मिश्र के सम्पादकत्व मे प्रकाशित किया था और वैद्य समाज ने उसे बहुत सराहा था। उसी से प्रभावित होकर इस प्रस्तुत "मूत्र रोग चिकित्सा" का भार आपको सौंपने का निर्णय किया तथा हमें प्रसन्नता है कि श्री मिश्र जी ने अपने इस उत्तरदायित्व का अत्यन्त कुशलता एवं तत्परता से निर्वाह किया है। इसे प्रकाशित करने का पूर्णत: निर्णय जौलाई १९८२ में किया गया था और उसी समय अपने लेखक मण्डल से सम्पर्क स्थापित किया गया था तथा आपने अपना सभी कार्य पूर्ण करके नवम्बर मास मे हमें भेज दिया। इतनी शीघ्रता में सम्पूर्ण मैटर तैयार करना एक दुरूह कार्य है जिसमें श्री मिश्र जी पूर्णत: सफल हुये हैं और एतदर्थ आप बधाई के पात्र हैं। मेरी दृष्टि में यह "मूत्र रोग चिकित्सा" अत्यन्त उत्कृष्ट सामिग्री से एव अधिकाधिक चित्रों से परिपूर्ण है लेकिन हम अपने प्रयासों में कहां तक सफल हुये हैं इसका अन्तिम निर्णय तो पाठकों पर ही निर्भर करता है। आशा है कि हमारे वे पाठक जो मूत्र संस्थान से सम्बन्धित रोग के रोगियों को एलोपैथिक अस्पतालों मे भेज देते हैं अब उनकी आयुर्वेद द्वारा ही चिकित्सा करने को अग्रसर होंगे।

"मूत्र रोग चिकित्सा" के सम्बन्ध में कुछ हमारे लेखक बन्धुओं का विचार था कि प्रमेह, मधुमेह, पौरुष ग्रन्थि शोथ आदि रोगों की गणना मूत्र रोगों में नहीं की जानी चाहिये, यह भिन्न रोग हैं। लेकिन जब रोगी चिकित्सक के पास आता है तो वह आकर इन रोगों से ग्रस्त होने पर भी "स्वयं को मूत्र-विकार से ग्रस्त" बतलाता है तथा इनके लक्षण भी मूत्र विकारों सदृश होते हैं अत: इन रोगों का समावेश भी इसमे करना उचित लगा।

इस "मूत्र रोग चिकित्सा" में हमने ऐसे शल्य कर्म आदि का विवेचन नहीं किया है जिन्हें कि एक विशेषज्ञ ही कर सकता है। हमारा प्रमुख लक्ष्य तो साधारण चिकित्सक ही है तथा उसके समक्ष वही चिकित्सा प्रस्तुत करना हमारा ध्येय है जो उसकी पहुंच एवं समझ से परे न हो। विज्ञान अनन्त है। विज्ञ एवं ज्ञानपिपासुओं को स्नातकोत्तरीय चिकित्सा पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए।

इस "मूत्र रोग चिकित्सा" की सम्पूर्ण सामिग्री श्री डा० गिरिधारी लाल जी मिश्र ने नवम्बर १९८२ में ही भेज दी थी लेकिन उसमें चित्रों की विषयानुसार व्यवस्था करना भी एक दुरूह कार्य था। आपसे सम्पूर्ण सामिग्री प्राप्त होने पर मैंने इसको पढ़ा तथा अनेकों पुस्तकों से चित्र एकत्रित कर उन्हें बनवाया। इसमें अनेकों चित्रों का भी दिया जाना अत्यावश्यक था लेकिन इसे छापने वाले प्रेस की राय थी कि एकहरे चित्र आर्ट

पेपर पर तो उत्तम आयेंगे-इस साधारण कागज पर तो स्पष्ट न छप कर काले-काले धब्बे मात्र पाठकों की समझ में कुछ का कुछ आयेगा। आर्ट पेपर का मूल्य इस समय १८-२० गुना है और उसकी छपाई दर भी अधिक है। इतना अधिक व्यय करना अपनी सामर्थ्य से बाहर होने के कारण उन्हें छापने का विचार ही त्याग देना पड़ा। यद्यपि मात्र ५ एक्सरे चित्रों को मुख पृष्ठ पर छापा है क्योंकि वह अपेक्षाकृत उत्तम कागज है।

इस "मूत्र रोग चिकित्सा" के प्रकाशन में जिनसे भी सहयोग मिला है उनका अत्यन्त आभारी हूं। श्री कवि० गिरिधारी लाल जी मिश्र का अत्यन्त आभारी हूं जिन्होंने अल्पकाल में ही एक विशाल कार्य को किया है। इसमें अधिकांशतः लेखन भी आपने ही किया है जोकि आपकी अद्भुत लेखन-कर्मठता एवं विद्वता का द्योतक है। आपका जीवन परिचय अन्यत्र प्रकाशित है उससे भी आपकी विद्वता का परिचय प्राप्त होगा। कार्य में कठिनाई रही तो असम आन्दोलन के कारण वहां की संचार व्यवस्था का ठप्प होजाना। वह तो भगवान धन्वन्तरि की कृपा रही कि यह मैटर हमे नवम्बर ८२ में प्राप्त हो गया अन्यथा उसके पश्चात तो असम आन्दोलन के कारण यह स्थिति रही कि श्री मिश्र जी को हमारा पत्र १५-२० दिनों में मिलता और उसका उत्तर मिश्र जी कलकत्ता आते जाते किसी आदमी द्वारा कलकत्ता के डाकघर से भेजते क्योंकि असम के डाकघर बन्द थे। इसके मुद्रण काल में जो भी समस्यायें आई उनके विषय में समय पर ही श्री मिश्र जी से सम्पर्क नहीं हो सका और मुझे स्वविवेक से ही उनका निवारण करना पड़ा। एक बार ऐसा प्रतीत हुआ कि श्री मिश्र जी द्वारा भेजा गया मैटर कम रहेगा तो उनसे और लेख आदि भेजने की प्रार्थना की गई लेकिन जब कोई उत्तर १५-२० दिनों तक नहीं मिला तो संचार व्यवस्था के ठप्प होने के कारण हमारे बीच सम्पर्क नहीं हो रहा ऐसा भान हुआ। उस समय कुछ लेखों का मैंने स्वयं लेखन कर पूर्ति की। आशा है कि पाठकों को यह लेख सुरुचिपूर्ण प्रतीत होंगे तथा उनका ज्ञानवर्धन होगा। इस "मूत्र रोग चिकित्सा" मे अन्य जिन विद्वान लेखकों से सहयोग मिला है उन सभी का हृदय से आभारी हूं। अपने विद्वान लेखकों के बलबूते पर ही तो हम इतना उत्कृष्ट साहित्य आपको दे पाते हैं जिसका अन्य कोई विकल्प नहीं।

इस "मूत्र रोग चिकित्सा" में १५० से अधिक चित्र दिये गये हैं जिनमें से लगभग १०-१२ चित्रों का विषय के संदर्भ में आवश्यकता होने पर पुनः उपयोग किया गया है। लेखकों के फोटो चित्र तथा लेखों के शीर्षकों के चित्र इस संख्या में सम्मिलित नही है। सम्भवतः इतने अधिक चित्र हमारे द्वारा पहली बार दिये गये हैं और इनका श्रेय जाता है सफल चित्रकार श्री मदनमोहन वार्ष्णेय को। एतदर्थ हम आपके अत्यन्त आभारी हैं।

इसके अतिरिक्त अपने कम्पोजीटर सर्वश्री पन्नालाल, पं० अनोखेलाल, अपने कर्मचारी सर्वश्री राकेश कुमार शर्मा, राजेशकुमार शर्मा, किशनलाल शर्मा का आभारी हूं जिनका कि सम्पूर्ण सहयोग मिला है। आदर्श प्रेस, अलीगढ़ का आभारी हूं जहां कि इसका मुद्रण साफ-सुथरा एवं शीघ्रता के साथ हुआ है।

भवदीय

२०-५-८३
गुलजार नगर, रामघाट रोड,
अलीगढ़—२०२००१.

निर्मल आयुर्वेद संस्थान.
डी-७८ औद्योगिक नगर, अलीगढ़

—✤✶✤—

संक्षिप्त परिचय

—:⚘:—
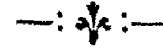
सीकर (राजस्थान) के नेछवा नामक स्थान पर जन्मे सुदूर पूर्वाञ्चल में आयुर्वेद चिकित्सा द्वारा यश अर्जन करने वाले वैद्य गिरिधारी लाल मिश्र अपने पिता स्व. पं० राधाकृष्ण मिश्र की सुयोग्य संतति के रूप में यशोविस्तार में संलीन हैं। आप असम प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन स्नातक सङ्घ तथा अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन आयुर्वेद स्नातक सङ्घ के पूर्वोत्तर भारत के अध्यक्ष तथा अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के असम प्रान्तीय सङ्गठन मन्त्री हैं। आप जहां सुयोग्य वैद्य हैं वहीं वैद्यकीय विषयो पर उत्तमोत्तम लेख लिखने मे सिद्धहस्त हैं। निर्जल मरुभूमि में जन्मा यह वृक्ष असम की औदक और आनूप जलवायु में मां ब्रह्मपुत्र का पावन नीर पाकर हरित-भरित पल्लवित और पुष्पित होकर रसीले फल दे रहा है। असम जैसे सुदूर पूर्वाञ्चल में आयुर्वेद प्रदीप जलाकर समाज के स्वास्थ्य संरक्षण मे कविराज मिश्र एक सर्व हितकारी व्यक्तित्व वाले, प्रखर पाण्डित्य के धनी हैं। आपकी शैली अत्यन्त सरल तथा मौलिक है। आयुर्वेद को आप से बड़ी-२ आशायें हैं।

नाम—कवि० डा० गिरिधारीलाल मिश्र, पुत्र स्व० पं. राधाकृष्ण मिश्र

जन्म स्थान—नेछवा (सीकर), जन्म तिथि—६।८।१९४६

स्थायी पता—तिवाडी भवन (गंगा बक्स जी तिवाडी का मकान), बिहारी मार्ग-सीकर (राज०)

दत्तक पुत्र - अपने नाना जी स्व० श्री गंगाबक्स जी तिवाडी (गुरु जी) के दत्तक पुत्र एवं उत्तराधिकारी

शैक्षणिक योग्यताएं— A. M. B. S., M. A. M. S., M. Sc. (A) आयुर्वेद वाचस्पति आयुर्वेदरत्न साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार, ज्योतिष विशारद, योगविशारद

चिकित्सानुभव—आयुर्वेद के प्रति जन्मजात अभिरुचि, वंशगत प्रभाव, विगत १५ वर्षो से चिकित्सा कार्य में संलग्न, जटिल एवं असाध्य रोगियो की चिकित्सा मे विशेष अभिरुचि एवं आशातीत सफलता, आयुर्वेदीय सूचीवेध (Injection) तथा सामान्य शल्यकर्म में सिद्ध हस्त।

विशेषज्ञ—स्त्री पुरुषों के समस्त प्रकार के गुप्तरोग, आमाशयिक व्रण (Peptic Ulcer) अश्मरी संग्रहणी नासार्श श्वास, चर्म रोग, श्वेत प्रदर, रक्तप्रदर, वन्ध्यत्व, पुंसवन संस्कार, अस्थिसन्धान, हृदयरोग, रक्तचाप आदि कई रोगों के संयुक्त चिकित्सक एवं अन्य समस्त चिकित्सा पद्धत्तियों की आशुकारी औषधियों एवं [illegible] आयुर्वेद मे आत्मसात् कर लेने के प्रबल समर्थक।

मूत्र रोग चिकित्सा

लेखनानुभव — धन्वन्तरि, सुधानिधि, आयुर्वेद विकास, महासम्मेलन पत्रिका आदि में विगत १५ वर्षों से सारगर्भित गवेषणात्मक लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

विशेष सम्पादक — धन्वन्तरि मुख एवं कण्ठ रोग चिकित्साङ्क १९८१
सुधानिधि श्वास रोग चिकित्सांक १९८०
सुधानिधि काम समस्या अङ्क (प्रथम भाग) १९८१

सम्मानित पद
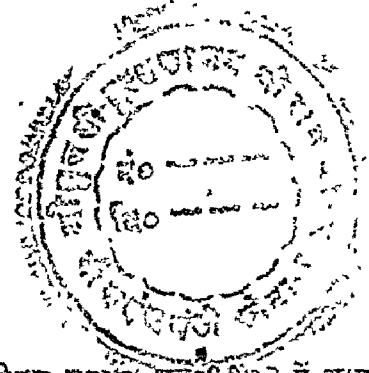
अन्तर्राष्ट्रीय—अन्तर्राष्ट्रीय आयुर्वेद सम्भाषा परिषद पटियाला में वक्ता
सदस्य—अन्तर्राष्ट्रीय महा सम्मेलन—एशियाई परम्परागत औषधियां

भारतीय — अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के सन् १९६५ से आजीवन सदस्य, सन् १९७२ में आगरा अधिवेशन में असम प्रान्तीय संगठन मन्त्री मनोनीत, सन् १९६५ में पाण्डिचेरी अधिवेशन में अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन के कार्यकारिणी सदस्य, सन् १९७७ के शिमला तथा १९८१ के जयपुर अधिवेशन में प्रांतीय संगठन मन्त्री मनोनीत किये गये। महासम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों की सम्भाषा परिषदों में सुपुष्ट वक्ता, अप्रतिम लेखक

उत्तर भारत-अध्यक्ष—असम नागालैण्ड, मेघालय मिजोरम मणिपुर त्रिपुरा अरुणाचल-प्रान्तों के अखिल भारतीय आयुर्वेद स्नातक संघ के अध्यक्ष

प्रान्तीय मन्त्री—असम राज्य आयुर्वेद महासभा गौहाटी (जो अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन—दिल्ली की अगभूत शाखा है)

प्रधान चिकित्सक—केदारमल मेमोरियल आयुर्वेदिक हास्पीटल, तेजपुर (असम)—यह पूर्वाञ्चल भारत का सुविशाल चिकित्सा केन्द्र है जो अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग, रसायनशाला, पैथोलोजी लेबोरेटरी, वनौषधि उद्यान, पुस्तकालय, योग तथा प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र आदि सभी विभागों से सुसज्जित जहां प्रतिदिन ५०० से अधिक रोगी चिकित्सार्थ आते है।

अन्य—युवक परिषद् तेजपुर के भूतपूर्व अध्यक्ष, चिन्मय मिशन के सह सचिव तथा जिला वैद्य सम्मेलन के संरक्षक, अन्य विविध संस्थाओं के अध्यक्ष एवं सचिव पद से अनेक बार सम्मानित। हंसमुख मिलनसार सेवाभावी, समाज सेवी, सफल चिकित्सक।

चिकित्सक—विगत १५ वर्षों से "कामये दुःख तप्तानाम् प्राणिनामार्ति नाशनम्" के पुण्य लक्ष्य को लेकर विविध चिकित्सा पद्धतियों के प्रति अपने सुलझे हुए मस्तिष्क से 'विकारनामाऽकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन" द्वारा अल्पज्ञता पर लज्जित न होते हुए "सचैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो य. प्रयोचयेत्" की भावना से ओत प्रोत "तस्मात् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः" के निर्देशन में आधुनिक पैथोलाजी कार्डियोलाजी, रेडियोलाजी तथा ज्योतिष, योग, स्वर विज्ञान की विविध चिकित्सोपयोगी विधियों का चिकित्सा में प्रयोग करते हुए "तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते" के अनुसार अन्य चिकित्सा पद्धतियों की उपादेय सामग्री को आयुर्वेद में आत्मसात् करते हुए एक "पूर्ण चिकित्सक (Complible physician) के रूप में रोगाकुल जनता जनार्दन की सेवा में—'या देवी सर्व भूतेषु बुद्धि रूपेण संस्थिता" स्वरूप जगदम्बार्पित बुद्धि से संलग्न एवं समर्पित हैं।

—दाऊदयाल गर्ग-सम्पादक 'धन्वन्तरि'

प्रस्तावना

विश्व स्वास्थ्य नियामक आयुर्वेद का पहला अध्याय ही दीर्घायुष्य प्राप्त करने के विचार से 'अथातो दीर्घ जीवतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः' (चरक) तथा आयुर्वेद विकास की योजनाओं 'आयुर्वेदोत्पत्ति व्याख्यास्यामः' (सुश्रुत) से प्रारम्भ होता है तथा उपरोक्त दोनों उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ऋषियों (Research scholars) ने जो ऋष्यर्चन (Research) अनन्तकाल पूर्व किया वह आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना सहस्रों वर्ष पूर्व था। उन्होंने 'रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च'—रोग तो मानव जीवन के श्रेय और स्वास्थ्य संहारक एवं अनन्य शत्रु हैं की उद्घोषणा कर 'आयुर्वेद पठिष्यामि नैरुज्याम शरीरिणाम्' शरीर को नीरोग रखने के लिये आयुर्वेद का प्रणयन किया तथा इसी उद्देश्य की पूर्ति में ही युग-युग से चिकित्सा वैज्ञानिक रोग पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हैं। इसीके फलस्वरूप आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिक भी रोग निवारणार्थ नित नये आविष्कार करने में साधनारत हैं।

प्राचीन आयुर्वेद सम्मेलन और W. H. O.—

आयुर्वेद मनीषों का सर्वप्रथम विश्व सम्मेलन विश्व के मानव मात्र को रोगरहित सुखमय दीर्घजीवन प्रदान करने हेतु नगाधिराज हिमालय पर हुआ था जिसमें प्रमुख ५० महर्षियों ने विश्व के कोने-कोने से भाग लिया था। आचार्य चरक ने उनके नाम लिखे हैं—अंगिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु, आत्रेय, गौतम, सांख्य, पुलस्त्य, नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव, मारकण्डेय, आश्वलायन, पारिक्षि, भिक्षु आत्रेय, भारद्वाज, कपिञ्जल, विश्वामित्र, अश्मरथ्य, भार्गव, च्यवन, अभिजित, गार्ग्य, शाण्डिल्य, कौण्डिल्य, वार्क्षि, देवल, गालव, सांस्कृत्य, वैजवापि, कौशिक, बादरायण, बडिश, शरलोमा, काप्य, कात्यायन, कांकायन, कैकशेय, धौम्य, मरीचिकाश्यप, शर्कराक्ष, हिरण्याक्ष, लोकाक्ष, पैंगि, शौनक, शाकुनेय, मैत्रेय, मैमतायनि, वैखानस, वालखिल्य तथा अन्य महर्षिगण। आज भी इन ऋषियों की परम्परा में पले लोग विद्यमान हैं। आज भी चीन में हिरण्याक्ष, यूरोप में शंकराक्ष, अफ्रीका में बालक्षिल; उत्तरी ध्रुव में लोकाक्ष; कैस्पियन सागर के तट प्रदेश में कश्यप; रूस, ईरान तथा अफगानिस्तान में कांकायन गोत्र वाले व्यक्ति मिलते हैं। अंगिरा, भारद्वाज, कश्यप, भृगु आदि गोत्रधारी इसके लेखक उन्हीं नामधन्य महर्षियों की सन्तान हैं जो अपने जीवन के सारभूत अनुभवों से प्रस्तुत 'मूत्ररोग चिकित्सा' को अलंकृत कर रहे हैं तथा स्वयं गर्ग गोत्रोत्पन्न 'धन्वन्तरि' की बागडोर अपने दृढ़ हाथों में सभाले हुये हैं।

भारद्वाज की इन्द्रलोक यात्रा—उक्त आयुर्वेद विश्व सम्मेलन में इन्द्र द्वारा आयुर्वेद की उच्च शिक्षा प्राप्त हेतु भेजा और भारद्वाज द्वारा इन्द्र से आयुर्वेद की उच्च शिक्षा प्राप्त कर इस लोक में आयुर्वेद का आगमन किया। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी चिकित्सा विज्ञान की प्रगति व चिकित्सा विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्ति हेतु विदेश जाना इसी भारद्वाजीय परम्परा के अन्तर्गत है। आज आयुर्वेदज्ञों के लिये देवलोक तक की दुष्कर कठिन यात्रा के समान ही कठिन कार्य है, आयुर्वेद की उन्नति एवं आयुर्वेद को समृद्ध करने के लिये आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के उपादेय साधनों का आयुर्वेदीयकरण कर आयुर्वेद में आत्मसात् कर लेना।

अल्मा–अता डिक्लेरेशन—प्राचीन ऋषि परम्परा की सम्भाषा-परिषदों के अनुरूप ही रूस के 'अल्मा अता' नामक स्थान पर सन् १९७८ के सितम्बर के दूसरे सप्ताह में विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.) तथा UNICEF (The United Nations International Children's Emergency Fund (UNICEF) के संयुक्त तत्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय प्राथमिक स्वास्थ्य रक्षा सम्मेलन हुआ था जिसमें डा० एच मलहर 'निदेशक'

मूत्र रोग चिकित्सा

W. H. O. तथा मिस्टर हेनरी आर लावेयुसी 'निदेशक' UNICEF ने सम्मिलित रूप से आह्वान किया है कि—हम लोगों को यह संकल्प लेना चाहिये कि सन् २००० की अवधि तक विश्व मानव को सामान्यतः स्वस्थ बनाया जाय। जिस सम्मेलन में यह आह्वान किया गया था उसमें विश्व के विभिन्न देशों के स्वास्थ्य विभागों के उच्चस्तरीय ७०० चिकित्सा विशेषज्ञों ने भाग लिया था तथा संकल्प को कार्यरूप में परिणित करने के निमित्त गठित समिति के अध्यक्ष रूस के स्वास्थ्य मन्त्री डा० बोरिस पेट्रोवस्की चुने गये तथा अन्य पांच उपाध्यक्षों में भारत के स्वास्थ्य मन्त्री भी पदेन सम्मिलित हैं।

परम्परागत चिकित्सा पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन—आस्ट्रेलिया में केनबरा विश्वविद्यालय के एशियन स्टडीज विभाग द्वारा आहूत प्रथम 'इन्टरनेशनल कान्फ्रेंस ऑन ट्रेडीशनल मेडीसिन' २ से ६ सितम्बर १९७९ में हुआ है जो संकेत है कि आधुनिक तीव्र जीवाणु विनाशक औषधियों के दुष्प्रभाव से बचने के लिये विश्व के चिकित्सा-विशेषज्ञ नैसर्गिक औषधियों से स्वास्थ्य लाभ में योगदान चाहते हैं। इस सम्मेलन में २८ राष्ट्रों के विद्वानों ने भाग लिया था जिसमें भारत के स्व० पं० शिव शर्मा, डा० उडुपा, डा० देश पांडे, डा० एल०वी० गुरु प्रमुख थे। आयुर्वेद को परम्परागत चिकित्सा पद्धति के रूप में स्थान देने से आयुर्वेदज्ञों को बड़ा रोष हुआ तथा भारत सरकार द्वारा भी आयुर्वेद के लिये ट्रेडीशनल (परम्परागत) शब्द का प्रयोग करने से रोष होना स्वाभाविक था क्योंकि जो आयुर्वेद विश्व चिकित्सा पद्धतियों का जनक एवं अनादिकाल से युगानुरूप प्रगतिशीलता से अग्रसर है, जिसके सिद्धांत इतने सार्वभौम हैं कि विश्व के चिकित्सा विज्ञान को अपने में आत्मसात् करने में समर्थ हैं उसके लिये ट्रेडीशनल शब्द निश्चय ही हीनता व लघुता का द्योतक था और यह प्रसन्नता का विषय है कि वैद्य समाज के विरोध पर सरकार को यह शब्द वापस ले लेना पड़ा। पर वैद्य समाज की इतिश्री इतने में ही नहीं है बल्कि हमारा कर्त्तव्य है कि हम आयुर्वेद को समुन्नत कर विश्व मानव को स्वास्थ्य हेतु दिशा निर्देशन करें और एतदर्थ हमें अपने उपेक्षित अङ्गों को पुष्ट करना होगा तथा सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धतियों की उपादेय उपलब्धियों को आयुर्वेद में आत्मसात् करना होगा।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में आयुर्वेद ग्रंथ चर्चा—

ब्रह्मा ने चारों वेदों की रचना कर पांचवां वेद आयुर्वेद का सृजन कर भास्कर को दिया और भास्कर के सोलह शिष्यों द्वारा आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। भास्कर की भास्कर संहिता, धन्वन्तरि का चिकित्सातत्व-विज्ञान, दिवोदास का चिकित्सादर्पण, काशीराज की चिकित्सा कौमुदी, अश्विनी कुमारों का चिकित्सासारतन्त्र, नकुल का वैद्यक सर्वस्व, सहदेव का व्याधि सिन्धुविमर्दन, यमराज का ज्ञानार्णव, च्यवन का जीवनदान, योगीराज जनक का वैद्य संदेह भंजन, जावालि का सर्वसार, जाजलि का वेदांगसार, पैलऋषि का निदान ग्रन्थ, करथ का सर्वधर, अगस्त्य का द्वैधानिर्णय तन्त्र—ये ग्रन्थ चिकित्सा शास्त्र के बीज स्वरूप, रोगनाश के मूलतत्व, बलाधानकारक, दिव्य सन्देशवाहक ज्ञान-विज्ञान के मन्त्रों द्वारा आयुर्वेद सागर से मथकर नवनीत के समान सारभूत आयुर्वेद के ग्रन्थ थे जो आज काल के गाल में समा जाने से अनुपलब्ध हैं। फिर भी शास्वतोऽयमायुर्वेदः का रव गूंज रहा है जो यह बतलाता है कि आयुर्वेद न ग्रन्थ परक है, न व्यक्ति परक। ग्रन्थों का निर्माण एक के बाद दूसरा होता जायेगा। वैज्ञानिक एक के बाद दूसरा आयेगा। वह अपने युग की पुकार सुनेगा। अपने अतीत से साधन प्राप्त कर नये भवन का निर्माण करेगा और उसी विचार धारा के अन्तर्गत पाठकों के हाथों में प्रस्तुत 'मूत्ररोग चिकित्सा' का संकलन युगानुरूप कृति है।

आयुर्वेद में मूत्ररोग—आयुर्वेदज्ञों की यह धारणा है कि आयुर्वेद में मूत्ररोगों व वृक्क रोगों का विशद विवेचन नहीं है—कारण कि ज्वर अतिसार अर्श यक्ष्मा शिर नेत्र कण्ठ कर्ण नासादि रोगाधिकार की तरह वृक्करोग परिचायक कोई अध्याय दृष्टिगोचर नहीं है किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आयुर्वेदज्ञ

मूत्र रोग चिकित्सा

वृक्कद्वय की रचना और क्रिया से अपरिचित थे। आयुर्वेदज्ञों को वृक्कद्वय क्रिया कलापों का पूर्ण ज्ञान था तथा उसका वर्णन भी उपलब्ध है पर आयुर्वेदीय सिद्धान्तानुसार उदाहरणार्थ प्रमेह शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रकर्षेण मेहति इति प्रमेहः' प्रमेह के इस व्यापक अर्थ में तथा प्रमेह के भेदों में प्रमेहोत्पादक कारण दोष दूष्य सम्प्राप्ति लक्षण उपद्रव आदि के व्यापक लक्षणों में आधुनिक वृक्क रोगों के सभी रोगों का समावेश हो जाता है। पर ऐलोपैथी द्वारा नामतः निर्दिष्ट तद्वत द्रव्यों की मूत्र में उपस्थिति आयुर्वेद की सारणी के अनुसार सान्द्रमेह इक्षुमेह पिष्टमेह लालामेह हरिद्रामेह मञ्जिष्ठमेह क्षारमेह नीलमेह लवणमेह आदि में कौन-कौन द्रव्य हैं तथा कौन-कौन दोष धातु दूष्य का मिश्रण मूत्र में उपस्थित है तथा उसकी उपस्थिति का कारण सम्प्राप्ति आदि क्या है ? इससे वैद्य समाज अनभिज्ञ सा ही है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत साहित्य एक प्रारम्भिक प्रयास मात्र है। इसका उत्तरदायित्व शिक्षण संस्थाओं पर ही है और घोर प्रयत्नसाध्य कार्य शिक्षण संस्थाओं द्वारा ही फलीभूत हो सकता है।

हम आयुर्वेद प्रवर्तक महर्षियों के ऋणि हैं जिन्होंने आयुर्वेद की आधारशिला सत्य, सनातन विश्वजनीन या सार्वभौम सिद्धान्तों पर रखकर सदैव आयुर्वेद की प्रगति का समर्थक तथा युगानुरूप बनाने का निर्देश दिया। एक तरफ जहाँ चिकित्सक की अल्पज्ञता प्रेम भाव से बचाने लिये - 'विकारनामाऽकुशलो न जिह्लीयात् कदाचन' कह निराशा में चिकित्सक को साहस प्रदान किया वहां दूसरी तरफ "तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रः विजानीयाच्चिकित्सकः" का निर्देशन देकर चिकित्सक के मार्ग को प्रशस्त किया। आचार्य पुनर्वसु आत्रेय का चरक संहिता का सारा व्याख्यान अल्पबुद्धि वालों के व्यवहारार्थ ही है। बुद्धिमानों को तो इस उपदेशामृत को आधार मानकर अनुमान और युक्ति के बल पर इसे विकसित करना चाहिए।

औषधि (Drug) वही उत्तम है जो आरोग्यता प्रदान कर सके। चिकित्सक वही श्रेष्ठ है जो रोगी को रोग मुक्त कर सके। इस सिद्धांत में लेशमात्र भी संकीर्णता नहीं है पर इस सिद्धांत को ढाल मान कर यदि आयुर्वेदज्ञ एलोपैथिक चिकित्सकों की नकल करने लगे जहां उदरशोधनार्थ एरण्ड तैल और त्रिफला ही पर्याप्त है वहां आगरौल दें, अमीवा व आमनाशक कुटज जैसी महौषधि को छोड़कर मेक्साफोर्म दें व जिन रोगों की आयुर्वेद में सर्वोत्कृष्ट बहुपरीक्षित औषधियां हैं वहां एलोपैथिक के संशयास्पद योगों का प्रयोग करें तो यह निश्चय ही उपहासास्पद है। अतः हमें पहले अपने घर में अपने शास्त्रों में ही उपाय खोजने होंगे तथा उपाय न दिखने पर ही दूसरे घर जाना चाहिए क्योंकि आयुर्वेद सदैव प्रगति का समर्थक रहा है तथा युगानुरूप सभ्यता के आदिम काल से आज तक अपनी सेवाएं दे रहा है।

वैदिक काल में (अथर्व वेद) विशेषतः काष्ठौषधियों द्वारा ही चिकित्सा की जाती थी—संहिताकाल (चरक सुश्रुत) में चिकित्सा के नये नये साधनों का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल (बौद्धकाल) में भगवान बुद्ध के द्वारा शल्य चिकित्सा पर सरकारी प्रतिबन्ध लगाकर तथा उसे 'आसुरी चिकित्सा' कहकर यद्यपि शल्य शास्त्र का अन्त कर डाला पर नागार्जुन द्वारा चिकित्सा जगत में 'रस विज्ञान' के आविष्कार से विशेष सुविधाएं प्रस्तुत कीं। मुस्लिम काल में भारतीय वैद्य यूनान देशों में आमन्त्रित होते थे तथा चोपचीनी, यवानी (अजवायन) के योगों से आयुर्वेद को अलंकृत किया। यूरोपियनों की संस्कृति के साथ भारत में नये रोग भी आये जिनका आयुर्वेद में वर्णन न था। आचार्य भावमिश्र ने फिरङ्ग रोग की आयुर्वेद में निदान-चिकित्सा लिखी।

अतः प्रस्तुत प्रयास भी महर्षियों का अनुकरण ही है। हिमालय की तलहटियों में व आधुनिक प्रयोगशालाओं में रोग मुक्ति का उपाय ढूढने वालों को जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ वह आयुर्वेद है। एतदर्थ हमने जहां से भी जो कुछ सामग्री संकलित की है हृदय से आभारी हैं। अपने सहयोगी लेखक बन्धुओं के आज तक के प्राप्त सभी लेखों का समावेश करते हुए उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ हैं।

मूत्र रोग चिकित्सा
की
विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड—आर्ष रोग खण्ड

द्वितीय खण्ड—मूत्र रोग

चतुर्थ खण्ड—मूत्राशय, मूत्रप्रसेक नलिका, पौरुष ग्रन्थि एवं अन्य सम्बन्धित अङ्गों के रोग

पंचम खण्ड—प्रकीर्ण प्रकरण

षष्ठम खण्ड—शास्त्रीय एवं अनुभूत योग खण्ड

मुख पृष्ठ (टाइटिल कवर) पर दिये गये ५ एक्स-रे चित्रों का विवरण (क्रमश: बायें से दायें ओर)

१. स्वस्थावस्था का वृक्क गवीनी श्रोणि का पश्चादावर्ती एक्स-रे चित्र (Normal Retrograde Pyelogram)—यह अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट चित्र है तथा इस विधि का प्रयोग उत्सर्जन विधि द्वारा लिये गये एक्स-रे चित्रों की संशयात्मक स्थितियों में सुनिश्चितता प्राप्त्यर्थ किया जाता है।

२. वाम वृक्कार्बुद रोगी का गवीनी श्रोणि का पश्चादावर्ती एक्स-रे चित्र—यह चित्र लेने से पूर्व रोगी को सिर्फ एकबार वेदनायुक्त रक्तमूत्रता की शिकायत हुई थी।

३. मूत्र गवीनी में अश्मरी

४. वृक्काश्मरी प्रदर्शक एक साधारण एक्स-रे चित्र—इससे ठीक से ज्ञात नहीं होता है कि अश्मरी वृक्क के किस भाग स्थित है ?

५. नं० ४ के चित्र के रोगी का उत्सर्जन विधि द्वारा लिया गया स्पष्ट चित्र जिससे कि ज्ञात होता है कि अश्मरी वृक्क गवीनी श्रोणि में स्थित है।

आर्ष ग्रंथों में मूत्र रोग विज्ञान

आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद 'उमाशंकर'

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधि संश्रितम् ।
एवा ते मूत्रम् ॥ — अथर्ववेद १-१-३

मूत्र के सम्बन्ध में उपर्युक्त तथ्य अथर्व वेद में मिलते हैं। सायण ने भी अपने वक्तव्य से मूत्र की निम्न व्याख्या प्रस्तुत की है—

आन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशय प्राप्ति साधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ ॥ —सायण ।

इनसे स्पष्ट है कि समूचे शरीर में दौड़ता हुआ रक्त तथा आन्त्रों के सूक्ष्म छिद्रों से रिस रिसकर मूत्र पहले वृक्कों को और बाद में गवीनियों द्वारा वस्ति को भरता रहता है। वृक्कों में रक्त से छनकर आया दूषित जल संचित होता है तथा गवीनी इसे वस्ति तक पहुंचाते हैं। वेदों में ऐसा उल्लेख है कि मूत्र अपने प्रारम्भिक उत्पत्ति स्थान से लेकर बाहर निकलने के स्थान तक कहीं भी रुक जा सकता है। यह रुकावट यदि स्थायी और विकृति-जन्य हुए तो ये ही विविध मूत्र रोगों के कारण होते हैं। दो वृक्क, दो गवीनियाँ, एक वस्ति तथा एक मूत्र प्रसेक ही मूत्र यन्त्र कहलाते हैं जो मूत्र संस्थान के अन्तर्गत आते हैं। मूत्र निर्हृत द्रव है।

मूत्र रोगों के कारण—

मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनान्मूत्र निग्रहात् ।
मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च ॥
(च० वि० ५-२०)

आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध आर्ष ग्रन्थ चरक-संहिता विमान स्थान स्रोतोविमानाध्याय ५ में श्रद्धेय आचार्य प्रवर महर्षि अग्निवेश ने मूत्रवह स्रोतों के दूषित होने के क्या ही सुन्दर संक्षिप्त साररूप एवं प्रत्यक्ष क्रिया में अनुभूत कारणों का निर्देश किया है। उनकी उक्ति है कि मूत्र के वेग को रोककर जल पीने, मैथुन करने, भोजन करने अथवा उपस्थित वेग को रोकने से, शरीर के क्षीण होने से तथा मूत्रवाही स्रोतों पर आघात लगने या कट-फट जाने से मूत्रवह संस्थान के अवयव दूषित हो जाते हैं अर्थात् मूत्र रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

इसी कथन को श्री गङ्गाधर ने निम्नलिखित साररूप में प्रस्तुत कर उनका समर्थन किया है—

'मूत्रितस्य मूत्रवेगवत् उदकभक्ष्यस्त्रीणां सेवनात् ।'
(गंगाधर)

मूत्र के उपस्थित वेग को रोकने से वस्ति और शिश्न (मूत्र प्रसेक) में पीड़ा, मूत्र त्याग में कठिनाई, सिर दर्द, शरीर का झुक जाना तथा जांघ की जड़ में जकड़ जाने जैसी अनुभूति और दर्द की प्रतीति होती है। यदुक्तं—

वस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा ।
विनामो वंक्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥
(च० सू० ७-६)

मूत्र रोगों के लक्षण—

मूत्रवहानां स्रोतसां वस्तिर्मूलं वंक्षणौ च प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अतिसृष्टमतिबद्धं प्रकुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ।
[च० वि० ५-८(५)]

महर्षि अग्निवेश कहते हैं कि मूत्रवह स्रोतों का मूल वस्ति और वंक्षण है, जिन स्रोतों के दूषित होने पर मूत्र की मात्रा अधिक या कम होना, मूत्र रुक रुक के आना, मूत्र बार-बार थोड़ा-थोड़ा या कम या अधिक आना, विकृत मूत्र आना, थोड़ा थोड़ा बार बार शूल के साथ गाढ़ा मूत्र निकलते रहना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

योग साधना, कुण्डलिनी जागरण एवं तांत्रिक साधना के विविध ग्रंथों में अमरौली प्रक्रिया, जिसमें मानव मूत्र

पान द्वारा विविध मूत्र रोगों एवं अन्य रोगों की चिकित्सा का उल्लेख है, आयुर्वेद मनीषियों के 'विषस्य विषमौषधम्' सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

वेद-पुराण और अध्यात्म ग्रन्थों में मूत्र रोग विज्ञान का वर्णन ही नहीं वरन् नरमूत्र की महत उपयोगिता का भी वर्णन पढ़ने को मिलता है जिन्हें पढ़ गुणकर परम विस्मय से दांतों तले अँगुली दबाकर मन्त्रमुग्ध हो जाना पड़ता है। उनमें एक स्थान पर ऐसा उल्लेख है कि नरमूत्र को खर्पर एवं पारद के चूर्ण के साथ खूब घोट घोट कर और बीच बीच में उसमें निर्दिष्ट मात्रा में केंचुए का सूखा कपड़छन चूर्ण मिलाकर पुनः नरमूत्र देकर खरल करने से 'जो रंगे काया वही रंगे माया' सिद्धान्त के अनुसार शरीर के समस्त रोगोपहारी रसायन या स्वर्ण निर्माण के घटक तैयार किए जा सकते हैं। आधुनिक रसायन विज्ञान (Chemistry) तथा उनके विविध प्रकार के नव आविष्कृत विश्लेषणात्मक प्रत्यक्ष प्रक्रिया (Practical Analysis) के दृष्टिकोण से गम्भीरता से विचार करने पर इस महत रहस्य का उद्घाटन सहज में हो जाता है कि किसी अल्प मूल्य धातु को विविध रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा पारद के संयोग से स्वर्ण के रूप में परिवर्तित कर देना कोई कपोल कल्पना नहीं है वरन् ऐसा सम्भव है। क्योंकि अनेकानेक वैज्ञानिक गवेषणाओं के बाद यह पाया गया कि पारद के गतिशील व्युहाणुओं में थोड़ा ही परिवर्तन होने से, जो कमी होना सम्भव है, वह स्वर्ण के रूप में बदल सकता है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी यह बात तहे दिल से एक बार नहीं वरन् बार बार कबूल की है कि प्राचीन ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रणीत आयुर्वेद की दिव्य जड़ी बूटियों एवं रस-रसायनों में अल्प मूल्य की धातुओं को स्वर्णादि जैसी उच्च मूल्य की धातुओं में परिवर्तन करने की अद्भुत एवं विलक्षण क्षमता उपस्थित है। आवश्यकता है केवल उनको अहर्निश गवेषणा से ढूंढ़ निकालने की। तभी तो भारत के महान् रसायनज्ञ आचार्य नागार्जुन ने यह प्रण किया था—

'सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्रमिदं जगत'

मूत्र कैसे उत्पन्न होता है?

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः।
शिराभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात् ॥
(शार्ङ्गधर संहिता पूर्व खण्ड ६-६)

अभिप्राय यह है कि पक्वाशय में शोषित जल रक्त-वाहिनियों द्वारा रक्त में और वहां से वृक्कों द्वारा क्षरित होकर वस्ति में पहुँचा दिया जाता है। तब वस्ति से वह मूत्र के रूप में बाहर फेंक दिया जाता है। आधुनिक विज्ञान भी थोड़ा बहुत बातों में हेर-फेर करके इसी तथ्य को अभिव्यक्त करता है।

मूत्र रोग के भेद—

मूत्रक्षये वस्तितोदोऽल्प मूत्रता च ॥
(सु० सू० ५-११)

मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च।
पिपासा बाधतेचास्य मुखं च परिशुष्यति ॥
(सु० सू० १७-७१)

मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्ति वस्तितोदमाध्मानं च ॥ (सु० सू० १५-२५)

ऊपर के उद्धरणों में मूत्रक्षय और मूत्रवृद्धि इन दो प्रकार के मूत्र रोग के लक्षणों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

मूत्र स्वस्थावस्था में एक रात-दिन में १२५ तोला (लगभग १॥ किलो) निकलता है। इस मात्रा में ह्रास होने पर वस्ति में चुभने के समान पीड़ा, पेशाब में कमी, पेशाब में कठिनाई, पेशाब के रंग में परिवर्तन, अधिक प्यास और मुख का सूखापन प्रतीत होता है।

इसके विपरीत मूत्र की वृद्धि होने पर मूत्र का अधिक मात्रा में आना, मूत्र का अधिक बार आना, मूत्र का पुनः पुनः वेग से उपस्थित होना, वस्ति में सूई चुभने जैसी पीड़ा और अफारा होना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

इनके अतिरिक्त ओजोमेह (Albuminuria), उदवृक्क क्षय (Addison's disease), गतिशील वृक्क (Mobable Kidney), जीर्ण वृक्क शोथ (Chronic Parenchymatous Nephritis), तीव्र वृक्क शोथ (Acute nephritis), मधुमेह (Diabetes) मूत्रावरोध (Retention of Urine), वस्तिशोथ (Cystitis), वृक्काश्मरी (Renal Calculus), वृक्कशूल (Renal Colic), सान्तर वृक्क प्रदाह (Interstitial Nephritis) आदि विविध प्रकार के मूत्र रोगों का उल्लेख भी वेद, पुराण, चरक, सुश्रुत, वाग्भट एवं शार्ङ्गधर संहिता के विविध स्थलों पर मिलते हैं जिन सबका उल्लेख यहां विस्तार भय से नहीं किया जा सका।

अनेक स्थलों में तो मूत्र रोग एवं उसकी चिकित्सा की छोटी छोटी कहानियां भी पढ़ने को मिलती हैं जो अति विस्मयकारिणी हैं।

जहां तक विविध मूत्र रोगों एवं उनके निदानारूप सफल काय एवं शल्य चिकित्सा का प्रश्न है हमारे ऋषि महर्षि किसी से पीछे नहीं थे। एक स्थल पर ऐसा उल्लेख है कि एक धनी, किन्तु कन्जूस महा सेठ के पुत्र को मूत्र आना बन्द होगया था। लाख प्रयास किया किन्तु मूत्र त्याग न हुआ। वस्ति (मूत्राशय) मूत्र से लबालब भर कर काफी तनाव की स्थिति में आ गया। रोगी कष्ट और पीड़ा से बेचैन था। जब कोई घरेलू उपाय कारगर नहीं हुए तो महासेठ ने समीप के वैद्यक विद्या में पारंगत एक महर्षि को बुला लाये। उन्होंने रोगी की नाड़ी-परीक्षा की तथा ताजे तरबूज के फल का छिलका लाने का आदेश दिया। तत्क्षण आज्ञा का पालन हुआ। महर्षि ने उसे पिसवाकर रोगी को पिला दिया और इसे थोड़ी-थोड़ी देर पर पिलाते रहे। कुछ ही क्षणों में रोगी को धाराप्रवाह मूत्र फूट पड़ा। मूत्र त्याग के सारे अवरोध एवं कष्ट दूर हो गये। सारे परिवार में प्रसन्नता की लहर दौड़ आई। महासेठ ने पर्याप्त पुरस्कार और सामग्री के साथ महर्षि को विदा किया। छः महीने के बाद रोगी को फिर मूत्र आना बन्द हो गया। पहले जैसी हालत पुनः उत्पन्न हो गई। कंजूस महासेठ ने सोचा महर्षि को बुलाने में बड़ा खर्च है और उन्होंने मात्र तरबूजे के छिलके से चिकित्सा की थी; क्यों न हम भी वैसा करके अभीष्ट फल प्राप्त करें। अतः उसने आज भी तरबूजे के छिलके को मंगाकर महर्षि के अनुसार ही उचित मात्रा में पीसकर रस निचोड़ रोगी को पिला दिया। ऐसा उसने कई बार किया। किन्तु यह क्या? लाभ के बदले में रोगी का वस्ति प्रदेश और भी अधिक सूज (फूल) गया तथा तनाव बढ़ने से बेचैनी और भी बढ़ गई। जब रोगी मूर्छित होता दीख पड़ने लगा तो महासेठ ने विवश हो महर्षि को बुलाया। उन्होंने रोगी की नाड़ी परीक्षा की, ऋतु एवं समय पर नजर डाली (महान वैज्ञानिक तथा परमाणविक हथियारों इवं जनोपयोगी ऊर्जा के आविष्कर्ता अलबर्ट आन्स्टीन ने भी सापेक्षवाद के सिद्धान्त में यह स्पष्ट कहा था कि काल, दिशा, ऋतु, स्थान आदि सबका प्रभाव वस्तु पर पड़ता है और उनके अनुरूप ही उसमें क्रियाएँ होती हैं) तथा पुनः तरबूजे का छिलका मंगाने का आदेश दिया। महासेठ ने कहा—श्रीमान्! यह उपचार तो पहले ही किए जा चुके हैं; किन्तु उनसे कोई लाभ नहीं हुआ, मर्ज बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की गई और अब तो हालत ऐसी बदतर हो गई कि प्राण-पखेरू कब उड़ जाय कोई पता नहीं। महर्षि ने कहा—मंगाओ तो सही! आज्ञा का तुरन्त पालन हुआ। छिलका आते ही महर्षि ने उसे पिसवा उसके निचोड़े रस को आग पर थोड़ा गरम करवाया तथा उसे रोगी को पिला दिया। इस बार तो मात्र एक खुराक से ही रोगी का मूत्र त्याग हो गया, सभी कष्ट दूर हो गये। रोगी भला-चंगा हो गया। सभी विस्मय विमुग्ध हो एक दूसरे का मुंह टकटकी लगाकर देखने लगे और कहने लगे कि इन्होंने कोई जरूर जादू-टोना किया है। इसी बीच स्वयं महर्षि ने रहस्य का उद्घाटन किया। उन्होंने कहा—इसमें जादू-टोना की कोई बात नहीं है। सब काल और ऋतु का अन्तर है। उस समय ग्रीष्म ऋतु का और गर्मी का समय था, इसलिए बिना गर्म किये स्वरस पिलाया और लाभ हुआ। इस समय शीत ऋतु और बेहद ठंड का समय है इसी हेतु स्वरस गरम करके पिलाया और वैसा ही लाभ हुआ। चूँकि आप इस विज्ञान को नहीं जानते थे अतएव मूल बात की थोड़ी सी गड़बड़ी से आपसे कोई लाभ उपलब्ध नहीं हो सका।

इसी प्रकार की बहुत-सी आख्यायिकाएँ, कथाएँ एवं छोटे-छोटे उल्लेख आर्ष ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं जिनमें मूत्र रोग से सम्बन्धित अधिकांश विवरण हैं। प्राचीन समय में जब सिद्ध योगी या महात्मा क्रोधित या अप्रसन्न होते थे तो प्रायः मूत्रावरोध होने का श्राप देते थे। अध्यात्म ग्रंथ में एक स्थान पर ऐसा उल्लेख है कि जब सुकन्या से च्यवन ऋषि की आंखें अनजान में फूट गईं तो दुःख की दारुण ज्वाला से चिन्तित हो क्रोध में ऋषि ने सुकन्या के पिता सम्राट और उनके सैनिकों को यह श्राप दे दिया कि उनके मूत्र त्याग होना बन्द हो जाय। उन सभी के मूत्र आना बन्द हो गये। फिर जब सुकन्या ने ऋषि को पति रूप में स्वीकार कर लिया तो उन सभी

—शेषांश पृष्ठ २९ पर देखें।

आयुर्वेद जगत के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिनामा वैद्यराज श्री जगदीशप्रसाद शर्मा आचार्य अन्तर्राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान के अध्यक्ष हैं। आपके इस लेख-प्रसाद पर हम आभारी हैं। आयुर्वेद शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार अनुभूत योग सहित प्रस्तुत लेख पठनीय एवं मननीय है।

—विशेष सम्पादक।

कुछ विद्वान मूत्र रोग की गणना यद्यपि एक बहुत साधारण रोग में करते हैं और विभिन्न रूप में इससे सम्बन्धित रोगों का वर्णन मिलता है किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो यह भी एक बहुत भयङ्कर मूत्ररोगाधिकार है और जो १ ७ मर्म बताये हैं, उनमें ३ मर्मों की प्रधानता है, उनमें वस्ति मर्म, हृदय मर्म, शिरःमर्म प्रधान माने गये हैं। अतः आचार्यों ने तीनों मर्मों की रक्षा का विशेष उल्लेख किया है।

हृदये मूर्ध्नि वस्तौच नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
तस्मात्तेषां सदा यत्नं कुर्वीत परिपालने॥

मर्म की व्युत्पत्ति से भी ज्ञात होता है कि इन तीनों मर्मों में किसी भी प्रकार से यदि आघात होजाय तो प्राण नष्ट होजाते हैं।

'मारयन्तीति मर्माणि अथवा मरण कारित्वात् मर्म,

इसकी सिद्धिमृधातु से मनिन प्रत्यय करने पर होती है। म्रियते अस्मिन् इति मर्म अर्थात् जिस पर आघात लगने से मृत्यु हो जाती है। मर्म स्थान में होने वाले रोग असाध्य होते हैं यथा "मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकाराः मूर्च्छन्तिकाये त्रिविधाः नराणां। प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः॥ इसलिये उपरोक्त प्रमाणों से जिसको आप्तोपदेश माना जाता है। मूत्र सम्बन्धि जितने भी रोग हैं उनका किसी न किसी रूप में स्थान भेद से वस्ति मर्म से अभिन्न सम्बन्ध रहता है। भले ही आजकल प्रत्यक्ष अनुमान को प्रधानता दी जारही है किन्तु आयुर्वेद का सिद्धान्त तो अलग्यं है। यह ठीक है कि आयुर्वेद में भी दो प्रकार की परीक्षा रोग विज्ञान में मानी गई है। इसके साथ ही आप्तोपदेश को आधारभूतसिद्धान्त माना है

वस्तिमर्म से सम्बन्धित मूत्ररोगों की जो गणना है उसमें गम्भीरता से विचार करना चाहिये। चरक ने नानात्मज, सामान्यज रोगों की परिभाषा में जहां मूत्र रोग वहां सामान्यजाः रोगों की परिभाषा में आते है। वहां सूत्र स्थान में अष्टौ मूत्राघाताः और चिकित्सा के त्रिमर्मीय २६ वे अध्याय में इसका मूत्रकृच्छ के रूप में उल्लेख है।

व्यायाम तीक्ष्णौषध रूक्षमद्य प्रसंग नित्यद्रुतपृष्ठयानात्।
आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात्
स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ ॥३२॥
पृथङ्मलाः स्वैः कुपिताः
निदानैः सर्वेऽथवाकोपमुपेत्य वस्तौ।
मूत्र स्यमार्गं परिपीडयन्ति
यदा तदा मूत्रमतीह कृच्छ्रात् ॥३३॥
तीक्ष्णा रुजा वंक्षणवस्ति
मेढ्रे स्वल्पमुहुर्मूत्रयतीह वातात्।
पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रान्मुहु
र्मूत्रयतीहपित्तात् ॥३४॥
वस्तेः सलिंगस्य गुरुत्व शोथौ मूत्रं
सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे।

इसी संदर्भ में चरक ने त्रि मर्मीय सिद्धि में वस्ति रोगों का विशेष वर्णन किया है। वहां मर्म की परिभाषा में वस्तिमर्म को भी विशेष महत्व दिया है। यथा—

सप्तोत्तरं मर्मशतमस्मिञ्छरीरे स्कन्ध शाखा समाश्रित अग्निवेशः तेषामन्यतमा पीडायां समधिका पीडा भवति।

चेतना निबंध वैशेष्यात्। तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्य: स्कन्धाश्रितानि गरियान्ति शाखानां सदाश्रितत्वा । अस्कन्धाश्रितेभ्योहृद्वस्ति शिरांसि तन्मूलत्वाच्छरीरस्य ॥

वस्ति मर्म मेंपुन: तेरह रोग विशेष उल्लेख किया है—

मूत्रावसादो जठरं कृच्छमुत्संग संचयौ ।
मूत्रातीतोऽनिलाष्ठीला वात वस्त्युष्ण मारुतौ ॥२४॥
वात कुण्डलिका ग्रन्थि विड्घातो वस्ति कुण्डलम् ॥
त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषास्ताल्लिगत: शृणु ॥२५॥

माधवनिदान में १३ प्रकार ही मूत्राघातरोग में गणना की है और सुश्रुत ने केवल बारह का वर्णन किया है। जैसे—

"वातकुण्डलिकाष्ठीला वातवस्ति तथैवच । मूत्रातीत सजठरोमूत्रोत्संग क्षयस्तथा ॥ मूत्रग्रन्थि मूत्रशुक्र मुष्णवात तथैवच । मूत्रोत्सादो द्वौचाऽपिरोगा: द्वादश कीर्तिता: ॥"

सुश्रुत ने वस्ति कुण्डल मूत्रकृच्छ्र का उल्लेख नहीं किया है। मूत्रशुक्र एक अधिक नाम संज्ञा मानी है। यह आप्तोपदेश अन्य संहिताओं में भी वर्णन है। आजकल प्रत्यक्ष में जो भी मूत्र सम्बन्धी विकार नये नये नाम संज्ञा से उद्बोधित हो रहे हैं उनकी जब पीड़ा, सम्प्राप्ति, कारण, स्थान, लक्षण देखते है तो प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ उनका पूरा समन्वय हो जाता है। इस सन्दर्भ में कवि. स्व. गणनाथ सैन जी ने नया पथ प्रदर्शन किया। कुछ विद्वान यद्यपि उनके प्रति ऐसी धारणा बनाते रहे हैं कि स्वर्गीय कवि. जी ने आप्तोपदेश को अधिक महत्व न देकर प्रत्यक्ष और अनुमान को विशेष आधारभूत मानकर आयुर्वेद के साहित्य का सृजन किया है किन्तु शारीर के विषय में कुछ स्थलों में ही उनके प्रति ऐसी धारणा सम्भव हो सकती है। वास्तव में उन्होंने तो एक नया पथ प्रदर्शन आयुर्वेद मनीषियों के लिए किया है वह भी एक प्रकार से आप्तोपदेश के सिद्धांत को उन्होंने तिरस्कृत नहीं किया। आज जो नए नए रोग देश काल के अनुसार उत्पन्न हो रहे हैं। आचार्यों ने कहा है कि व्याधियां असंख्य है। यदि किसी व्याधि का नाम नहीं है तो उसमें कोई लज्जा नहीं करें।

चिकित्सा के सम्बन्ध में किन कारणों से रोग उत्पन्न होते हैं उन कारणों को दूर करना चाहिए।

संक्षेप में कुछ प्रयोग प्रस्तुत किये जा रहे हैं। मूत्र व्याधियों में स्वतन्त्र रोगों में जो प्रयोग किये हैं उनमें पञ्च तृणमूल—का प्रयोग करते हैं। खरबूजे का क्षार यवक्षार पाषाण भेद नीचे एवं लिखा शिलाजत्वादि चूर्ण।

शिलाजीत -पीपल, पाषाणभेद, बड़ी इलायची समान भाग लिया जाता है। अनुपान भेद से मूत्र सम्बन्धी सभी रोगों को शांत करता है। इसी प्रकार 'वृक्क रोग में पुनर्नवाष्टक क्वाथ और तृणपञ्चमूल की औषधियां मिश्रण करके देते हैं।

४. गोक्षुरादि गुग्गल—इसका मूत्र रोग की प्रत्येक अवस्था में प्रयोग करते हैं। चरक पाण्डुरोगाधिकार का शिलाजत्वादि बटक वृक्क रोग में विशेष रूप से प्रयोग करते हैं। वृक्क रोग में सर्वतो भद्ररस बिल्व पत्र रस से प्रयोग करते हैं। अश्मरी रोग में वरुणादि क्वाथ यवक्षार मिलाकर सैकड़ों की संख्या में सैकड़ों रोगियों की पथरी निकली भी है जो सुरक्षित है। इसी प्रकार मूत्र कृच्छ्र में केवल खरबूजे के बीजों का प्रयोग किया गया।

आर्ष ग्रन्थों में मूत्र रोग विज्ञान ✻ पृष्ठ २७ का शेषांश

के मूत्र खुल गये। विदित हो कि योगध्यान और चक्रभेदन साधना के दृष्टिकोण से कुण्डलिनी नाड़ी, जो योगियों की शक्ति का आदि स्रोत है, के समीप ही गुदमार्ग एवं मूत्र मार्ग रहता है। अतएव श्राप जो कुण्डलिनी नाड़ी के जाग्रत होने पर ही फलीभूत होता है, का अनिष्टकारी प्रभाव इन पर ही अधिक पड़ सकता है। नीचे मूलाधार चक्र और उसके ऊपर स्वाधिष्ठान चक्र हैं। इसी मध्य कुण्डलिनी नाड़ी शिवलिंग पर तीन फेरा लगाये हुए सर्प की भांति सोई पड़ी रहती है। योग साधना से जब यह जाग्रत होती है तो सुषुम्ना नलिका के मार्ग से शनै: शनै: या एकाएक ऊपर सहस्रार की ओर बढ़ती है। इस मध्य इसे मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, बिन्दु विसर्ग आदि कई चक्रों को पार करना पड़ता है। स्वाधिष्ठान चक्र मूत्रेन्द्रिय के ठीक पृष्ठ प्रदेश में है, अतएव मूत्ररोग एवं स्वमूत्रपान योग साधना के महत्वपूर्ण अनुसंधान के प्रमुख बिन्दु हैं जिन पर वृहत् रूप से शोध अपेक्षित है।

—आचार्य डा० महेश्वरप्रसाद 'उमाशंकर'
चीफ सर्जन—एम० हास्पीटल, मंगलगढ़ (समस्तीपुर)

शारीर पक्ष पर एक विवेचनात्मक अध्ययन –

मूत्रवह संस्थान के अवयव ....

डा० (श्रीमती) शोभामोवार[1] डा० जयराम यादव[2] डा० यज्ञदत्त शुक्ल[3] प्रो० पी०सी० जैन[4]

स्नातकोत्तर शारीर विभाग–राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ (उ० प्र०)
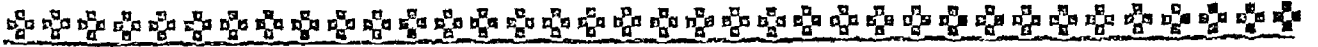
आयुर्वेद की मान्यताओं के अनुसार मानव शरीर के मूल दोष धातु एवं मल हैं। इनकी साम्यावस्था ही शरीर की प्राकृत अवस्था है अन्यथा दुःख या विषमता की स्थिति है। शरीर के सङ्गठक द्रव्यों में से शरीर दोष क्रियात्मक द्रव्य है। रोग या दुःख के शरीर और मन दो आश्रय होने के कारण दोष भी शारीरिक और मानस ही हैं। दोष विषमता को प्राप्त होकर दूष्यों (धातु एवं मल) को प्रभावित कर रोगोत्पत्ति के कारण होते हैं। गर्भ स्थापना काल में इनमें से एक ही प्राकृत उत्कटता प्रकृति के निर्माण का कारण होती है। रस रक्तादि सप्त धातु शरीर के धारण एवं पोषण के प्रति उत्तरदायी हैं। ये विकृत दोषों के द्वारा प्रभावित होने के कारण दूष्य हैं। केवल धारण करने वाली रचनाओं को उपधातु संज्ञा प्रदान की गई है। अग्नि की क्रिया के परिणामस्वरूप मलों की उत्पत्ति आयुर्वेदिक आचार्यों ने वर्णित की है।

मल साम्यावस्था में शरीर को धारण करते हैं और इनके निर्हरण से शरीर का शोधन होता है। जठराग्नि की क्रिया के परिणामस्वरूप आहारमलों यथा–पुरीष मूत्र एवं वायु की तथा धात्वग्नि की क्रिया के परिणामस्वरूप पित्त, कफ, मल, स्वेद, नख, लोम, केशश्मश्रु आदि मलों की उत्पत्ति होती है। शरीर के तीनों संगठक द्रव्य अपना पोषण आहार पचनोपरान्त निर्मित आहार रस से ही प्राप्त करते हैं। मूत्रवह संस्थान एवं मूत्र निर्माण प्रक्रिया से सम्बन्धित अनेक शब्दों का प्रयोग आयुर्वेदीय आचार्यों ने किया है। शरीर की इन क्रियाओं से सम्बन्धित जिसका विवेचन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में उपलब्ध है, के परिप्रेक्ष्य में आयुर्वेद में वर्णित शब्दों की विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायेगा। आयुर्वेदीय आचार्यों ने विभिन्न रचनाओं से सम्बन्धित शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में एक रूप नीति का पालन नहीं किया है। इसलिए उत्तरवर्ती आचार्यों ने उन शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। इन शब्दों का निश्चयात्मक अर्थ प्रस्तुत करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रमुख उदाहरण धमनी, शिरा, स्रोतस् का दिया जा सकता है। अथर्ववेद में मूत्रवह संस्थान से सम्बन्धित रच-

मूत्रवह संस्थान (आयुर्वेदीय पक्ष)
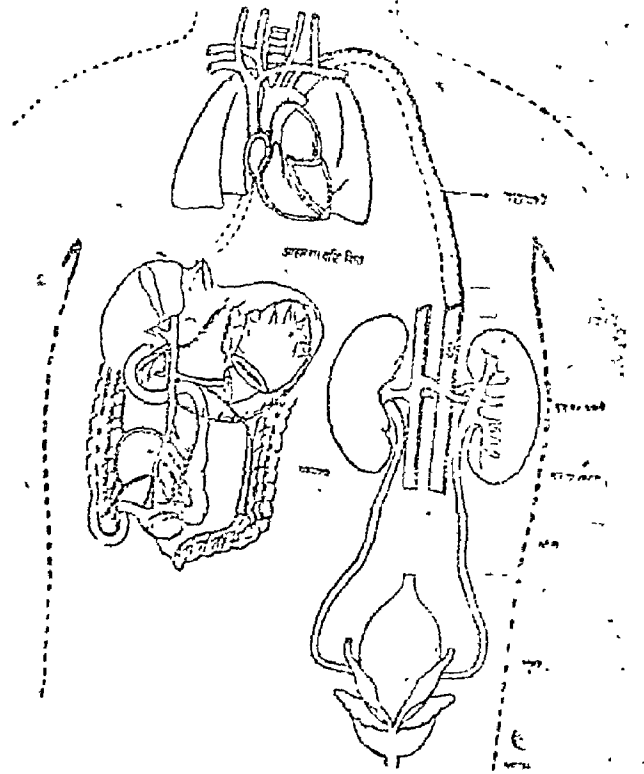
चित्र क्रमांक—1

[1] डिमान्सट्रेटर [2] लेक्चरार [3] रीडर [4] प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष।

नाओं में आंत्र, गवीनी एवं वस्ति का उल्लेख किया गया है। भाष्यकार सायण ने मत व्यक्त किया है कि आंत्र से निकलने वाली मूत्राशय को मूत्र प्रदान कराने वाली पार्श्व स्थित दो नाड़ियों को गवीनी कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद के काल से ही मूत्र निर्माण के सम्बन्ध में यह ज्ञान था कि आंत्र वह रचना है जो गवीनी के माध्यम से मूत्राशय को मूत्र की प्राप्ति की प्रक्रिया कराता है। इसी कारण सम्भवतः कुछ उत्तरवर्ती आचार्यों ने आंत्र शब्द द्वारा वृक्क के ग्रहण का उल्लेख किया है। मूत्रवह संस्थान से सम्बन्धित निम्न रचनाओं का उल्लेख आयुर्वेदीय आचार्यों ने विभिन्न सन्दर्भों में प्रस्तुत किया है—

१—वृक्क, २—मूत्रवह स्रोतस्, ३ मूत्रवह धमनी, शिरा और नाड़ी, ४—वस्ति, ५—वस्तिसिर।

(१) वृक्क - वृक्क शब्द की व्युत्पत्ति उक्कदाने जिसका अर्थ ग्रहण करना, से की गई है। यह संख्या में दो होते हैं। इस शब्द का प्रयोग द्विवचन में किया गया है। यह कोष्ठों के मध्य में पृष्ठभित्ति से लगे हुए स्थित होते हैं। यह चरक संहिता में उल्लिखित है। सुश्रुत के

चित्र - २

शरीर में वृक्कों की स्थिति
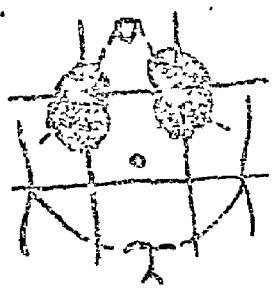
अनुसार वृक्क मांस पिण्डों से निर्मित वाम एवं दक्षिण पार्श्व में स्थित रचनायें हैं। इनका आकार गोल है और यह रक्त और मेद के प्रसाद से निर्मित हैं। इसका उल्लेख भी सुश्रुत संहिता में उपलब्ध है। शारङ्गधरकार ने वृक्क के कार्यों का उल्लेख करते हुए इसे जठरस्थरस मेद का (उदरस्थ मेद का) पुष्टिकर्त्ता बताया है। इस सन्दर्भ में जठरस्थ रस मेद का उल्लेख करके आचार्यों ने वृक्क द्वारा उदरगत मेद की विशेष पुष्टि की है। शारङ्गधर की टीका गूढ़ार्थ दीपिका में वृक्क के अग्रमांस को वृक्क कहा गया है। इस रचना को मेदोवह स्रोतस् से सम्बन्धित उसके मूल के रूप में वर्णित किया है। इसी टीका में वृक्क को आहार जलवाही शिरा का मूल कहा गया है। भ्रौणिक विकास की दृष्टि से यह रचना मातृज अवयव कही गई है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण के अनुसार भी वृक्क मांस से ही निर्मित अवयव हैं।

आधुनिक काल के सुश्रुत के टीकाकार डा० घाणेकर और गणनाथ सेन के अनुसार वृक्क शब्द के द्वारा 'रीन्स या किडनी' नामक अवयवों के ग्रहण करने का निर्देश किया गया है। जबकि इन्हीं के समकालीन आचार्य डा० बी० एन० बनर्जी उनके इस मत से सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार वृक्क स्तन्य ग्रन्थियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने अपने कथन की पुष्टि के लिये निम्न तर्क प्रस्तुत किया है—

१. भ्रौणिक एवं क्रिया शरीर की दृष्टि से वृक्क नामक रचना का किडनी के कार्यों का कोई भी सम्बन्ध कहीं भी वर्णित नहीं है।

२. इस रचना का सम्बन्ध आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र, तेरह प्रकार के मूत्राघात, चार प्रकार की अश्मरियों और बीस प्रकार के प्रमेहों के संदर्भों में कहीं वर्णित नहीं है।

३. वृक्क शब्द द्वारा स्तन्य ग्रंथियों के ग्रहण का आधार अमरकोश में उपलब्ध वृक्क सम्बन्धी वर्णन और शारङ्गधर द्वारा प्रदत्त उसके कार्य द्वारा किया गया है।

४. किडनी शब्द का ग्रहण रचना शरीर की दृष्टि से इस आचार्य द्वारा वस्ति शब्द के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है। इसलिए वृक्क और किडनी शब्द में कोई समानता प्रतीत नहीं होती है। यद्यपि वृक्क शब्द का मूत्र-निर्माण से कहीं कोई सम्बन्ध उल्लिखित नहीं है, फिर भी डा० बनर्जी के इस कथन का खण्डन निम्न तथ्यों के आधार पर किया जा सकता है—

(अ) समस्त आयुर्वेदिक आचार्यों ने वृक्कों का उल्लेख कोष्ठांगों के अन्तर्गत किया है। इससे यह स्पष्ट है कि यह रचना उरोगुहा के बीच में स्थित है।

(ब) जैसाकि पूर्व में इंगित किया गया है कि चरक तथा सुश्रुत आदि आचार्यों ने वृक्क की स्थिति उदरगुहा में कही है न कि उरोगुहा में। आयुर्वेदिक आचार्यों के इस कथन के परिप्रेक्ष्य में अमरकोश के वर्णन का आयुर्वेद के संदर्भ में कोई महत्व नहीं है।

(स) डा० बी० एन० बनर्जी के अनुसार वृक्क द्वारा जठरस्थ मेद का पोषण किया जाता है। यह स्तन्य ग्रंथि संदर्भ में निराधार है एवं तथ्यहीन है।

(द) आयुर्वेदीय संहिताओं में ऐसा कोई संदर्भ उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर कहा जा सके कि वृक्क, स्तन्यवाहिनियों एवं स्तन वाहिनियों के समान विकसित अवस्था में केवल स्त्रियों में ही पाया जाता है।

डा० बनर्जी ने स्वतः अपनी भ्रांति को स्पष्ट किया है, क्योंकि उन्होंने वृक्क शब्द के द्वारा ही अधिवृक्क ग्रंथियों के ग्रहण का भी उल्लेख किया है। इसलिए किसी भी प्रकार डा० बी० एन० बनर्जी का कथन स्वीकार नहीं है। उन्होंने वस्ति शब्द के द्वारा वृक्क या किडनी नामक रचना के ग्रहण का जो वर्णन किया है वह भी मान्य नहीं है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद में वर्णित वृक्क शब्द किडनी का पर्याय है। अष्टांग संग्रहकार वाग्भट ने शरीर में कुल सात आशयों का उल्लेख किया है, जिसमें मूत्राशय की भी गणना है। इन आशयों से निबद्ध अंगों की गणना के प्रसंग में मूत्राशय से निबद्ध अंग के रूपमें वृक्क का उल्लेख हुआ है।

मूत्रवह स्रोतस चरक के अनुसार एक है जिसका मूल वस्ति (मलाशय) और वंक्षण है तथा सुश्रुत के अनुसार ये दो होते हैं जिसका मूल वस्ति और मेण्ढ्र (शिश्न) है।
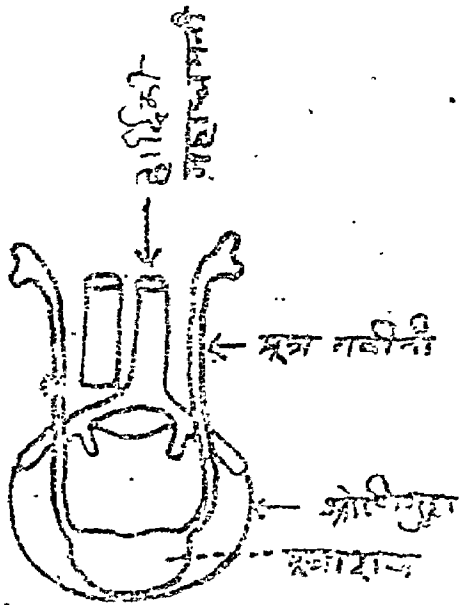
चित्र ३-उदरगुहा तथा श्रोणि प्रदेश में पीछे की ओर मूत्र गवीनिकाओं की स्थिति।

वाग्भट का कथन चरक के समान है। विड्विघात रोग की सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुये मूत्रवह स्रोतस शब्द का प्रयोग एक वचन में किया गया है। चरक ने विषम वात द्वारा पुरीष में मिश्रित होकर विसर्जित किये जाने का उल्लेख किया है। माधवकार ने भी अश्मरी निदान के संदर्भ में वृक्क शब्द का उपयोग एक वचन में किया है। मूत्रवह स्रोतस के वास्तविक रूप का ज्ञान करने के लिए

चित्र ४-पुरुष की मूत्रनलिका, पौरुष ग्रन्थि तथा मूत्राशय का काट वाम पार्श्व से

यह आवश्यक है कि स्रोतस शब्द को पहले समझा जाये और उस अर्थ को मूत्र के संदर्भ में घटित किया जाये। स्रोतस, शिरा, धमनी और नाड़ी इन सभी रचनाओं से भिन्न हैं, ऐसा भी आयुर्वेदीय आचार्यों ने स्वीकार किया है। यह भी सर्वमान्य है कि स्रोतस भी रचनाएँ हैं जिनके
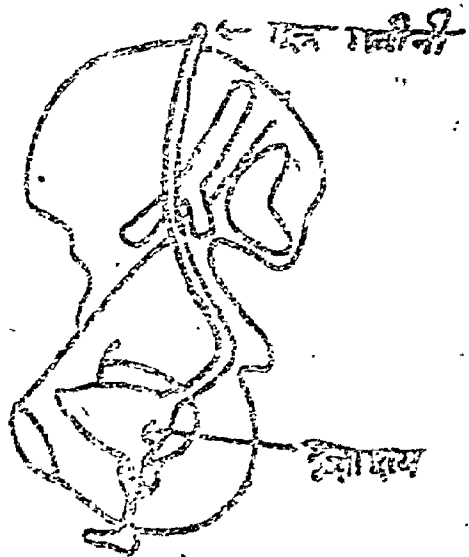
चित्र ५-श्रोणिप्रदेश में मूत्र गवीनी का मार्ग

माध्यम से परिवहन एवं श्रवण का कार्य सम्पादित होता है। स्रवण शब्द से द्रव्यों के निस्यन्दन, पारगमन एवं निस्रवण आदि का बोध करना चाहिए। इसका तात्पर्य

है कि जिस रचना के माध्यम से उपर्युक्त क्रियायें हो सकती हैं, वे स्रोतस हैं। स्रोतस शरीर के द्रवीय भावों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर वहन भी करते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि ये अत्यन्त सूक्ष्म, दीर्घाकार, जालमय रूप में शरीर में स्थित हैं। चरक ने इन्हें विविध क्षणु अंतरिक्ष से सम्बन्धित कहा है। स्रोतसों के साथ चरक ने अयन और मुख इन दो शब्दों का भी उल्लेख किया है। चक्रपाणि ने इस पर टीका करते हुए कहा है कि मुख वे छिद्र या प्रवेश मार्ग है, जिनके माध्यम से द्रव्य किसी नलिका या वाहिनी में प्रविष्ट करते है। वहन करने वाली नलिकाओं को अयन शब्द के द्वारा महर्षि ने कहा है, यह टीकाकार ने स्पष्ट किया है। मुखों से प्रविष्ट होकर प्रसादाख्य और मलाख्य 'अयन' के माध्यम से स्रवित होते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को परिवहन भी किये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि स्रोतस शब्द द्वारा आयुर्वेदीय आचार्यों ने उन रचनाओं का उल्लेख किया है जिसमें परिवहन और परिगमन एक साथ सम्भव होता है। विभिन्न आचार्यों के मूत्रवह स्रोतस के परिपेक्ष्य में विभिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ प्रस्तुत किये हैं।

चित्र ६ व ७–पौरुष ग्रंथि की अन्य अङ्ग के साथ स्थिति।
A. एक पार्श्व से दूसरी पार्श्व की ओर काट
B. ऊपर से नीचे की ओर काट

चरक और सुश्रुत द्वारा प्रस्तुत मूत्रवह स्रोतसों के परिपेक्ष में यह कहा जा सकता है कि सुश्रुत द्वारा प्रस्तुत मूत्रवह स्रोतस सम्बन्धी विवेचन गणनाथ सेन द्वारा वर्णित गवीनी के विवेचन से सामन्जस्य प्रदर्शित करता है। चरक ने मूत्रवह स्रोतस का उल्लेख करते हुए उसमें दो प्रकार की रचनाओं के संयुक्त होने का आभास प्रदान किया है। प्रथम वे जो मूत्र परिवहन से सम्बन्धित हैं, द्वितीय वे जो उनके अभिस्यन्दन के प्रति उत्तरदायी हैं। प्रथम रचना सुश्रुत द्वारा वर्णित मूत्रवह स्रोतस या गवीनी के समान दिखायी पड़ती है। जबकि दूसरे वर्ग की रचना वृक्क या किडनी के वृक्काणुओं के समान कार्य करती हुई प्रतीत होती है। अष्टांग संग्रह के रचयिता वाग्भट एवं सुश्रुत ने मूत्रवह नाड़ी के द्वारा इन्हीं रचनाओं का उल्लेख किया है, क्योंकि उनके अनुसार यह सूक्ष्म एवं असंख्य हैं और इनके माध्यम से ही मूत्र का निस्यन्दन वस्ति में होता है।

नाड़ी, धमनी और सिरा शब्दों का प्रयोग आयुर्वेदीय आचार्यों ने भिन्न-भिन्न स्थलों पर किया है। मूत्रवह नाड़ी

चित्र ८–मूत्राशय एवं पौरुष ग्रन्थि का काट
(अन्दरका दृश्य दिखाने हेतु)

का उल्लेख चरक ने सिद्धि स्थान में वस्ति के स्थान सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करते समय किया है। इसी प्रकार वाग्भट एवं सुश्रुत ने भी इन्हें असंख्य सूक्ष्म रूप में वर्णित किया है। टीकाकार डल्हण ने कहा है कि मूत्रवह मूत्र-धमनियां शाखा, प्रशाखाओं में विभक्त होते हुए १०,१०० और हजारों की संख्या में हो जाती हैं। मूत्रवह धमनियें का प्रयोग सुश्रुत ने अधोगामिनी धमनी के रूप में किये है। यह पित्ताशय से मूत्र और स्वेद का विवेचन करते

है। यह धमनी, मूत्र एवं वस्ति का धारण और यापन करती है। वाग्भट ने भी अधोगामिनी धमनी में मूत्रवह धमनी को समाविष्ट किया है। भावमिश्र ने इस धमनी के कार्यों में मूत्र में धारण एवं चालन का उल्लेख किया है। भाव मिश्र ने कहा है कि मलद्रव का जलीयांश मूत्रवह शिराओं के द्वारा ग्रहणी से वस्ति में ले जाया जाता है। शारङ्गधर ने भी इसी प्रकार का विवेचन प्रस्तुत किया है। इसकी टीका गूढ़ार्थदीपिका में आहार जलवाही शिराओं का मूल वृक्क किया है। चरक ने मूत्रवह नाड़ियों के द्वारा जिन रचनाओं का उल्लेख किया है, उनसे गवीनी का ग्रहण किया जा सकता है। सुश्रुत और वाग्भट द्वारा प्रदान किया, मूत्रवह धमनियो और नाड़ियों का विवेचन चरक द्वारा प्रस्तुत मूत्रवह नाड़ियों के विवेचन के समान है। अनेकों उत्तरवर्ती टीकाकारों ने आयुर्वेद के विभिन्न संदर्भों को ग्रहण कर इन्हें मूत्रवह संस्थान से सम्बन्धित इन रचनाओं के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के विवेचन प्रस्तुत किये हैं। जैसे—पक्वाशय द्वारा मूत्राशय का ग्रहण, आमाशय द्वारा वृक्क का ग्रहण, किन्तु यह तर्क और तथ्य की कसौटी पर किसी भी प्रकार उचित नहीं प्रतीत होता है।

वस्ति—आचार्यों ने स्थूल गुद, मुष्क, सीवनी शुक्रवह
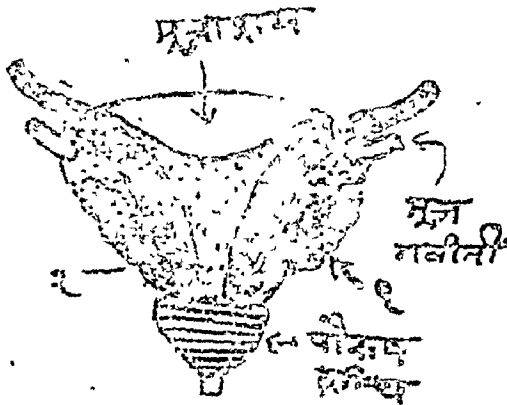
चित्र ९—पुरुष के मूत्राशय पीछे की ओर देखने पर
१—शुक्राशय, २—शुक्रवाहिनी नलिका

नाड़ी और मूत्रवह नाड़ियों के समीप अलाबु के फल के समान रचना बताई है। यह शिराओं और स्नायुओं से परिपूर्ण रहती है। इसे 'तनुत्वक' विशेषण प्रदान किया गया है, जिसका अर्थ है कि इनकी भित्ति पतली और कलामय है। वाग्भट ने इसे धन्वाकार तथा पेशी और रक्त से निर्मित माना है। यह मूत्र का संचय स्थल है, और प्राण का आयतन है। चरक ने इसे अम्बुवह स्रोतस का विश्राम स्थान कहा है। मूत्रवह स्रोतस, मूत्रवह धमनी, मूत्रवह शिरा और नाड़ी इससे सम्बन्धित रचनायें हैं। इसके संदर्भ में वस्ति, वस्तिसिर, वास्तिविक, वस्तिमुख और वस्ति द्वार आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनमें से वस्तिसिर शब्द उसके बुध्न भाग को वस्तिद्वार या वस्तिमुख, वस्ति का अधोछिद्र है। इसीसे अन्तः प्रसेकीय द्वार जुड़ा रहता है। जामनगर से प्रकाशित चरक संहिता में वस्तिसिर को वस्ति का ऊर्ध्वभाग स्वीकार किया गया है, क्योंकि टीकाकार डल्हण ने भी इसी प्रकार का मन्तव्य दिया है और चक्रपाणि ने नाभि के नीचे की ओर कहा है। इन शब्दों का प्रयोग भी इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक दूसरे से सम्बन्धित रचनाओं के रूप में किया है। चरक और सुश्रुत ने वस्ति को मर्म के अधीन वर्णन किया है। टीकाकारों ने इसके स्थान के सम्बन्ध में 'नाभि पृष्ठयोर्मध्ये' कहकर उसकी स्थिति को स्पष्ट किया है।

मूत्रवह संस्थान के अवयवों से सम्बन्धित आयुर्वेदीय आचार्यों द्वारा प्रस्तुत विवेचन द्वारा यह स्पष्ट है कि इस संदर्भ में इतनी भ्रांति सम्भवतः अलग-अलग व्यक्तियों के द्वारा पृथक-पृथक आचार्यों के परिपेक्ष में अपने-अपने भावों का प्रदर्शन किया गया है। इनके क्रमबद्ध स्पष्ट ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि सभी संदर्भों को क्रम से रखकर उनका अध्ययन आधुनिक ज्ञान के परिपेक्ष में किया जाये। प्रस्तुत विवेचन के आधार पर विभिन्न आचार्यों के मतों को चित्र रूप में इस लेख में प्रारम्भ में दिये चित्र क्रमांक १ से प्रदर्शित किया जा सकता है।

डा० पी०सी० मिश्रा[1] डा० जयराम यादव[2] डा० जे०एन० मिश्र[3] डा० यज्ञदत्त शुक्ल[4] डा० पी०सी० जैन[5]
स्नातकोत्तर शारीर विभाग, राजकीय आयुर्वेदिक महाविद्यालय, लखनऊ।

महर्षि चरक के अनुसार मूत्र अन्न का किट्ट है। चतुर्विध आहार के पाचन स्वरूप प्रसाद एवं किट्ट भागों की उत्पत्ति होती है। प्रसाद भाग या आहार रस धातुओं का पोषण करता है तथा किट्ट भाग स्वेद, मूत्र, पुरीष, वात, पित्त, कफ आदि मलों का पोषण करता है। आहार के किट्ट भाग से इन मलों की साम्यावस्था आजीवन शरीर में बनी रहती है तथा पोषण होता रहता है, वाग्भट भी इसी मत से सहमत हैं। सुश्रुत के अनुसार चतुर्विध आहार का आमाशय एवं पक्वाशय के मध्य स्थित पाचक पित्त के द्वारा पाक हो जाता है और रस, मूत्र तथा पुरीष का विभाजन होता है। पक्व आहार का सार भाग और सारहीन भाग मल द्रव कहलाता है। इसका जलीय अंश शिराओं द्वारा जब वस्ति में पहुंचता है, तब इसे मूत्र कहते हैं। अधोगामिनी शिराओं के कार्य वर्णन प्रसंग में सुश्रुत ने कहा है कि पित्ताशय में पहुंचकर ये धमनियां पक्व आहार के मूत्र पुरीष और स्वेद का विमोचन करती हैं। इस स्थल के व्याख्यान में डल्हण का कथन है कि पक्वाशय में आहार जो रस, मूत्र और पुरीष में विभाजित हो जाता है, वह वास्तविक रुप से अन्न रूप में ही नहीं रहता है। इसी प्रकार जल भी जो सामान्य रूप से ग्रहण किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह द्रव (तोय) जिसे उदक, कहा जाता है, पक्व आहार का उत्पादन है जो विवेचन के पश्चात भावी मूत्र का उत्पादन द्रव्य है। श्री उपेन्द्रनाथ दास ने भी यही मत अपने लेख, Where is urine produced' में व्यक्त किया है। उनका कथन है कि मूत्र दो रूपों में होता है। प्रथम मलाख्य दूसरा मलमूत। मलाख्य ही कालोपरांत मलमूत होकर शरीर से बाहर निकलता है।

सुश्रुत के अनुसार पक्वाशय में स्थित मलधराकला मल के विभाजन का कार्य करती है। आमाशय और पक्वाशय मे संचरण करने वाला समान वायु पाचक पित्त के सहयोग से भुक्त आहार का पाचन और रस, मूत्र, पुरीष के विभाजन के लिए पाचक पित्त जठराग्नि, भूताग्नियों और धात्वग्नियों की सहायता से होता है। इसका तात्पर्य यह है कि पक्वाशय से शोषित जलीयांश, जिसे पूर्व में उदक कहा जा चुका है, सम्पूर्ण शरीर में रस रक्त के रूप में परिभ्रमित होते हुऐ सम्पूर्ण शरीर में भूताग्नि एवं धात्वग्नियों द्वारा उत्पन्न होने वाले जल में घुलनशील मल द्रव्यों को एकत्र करता है। यही उदक त्वचा के विदीर्ण होने पर लसीका के रूप में निकलता है। अग्नि के प्रभाववश रोमकूपों में पहुँचकर स्वेद और मूत्रवह स्रोतस् में स्रवण क्रिया के पश्चात् निकल कर वस्ति में पहुंचने पर मूत्र संज्ञा प्राप्त करता है। महर्षि सुश्रुत ने मूत्र निर्माण प्रक्रिया के भौतिक रूप का वर्णन करते हुए स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि पक्वाशय से जाने वाली मूत्रवह नाड़ियां वस्ति को उसी प्रकार पूर्ण करती हैं, जिस प्रकार विभिन्न नदियां सागर की जलापूर्ति करती है। नाड़ियों के मुख अति सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियातीत होते हैं। इन्हीं नाड़ियों के मुखों से निष्यन्दन क्रिया के द्वारा वस्ति की पूर्ति मूत्र द्वारा जागृत एवं स्वप्नावस्था में निरन्तर होती रहती है। इस घटना क्रम की तुलना महर्षि ने गले तक

---

[1] स्नातकोत्तर छात्र (अन्तिम वर्ष) [2] लेक्चरार [3] रीडर [4] प्रोफेसर [5] विभागाध्यक्ष

पानी में रखे नये घड़े में पानी रिस-रिस कर परिपूर्ण करने से किया है। विभिन्न टीकाकारों ने सुश्रुत के इस कथन का विवेचन भिन्न-भिन्न रूपों में किया है। महर्षि चरक ने इस उदक का प्रमाण सम्पूर्ण शरीर में दस अञ्जलि बताया है। उदक रूप में शरीर परिभ्रमित होने वाला द्रव्य मूत्र का पोषक है। इसका परिभ्रमण शरीर में शिराओं के माध्यम से रस, रक्त, वात, पित्त, कफ और ओज रूप में होता है। इसी में शरीर के प्रत्येक देह परमाणु में धात्वग्नियों एवं भूताग्नियों की सहायता से होने वाले धातु पाक के परिणामस्वरूप उत्पन्न मल द्रव्य भी सम्मिलित होते हैं। मूत्रवह स्रोतस् तक इन सभी द्रव्यों को पहुँचाने का कार्य आयुर्वेदीय आचार्यों के अनुसार मूत्रवह धमनियों द्वारा सम्पन्न होता है। मूत्रवह धमनी से मूत्रवह स्रोतस् में ले जाने वाला द्रव पक्वाशय द्वारा शोषित द्रव से भिन्न होता है, क्योंकि मध्य के मार्ग में विभिन्न कारणों के प्रभाववश उसमें विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं और कुछ नये पदार्थ मिल जाते हैं। सामान्य अवस्था में मूत्र को आप्य और श्लेष्माश्रयित माना गया है। भावमिश्र ने इसके गुणों में वह्नि गुण की वृद्धि की है, और सुश्रुत ने मूत्र में उष्ण, तीक्ष्ण, लघु, कटु एवं लवण गुण बताये हैं। इसके प्रथम दो गुण अर्थात् आप्यत्व और कफाश्रयत्व: उदक और रस से व्याप्त होते हैं, क्योंकि यह दोनों ही द्रव्य आप्य हैं और इनमें कफ की अधिकता है। रस का मल कफ माना गया है। यह सम्भव है कि मूत्र के सामान्य सङ्घटक द्रव्यों में से कुछ द्रव्य ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्हें इस माध्यम से शरीर से बाहर निष्कासित किया जाता है। सम्भवतः इन द्रव्यों की उपस्थिति के कारण ही कफाश्रयी माना गया है। मूत्र के शेष गुण अर्थात् आग्नेयत्व, उष्णत्व, कटुत्व और सारत्व रक्त और पित्त से प्राप्त होने वाले सङ्घटक द्रव्यों से उपलब्ध होते हैं। ये गुण शरीर में धातुपाक के परिणामस्वरूप उन मलद्रव्यों से भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें रक्त, रस और मूत्र में प्रतिक्षेपित करता है। अनेकों व्याधियों में ऐसे मूत्रगत परिवर्तन परिलक्षित होते हैं, जिससे व्याधियों का मूत्रवह संस्थान से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। यह कथन भी उदक रहित रक्तरस और मूत्र के सम्बन्ध को और अधिक पुष्ट करता है। इस आधार पर यह कल्पना की जाती है कि धात्वग्नि क्रिया के विषम होने के कारण बहुत से ऐसे द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो रक्तरस के सङ्गठन को भी विषम कर देते हैं, और परिणामतः मूत्र के सङ्गठन में भी तदनुसार परिवर्तन परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट है कि मूत्र और शरीर के अन्य द्रव्य के मध्य एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी एक सुविदित तथ्य है कि मूत्र की मात्रा एवं गुण सामान्य परिस्थितियोंमें मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले आहार से भी प्रभावित होते हैं। यह कार्य रक्तरस के माध्यम से होता है। इसलिए रक्तरस के संगठन में होने वाले परिवर्तन मूत्र के संगठन को भी प्रमाणित करते हैं। उदाहरणार्थ—अत्यधिक मात्रा में ग्रहण किये गये जल के परिणामस्वरूप मूत्र के प्रवाहण में भी वृद्धि हो जाती है। यदि मनुष्य लवण एवं शीत द्रव्यों का अधिक प्रयोग करता है, तो भी इनकी मात्रा मूत्र में बढ़ जाती है। शीत और लवण द्रव्यों के रूप में शर्करा और सोडियम क्लोराइड (Nacl) का भी ग्रहण किया जा सकता है।

मूत्र के सङ्गठन में अधिकांश ऐसे द्रव्य हैं जो पाचन क्रिया के परिणामस्वरूप तो नहीं उत्पन्न होते, किन्तु धात्वग्नि क्रिया के फलस्वरूप धातु पाकजन्य होते हैं। यद्यपि आधुनिक क्रिया शारीर वेत्ताओं द्वारा मूत्र और पक्वाशय का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो स्थापित नहीं किया गया है, किन्तु कुछ आधुनिकतम अनुसन्धानकर्त्ताओं ने इस बात को स्वीकार किया है कि इन दोनों धर्मों में कुछ समानता अवश्य है, क्योंकि मूत्रमार्ग से विसर्जित होने वाले द्रव्यों की मात्रा रक्त में बढ़ जाती है, तो उनका भी विसर्जन आंत्र के माध्यम से होता है। उदाहरणार्थ—अघुलनशील कैल्शियम और अन्य अघुलनशील द्रव्य। कुछ ऐसे भी द्रव्यों का नामोल्लेख किया गया है जिनका विसर्जन मूत्रमार्ग से होता है, किन्तु उनका निर्माण वृहदांत्र या पक्वाशय से होता है यथा—इन्डोल एसिटिक एसिड, फिनाइल सल्फेट और इन्डिकेन। इनमें इन्डोल और इस्केटाल ऐसे द्रव्य हैं जो पुरीष की प्राकृत गंध के प्रति भी उत्तरदायी होते हैं। मूत्र में विसर्जित होने वाले इन्डोल, एसिटिक एसिड का निर्माण और शोषण वृहदांत्र में होता है। यह द्रव्य औद्भिद आहार द्रव्यों में विद्यमान रहते हैं। अतः इनके मूत्र में प्रकट होने की स्थिति स्पष्ट है।

—शेषांश पृष्ठ ४६ पर देखें।

रचना एवं क्रिया शरीर-
मूत्रवह संस्थान

डा० विजयकुमार वार्ष्णेय, कटरा बाजार, सहावर-टाउन (एटा) उ० प्र०
डा० वीरेन्द्र कुमार, रेलवे रोड, कासगंज (एटा) उ०प्र०

आहार के द्रव रूप मल को मूत्र बतलाया गया है। आयुर्वेद में मूत्र की उत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है—

चित्र सं. १०—सम्पूर्ण मूत्र संस्थान-एक दृष्टि में

"आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः
सिराभिस्तज्जलं नयतं बस्तौ मूत्रत्वमवाप्नुयात्"

अर्थात् आहार के सार भाग को रस कहते है और जो सारहीन द्रव होता है वह द्रवांश क्रियाओं के द्वारा आचूषित होकर अन्ततोगत्वा वस्ति या मूत्राशय में पहुँचता है जहां उसकी संज्ञा मूत्र हो जाती है। इस संदर्भ में वृक्क का वर्णन वैदिक साहित्य में प्राप्त नहीं होता। जबकि आधुनिक विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण, शरीर में संवहन करता हुआ रक्त वृक्क (Kidney) में पहुंचता है तो वहां हजारों वृक्काणु (Nephron) के द्वारा रक्त में स्थित जल एवं त्याज्य अंशों को पृथक कर देता है और यह पृथक किया हुआ द्रव रूप मल ही मूत्र कहलाता है।

मूत्र के निर्माण तथा बाहर निकालने की क्रिया में भाग लेने वाले अवयव निम्न हैं—

(१) वृक्क (Kidney) (२) गवीनियां (Ureters) (३) मूत्राशय (Urinary Bladder) (४) मूत्रपथ या मूत्रप्रसेक (Urethra)।

वृक्क या किडनी—

इसे आजकल सामान्यतः गुर्दा या मूत्र पिण्ड कहा जाता है। गुर्दा(वृक्क)को ही आधुनिक चिकित्सा विज्ञान परिभाषा के अनुसार इसे किडनीज (Kidneys) कहा जाता है। ये संख्या में दो होते है -

(१) दायी किडनी (२) बांयी किडनी।

वृक्क, उदर गुहा में पीछे की ओर मेरुदण्ड के पार्श्व में दोनों ओर उदरावरणकला के पीछे स्थित होते हैं। इसके चारों ओर पर्याप्त मात्रा में वसा एकत्रित रहती है। वृक्क को स्पर्श द्वारा प्रतीत नहीं किया जा सकता है।

किडनी का ऊपरी सिरा बारहवें वक्षीय कशेरुका ऊपरी किनारे के लेविल पर और इनका नीचे का सिरा तृतीय कटि कशेरुका के लेविल पर स्थित होता है [वृक्कों की स्थिति, देखें चित्र २ पर]। दांया वृक्क लीवर की उपस्थिति के कारण वांये वृक्क की अपेक्षा लगभग एक से०मी० नीचा होता है जबकि वांया वृक्क, दांये वृक्क की अपेक्षा आकार में कुछ लम्बा, कम चौड़ा तथा मेरुदण्ड के अधिक समीप होता है।

वृक्क का आकार लगभग सेम के बड़े बीज के समान होता है। इनका वर्ण लाल कत्थई होता है। इनकी लम्वाई ११ से० मी०, चौड़ाई ६से१० मी० तथा मोटाई ३ से०मी० के लगभग होती है।

पुरुष में वृक्क का वजन १२६ से१७० ग्राम।

स्त्रियों में वृक्क का वजन ११५ से १५० ग्रा.।

वृक्क के दो सिरे पाये जाते हैं—ऊपरी सिरा एवं नीचे का सिरा।

चित्र सं. ११—वृक्कों का पश्चात् तल

वृक्क का ऊपरी सिरा अपेक्षाकृत अधिक मोटा तथा गोलाई लिये होता है और अधिवृक्क (सुप्रारीनल) ग्रंथि के सम्बन्ध में रहता है, जब कि इसका निचला शिरा अपेक्षाकृत कुछ पतला तथा छोटा होता है।

अग्र पृष्ठ (Anterior Surface)—यह पृष्ठ उत्तल होता है तथा उदर के सभी अवयवों के सम्पर्क में रहता है परन्तु दोनों वृक्क के सम्बन्ध में रहने वाले अवयव भिन्न भिन्न होते हैं—

दांयी वृक्क का अग्र पृष्ठ का अधिकांश भाग यकृत के दांये भाग के सम्पर्क में रहता है। इसके ऊपर का संकुचित भाग दांये अधिवृक्क ग्रन्थि (Rtsuprarenal-gland) के साथ रहने वाला भाग ग्रहणी (डुओडिनम) के सम्बन्ध में रहता है। इस पृष्ठ का शेष भाग दांये कॉलिक फ्लेक्जर तथा छोटी आंत के सम्बन्ध में रहता है।

चित्र सं. १२—वृक्क का अग्र पृष्ठ

यकृत (लिवर) आदि अवयवों के घनिष्ट सम्पर्क में रहने तथा निरन्तर दबाव पड़ने के कारण इस पृष्ठ पर चिह्न बन जाते हैं जो निम्न है–Hepatic Impression, Supra renal Imp Duodenal Imp, Calic Imp. ression.
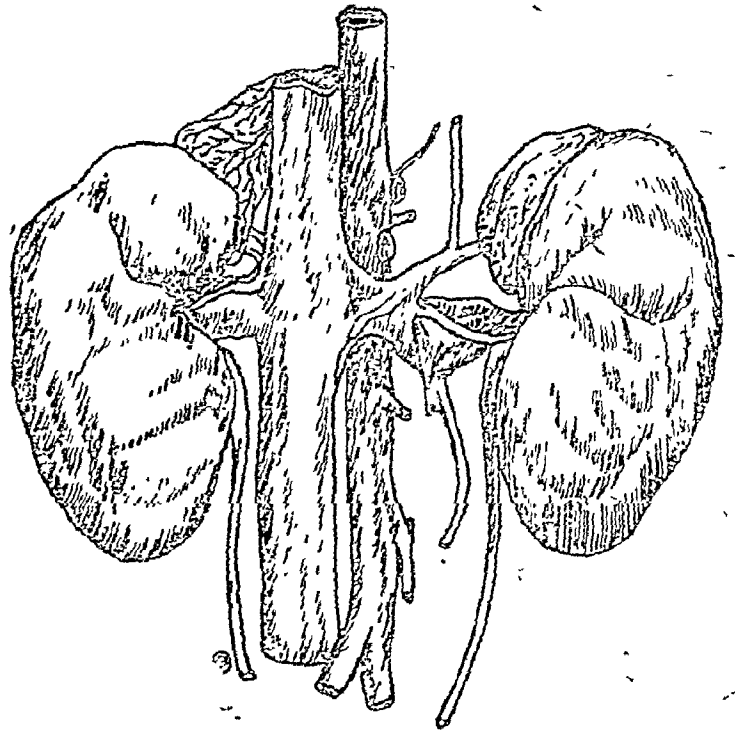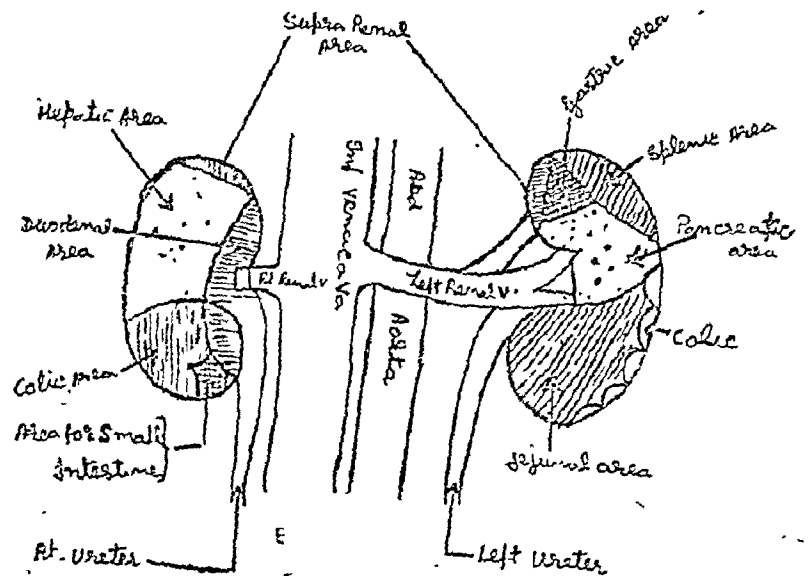
बांया वृक्क की अग्र पृष्ठ के मध्य किनारे के ऊपर के भाग के समीप रहने वाले छोटे से भाग पर बांयी, सुप्रारीनल ग्रंथिस्थित होती है। और इस पृष्ठ के पार्श्वीय किनारे के साथ रहने-वाला ऊपर का २/३ भाग प्लीहा

सम्बन्ध में रहता है। इस पृष्ठ का लगभग मध्य में क्लोम ग्रंथि से सम्पर्क रहता है। इस पृष्ठ के मध्य में सुप्रारीनल ग्रंथि, प्लीहा और अग्न्याशय के मध्य, इस पृष्ठ का त्रिकोणाकार स्थान आमाशय के सम्पर्क में रहता है। क्लोम और प्लीहा के नीचे शेष भाग जेजुनम तथा वाम कॉलिक फ्लैक्जर तथा डिसेंडिङ्ग कोलन के प्रारम्भिक भाग के सम्पर्क में रहता है। बांये वृक्क के अग्र पृष्ठ पर चिह्न—Suprarenal Impression Splenic Imp, Gastric Imp. Pancreatic Imp, Jejunal & Coelic Impression.

चित्र १३—वृक्कों का पृष्ठ तल

निम्नानुसार अङ्गों के सम्पर्क में रहते हैं— १. यकृत २. उण्डुक, ३. जेजुनम, ४. ग्रहणी, ५. अधिवृक्क ग्रन्थि, ६. आमाशय, ७. प्लीहा, ८. क्लोम ग्रन्थि, ९ अधोमहाशिरा, १०. महाधमनी (Aorta) ११. मूत्रगवीनी

पश्चिम पृष्ठ—यह पृष्ठ उदरावरणकला से पूर्णतः रहित होती है इसके पीछे पर्याप्त मात्रा में वसा संचित होती है। दांये एवं बांये वृक्क के पश्चिम पृष्ठ पर उदरगुहा की पश्चात् भित्ति का निर्माण करने वाली कुछ पेशियों पर आधारित रहते हैं। इस पृष्ठ का ऊपर का भाग महाप्राचीरा पेशी (Upper part Diaphragm Muscle) पर मध्य सीमान्त की ओर का भाग कटि लम्बिनी दीर्घा पेशी (Psoas Major Muscle) पर, मध्य का भाग कटि चतुस्त्रापेशी (Quadratus Lumborum Muscle) पर तथा बाह्य सीमान्त की ओर रहने वाला भाग अनुप्रस्थ उदरगुहा पेशी पर आधारित रहता है।

वृक्क में दो किनारे होते हैं—पार्श्वीय एवं मध्य—

(१) पार्श्वीय किनारा—यह उत्तल होता है। बांये वृक्क का ऊपर का भाग उदरावरण कला के सम्पर्क में रहता है जिससे यह प्लीहा से प्रथक रहता है और इसका नीचे का भाग डिसैण्डिग कोलन के सम्पर्क में रहता है। दांये वृक्क की पार्श्व की किनारी उदरावरणकला के द्वारा यकृत से प्रथक रहती है।
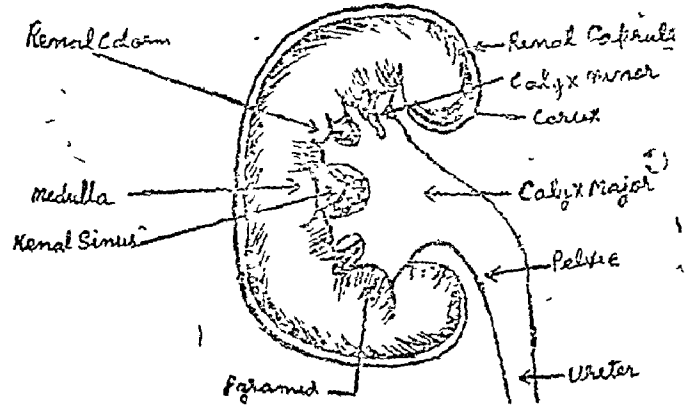
चित्र १४—वृक्क की रचना
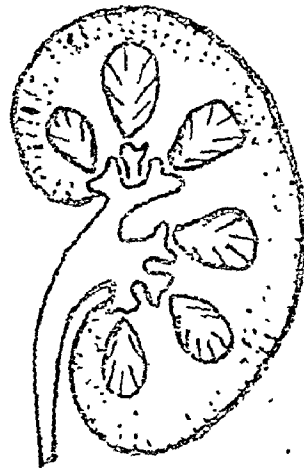
चित्र १५—वृक्क का काट

वृक्क का मध्य किनारा यह किनारा ऊपर एवं नीचे में उत्तल और मध्य में अवतल होता है। इसके मध्य भाग में एक छिद्र पाया जाता है जिसे वृक्क द्वार (Hilum) कहते हैं जिसमें से रक्त वाहिनियां, नाडियां एवं गवीनिका गुजरते हैं Hilum में सबसे आगे वृक्क सिरा, मध्य में वृक्क धमनी तथा सबसे पीछे गवीनी के श्रोणि भाग रहते हैं। यह Hylum Renal Sinus तक पहुँचता है। इस Sinus में गवीनी का आकार और अधिक विस्तृत होजाता है जहां पर यह दो और तीन बड़ी शाखाओं में विभाजित हो जाता है जिन्हे Calyx Major कहते हैं। ये अनेकों छोटी-छोटी शाखाओं में विभक्त हो जाते हैं जिन्हें Calyx

Minor कहते हैं। ये साधारणतया संख्या में ७ से १३ तक हो सकते हैं।

वृक्क के ऊपर एक पतला आवरण चढ़ा रहता है। इस आवरण को आसानी से पृथक किया जा सकता है। वृक्क की परिधि वाले भाग को बहिर्वस्तु (Cortex) तथा केन्द्रस्थ भाग को अन्तर्वस्तु कहते हैं। अन्तर्वस्तु (Medulla) में पीतवर्ण के ८ से १२ तक की संख्या में Pyramides पाये जाते हैं। ये आकार में नुकीलें (कानीकल) होते हैं जिनका आधार वृक्क परिधि की ओर तथा इनका नुकीला भाग शिखर भाग की ओर रहता है।

वृक्क की आन्तरिक रचना—

वृक्कों में बहुत अधिक संख्या में क्रियाशील नलिकायें होती हैं जिन्हें मूत्रजनन नलिका कहते हैं। प्रत्येक नलिका को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं -

(१) वृक्काणु (Nephron) (२) संग्राही नलिका (Collecting Tubule)।

१—वृक्काणु (Nephron)—इसे पुनः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है एक तो वह भाग जो छने हुये अंश से शारीरोपयोगी तत्वों का पुनः शोषण का कार्य करता है। इसे वृक्क नलिकायें (Renal tubule) कहते हैं।

२—वृक्क सम्पुट (Malpigian Corpusale)—इनकी संख्या प्रत्येक वृक्क में एक लाख के लगभग होती है। ये वृक्क के कार्टेक्स में स्थित होता है। मैलपीजियन कारपुसिल को दो भागों में बांटते हैं।

(a) केशिकास्तवकीय (Glomesulus)—रक्त केशिकाओं द्वारा निर्मित एक जाल जैसी रचना होती है। इसमें अभिवाही शाखा (Affesent duct) द्वारा रक्त पहुंचता है और अपवाहीशाखा (Afferent duct) रक्त को वापस लाने का कार्य करती है।

(b) केशिका स्तवकीय सम्पुट (Glomerular Corpusele)--ये कप के आकार होता है जो कि नीचे की ओर वृक्क नलिका के साथ निरन्तर सम्बन्धित रहता है। इसमें एक विशेष प्रकार की श्लैष्मिक कला होती है जिसे Basement Membran कहते हैं। यह कला Semipermeable होती है जिसके कारण रक्त प्लाज्मा में स्थित विशिष्ट पदार्थ इसके द्वारा छाने जाते हैं।

(१) वृक्क नलिका (Renal Tubule)—क्रमानुसार निम्न भागों से सेवनी होती है--Proximal Convoluted Part, Spiral Part, Henles Loop, Irregular Distal Convoluted Part.
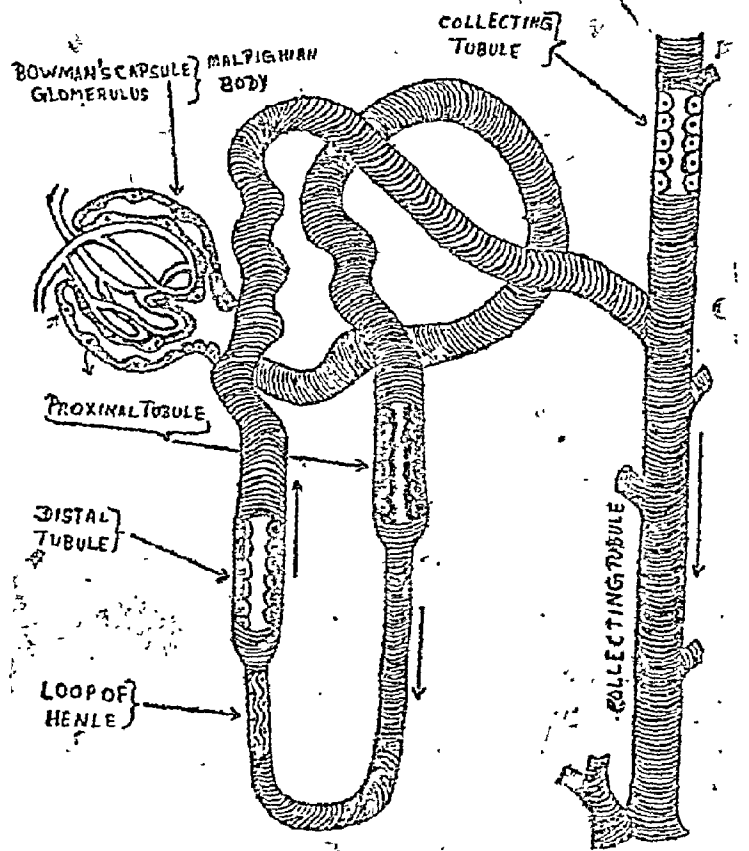
चित्र १७--मूत्र कणिकाओं (Nephrons) की रचना एवं स्थिति

चित्र १६
केशिका स्तवकीय सम्पुट

(२) संग्राही नलिका(Collecting Tubule)—इसका निर्माण वृक्क नलिका के आपस में मिलने से होता है। ये थोड़ी-थोड़ी दूरी पर आपस में मिल जाती हैं और अन्त में एक बड़ी नलिका में जिसे duct of Bell ni कहते हैं
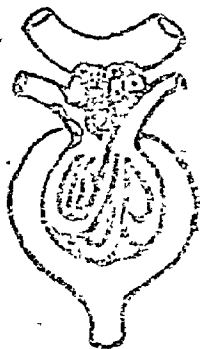
जो Pyramids-में स्थित Papilae के रूप में खुलती है ये Duct of Belline कैलिक्स माइनर में खुलती है। ये कैलिक्स माइनर आपस में मिलकर कैलिम्स मेजर, का निर्माण करती है अन्त में ये। कैलिम्स मेजर आपस में मिल कर गवीनी निर्माण करती है और मूत्र को यूरेटर में लाकर छोड़ देती हैं। [देखें चित्र १५]

(२) गवीनी—

ये मूत्र को किडनी से मूत्राशय तक ले जाने वाली दो नलिकायें हैं जो किडनी के हाइलम से प्रारम्भ होती हैं और मूत्राशय के आधार भाग में जाकर खुलती हैं। इसका प्रारम्भिक भाग अधिक चौड़ा होता है। आकार में कीप के समान होता है। शेष भाग की चौड़ाई क्रमशः कम होती जाती है और वह संकुचित होती जाती है साधारणतया यूरेटर की लम्बाई २५ से० मी० से ३० से० मी० के लगभग होती है।

(a) गवीनी श्रोणि—रीनल साइनस तथा हाइलस में पाये जाने वाले यूरेटर के इस भाग की चौड़ाई सबसे अधिक होती है। आकृत कीप के समान होती है जिसका विस्तृत भाग रीनल साइनस में दो और तीन शाखाओं में विभक्त हो जाता है। इन शाखाओं को कैलिक्स मेजर कहते हैं। ये कैलिम्स सात से तेरह तक की संख्या में पुनः विभाजित हो जाते हैं। इन्हें कैलिक्स माइनर कहते हैं।

(b) गवीनी का उदरस्थ भाग—यह भाग उदरावरण कला के पीछे दीर्घा पेशी पर आधारित रहता है। इसको पीछे से औवीनाड़ी तथा सामने से अण्डकोषीय रक्त वाहिनियां (परन्तु स्त्रियों में डिम्ब रक्त वाहिनियां) गुजरते हैं। Common Iliac Vasscles के सामने से गुजरने के पश्चात् यह श्रेणी गुहा में प्रवेश करता है। दांये गवीनी का प्रारम्भिक भाग साधारणतया डुयोडीनम के द्वारा आच्छादित रहता है। यह अधोमहाशिरा के दक्षिण पार्श्व में रहता हुआ नीचे की ओर जाता है। श्रोणिगुहा के प्रवेश द्वार के समीप यह Mesentary & Gleurn के पीछे से गुजरकर श्रोणी गुहा में प्रवेश करता है।

(c) गवीनी का श्रोणीय भाग—

यह भाग उदरावरण कला के बाहर रहता है। प्रारंभ में यह Greater Sciatic Notch के अग्र सीमान्त के साथ-साथ श्रोणीगुहा पार्श्व एवं पीछे के भाग में रहता हुआ नीचे की ओर जाता है। अन्त में यह इश्चिमल स्पाइन के सामने पहुंच कर मूत्राशय में मिलने के लिए मध्य की ओर मुड़ जाता है। यूरेटर का यह भाग पुरुषों में शुक्र वाहिनी (Vas Deferens) एवं शुक्राशय (Seminal Vesicle) के सम्पर्क में रहता है। स्त्रियों में यह गर्भाशय के बन्धन में रहता हुआ मूत्राशय के पार्श्व में पहुँच कर एक दूसरे से ५ से० मी० की दूरी पर रहते हुए मूत्राशय भित्ति में प्रवेश कर खुलते हैं।

(३) मूत्राशय या वस्ति—

यह श्रोणीगुहा में रहने वाली एक थैले के समान रचना है जिसमें कुछ समय के लिए मूत्र संचित रहता है।

चित्र १८—मूत्राशय का अधः अग्र तल

इसका आकार समीपवर्ती अवयवों एवं मूत्र के कारण परिवर्तित होता रहता है। युवा व्यक्तियों में इसकी क्षमता १५० मि० ली० से ३०० मि० ली० के लगभग होती है। रचना की दृष्टि से मूत्राशय को निम्न भागों मे बांटते हैं—

(a) मूत्राशय का आधार भाग—यह मूत्राशय का पीछे की ओर रहने वाला भाग है जो त्रिकोणाकार होता है।

चित्र–१६ मूत्राशय का अर्ध्व पश्चात् तल

चित्र–२० स्त्रियों में मूत्राशय की स्थिति
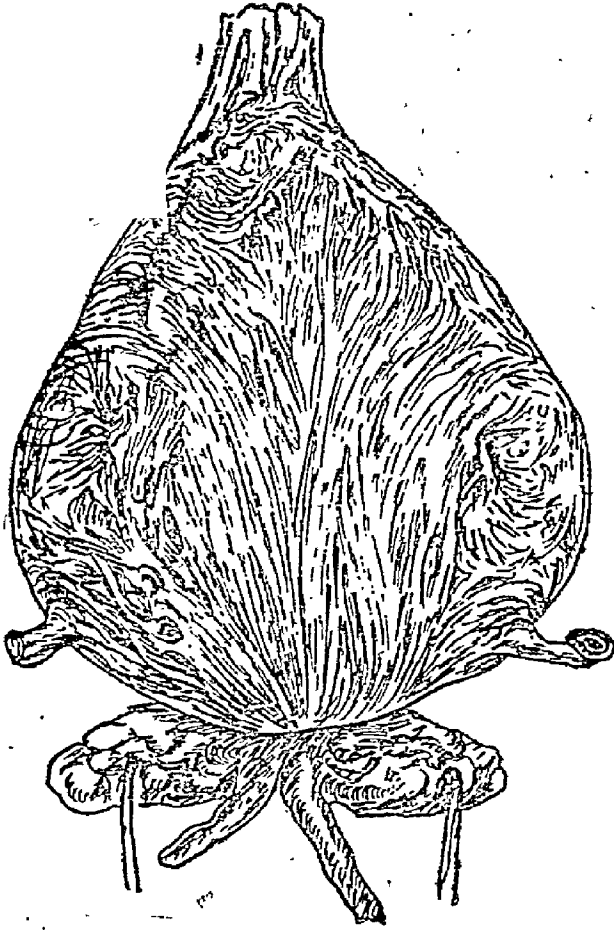
स्त्रियों में यह योनि की अग्र भित्ति के सम्पर्क में रहता है तथा पुरुषों में मलाशय के सम्पर्क में।

(b) ग्रीवा—यह मूत्राशय का सबसे नीचे का संकुचित भाग होता है जो भगास्थि सन्धि (Symphysis pubis) के तीन-चार सें० मी० पीछे स्थित एक छिद्र के द्वारा मूत्रपथ के साथ सम्बन्धित रहता है। पुरुषों में यह भाग पौरुष ग्रन्थि के सम्बन्ध में रहता है।

(c) शीर्ष (Apex) यह भगास्थि संधि के ऊपर की तरफ रहने वाला मूत्राशय का सबसे आगे का भाग है रिक्तावस्था में मूत्राशय में तीन पृष्ठ देखे जा सकते हैं—

१. ऊर्ध्व पृष्ठ–यह त्रिकोणाकार, पुरुषों में यह पृष्ठ उदरावरणकला के द्वारा आवृत रहता है। यह उदरावरण कला पीछे की ओर मूत्राशय के आधार भाग के कुछ हिस्से को आवृत करती हुई मलाशय पर परावर्तित हो जाती है।

२. अधः पार्श्वीय तल—यह दांये और बाये भेद से दो होते हैं। यह पृष्ठ उदरावरणकला के द्वारा अनावृत होते हैं। सामने की ओर यह Retropubic pad के द्वारा भगास्थि से प्रथक रहता और पीछे की ओर यह फेशिया के द्वारा औदरिक पेशियों से प्रथक रहता है।

४. मूत्रपथ (Urethra)—

पुरुषों में मूत्रपथ की लम्बाई १८ से० मी० के लगभग होती है। यह मूत्राशय-ग्रीवा से प्रारम्भ होकर पौरुष ग्रंथि एवं शिश्न में रहता हुआ शिश्न मुंण्ड पर एक छिद्र के रूप में खुलता है। इस प्रकार मूत्रपथ जिन-जिन रचनाओं में स्थित रहता है इसके अनुसार इसे—

(१) वस्तिद्वारिक मूत्रप्रसेक (Prostatic Urethra) यह पौरुष ग्रंथि के मध्य में रहने वाला भाग है जिसकी चौड़ाई लगभग ३ सें० मी० होती है। यह मूत्रपथ का सबसे चौड़ा भाग होता है। मध्य में कुछ चौड़ा होता जाता है और अन्त में संकुचित होकर मूत्रपथ के कला निर्मित भाग के साथ निरन्तर सम्बन्धित रहता है।

(२) कलामय मूत्रपथ(Membraneous Urethra)-यह Perineal Membrane के मध्य में रहने वाला लगभग २ से० मी० लम्बा भाग है। वह पौरुष ग्रंथि के शिखर से प्रारम्भ होकर शिशन का मूत्र द्वारिका (Bulb of the Penis) तक रहता है जहां पर यह Spongy Urethra) के साथ निरन्तर सम्बन्धित रहता है। मूत्रपथ

—शेषांश पृष्ठ ६८ पर देखें।
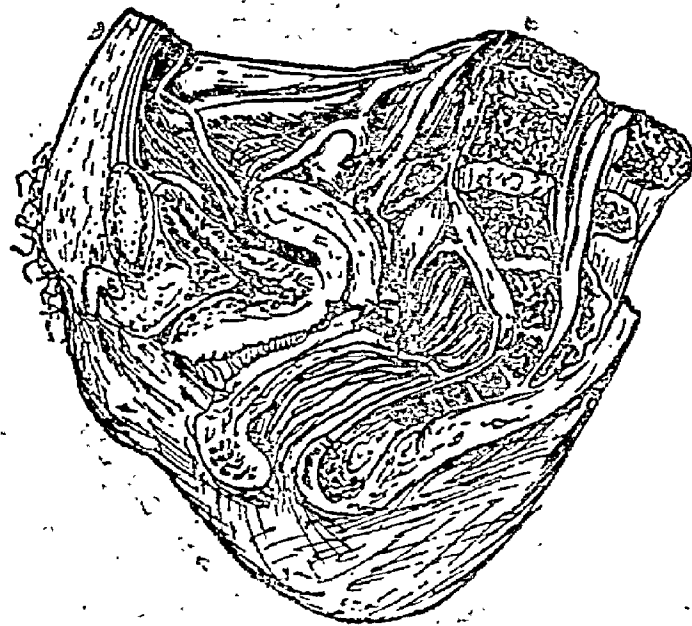
मूत्रवह संस्थान के कार्यारम्भ पर दृष्टिपात एवं विकृति

श्री डी० एन० मिश्र[1] एवं सी०चतुर्वेदी[2], प्रसूति तन्त्र विभाग [बाल रोग यूनिट]
भारतीय चिकित्सा संकाय, चि० वि० सं०, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

आयुर्वेद मनीषियों ने नवीन जीवन का आरम्भ गर्भाधान के समय से ही माना है। शुक्रशोणित जीव संयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति। (च० शा० ४/५)

वृक्क, गवीनी और मूत्राशय

चित्र सं० १२

नवीन जीवन के धारण करने के समय से ही उस गर्भस्थ जीव में सम्पूर्ण अङ्ग रहते हैं।

स सर्व गुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि, संमूर्छितः सर्व धातुकलुषीकृतः खेटभूतोभवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयव ॥ (च० शा० ४/९)

यह सत् और असत् रूप में उपस्थित अङ्ग प्रत्यङ्ग कब प्रकट होते हैं।

तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते। (च० शा० ४/११)

वस्तुतः इसी स्थिति का वर्णन अधुना वैज्ञानिक भी करते हैं। आलेख से सम्बन्धित विषय मूत्र निर्माण प्रक्रिया का प्रारम्भ ९ वें सप्ताह एवं १२ वें सप्ताह के मध्य प्रारम्भ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि ९ वें सप्ताह के पूर्व अर्थात तृतीय माह प्रारम्भ होने के पूर्व भी मूत्रवह संस्थान का निर्माण प्रारम्भ रहता है। परन्तु उसका प्रत्यक्ष रूप तीसरे माह में होता है।

गर्भस्थ शिशु के वृक्क के कार्य क्षमत्व के विषय में अभी भी वैज्ञानिक चिंतन मनन कर रहे हैं एवं स्पष्ट रूप से कुछ कह पाने में असमर्थ हैं। परन्तु प्रयोगशालाओं में किये गये परीक्षणों से यह पता चलता है कि स्तनपायी विभिन्न प्राणियों में यह वृक्क अनेक कार्य करता है यथा—

—मूत्र की सघनता कम करना (Dilute)
—मूत्र को अम्लीय करना
—फास्फेट का पुनः शोषण करना
—आरगैनिक धातुओं का संवहन

[1]क्लीनिकल रजिस्ट्रार, कौमारभृत्य [2]रीडर, कौमारभृत्य
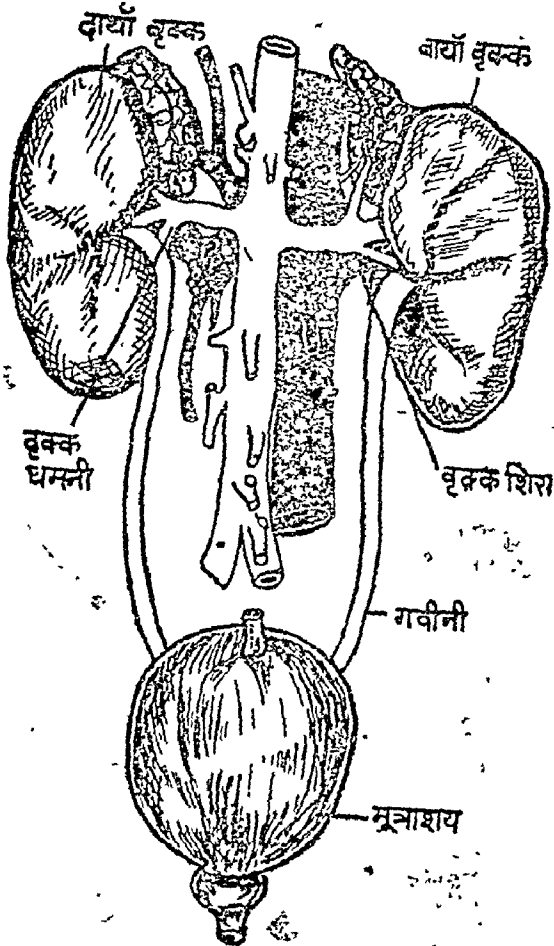
गर्भावस्था में शिशु के उत्सर्जन कार्यों को करने में वस्तुतः अपरा ही सक्षम होता है। नवजात शिशु में यदि दोनों वृक्कादि मूत्रवह संस्थान के अंगों का निर्माण न भी पूरा हुआ हो (Renal Agenesis) तो भी शिशु के शरीर की ऊतकों की रचना में सामान्य शिशु से कोई अंतर नहीं मिलता।

वृक्क को बीच से काटा गया
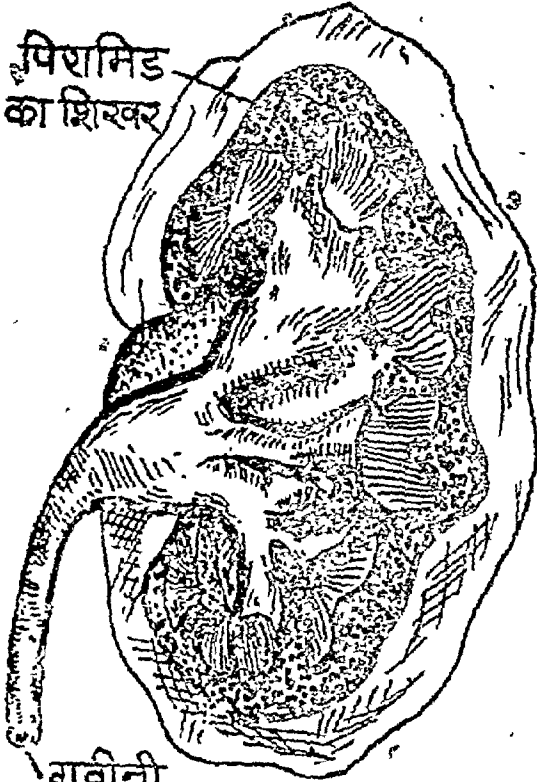
चित्र सं०—१३

जन्म के तुरन्त बाद ही अपरा का स्थान वृक्कों को लेना पड़ता है। जो शरीरस्थ जलीय अंश को स्थिर करता है। गर्भस्थ शिशु में वृक्कीय रक्त संवहन गति एवं वृक्कान्त्रमुख (Bowmans Capsule) स्थित केशिका गुच्छ (Glomerulis) छनन गति (Filteration Rate) बहुत ही कम होता है परन्तु जन्म के बाद प्रथम कुछ दिनों में ही यह गति चमत्कारिक रूप से बढ़ जाती है। और प्रथम वर्ष में ही युवावस्था के समान हो जाता है। इसपरिवर्तन में शरीर में २ प्रकार के कार्यों का सहयोगहोता है—

१. वृक्कान्तर सूक्ष्म धमनियों के रक्त संचार में प्रतिरोधात्मक शक्ति में कमी।

२. हृदय से रक्त निकलने के अंश में वृद्धि।

कुछ अन्य महत्व पूर्ण तथ्य—

१. वृक्क के वृक्कान्त्रो (Nephrons) में जो बाह्य भाग में स्थित होते हैं। उनमें रक्त संत भाग के वृक्कान्त्री की अपेक्षा देर से प्रारंभ होता है।

२. जीवन के प्रथम वर्ष में ही वृक्कान्त्रों का विकास पूर्णता की दृष्टि से हो जाता है। वृक्कान्त्रों के समूह में वृद्धि ही वृक्क की वृद्धि का कारण जन्म के बाद होती है।

३. जब गर्भस्थ शिशु २ से २.५ किग्रा. का हो जाता है तो नवीन वृक्कान्त्रों का निर्माण रुक जाता है।

वृक्कान्त्रस्थित केशिकाओं के गुच्छ से छनन गति (Glomerular Filteration Rate-G. F. R.)

वय	जी.एफ आर. (मि.ली. प्रति वर्ग मी. शरीर की माप प्रति मिनट)
नवजात	१५
३ दिन	२०
द्वितीय सप्ताह तक	३०
चतुर्थ मास तक	३५
६ माह से १ वर्ष में	४५ से ५०
३ वर्ष तक	५० से ७०
नवयुवावस्था में	१२०

५. फंक्शन रीनल प्लाजमा संवहन नवजात में युवावस्था की अपेक्षा अधिक होता है।

नवजात / .३२ से .३४

युवावस्था .१८ से .२०

६. नवजात शिशु में जी. एफ. आर. आन्त्र कार्यक्षमत्व से अधिक होता है। इसीके परिणामस्वरूप नवजात शिशु में बहुत से तत्वों का पुनः शोषण नहीं हो पाता जो कि अधिक वय में हो जाता है। यथा फास्फेटस, अमाइनो एसिड्स आदि

७. ९३ प्रतिशत नवजात शिशु मूत्रत्याग २४ घंटे के अन्दर कर देते हैं। ९९% शिशु ४८ घंटे के अन्दर मूत्र त्याग कर देते हैं।

८. सोडियम के संरक्षण की स्थिति नवजात में अन्य अवस्थाओं से कम परन्तु अच्छी होती है।

९. जीवन के प्रथम कुछ दिनों में मूत्र की अम्लीयता

कम रहती है। परन्तु दूसरे सप्ताह के बाद अन्यावस्था के समकक्ष आ जाती है।

सामान्य विकास क्रम के यह कुछ महत्व पूर्ण तथ्य हैं जो नवजात शिशु को अन्य वय के लोगों से अलग करते है।

मूत्रवह संस्थान की रचनात्मक विकृति—

विश्व के १० % लोग इस वर्ग की विकृति से पीड़ित हैं। इसमें से कुछ विकृतियां अल्प एवं लक्षणरहित होती हैं तथा कुछ विशाल एवं लक्षण, उपद्रव सहित होती है। ४५ % वृक्कजीर्ण रोग (Chronic Renal Failure) शैशवावस्था में इन्हीं विकृतियों से होते हैं जो प्रायः अनुवांशिक होती है तथा प्रायः शरीर के अन्य संस्थाओ की विकृति के साथ होती है। मूत्रवह संस्थान की रचनात्मक विकृतियों के वर्गीकरण का एक प्रयास यहां पर दिया जा रहा है।

१. विकास के दृष्टिकोण से

(अ) एक या दोनों वृक्को का अपूर्ण विकास या न बनना —अनुवांशिक —कभी कभी

(ब) आकार मे कमी—एक में अथवा दोनों में वृक्क के लोब्यूल्स में कमी होना, या Calyces की संख्या मे कमी, या वृक्काकार मे कमी आदि

(स) दो के अतिरिक्त अन्य वृक्क का निर्माण

२. स्थान एवं आकार में परिवर्तन

(अ) अपने स्थान से एक या दोनों का च्युत होना

(ब) दोनों वृक्क का नीचे से जुड़कर घोड़े की नाल सदृश आकृति बनाना। देखें नीचे का चित्र
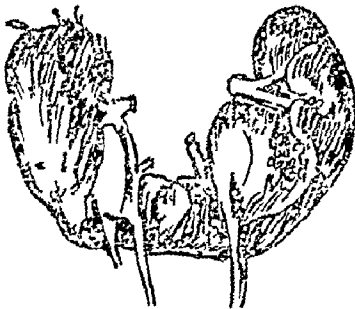
चित्र सं० १४

३. वृक्क विभेदकावस्था में विकृति

(अ) वृक्क में असामान्य ऊतकों का निर्माण—स्थानीय, सम्पूर्ण, एक ही वृक्क में, दोनों वृक्कों में।

(ब) वृक्क गुल्म विकृति।

(स) जन्मजात वृक्क गुल्म।

४. वृक्क एवं मूत्रवह संस्थान में अन्य संस्थानों की विकृति के साथ साथ विकृति—इस समूह में २४-२५ व्याधियों की गणना की गई है। सम्पूर्ण की गणना देना और वर्णन कठिन है। क्योंकि लेख का अनावश्यक अति विस्तार हो जावेगा। इसमें अन्य संस्थानों की विकृति (कान, नेत्र, अंगुलियां, क्रोमोजोम्स एवं जीनस) के साथ साथ वृक्क की कोई भी विकृति हो सकती है। मूत्रवह संस्थान की विकृति भी हो सकती है। यथा—

Fanconi Syndrome of multiple anamolies and aplastic anaemia

Oral Facial Jigital syndrome

Congenital renal and ear syndrome

Cat eye syndrome आदि

५. मूत्रवह सस्थान के अन्य अंगों में विकृति

अ—वृक्क के निकासी मार्ग, गवीनी मे अवरोध के कारण वृक्क का मूत्र एकत्र कर वृद्धि करना (Hydronephrosis)

ब—मूत्र एकत्र कर गवीनी का फूलना (Hydro ureter)

स—गवीनी वृद्धि (Mega ureter)

द—Vesico ureteral Reflex

य—गवीनी मे कोष बनाकर फूलना (Uretrocele)

र—दोहरा हो जाना(Duplication of Kidney)

ल—Ectopic ureteral insertion

व—शिश्न के ऊपरी भाग पर मूत्रमार्ग

स—Bladder exstrophy

श—शिश्न विकृति—Posterior urethral valve and other anamolies. जिसके अन्तर्गत जन्मजात मूत्रमार्ग मे संकोच (Stricture) (Stenosis) परिवर्तिका एवं निरुद्ध प्रकश आदि व्याधियां भी होती हैं।

आयुर्वेद संहिता ग्रन्थों में शैशवकाल में अश्मरी के प्रायः होने का वर्णन मिलता है। प्रमेह को कुलज विकार बताया है। परिवर्तिका, निरुद्ध प्रकश का वर्णन है।

इस प्रकार से प्रस्तुत आलेख में मूत्रवह संस्थान के निर्माण काल से कार्य करने की क्षमता का परिचय एवं विकृतियों का परिचय कराने का प्रयास किया है।

मूत्र निर्माण का आयुर्वेदीय सिद्धान्त एवं परीक्षण विधि

डा० देवेन्द्रनाथ मिश्र[1]

आधुनिक मतानुसार मूत्र निर्माण की जो प्रक्रिया प्रकाश में आयी है प्रत्यक्ष रूप में आयुर्वेद में ऐसी प्रक्रिया का कहीं भी उल्लेख नहीं है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्हें मूत्र निर्माण प्रक्रिया का ज्ञान नहीं था। आवश्यकता इस बात की है कि आयुर्वेद साहित्य को उनके सिद्धान्त के परिपेक्ष्य में देख कर समझने का प्रयास किया जाय। प्रस्तुत आलेख में ऐसा ही प्रयास किया है।

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम् (च. चि. १५)

हम जो भी आहार (ठोस अथवा द्रव) ग्रहण करते हैं, वह अन्नवहस्रोतस में पूर्णतयः परिपाक को प्राप्त होता है। तदोपरान्त उस पक्व आहार रस का दो भागों में विभाजन होता है—सार भाग एवं किट्ट भाग। यह किट्ट भाग शरीर से दो रूपों में निकलता है। ठोस भाग मलरूप में मलाशय से होकर, एवं द्रव भाग मूत्र स्वरूप वस्ति से होकर।

उण्डुकस्थं विभजते मलंधराकला

उण्डुक (Caecum) पर क्षुद्रान्त्र एवं बृहदान्त्र का मिलन होता है। अर्थात् उण्डुक में आकर क्षुद्रान्त्र समाप्त होती है और बृहदांत्र का प्रारम्भ होता है। इस स्थल पर पक्व आहार रस का विभजन होता है। सार भाग क्षुद्रान्त्र में शोषित कर लिया जाता है। अवशेष किट्टभाग बृहदांत्र में भेज दिया जाता है। यहां पर मलधराकला होती है जो मल का विभाजन करती है। ठोस मल मलाशय में चला जाता है। द्रव मल एवं जल का शोषण हो जाता है।

मूत्रस्य क्लेदवाहनम्। विक्लेदकृन्मूत्रम्।

यह अतिरिक्त शोषण जो जलीय अंश का होता है वही मूत्र का उपादान धातु है अथवा प्रारम्भिक तत्व है। जो शरीर की सफाई करने में एवं क्लेद (त्याज्य पदार्थ शरीर के) संग्रह का कार्य करता है।

इस तरह से हमारे शरीर में दो प्रकार से जल का शोषण हो जाता है।

१. क्षुद्रांत्र में सार भाग रस के साथ

२. बृहदांत्र में मल द्रव रूप में

मूत्र निर्माण के सम्पूर्ण मार्ग को अथर्ववेद ने मात्र इतने में कहा है कि "यदान्त्रेभ्योयगवीन्यों" अर्थात् मूत्र निर्माण बृहद्रांत्र (आंत) से प्रारम्भ होकर गवीनियों में समाप्त होता है। इसके मध्य की प्रक्रिया का वर्णन आचार्य शार्ङ्गधर ने इन शब्दों में किया है—

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः।
सिराभिस्तज्जलं नीतं वस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्॥

अर्थात् शिराजाल (Portal System) के द्वारा शोषित आहार रस एवं बृहदांत्र द्वारा शोषित मल द्रव सम्पूर्ण शरीर में एक साथ भ्रमण करते हैं (रक्तवह संस्थान द्वारा) और अंत में मलद्रव वस्ति में पहुंचता है और मूत्र स्वरूप को प्राप्त करता है।

वृक्क अवयव विचार विमर्श—

पंद्रह कोष्ठांगों में वर्णित दो गोलक या पिण्ड समान अङ्ग जो वाम एवं दक्षिण कुक्षिपार्श्व में स्थित रहते हैं वह वृक्क हैं।

वृक्कौ कुक्षि गोलकौ।

वृक्कौ मांसपिण्डद्वयम्, एको वामपार्श्वे स्थितो द्वितीयो दक्षिणपार्श्वे स्थितः। (डल्हण शा. ४/३१, एवं नि. ६।१८)

वृक्क की आंतरिक रचना क्या है मात्र स्थूल एवं सूक्ष्म धमनी, शिरा एवं तथाविध स्रोतस का समुच्य मात्र। आचार्य चरक द्वारा स्थल विशेष द्वय (अ,ब) पर प्रयुक्त वक्षण या पाठान्तर का वृक्क शब्द मूत्रवह स्रोतो मूलतया निर्दिष्ट होने से वृक्क का एक पर्याय ही होगा।

---

[1] डा. देवेन्द्र नाथ मिश्र, बी. एम. एस. एस. (आयुर्वेदाचार्य) (ल. वि.), एम. डी. आयु-प्रसूति तंत्र बाल रोग) (का. हि. वि. वि.) सर्टिफिकेट कोर्स आव योग, तथा परिवार नियोजन ट्रेनिंग सर्टिफिकेट (बम्बई), डिप्लोमा इनयोग, (का.हि.वि. (क्लीनिकल रजिस्ट्रार प्रसूति विभाग. चि. वि. सं. काशी हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसी आवासीय पता— डा. डी. एन. मिश्र, साकेत नगर प्लाट नं० ३०, वाराणसी [उ० प्र०]

(अ) मूत्रवहानां स्रोतसां वस्तिर्मूलं वंक्षणौ (वृक्कौ इति पाठ) चरक विमान ५/८

(ब) मत्रवहानां च स्रोतसां वंक्षणवस्तिप्रभवणा…… चरक निमान ५।८

वृक्क शब्द बुक्क का एक तत्सम शब्द है। "वृक्क आदाने" धातु से कद् प्रत्यय होकर निष्पन्न वृक्क शब्द सविवेक निष्यन्दन एवं पुनः शोषण क्रिया का संकेत हैं।

वृक्क की ईकाई आधुनिक विज्ञान में नेफ्रांस (Nephrans) है। इसे ही आचार्य शार्ङ्गधर ने उपर्युक्त संदर्भ मे स्रोतस से स्पष्ट किया है। आचार्य कश्यप ने कहा है कि सूक्ष्म स्रोतस एवं महास्रोतस भेद से दो प्रकार के होते हैं। महास्रोतस का वर्णन तो किया गया है पर सूक्ष्म स्रोतसों की गणना अधिक होने से वर्णनकठिन हैं।

स्रोतांसि द्विविधान्याहुः सूक्ष्माणि च महन्ति च (काश्यप विचय शारीर)

महर्षि एवं शल्यतंत्र के प्रणेता आचार्य सुश्रुत ने मूत्रवहादि स्रोतसों को योगवाही स्रोतस कहा है। टीकाकार डल्हण ने योगवह का अर्थ धमनी से योग रखना कहा है।

…सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि (सु.शा. ५।५)

धमन्या सहयोगं वहन्ति यानि स्रोतांसि तानि योग वहानि ……। डल्हण (उपर्य्येव)

यहां पर वृद्धवाग्भट का यह उद्धरण भी दृष्टव्य है—

स चाधोमुखोऽपि मूत्रवहासु नाडीसु सूक्ष्ममुखसहस्रनिष्यन्देन मूत्राख्येना अविरतं न वो घट इवाम्बु निमग्नमुखो अपि पार्श्वेभ्योऽम्भसा पूर्यते ॥

मूत्रवह नाडियो में होने वाले सूक्ष्ममुख सहस्रनिष्यंद को मूत्र कहना भी आधुनिक व्याख्या के समकक्ष रहता है। सहस्रों मूत्रवाहि स्रोतसों (Uriniferous Tubules) के भीतर सूक्ष्म धमनी गुच्छों का मूत्र रूप में होता है। इसके अतिरिक्त वृद्धवाग्भट्ट ने सप्ताशयों से प्रतिबद्ध कोष्ठांगों के विवेचन में वृक्क का भी निर्देश किया है। (वृद्ध वाग्भट्ट शारीर ५)

इतने विवेचन के बाद भी मूत्र निर्माण एवं वृक्क का सम्बंध आयुर्वेद मे स्पष्ट क्यों नही लिखित है—

१. कालक्रम में लिपिबद्धता में त्रुटि-जैसा कि पाठ भेद का चरक संहिता मे एक उदाहरण दे चुके है। दूसरा उदाहरण गणनाथ सेन ने (प्रत्यक्ष शारीर स्पोटान) में दिया है। 'सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः' में कथित प्रणालियां निःसंशय वृक्कों में स्थित मूत्रनिर्माण प्रणालियां है। अत "तर्पयन्ति सदा मूत्रं" के स्थान पर "तर्पयन्ति सदा वृक्कौ" तथा "घटो यथा तथा विद्धि वस्ति मूत्रेण पूर्यते" में शुद्धपाठ "घटो यथा तथा वृक्कौ ततो वस्तिश्च पूर्यते" होना चाहिए।

२. आयुर्वेद ग्रन्थों में प्रयुक्त संज्ञाओं के प्रसंगवशात् अर्थभेद होना भी एक कारण है यथा वृक्क के स्थानपर वंक्षण।

३. आचार्य दामोदर शर्मा गौड़ के शब्दो मे "अधिकांश आयुर्वेदीय क्रिया शारीर और विकृत शारीर कोष्ठांग परक न होकर दोषपरक एवं स्रोतसपरक है। अन्यथा गवीनीयों के माध्यम से मूत्रवह स्रोतस का अनुसंधान करने वाले आचार्य वृक्क का अनुसन्धान न कर पाये हों, यह बात समझ मे नही आती।

मूत्रवह संस्थान के रोग

यह दो प्रकार के है—१. मूत्र अप्रवृत्तिजा २. मूत्र अतिप्रवृत्तिजा। आगे दोनों सारिणियों का अवलोकन करें—

१—मूत्र अप्रवृत्तिजा

मूत्राघात	मूत्रकृच्छ्र
१. वात कुण्डलिका	४. दोषानुसार चार भेद
२. वात अष्ठीला	५. अश्मरीजन्य
३. वात वस्ति	६. शुक्रजन्य
४. मूत्रातीत	७. रक्तजन्य
५. मूत्र जठर	
६. मूत्रोत्संग	
७. मूत्रक्षय	
८. मूत्र ग्रन्थि	
९. मूत्र शुक्र	
१०. उष्णवात	
११. मूत्रोकसाद—पित्तज (सु०) या मूत्रसाद—कफज (सु०)	
१२, विड विघात (च० एवं वाग्भट्ट)	
१३. बस्ति कुण्डल (चरक संहिता) वस्ति कुण्डल नामक मूत्राघात (चरक) मूत्रशुक्र का पर्याग है।	

नोट—१—संख्या एवं नाम के विभिन्न अन्तरों को कोष्ठक में आचार्यों के नाम पर दर्शाया गया है यथा च.—चरक, सु.—सुश्रुत, वा.—वाग्भट।

२—इनके सम्यक अध्ययन से प्रतीत होता है कि मूत्रकृच्छ्र मे मूत्र के सङ्घटक तत्वों का वैषम्य या विकृति होती है तथा इसका सम्बन्ध धात्वग्नि व्यापत या धातु चयापचय से प्रधान रूप से होता है। (च०चि० २६/३३)

३—मूत्र की नियत प्रतिक्रिया का परिवर्तन (Reaction Acidic or Alkali) या अति सांद्र होने पर मूत्रमार्ग के तन्तुओं पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

४—मूत्राघात में मूल रूप से संस्थान मे रचनात्मक विकृति होती है जिससे मूत्र प्रवृत्ति में बाधा पड़ती है। इसके कारण स्रोतदुष्टि के परिणामस्वरूप मूत्र के सङ्घठन में कालान्तर में वैषम्य होता है।

५—प्रमेह में मूत्र की अतिप्रवृत्ति को प्रमुख माना है।

आयुर्वेद संहिताओं के आधार पर मूत्र परीक्षण

मूत्र परीक्षण विधि—योगरत्नाकर ने इसका सुन्दर विवेचन किया है—

(१) मूत्र एकत्र करने का काल - निशान्त्ययामे घटिकाचतुष्टये उत्थापय वैद्यः किल रोगिणं च।

(२) मूत्र एकत्र करने का पात्र—मूत्रं धृतं काचमये च पात्रे।

(३) उत्तम परीक्षण योग्य मूत्र—तस्या अग्रधारां परिहृत्य मध्यधारोद्भवं तत्परिधारयित्वा।

(४) मूत्र परीक्षण काल—सूर्योदये तत्सतं परीक्षते।

अर्थात् रात्रि के अन्तिम प्रहर में चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर रोगी को उठाकर मूत्र करायें, मूत्र की पहली धार को त्याग मध्य धार को कांच के पात्र में एकत्र कर सूर्योदय होने पर परीक्षण करें।

मूत्र लक्षण विषयक उद्धरणों को देखने से प्रतीत होता है कि मूत्र का परीक्षण दो प्रकार से आचार्य करते थे—

१. मूत्र की ज्ञानेन्द्रिय परीक्षा, और प्रश्न परीक्षा।
२. मूत्र की प्रायोगिक परीक्षा।

ज्ञानेन्द्रिय परीक्षा और प्रश्न परीक्षा

मूत्र के वर्ण, गंध, रस, गुण (स्पर्श), मूत्र में उपस्थित पदार्थ और उपमानुसार परीक्षण एवं मूत्र के मूत्र प्रसेक से निकलने की प्रक्रिया पर आधारित प्रश्न के आधार पर परीक्षण होता है।

(१) प्रश्न परीक्षण—यथा मात्रा (अति है तो उदक मेह, नवीन ज्वर अल्प मात्रा में मूत्रकृच्छ्र) सशूल, मुहुर्मुह, विशीर्ण धार वाला आदि।

(२) वर्ण—हरिद्रा वर्ण (उष्णवात, हरिद्रामेह), पीत वर्ण (उष्णवात, मूत्रसाद, पैत्तिक पाण्डु कामला), श्वेत वर्ण (कफ वातज व्याधि, उदकमेह, लवण मेह, मूत्रसाद), इसी तरह से रक्तवर्ण, मूत्र विवर्णता (बस्ति कुण्डल), पाण्डु वर्ण, क्षौद्र वर्ण, मसीवर्ण, गदला, निर्मल, स्वच्छ, नीलाभ, रक्तपीत (जीर्ण ज्वर), कृष्णपीत (असाध्य कामला) आदि।

(३) गंध—मलगंधी (विड विघात), आमगंधी (रक्तमेह, मंजिष्ठामेह), अम्लगंधी (अम्लमेह), गंधरहित (उदकमेह)।

(४) स्पर्श—उष्ण (उष्णवात, रक्तमेह, रक्तज रोग वाले मूत्र में), शीतल, उदक, इक्षु, शीतमेह, विशद, बहल, पिच्छिल, सांद्र(मूत्रौकसाद), पिच्छिल (वस्तिकुण्डल, उदक मेह, कफज, रक्तपित्त), सांद्र (सांद्रमेह, वस्ति कुण्डल) आदि।

(५) रस—मधुर-मधुमेह, इक्षुमेह, शीतमेह, क्षौद्र मेह [क्षौद्ररस]। अम्ल—नीलमेह, अम्लमेह। लवण—लवणमेह, रक्तमेह। कटु—हरिद्रामेह। कषाय—मधुमेह।

(६) मूत्र में पाये जाने वाले पदार्थ—रक्त (मूत्रोत्संग, उष्णवात, पित्तज मूत्रकृच्छ्र, रक्तज मूत्र कृच्छ्र, अश्मरी), फेन (कफ) युक्त (कफज मूत्रकृच्छ्र, नीलमेह, फेनमेह, शनैर्मेह, वातज रक्तपित्त), लसिका (हस्तिमेह), मूत्र में छोटे छोटे सिकतारूपी टुकड़े (सिकतामेह अश्मरी) तन्तुयुक्त लालामेह।

(७) विशेष—कुछ लक्षण उपमा के आधार पर वर्णित हैं। यथा-जल के समान, क्षारोदक के समान, चाषपक्षी के पंख के समान, चावल के धोवनवत (अजीर्ण मे) आदि।

मूत्र का प्रायोगिक परीक्षण

(१) सांद्र परीक्षण—मूत्र रख देने पर कुछ सूखने पर सांद्र हो जाय, तो यदि निर्मल हो तो सांद्रप्रसादमेह, यदि गंदला हो तो सांद्रमेह।

(२) तैल विन्दु परीक्षण—मूत्र को स्थिर पात्र में रखकर तेल की विन्दु डालते हैं और उसको अध्ययन करते हैं।

अ—विभिन्न दिशाओं में फैलना-साध्यता एवं दक्षिण दिशा में विस्तार ज्वर का सूचक है।

ब—विभिन्न कोणों पर फैलाव असाध्यता का द्योतक है।

स—आकृति निर्माण यथा-पशुवत, शस्त्रवत (मृत्यु), पक्षीतोरण (निरोगता), मनुष्य या मस्तकद्वय की संख्या में बने तो भूतदोष, चलनी सा छिद्र दीखे तो (कुलदोष, प्रेतदोष)।

द—गति-बिन्दु फैलने की गति तीव्र या मंद (साध्य या कृच्छ्र)। यदि विन्दु तल में बैठ जाय तो (असाध्य)।

य—दोष-सर्पाकार, मुक्ताकार, छत्रवत विस्तार, क्रमशः वातज, कफज एवं पित्तज मूत्ररोग का द्योतक है।

इस प्रकार मूत्र के परीक्ष्य भावों का संग्रह यहां किया गया है तथा उनके कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं। आवश्यकतानुसार संहिता ग्रन्थों से व्याधि प्रकरण से परीक्ष्य भावों के वर्णन का संकलन किया जा सकता है। यथा अश्मरी का वर्णन तो आचार्य चरक ने किया परन्तु आचार्य सुश्रुत ने अश्मरी के स्वरूप, वर्ण आदि को देख कर दोषानुसार अश्मरी का वर्गीकरण भी कर डाला है। आज आवश्यकता है कि आयुर्वेदज्ञ इन संदर्भों को विषयानुसार संग्रह करें। फिर परीक्षण करके देखें, क्या सत्य है और क्या अतिशयोक्ति।

पृष्ठ ३६ का शेषांश

शाष एल्कोहल और फिनाइल सल्फेट और इंडिकेम (इन्डाक्सिल सल्फेट) बृहदांत्र में निर्मित होते हैं, और उनका विसर्जन मूत्रमार्ग से होता है। टाइरोसीन और ट्रिप्टोफेन नामक द्रव्य भी बृहदांत्र से शोषित होकर यकृत में सल्फेट से मिलकर मूत्र के साथ विसर्जित होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूत्र के बहुत से संगठक बृहदांत्र से शोषित होने वाले उदक से प्राप्त होते हैं। मूत्र को वर्ण प्रदान करने वाला द्रव्य बाइल पिगमेंट, सोडियम क्लोराइड और बहुत से अकार्बनिक सल्फेट भी इसी माध्यम से मूत्र को प्राप्त होते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट रूप से कहा जाता है कि मूत्र और पक्वाशय में एक निश्चित सम्बन्ध है। पक्वाशय मूत्र के निर्माण मे तीन प्रकार से सहायक होता है—

१—मूत्र के आवश्यक संघटकों को प्रदान करके।

२—उन द्रव्यों का विसर्जन करके जिन्हें सामान्य रूप से मूत्र के साथ विसर्जित होना चाहिए।

३—जल एवं लवणों का आहार शेषांश से शोषण करके।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेदीय मूत्र निर्माण क्रिया सिद्धांत के संबंध में कुछ आपत्तियां तो निश्चित रूप से उठायी जा सकती है, ये आपत्तियां विभिन्न आयुर्वेदीय सन्दर्भों में अलग-अलग अध्ययन करने से उत्पन्न होती है, किन्तु यदि सभी आयुर्वेदीय सन्दर्भों को एक साथ क्रमबद्ध विधि से आधुनिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन किया जाये तो ऐसा प्रतीत होता है कि आयुर्वेदीय एवं आधुनिक सिद्धांतों में पूर्ण साम्य है। इस सन्दर्भ मे और अधिक परिपुष्टि प्रकरणो को एकत्रित करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न आयुर्वेद अनुसन्धाता इस दिशा मे बिना किसी पूर्वाग्रह के संलग्न हों।

मूत्ररोगों की परीक्षा विधियाँ

विशेष सम्पादक—डा० गिरिधारीलाल मिश्र
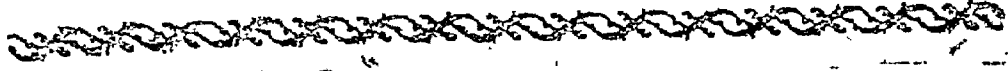
इतिवृत्त- -मूत्र रोगों का परीक्षण करने के लिए सर्वप्रथम रोग का इतिवृत्त प्राप्त करना चाहिए फिर उसकी शारीरिक परीक्षा और मूत्र की परीक्षा तथा अन्य विशेष परीक्षण अत्यावश्यक है।

लाक्षणिक परीक्षण—मूत्र सम्बन्धित रोगों के विविध लक्षणानुसार रोग का परीक्षण किया जाता है। रोगी के विशेषतया दिन और रात्रि में मूत्रावृत्ति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। मूत्र त्याग में वेदना होती है या नहीं। मूत्र के साथ रक्त या पूय तो कभी नहीं आते, मूत्र त्याग के प्रारम्भ पर कष्ट होता है या नहीं, बल तो नहीं लगाना पड़ता, मूत्र त्याग तत्काल तो नहीं करना पड़ता मूत्र का प्रवाह पूर्ण होता है, धार पतली तो नहीं होती, मूत्र त्याग की इच्छा होने पर कुछ समय तक रोक सकता है या नहीं, इन सब बातों का जानना आवश्यक है।
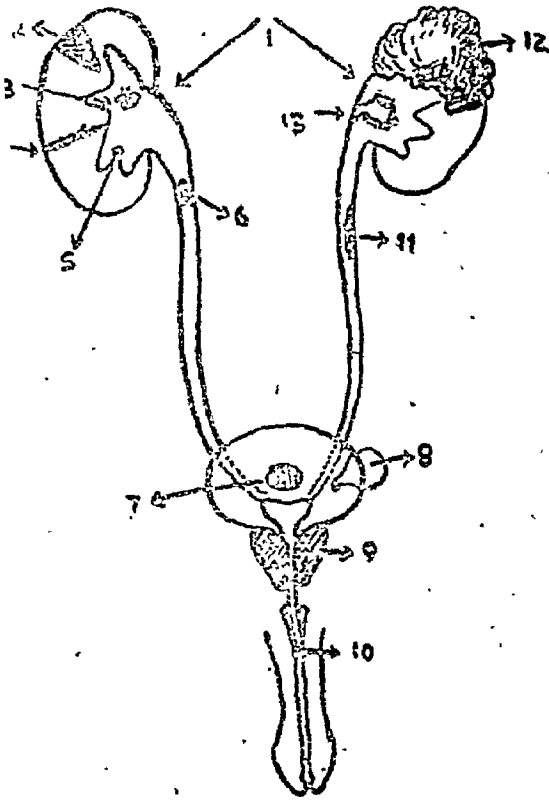
चित्र सं० १५—मूत्रवह संस्थान के विविध रोग
१. रक्तस्राव २. अन्तःस्फान (Infarct) ३. वृक्काश्मरी ४. आघातज विदर ५. क्षयज व्रण ६. गवीनिका स्थित अश्मरी ७. अश्मरी अर्बुद, क्षयज व्रण, मूत्राशयशोथ ८. मूत्राशय भित्ति का बाहर की ओर उभार ९. पौरुष ग्रन्थि शोथ १०. मूत्रप्रसेकस्थ अश्मरी, अर्बुद, विदर, संकोच ११. मूत्र गवीनीस्थ अर्बुद १२. वृक्कार्बुद।

सार्वदैहिक परीक्षा—इसमें त्वचा की सूजन, पांडुरता, रूक्षता, रक्तस्राव, छाजन इत्यादि की परीक्षा की जाती है। रक्तवह संस्थान में हृदयवृद्धि, धमनी काठिन्य तथा रक्तभार वृद्धि इत्यादि को देखना चाहिए। रक्तस्राव, रक्तवाहिनियों की स्थिति, निर्यास इत्यादि को देखना चाहिए। उदर और कटि प्रदेश में वृक्क का परीक्षण उसकी अभिवृद्धि या अर्बुद के लिए गवीनी का परीक्षण उसकी स्थूलता के लिए तथा वस्तिप्रदेश का परीक्षण मूत्राशय गत अश्मरी या मूत्राध्यमान के लिए किया जाता है।

स्थानिक वृक्क वेदना—वृक्क कोष में अन्तिम पर्शु का
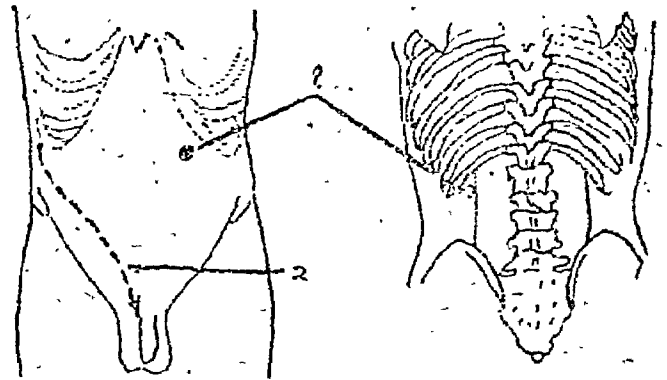
चित्र सं० १६—वृक्क शूल का प्रसार
१—स्थिर शूल २—प्रसरणशील शूल

और कण्टिकोत्कर्षिका (Erector spinae) के बीच अवकाश में वेदना की प्रतीति होती है। मन्द और मीठी

****

चित्र—१७

मूत्र गवीनी नलिका के नीचे के एक तिहाई भाग मे अश्मरी के कारण शूल होने पर उसके प्रसार की ३ स्थितियां।

****

वेदना होने पर दोनों हाथों से वृक्क को दबाना परन्तु स्वस्थ अवस्था में किसी प्रकार की वेदना या स्पर्श की असह्यता नहीं होती। वृक्क के अर्बुद व विद्रधि तथा वृक्क के नीचे खिसक जाने से वेदना-स्पर्श की असाध्यता रहती है। वेदना की तीव्रता, स्थिति, रूप, फैलने की दिशा और किन कारणों से वह घटती है या बढ़ती है इन सबका ज्ञान करना चाहिए।

वृक्क शूल—यह तीव्र शूल रोगी के लिए अत्यन्त असह्य होता है। वेदना से छटपटाता है और लोटता है। वेदना के साथ मूत्रकृच्छ्र हो सकता है। प्रायः इस तरह की वेदना अश्मरी, रक्त के थक्के या अर्बुद के ऊतक के कुछ अंश के गवीनी में होकर नीचे को जाने पर होता है।

स्पर्श परीक्षा—वृक्क का स्पर्शन दोनों हाथों से किया जाता है। कृश पुरुषों में स्वस्थ अवस्था में दक्षिण वृक्क का निचला सिरा स्पर्श किया जा सकता है। जिन व्यक्तियों की कोष्ठ की भित्ति शिथिल होती है या जिन औरतों की बहुत संतान हो चुकी होती हैं उनमें दक्षिण वृक्क का अनुभव किया जा सकता है। रोगी को पीठ के बल लिटाकर कोष्ठ की पेशियां ढीली कर देनी चाहिए। चिकित्सक को रोगी के दक्षिण पार्श्व में खड़ा होकर अपना बायां हाथ रोगी की पीठ के नीचे पर्शुकाओं के सामने ले जाना चाहिए। दक्षिण हाथ को चपटाकर कोष्ठ के सामने की पृष्ठ पर रखना चाहिए, इस हाथ को अक्षकास्थि रेखा के मध्य में इस प्रकार रखे कि अंगुलियों के अग्रभाग ऊपर की ओर ठीक यकृत के नीचे रखें। अब रोगी को एक गहरा श्वास लेने के लिए कहना चाहिए। रोगी के गहरा श्वास लेने से वृक्क का निचला गोल सिरा हाथों के बीच में सरक आयेगा। जब वृक्क के स्नायु शिथिल हो जाते हैं तब दक्षिण हाथ की अंगुलियां वृक्क के उपरले सिरे
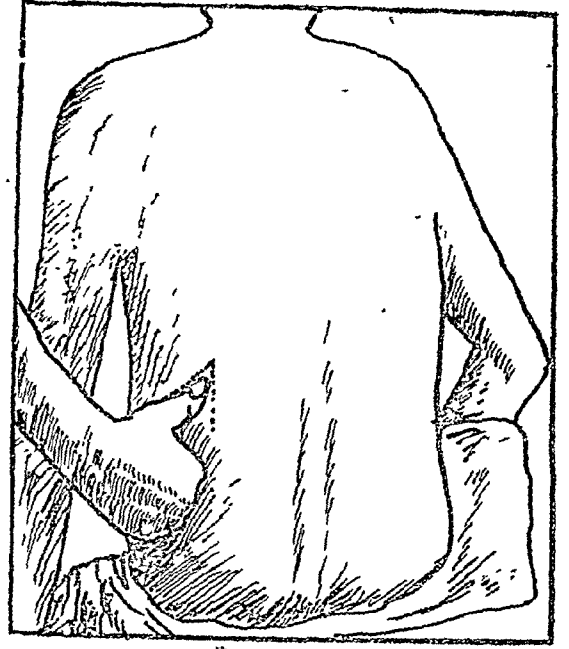
चित्र—१८

वृक्क त्रिकोण पर दबाने से वृक्क में दर्द प्रतीत होता है।
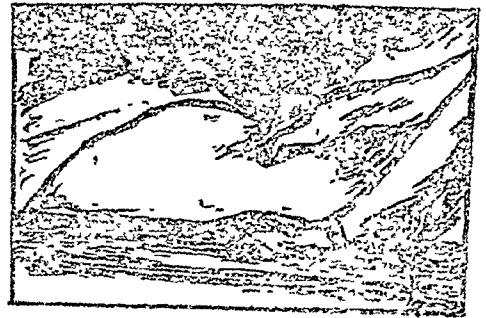
चित्र १९—द्विहस्तीय वृक्क परीक्षा की विधि

को स्पर्श कर सकती हैं और वही श्वास में इसे रोक सकती है। अतः श्वास के साथ विवर्धित वृक्क ऊपर नीचे गति करता हुआ प्रतीत किया जा सकता है। साधारणतया वृक्क परिस्पर्शन केवल दुबले-पतले व्यक्तियों में ही किया जा सकता है।

उदर के अधिजघन प्रदेश की परीक्षा द्वारा मूत्राशय के प्रसार का पता लगाया जा सकता है। शिश्नदण्ड के परिस्पर्शन से कठोर तांतव निकुंचन (Stricture) की प्रतीति की जा सकती है। वृषणकोष की परीक्षा

से अधिवृषण और वृषण ग्रन्थि की असमानतायें ज्ञात की जाती है। वृषणकोष में वृषण ग्रन्थि के अनुपस्थित होने पर वंक्षण नलिका की सावधानी से परीक्षा करके वहां वृषण ग्रन्थि को खोजा जाता है। गुदा में अंगुली डालकर पुरस्थ ग्रन्थि (Prostate) का आकार, उसका कड़ापन, गुदनलिका की श्लैष्मिक कला की दशा और शुक्राशय की स्थिति का ज्ञान किया जाता है।

एक्स-रे चित्रण (Radiography)—वृक्क रोग के निदान में एक्स-रे चित्रण का महत्वपूर्ण स्थान है तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा निदान साधनों में यह सर्वोपरि है। मूत्र प्रणाली के परीक्षण की निम्न अवस्थाओं में आवश्यकता हुआ करती है—

(क) कटिवेदना अथवा वृक्कशूल होने पर कलन (Calculus) अथवा सजल विम्बोत्कर्ष (Hydro-nephrosis) आदि रोगों की शङ्का होने पर।

(ख) जब जननेन्द्रिय प्रणाली राजयक्ष्मा क्षत, वृक्कार्बुद, बहुपुटिक वृक्क (Policystic kidney) तथा उग्र वृक्काघात के कारण रक्त मूत्रता (Haematurea), पौरुषग्रन्थि वृद्धि, मूत्र प्रणाली के नाड़ीजन्य क्षत आदि कारणों का स्पष्ट ज्ञानकरने के लिए X-ray की आवश्यकता होती है।

चित्र—२० एक्सरे द्वारा प्राप्त स्वस्थ वृक्क एवं गवीनिकाओं की स्थिति

साधारण एक्स-रे परीक्षण (Plain X-ray Examination)—इससे वृक्क की रूप रेखा स्थिति और उनका आकार तथा वृक्कीय स्थान पर असामान्य अपारदर्शकता (Abnormal opacity) का पता लग जाता है। वृक्क प्रदेश में, गवीनी के मार्ग में तथा अधिजघन (Suprapubic) प्रदेश के चित्रों में एक्स-रे अपादर्शक (Radiopaque) छाया उपस्थित दीख जाती है।

उत्सर्जन गोलिका चित्रण (Excretion Pyelography) इस विधि में यूरोसिलेक्टान नामक पदार्थ को शिरा द्वारा रक्त में प्रविष्ट किया जाता है जिसका उत्सर्जन वृक्कों द्वारा होता है। ५, १५ और ३० मिनट के पश्चात् एक्स-रे लिए जाते हैं। इसे वृक्क गोलिकायें, गवीनियों और मूत्राशय के चित्र स्पष्ट हो जाते हैं। एक ओर रंजक (Dye) के उत्सर्जन होने से दूसरी ओर के वृक्क की अकर्मण्यता समझी जाती है।

आरोही गोलिका (Ratrograde Pyelography)—सिस्टोस्कोप की सहायता से गवीनी में कैथीटर प्रविष्ट करके उसमें १२.५% सोडियम आयोडाइड का विलयन भर दिया जाता है। इस विधि से वृक्क आलवाल और गोलिका की रूपरेखा स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

सिस्टोस्कापी (Cystoscopy)—द्वारा मूत्राशय, पुरस्थ तथा गवीनियों के अधोप्रान्तों में उपस्थित विकृत दशाओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।
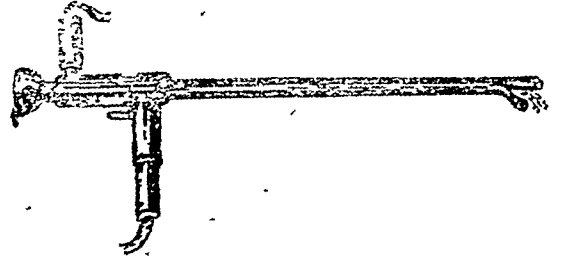
चित्र २१—विड का मूत्राशयदर्शक यन्त्र

मूत्र परीक्षण (Urine Analysis)—मूत्र की परीक्षा के लिए मूत्र एकत्र करने की विधि बड़े महत्व की है। स्त्रियों में कैथीटर द्वारा निकाला हुआ मूत्र तथा पुरुषों में मूत्र त्याग के बीच के भाग का मूत्र लिया जाता है। मूत्र रोगों के निदानार्थ मूत्र परीक्षण सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसमें मूत्र की भौतिक, रासायनिक और सूक्ष्म दर्शक तीनों परीक्षायें करनी चाहिए। भौतिक में—मूत्र की राशि, गुरुता, वर्ण, गंध आदि, रासायनिक में—मूत्र शर्करा, एल्ब्युमिन आदि तथा सूक्ष्म दर्शक में—स्फटिक सोडियम द्रव्य और जीवाणु देखने चाहिए। आवश्यक हो तो मूत्र संवर्धन (Culture) भी करके देखना चाहिए। मूत्र परीक्षा मूत्र रोगों के निदान में सर्वोपरि साधन है एतदर्थ विस्तृत लेख के रूप में इसका प्रथक से वर्णन इसी विशेषांक में आगे दिया जा रहा है।

—शेषांश पृष्ठ ६८ पर देखें।

आयुर्वेदीय तैल बिन्दु-मूत्र परीक्षा

डा० गणेश चन्द्रदेव शर्मा

आयुर्वेदीय तैल बिन्दु परीक्षा—

आयुर्वेद मर्मज्ञ नागार्जुन द्वारा आविष्कृत तेल विन्दु परीक्षा आयुर्वेद की अत्यन्त विश्वस्त, आश्चर्यजनक परीक्षा है। तैल मूत्र से हल्का होता है अतः मूत्र पर तैरता है तथा मूत्र के दोषानुसार विभिन्न आकार धारण करता है जो निदान में सहायक हैं।

विधि—पूर्वोक्त मूत्र संग्रह विधि के अनुसार मूत्र ग्रहण कर काँच पात्र में सूर्योदयोपरांत, समतल स्थान पर स्थित कर शुद्ध तिल तैल की एक बूंद मूत्र पर तृण से या सींक से टपका दें। मूत्र में बूंद की स्थिति से अधो लिखित तालिका के अनुसार रोग निदान का निष्कर्ष निकालें—
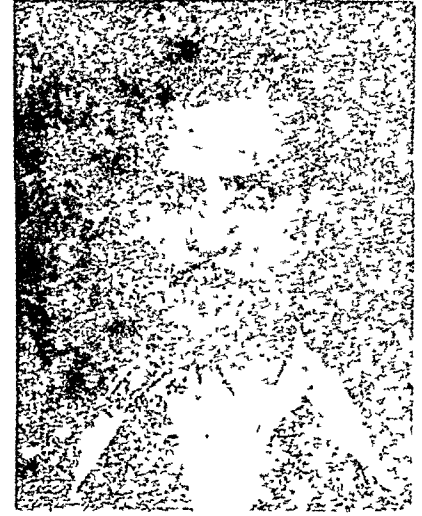
मूत्र में तैल विन्दु की अवस्था[1]	रोग निदान के संकेत
रोग स्थिति—मूत्र की सतह पर तैल बिन्दु का फैलना	रोग की साध्यावस्था का सूचक
मूत्र की सतह पर तैल बिंदु का न फैलना	रोग की कष्टसाध्यता का सूचक
मूत्र की सतह पर तैल बिन्दु का डूब जाना	असाध्यावस्था वा मृत्यु सूचक
दोष—तैल की बूंद का सर्पाकार होना	वात व्याधि का सूचक
तैल की बिन्दु का छत्राकार होना	पित्त व्याधि का सूचक
तैल की बिन्दु का मोती की तरह चमकना	कफ विकार का सूचक
मूत्र दोष—बूंद का नराकार-दो मस्तक वाला होना	भूतबाधा सूचक, दैवव्यापाश्रय चिकित्सा करें
कुलदोष-प्रेत दोष—बूंद का चलनी सदृश होना	कुलदोष—प्रेतबाधा संकेत ,,
साध्यता—तैल बिंदु का रूप-हंस कारण्ड पक्षी तडाग, कमल, गज, चवरछत्र, तोरण मकानवत होना	रोग की साध्यता का सूचक

[1] विकाशितं तैल तथाशु मूत्रे, साध्यः स रोगी न विकासितं चेत्।
स्यात् कष्ट साध्यस्तलगे त्वसाध्यो नागार्जुनेनैव कृता परीक्षा ॥
सर्पाकारं भवेत् वातात्छत्राकारः तु पित्ततः। मुक्ताकारं बलासात्स्यादेतन्मूत्रस्य लक्षणम् ॥ —योग रत्ना०
अन्य मूत्र पाठ भी क्रमशः हैं। लेख के विस्तार भय से पूर्ण मूल पाठ उद्धृत नहीं कर रहे हैं।

मूत्र तैल विन्दु की अवस्था	रोग निदान के संकेत
असाध्यता—तैल की बूंद का हल-कूर्म-महिष मधुमक्खी का छत्ता, शिर विहीनपुरुषाकृति, शरीर के अंगों के टुकड़े, शस्त्र-तलवार, मूपल, धनुष सदृश आकृति का होना।	रोग की असाध्यता का सूचक तथा मृत्यु सूचक संकेत
दिशा—तैल वूंद का पूर्व की ओर फैलना	शीघ्र आरोग्यप्राप्ति सूचक
तैल वूंद का दक्षिण दिशा की ओर वढ़ना	ज्वर रोग सूचक शनैः-शनैः आरोग्य प्राप्ति
तैल वूंद का उत्तर दिशा की ओर वढ़ना	आरोग्यता जनक
तैल वूंद का पश्चिम दिशा की ओर वढ़ना	आरोग्यता सूचक
तैल वूंद का ईशान कोण दिशा की ओर वढ़ना	एक मास में मृत्यु सम्भावित
तैल वूंद का आग्नेय व नैऋत्य कोण में फैलना	मृत्यु सूचक
तैल वूंद का वायव्य कोण में फैलना	असाध्यावस्था, अरिष्टावस्था
तैल विंदु में छिद्र दिखाई देना	निश्चित मृत्यु कारक
तैल विंदु का मूत्र में डालते ही घूमने लगना	अरिष्टावस्था का सूचक, पित्तज विकार
तैल विन्दु का मूत्र में बुदबुदाकार होना	दैवी प्रकोप का सूचक,
तैल विन्दु का मूत्र में स्थिर हो जाना	असाध्यता सूचक
तैल विन्दु का मूत्र में चमकते रहना	साध्यावस्था का सूचक
पूर्व पश्चिम, नैऋत्य दिशा की ओर फैलना	सुख-साध्यता सूचक
दक्षिण, ईशान और अग्निकोण में फैलना	अशुभ-अरिष्टावस्था
मूर्तियों के समानाकृति, हल, कछुआ ऊंट की आकृति	रोग की असाध्यावस्था सूचक

नोट—वंगसेन के रचयिता ने ईशान अग्नि कोण, वायव्य, नैऋत्य इन चारों में वूंद फैलने को अशुभ तथा योग चिन्तामणिकार ने वायव्य और नैऋत्य की ओर फैलना शुभ माना है।

आयुर्वेदीय मूत्रवर्ण (रंग) परीक्षा—

(६) मूत्र का रंग—प्राकृत अवस्था में मूत्र हलके पीले रङ्ग का होता है पर विभिन्न रोग की अवस्थाओं में मूत्र के रंग में परिवर्तन होता रहता है। आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में मूत्र रंग की परीक्षा प्रशस्त है, अधोलिखित तालिका में मूत्र के रंग के अनुसार रोग संकेत दृष्टव्य हैं—

क्रम	मूत्र का रंग		रोग निदान के संकेत
१	कूप जलवत्	—	सम धातु पुरुष का सूचक
२	जलवत्	—	उदकमेह, सोमरोग, अतिजलपान
३	दुग्धवत्	—	वसामेह, शुक्रतारल्य, श्लीपद
४	घृतवत्	—	दकोदर रोग सूचक
५	मधुवत्	—	रक्तमेह, मधुमेह (Dibetes)
६	सर्षपतैलवत्	—	कामला, पित्तकफ दोष सूचक
७	रक्त (लाल) होना	—	रक्तमेह, पित्तदोष (Haematuria)
८	पीत (पीला) होना	—	विषमज्वर, पित्तदुष्टि

मूत्र की अन्य विशेष अवस्थायें

रोगों में—मारात्मक रंग
सन्निपात में—कालरंग मारात्मक है
जलोदर में—घी के दाने के समान
क्षयरोग में—धूवें की तरह श्वेत
उदर वृद्धि—तैल सदृश मूत्र
आमवात-मठे के समान
आंत्रिक ज्वर—हरा-नीला रंग
अतिसार—पेशाब नीचे से कुछ लाल

क्रम	मूत्र का रंग		रोग-निदान के संकेत
९	नीला होना	—	नीलमेह और वातदोष
१०	श्वेत होना	—	बहुमूत्र, कफ दुष्टि
११	अति श्वेत होना	—	कफजज्वर, बहुमूत्र
१२	तंडुलापिष्ट समश्वेत होना	—	शुक्लमेह पिष्ट प्रमेह
१३	ईक्षुरसवत्	—	इक्षुमेह, रसमेह (Dibeties)
१४	सौवीरसम होना	—	वात कफदोषज विकार
१५	वीर्यवत् होना	—	शुक्रमेह
१६	मज्जायुक्त होना	—	मज्जामेह (Lipuria)
१७	पांडुर रंग होना	—	क्षौद्रमेह, कफपित्तदोष
१८	हरिद्रजलवत होना	—	हारिद्रमेह
१९	मंजिष्ठजल सदृश	—	मंजिष्ठमेह (Urobilinuria)
२०	मसीवत् कृष्ण होना	—	कालमेह, वातदोष (Melanuria)
२१	सुरावत् होना	—	सान्द्रमेह, सुरामेह (Acetonuria)
२२	क्षार जलवत् होना	—	क्षारमेह
२३	सिकतायुक्त होना	—	सिकतामेह (Lithuria)
२४	स्निग्धपिस्थल होना	—	लालामेह
२५	अजामूत्र वत् होना	—	जीर्णज्वर
२६	हरितमूत्रवत् होना	—	हस्तिमेह
२७	सोदवद कृष्ण होना	—	सन्निपातज विकार
२८	पीत, बालादवत् होना	—	ज्वरावस्था
२९	गंदला होना	—	इक्षुवालिका, रसमेह
३०	क्षय में श्वेत	—	क्षयावस्थासूचक
३१	हरिद्रावत् होना	—	पित्तार्श सूचक, पांडुरोग
३२	घी के दानों के समान	—	जलोदर रोग सूचक
३३	मठे (तक्र) के समान	—	आमवात रोग सूचक
३४	धूवे की तरह श्वेत	—	क्षय रोग सूचक
३५	तैल सदृश मूत्र	—	उदररोग सूचक
३६	नीचे से कुछ लाल	—	अतिसार सूचक
३७	पीत सकृष्णोदर्वुद	—	प्रसूतिदोष सूचक
३८	पूय मिश्रित मूत्र	—	सुजाक, औपसर्गिक रोग
३९	घने भूरे, कालारंग	—	मारात्मक सूचक
४०	रंग रहित मूत्र	—	हिस्टीरिया या कोई फल खाने से भी ऐसा होता है
४१	मूत्र का फेनयुक्त होना	—	कफ ज्वर सूचक

मूत्र की अन्य विशेष अवस्थायें

कामला—पीला-हरा रंग

हैजा—मूत्रावरोध मारक है

दोषज प्रकोप—

वात प्रकोप—मूत्र नीला, श्वेत

पित्तप्रकोप—पीला, उष्ण

कफ प्रकोप—श्वेत, शीतल

त्रिदोष—मूत्र का काला, धूमिल रंग

कफ प्रकृति वाले का—कीच के पानी सदृश

पित्त प्रकृति वाले का—तैल जैसा मूत्र

वात प्रकृति वाले का—जलवतश्वेत

मूत्र की मात्रा कम—शोथ होने का सूचक

मूत्र की मात्रा अधिक—मधुमेह सूचक

मूत्र में शर्करा—मधुमेह सूचक

मूत्र में एल्ब्युमिन—वृक्क शोथ

मूत्र में अम्लाधिक्य—अश्मरीसूचक

आपेक्षिक घनत्व कम—वृक्कक्षय

रक्त हीनता

हिस्टीरिया

आपेक्षित घनत्व अधिक—यूरिक एसिड

मधुमेह

मूत्र का रुक रुककर आना	अश्मरी
मूत्र मार्ग में तीव्र दर्द	,,
मूत्र धारा का सहसावरोध	,,
मूत्र प्रवाह में जलन	,,
मूत्र काला मैला	उपदंश, सुजाक
पूयमिश्रित	,,
उत्पादक अंगों में दर्द	,,

दिन में बार-बार मूत्र त्याग—अश्मरी

रात में बार-बार मूत्र त्याग—पौरुषग्रंथिशोथ

मूत्र त्याग के समय पीड़ा-पूयमेह,

मूत्रप्रसेकशोथ

मूत्रत्याग के तुरंत बाद पीड़ा—अश्मरी

पौरुषग्रंथिशोथ

अर्बुद

(७) मूत्र की गंध	रोग निदान–संकेत
मधुर गंध	उपवास, मूत्र में अधिक शर्करा आना-मधुमेह सूचक
पूति गंध	पूयमेह (सूजाक), मूत्रनली में व्रण, अरिष्ट लक्षण सूचक
वस्तमूत्र गंधित्व	आमवात, अश्मरी, लालामेह सूचक
अम्लगंध	अम्लप्रतिक्रिया–अम्लगंधी
आम्रवत् गंध	रक्तमेह, मंजिष्ठामेह सूचक
अजामूत्रवत् गंध	अजीर्ण रोग सूचक
हस्तिमूत्रवत् गंध	हस्तिमेह तथा अजीर्ण रोग सूचक
सुरा तुल्य गंध	शराब की सी गंध मधुमेह का एक विशेष लक्षण, सुरामेह सूचक
सड़े हुए फूल के समान गंध	मूत्र में एसीटोन आने से होती है
दुर्गन्धित मूत्र	बैक्टीरिया, पौरुष ग्रन्थि शोथ सूचक
निर्गन्ध मूत्र	सोम रोग, उदक मेह सूचक

(८) मूत्र की तलछट (Deposit)—मूत्र को कुछ देर पड़ा रखने पर ये पदार्थ पानी में नीचे जम जाते हैं। फोस्फेट का तलछट सफेद तथा यूरेट का प्राय: समान होता है। मूत्र में फोस्फेट, यूरेट, औक्जलेट, रक्त, पीव आदि अप्राकृतिक पदार्थ आनें पर मूत्र गंदला हो जाता है तथा मूत्र अधिक समय पड़ा रहने पर ये पदार्थ नीचे जम जाते हैं तथा बैक्टीरिया की वृद्धि होने लगती है और सफेद तलछट पात्र के नीचे जमने लगता है।

(९) मूत्र उष्ण—रक्तमेह, कालमेह, ज्वर, पांडु समझें।

(१०) मूत्र में स्निग्धता-पिच्छिलता—अन्न जीर्ण न होने का परिणाम है। वृक्क की दुर्बलता तथा मूत्र में एलब्युमिन होने पर मूत्र में स्निग्धता-पिच्छिलता पाई जाती है।

मूत्रों के घटकों की प्राकृत मात्रा

क्रम	द्रव्य	भाग		
१	जल	१४·५०	३५ भाग अम्ल द्रव आदि सेन्द्रिय (Organic) द्रव्य होते और ३५	१४.५०
२	यूरिया	३३·७५		३३ ७५
३	यूरिक एसिड	०·७५		०·७५
४	हिप्यूरिक एसिड	०·२५		०·२५
५	क्रीएटिनिन (Creatinine)	०·२५		०·२५
६	सोडियमक्लोराइड (नमक)	१२·२५	२५ भाग क्षार आदि निरिन्द्रिय (Inorganic) द्रव्य हुआ करते और २५	१२·२५
७.	फोस्फोरिक एसिड	३·००		३·००
८	सल्फ्यूरिक एसिड (गन्धक)	२·००		२·००
९	केल्शियम (चूना)	०·२५		०·२५
१०	मैगनेशियम	०·२५		०·२५
११	एमोनिया	०·७५		०·७५
१२	पोटासियम	१·७५		०·७५
१३	सोडियम	३·७५		०·७५
१४	क्लोरीन	१·००		१.००
				१५००

डा० गणेशचन्द्रदेव शर्मा, प्रवक्ता द्रव्य गुण विभाग
गौहाटी आयु० महाविद्यालय, गौहाटी—१४

अनुभवानुसार मूत्र परीक्षा

प्राणाचार्य पं. हर्षुल मिश्र

आयुर्वेदीय शास्त्रीय मूत्र परीक्षा तथा आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक की मूत्र परीक्षा पुस्तकों में सर्वत्र पढ़ने को मिलता है, परन्तु अनुभव के आधार पर मूत्र परीक्षा की यथार्थता की प्रतीति जो मुझे हुई है उसे ही इस लेख में व्यक्त किया जाता है—

(१) स्वस्थ मनुष्य की मूत्र परीक्षा—स्वस्थ मनुष्य का मूत्र कांच के ग्लास में रखने पर वह बादामी रङ्ग का मालूम होता है, जबकि मूत्र विसर्जन के समय वह जलवत सफेद दिखाई पड़ता है। पात्र में रखे हुए उपर्युक्त मूत्र में तैल बूंद टपकाने से वह मूत्र की पूरी सतह पर फैल जाती है। मूत्र में विशिष्ट गंध होती है परन्तु दुर्गन्ध नहीं।

(२) रुग्ण व्यक्ति के मूत्र को पात्र में रखने से उसका रङ्ग कभी गहरा पीला तो कभी सरसों के तैल के सदृश ललाई लिये पीला अथवा जलवत शीतल और सफेद होता है। मूत्र भरे पात्र में तैल बूंद टपकाने से वह बूंद मूत्र की सतह पर ज्यों की त्यों बनी रहती है; फैलती नहीं; वह मूत्र की सतह के नीचे भी कभी कभी चली जाती है। मूत्र की सतह पर तैल बूंद का ज्यों की त्यों बना रहना कष्टसाध्य रोग का प्रतीक है और उसका मूत्र की सतह के नीचे चला जाना अथवा तैल बूंद का मूत्र में डूब जाना असाध्य रोग का प्रतीक है।

(३) हल्दी के सदृश गहरे पीले रंग का मूत्र कामला रोग का प्रतीक है। ऐसा मूत्र यकृत की विकृति का भी साक्षी है। गहरे पीले रंग का मूत्र खून के लाल कणों के क्षय का द्योतक है। मूत्र के गहरे पीले रंग से उत्कृष्ट रक्तहीनता (एनिमिया) सिद्ध होती है। मूत्र के गहरे पीले रंग से यह पता चल जाता है कि पित्ताशय की विकृति के कारण पित्त बहुत अधिक मात्रा में खून में मिल चुका है। रक्त कणों का क्षय प्रारम्भ होने से उनका आकार वृत्ताकार न होकर अर्ध चन्द्राकार हो चुका है।

(४) किंचिद् पीला रक्ताभ सरसों के तैल के सदृश रंग वाला गरम मूत्र कुपित पित्त का एवं पित्तज प्रमेह का प्रतीक है।

(५) मूत्र का रंग जलवत सफेद हो तथा स्पर्श में कम गरम लगे और बार बार अधिक मात्रा में मूत्र विसर्जन हो तो वह उदकमेह वा बहुमूत्र रोग का प्रतीक है।

(६) मूत्र स्पर्श में बिल्कुल जलवत शीतल हो, उसका रंग श्वेत वा मधु पुष्प के रंग का हो, उसकी गंध मधुर हो तो वह शीतमेह का द्योतक है और मधुमेह की प्रारम्भिक अवस्था का प्रतीक है।

(७) ईख के रस के सदृश हरितमा लिए अथवा फीके बादामी रंग का मधुर गंध वाला वजनदार मूत्र इक्षुमेह वा शर्करामेह का प्रतीक है। इस मूत्र में तैल की बूंद स्थिर रहती है अथवा मूत्र में डूब जाती है।

(८) मूत्र का रंग स्याम आभा लिये हुये गहरा लाल तीव्र गंधी हो तो वह कुपितु वायु वा वातज मेह के पूर्वरूप का प्रतीक है। ज्वर की हालत में ऐसा मूत्र वातज ज्वर का प्रतीक है।

(९) मूत्र का बूंद बूंद होना, फटी धार से मूत्र विसर्जन होना, बारीक धार से मूत्र होना, रुक रुककर मूत्र होना अश्मरी का प्रतीक है।

(१०) पतली धार से मूत्र विसर्जन देर तक होना, मूत्र मार्ग की सुजाकजन्य संकीर्णता का प्रतीक है।

(११) पूययुक्त पीताभा वाला लालिमायुक्त; जो जलन

के साथ उतरता हो तो पूयमेह (सुजाक) वा उष्णवात का प्रतीक है।

(१२) जिस मूत्र को कांच के पात्र में रखने से, उसके पेंदे में पूय संचित हो तो वह मूत्र वृक्कों में व्रण वा कारबंकिल उत्पन्न होने का प्रतीक है। मूत्र में पूय (पस) के कण मिलना जीर्ण सुजाक का प्रतीक है।

(१३) मूत्र का रंग जामुनफल के सदृश वा स्याही के सदृश काला हो तो वह कालमेह का प्रतीक है। वह ज्वरावस्था में जीर्ण अन्तर्दाह ज्वर को सिद्ध करता है, क्योंकि अन्तर्दाह ज्वर में ज्वर के वेग से दग्ध स्याम वर्ण रक्त कण पेशाब के साथ साथ बाहर निकलने लगते हैं।

(१४) पेशाब से मीठी गन्ध आना, पेशाब विसर्जन के स्थान में चींटी लगना, मधुमेह वा शर्करा मेह काप्रतीक है।

१५) मूत्र विसर्जन करने पर मूत्र स्थान में सफेद रंग का क्षारीय तत्व जमना यकृत विकार तथा पाचन शक्ति की कमी का प्रतीक है। सफेद रंग का क्षारीय तत्व अम्लक्षार (Acidity) निर्माण होने का भी प्रतीक है।

(१६) मूत्र पात्र में रखे हुए मूत्र में लार की तरह रंग रहित तार सदृश तत्व की उपस्थिति लालामेह का प्रतीक है, अति स्त्री सहवास का प्रतीक है।

(१७) मूत्र पात्र में रखे हुए मूत्र में वीर्य के सफेद कणों की उपस्थिति शुक्रमेह का प्रतीक है।

(१८) सफेद राख सा घुला हुआ मूत्र का रंग हो तो वह शुक्राश्मरीकारक, शुक्र सिक्ताओं का प्रतीक है, जो शुक्राश्मरी न बनकर वायु के अनुलोम होने से सुखपूर्वक मूत्राशय से बाहर निकल रहे हैं। सफेद सिक्ताओं की मूत्र पात्र में उपस्थिति वस्तिजन्य अश्मरी के निर्माण की पूर्वरूप है।

(२०) मूत्र पात्र में पेशाब के साथ सिक्तावत विजातीय तत्वों की उपस्थिति सिक्ताश्मरी की प्रतीक है। मूत्र के साथ सिक्ताओं का विसर्जन वृक्कों में सिक्ताश्मरी बनना सिद्ध करता है। मूत्र के साथ लाल सिक्ताओं का जाना वृक्काश्मरी का प्रारम्भिक रूप है।

कुछ अनुभूत रसायनिक मूत्र परीक्षण—

(१) मूत्र में प्रायः बहुत तरह के क्षार अम्ल (Acid) मूत्र में घुले होते हैं। इनकी परीक्षा लिटमस पेपर को मूत्र में डालकर की जाती है। लाल लिटमस पेपर मूत्र में डालने से यदि वह नीला हो जाय तो पेशाब में क्षारीय तत्व अधिक है। यदि पेशाब में नीले रंग का लिटमस पेपर डाला जाय और उसके डालने पर उसका रंग लाल होजाय तो यह समझना चाहिये कि मूत्रके साथ अम्लीय तत्व जा रहे हैं। मूत्र को परखनली में तिहाई हिस्से तक भरकर, उसे स्प्रिट लेम्प पर गरम करें तो तुरन्त मूत्र में धुँधलापन के साथ गाढ़ापन आ जायगा। फिर उस परखनली में एसिटिक एसिड की ५ बूंदें टपकायी जाय और यदि मूत्र में धुँधलापन सफेदी और गाढ़ापन सामान्य बने रहें तो समझनाचाहिये कि मूत्र में एलब्यूमन नामक तत्व की उपस्थिति है। धुँधलापन समाप्त हो जाय तो फास्फेट की उपस्थिति समझनी चाहिए। परखनली के मूत्र में गन्धक का चूर्ण डालें। यदि गन्धक परखनली की पेंदी में बैठ जाय तो मल में पित्त की उपस्थिति समझें। परखनली में मूत्र को १ इन्च तक भरकर गरम करें। फिर उसे ठण्डाकर उसमें दो बूंद टिंक्चर ग्वायकम डालें; उसके बाद समान न ओजोनिक ईथर डालें। दोनों तत्वों के मिलने के स्थान पर नीलवर्ण की आभा का निर्माण हो जाय तो मूत्र में रक्त कणों की उपस्थिति है और हरी आभा निर्माण हो जाय तो पूय की उपस्थिति है। पेशाब में शर्करा की मात्रा सैक्रोमीटर से नापते हैं।

मूत्र की सूक्ष्म अणु दर्शनात्मक परीक्षा—सूक्ष्माणु दर्शक यन्त्र (माइक्रोस्कोप नामक यन्त्र) के नीचे मूत्र की तलछट के तरल तत्व की बूंद को कांच की स्लाइड (पट्टिका) पर टपकाकर उसमें श्वेत रक्त कणों की, लाल रक्त कणों की, फास्फेट सेल, शुक्राणु पूयाणु, गोनोकोकस के रोगाणु देखे जाते हैं। प्रमेह पीडिका कार्बंकिल होने पर पीडिका के पूय को मधुमेही के मूत्र की तलछट के बूंद को कांच के स्लाईड में डालकर प्रमेह पीडिकाकारक रोगाणु (स्टाफाईल) कोकस पायोजिनेस औरियस का निदान किया जाता है। मूत्र की तलछट की बूंद को स्लाईड पर टपकाकर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखने से सिक्ताओं के सूक्ष्म स्वरूप का भी पता चलता है। लालकण की सूक्ष्म सिक्तायें हैं तो समझना चाहिए कि उनका आगमन सीधे वृक्क से हुआ है और वह यह सिद्ध करता है कि वृक्क में विकृति है। वहां सिक्तायें निर्माण होने का क्रम सूक्ष्म रूप से प्रारम्भ हो चुका है। यदि सूक्ष्म सिक्तायें पाई जांय तो वह वस्ति में निर्माण हो रही हैं। उनका आगमन वृक्कों से नहीं है। विकृति वस्ति में है।

—प्राणाचार्य पं० हर्षुल मिश्र आयु.वृ.,
पेंशनवाड़ा, रायपुर

मूत्र परीक्षा से साध्यासाध्यत्व एवं अरिष्ट ज्ञान

डा० रणवीरसिंह शास्त्री

आयुर्वेद शास्त्रों में मूत्र परीक्षण की अनेक प्रक्रियायें लिखी हैं। उनका विस्तार से वर्णन न करते हुए एक अनुभूत परीक्षण जोकि रोगी के जीवन मरण के दुरूह अरिष्ट ज्ञान को सरलता से बतला सकें, जिससे मृत्यु का काल सुगमता से विदित हो जाय तथा साधनरहित स्थान में भी जिस विधि का उपयोग हो सके, ऐसी सरल मूत्र परीक्षण प्रक्रिया को प्रस्तुत कर रहा हूं।
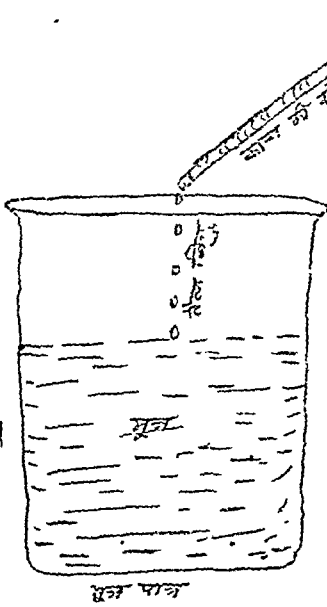
चित्र—२२

तैल से पेशाब परीक्षण[1] सरसों, सोंहा या तिली के तैल को परीक्षण कार्य में प्रयोग करना चाहिए, अभाव में मूंगफली का तैल भी ले सकते हैं।

प्रातःकाल का मूत्र न हो तो किसी समय का पेशाब लेकर किसी पात्र में भर निश्चल व निर्वात स्थान पर रख दें जिसने लहरें न पैदा हों, एक पतली सींक या तिनके से तैल की एक बूंद मूत्र में डालकर परीक्षण करें।

(क) यदि तैलबिन्दु स्वाभाविक[2] रूप में मूत्र के ऊपर फैल जाय तो रोग शीघ्र ठीक हो जायगा।

(ख) यदि तैल की स्वाभाविकता परिवर्तित होकर तैल का फैलाव विभिन्न दशाओं में हो तथा उसमें लाल, पीले या श्वेत तिरमिरे दीखें तथा आभा परिवर्तन हो जाय तो वातादि दोषों के प्रकोप से रोग की उग्रता या सौम्यता का बोध होता है।

(ग) यदि तैल बिन्दु उसी स्थान पर बिन्दु रूप में ही बना रहे व इधर उधर न फैले तो रोग की कष्टसाध्यता जाननी चाहिए और रोग निवारण के लिए दिव्य औषधियों का प्रयोग तथा अनेक उपचार करते हुए रोगी की जीवन रक्षा करनी चाहिये।

(घ) यदि तैल बिन्दु पेशाब के तल भाग में बैठ जाय और किसी प्रकार का फैलाव न हो, नहीं तैल बिन्दु के आकार में लम्बाई, चौड़ाई या नुकीलापन प्रकट हो तब

१—तृणेन दापयेत्तैलबिन्दुमनु लाघवात्। विकासितं तैलमयाशु मूत्रेसाध्यः स रोगी न विकासितं चेत्। स्यात्कष्टसाध्यस्तद्दनगेत्वसाध्योनागार्जुनैवकृतापरीक्षा ॥

२—पूर्वाशांवर्धते बिन्दुर्यदाशीघ्रं सुखी भवेत्। दक्षिणाशां ज्वरोज्ञेयस्तथारोग्यं क्रमाद् भवेत् ॥
उत्तरस्यां यदाबिन्दोः प्रसरः संप्रजायते। अरोगिता तदा नूनं पुरुषस्य न संशयः ॥—योग रत्ना. [मूत्र ११-१२)

रोगी असाध्य है और उसकी शीघ्र मृत्यु हो जायगी, अपयश व प्रतिष्ठा की रक्षा हेतु ऐसे रोगी की चिकित्सा प्रत्याख्याय करके करे। रोगी को सान्त्वना देते रहें।

(ङ) यदि तैल विन्दु मूत्र पूर्ण पात्र के मध्य तक डूबे और बूंद में कोई विकार नहीं आवे तो रोगी की मृत्यु ६ मास के भीतर हो जायगी, चौथाई या तीन चौथाई डूबे तो उसी आधार पर रोगी की मृत्यु का पूर्व ज्ञान करलें।

तैलविन्दुप्रसार के अन्यरूप[1]—इसी प्रकार मूत्र पूर्णपात्र में तैलबिन्दु के विविध प्रकार के प्रसार का परीक्षण कर रोग की साध्यासाध्यता का निर्णय करे, मूत्र में तैलविन्दु डालने से यदि वरुणदिशा में फैलाव हो तो सुख और आरोग्य की प्राप्ति होती है, ईशान दिशा में फैलने से एक मास में ही मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार आग्नेयी दिशा में प्रसार हो तो भी पूर्ववत् अरिष्ट लक्षण जाने। नैऋत्य दिशा में तैल की बूंद के प्रसार व छिद्रयुक्त होने से निश्चित ही मृत्यु होती है। वायव्य दिशा में विन्दु के प्रसार से निश्चित मरण जानना चाहिए।
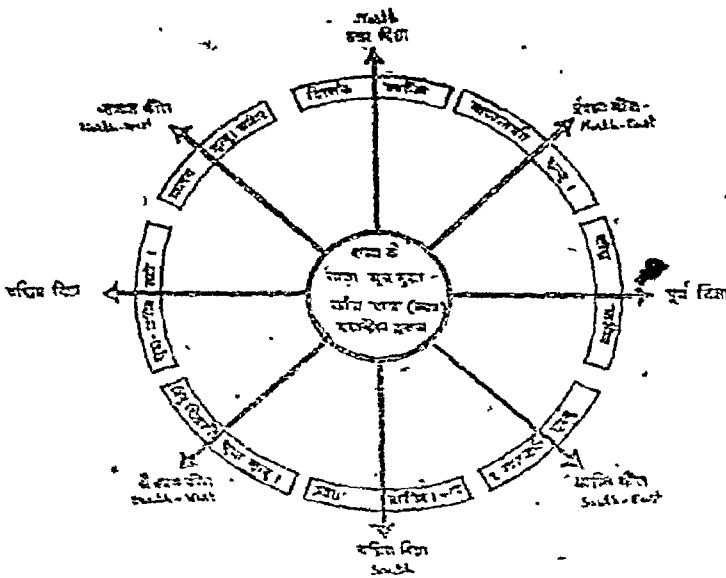
चित्र सं—२३
रोग साध्यासाध्यता निर्देशक तैल विन्दु द्वारा मूत्र परीक्षणार्थ निर्देश पट्ट

अन्य आकृति बनने से असाध्य[2] लक्षण—मूत्र में तैल विन्दु की आकृति हल, कछुआ, भैंसा जैसा कण्डी का समूह, शिर हीन धड़, शरीर का कोई भाग, शस्त्र, तलवार, मूशल, पट्टिश, बाण, लाठी, तिराहा, चौराहा तथा विन्दु रूप देख कर रोग को असाध्य समझें, चिकित्सा न करें।

—शेषांश पृष्ठ ७३ पर देखें।
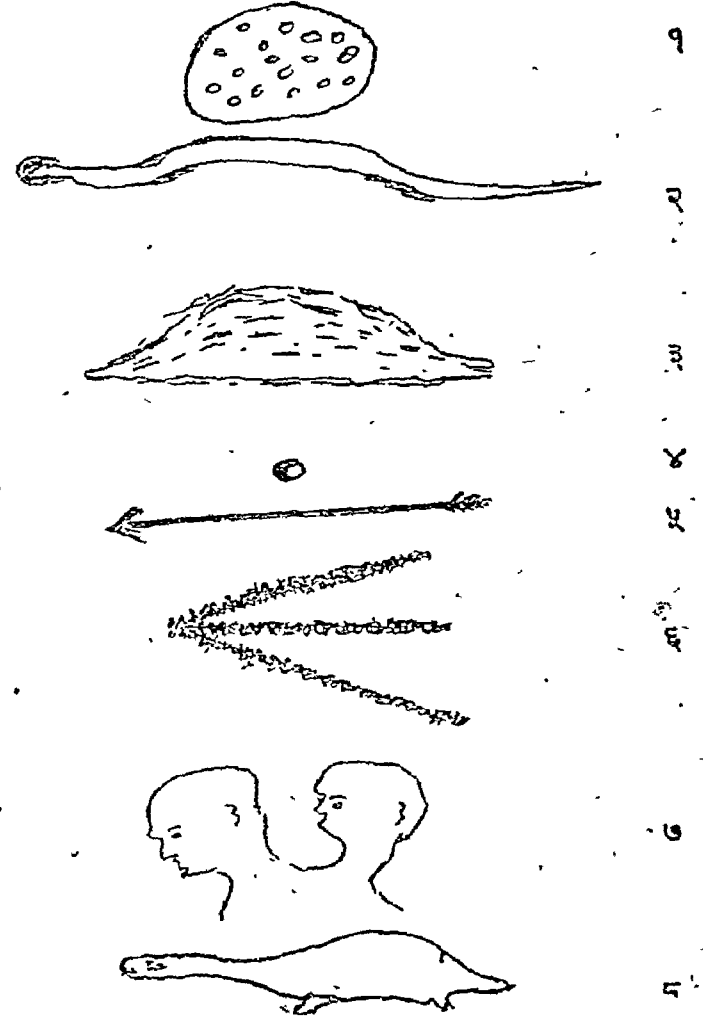
चित्र २४—तैल विन्दु परीक्षा में प्राप्त कुछ आकृतियां
[१] चालनी सदृश विन्दु (प्रेतदोष सूचक) [२] सर्पाकार (वातदोष सूचक) [३] छत्राकार (पित्तदोष सूचक) [४] मुक्ताकार (कफदोषसूचक) [५] सरसदृश (असाध्य) [६] त्रिपथदर्शन (असाध्य) [७] मस्तकद्वय (भूतदोष) [८] कूर्मसदृश (असाध्य)

---

[1] वारुण्यांप्रसरेद्विन्दुःसुखारोग्यं तदादिशेत्। ऐशान्यांवर्धतेविन्दुर्ध्रुवंमासेन नश्यति। आग्नेय्यां तु तथा ज्ञेयं, नैऋत्यां प्रसरेद् यदि॥ छिद्रितश्च भवेतपश्चाद्ध्रुवंमरणमेवच। वायव्यां प्रसरेद्बिन्दुः सुधयापि विनश्यति॥ यो. र.॥

[2] हलं कूर्मं सैरिभाकारसंयुतम्। करं मण्डलंवापि शिरोहीननरं तथा। गात्र- खण्डंच शस्त्रंच खड्गं मुशल पट्टिशम्॥ शरं च लगुडं चैव तथैव त्रिचतुष्पथम्। विन्दुरूपं नरोदृष्ट्वा न कुर्वीत क्रियां क्वचित्॥- यो. र.मू. १३ से १७ तक

डा० जगदीशचन्द्र असावा बी०ए०, ए०एम०बी० एस०, गोल्ड मेडेलिस्ट
रीडर क्रिया शारीर—ल०ह०राज०आयु० कालेज, पीलीभीत,
सदस्य-आयु एवं यूनानी सकाय एवं एकेडेमिक कौंसिल, कानपुर वि०वि०, कानपुर।

आयुर्वेद विज्ञान में रोग निदान एवं रोगी परीक्षा का वर्णन संहिता ग्रंथों तथा तदुपरांत अन्य ग्रंथकारों ने अति विस्तार से किया है।

रोगी परीक्षा विधि के सम्बन्ध में—

१. दर्शन स्पर्शन प्रश्नै परीक्षेताम रोगिनाम्।

२. रोगाक्रांत शरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत।
नाड़ी मूत्रं मलं जिह्वां शब्द स्पर्श दृशाकृती॥

आदि उदाहरणों में रोगी परीक्षा की विधियों का उल्लेख किया गया है। परीक्षण विषयों में नाड़ी परीक्षा के बाद ही मूत्र का उल्लेख किया गया है।

योग चिन्तामणि में मूत्र परीक्षा का महत्व इस प्रकार कहा गया है—

नाड्या मूत्रस्य जिह्वायां लक्षणं यो न विद्यते।
मारयत्याशु वै जन्तून सवैद्यो न यशो लभेत॥

संहिता ग्रन्थों में यद्यपि मूत्र परीक्षा का उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु रोग लक्षणों में (प्रमेह-रक्तपित्त-कामला आदि में) मूत्र का वर्ण—स्वरूप-सांद्रता आदि मूत्र की भौतिक परीक्षा कही गई है। लघुत्रयी में मूत्र परीक्षा का पूर्णांश में उल्लेख नहीं किया गया परन्तु उत्तर काल में योग रत्नाकार में मूत्र परीक्षा का विस्तार से उल्लेख किया है। इस प्रकार प्राचीन काल से ही आयुर्वेद में मूत्र परीक्षा का महत्व समझा गया-समय के साथ साथ परीक्षण विधि एवं नव्य अन्वेषणों के आधार पर मूत्र परीक्षा विधि में परिवर्तन एवं परिवर्धन होते गये।

इस आलेख में मूत्र परीक्षा का प्राच्य एवं अर्वाच्य परीक्षा विधि का समन्वयात्मक निरूपण अभीष्ट है।

मूत्र संग्रह—परीक्षा के अनुसार ही मूत्र ग्रहण किया जाता है। स्वच्छ कांच पात्र में २४ घंटे का मूत्र संग्रह कर उसमें से कुछ अंश ग्रहण करना चाहिए। मधुमेह में परीक्षार्थ मूत्र भोजन के २-३ घण्टे के पश्चात् ग्रहण करना चाहिए। धातु-एल्ब्यूमिन की परीक्षा प्रातः कालीन मूत्र में करनी चाहिए।

मूत्र में तीन प्रकार की परीक्षायें की जाती हैं—

१. भौतिक परीक्षा
२. रसायनिक परीक्षा
३. सूक्ष्म दर्शक यंत्र परीक्षा

(१) भौतिक परीक्षा—

इस परीक्षा में मूत्र की मात्रा-वर्ण-गंध-आपेक्षिक गुरुता सांद्रता तथा प्रक्षेप आदि की परीक्षा की जाती है।

मात्रा—सामान्यतया मूत्र की मात्रा ७०० से १४०० मि ली. प्रति दिन होती है। यह मात्रा तरल पदार्थों के सेवन पर निर्भर करती है। दिवा काल में रात्रि की अपेक्षा अधिक मात्रा में मूत्र का उत्सर्ग होता है। मात्रा का माप २ भागों में किया जाता है—

(१) प्रातः ८ से रात्रि १० बजे तक
(२) रात्रि १० से प्रातः ८ बजे तक

पूर्ण मात्रा ५० औंस होने पर दिवस मात्रा ३७ औंस तथो रात्रि मात्रा १३ औंस होनी चाहिए।

भोजन तथा पेय सेवन के बाद, शीत काल में मूत्र की मात्रा में स्वाभाविक वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत उपवास, एवं उष्ण काल में मात्रा में स्वाभाविक ह्रास हो जाता है। वैकृत रूप मधुमेह, उदक मेह तथा वृक्क कार्य में त्रुटि होने पर मूत्र की मात्रा में वृद्धि होती है। अत्यधिक स्वेद प्रवृत्ति, ज्वर, अतिसार, अति वमन, रक्त चाप की न्यूनता होने पर, एवं हृदयावसाद की अवस्था में मूत्र की मात्रा अल्प हो जाती है।

मात्रा के अनुसार रोग निदान आयुर्वेद ग्रन्थों में स्पष्ट देखने को मिलता है। उदक मेह प्रकरण मूत्र की मात्रा में वृद्धि-सोमरोग में भी मूत्र की मात्राधिक्य होता है। मूत्र कृच्छ में मूत्र की मात्रा अल्प हो जाती है।

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविल मूत्रता।
अच्छं बहुसितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्॥
मेहत्युदक मेहेन। ··· ··· ···· ॥ —च. नि.

वर्ण एवं पारदर्शकता—

मूत्र के सामान्य वर्ण में विविधता होती है। मूत्र गत यूरो क्रोम एवं यूरो एरीथीन नामक रंजक द्रव्यों के कारण मूत्र का वर्ण होता है। मूत्र का सामान्य वर्ण प्रायः भूसे के समान होता है। मूत्र का विवर्ण होना विकृति अथवा मूत्रगत असामान्य द्रव्यों के कारण होता है।

रक्त वर्णता—मूत्र में रक्त होने पर
गहरा भूरा—मेथ हीमोग्लोबीन के होने पर
पीत या पीताभहरित—पित्त होने पर
नारङ्गी वर्ण—यूरी बिलीनोजिन होने पर
धूसर कृष्ण—मेलेनीन होने पर
दुधिया—कायल होने पर
पीताभ गदला—पूय होने पर

औषधि द्रव्य भी प्रायः मूत्र के वर्ण में अन्तर उत्पन्न कर देते हैं यथा सेन्टोनीन, मैपाक्रीन तथा पिलोकारपीन के कारण मूत्र पीत वर्ण का, मीथायलीन ब्लू के कारण मूत्र नील वर्ण का, क्राइसोफेनिक एसिड रिध्यूबनि एवं सेना के द्वारा मूत्र धूसर रक्त वर्ण का, एवं पायरेड्यिम तथा कार्बोलिक एसिड से मूत्र कृष्णाभ हरित वर्ण हो जाता है।

आयुर्वेद विज्ञान में मूत्र की वर्ण परीक्षा का अत्यधिक महत्व है। दोषानुसार मूत्र के वर्ण का उल्लेख कियागया है—

वातेन पांडुरं मूत्रं रक्तं नीलश्च पित्ततः।
रक्तमेव भवेद्रक्ताद्ध वलं फेनिलः कफात॥ (भा.प्र.)
वातं च पाण्डुर मूत्रं सफेन कफ रोगिणः।
रक्त वर्ण भवेत्पित्ते द्वन्दजं मिश्रितं भवेत्॥
सन्निपाति च कृष्णं स्या एतन्मूत्रस्य लक्षणम्॥
(योग रत्नाकर)

वात दोष के कारण मूत्र पांडुर वर्ण, पित्त दोष के कारण रक्त पीत वर्ण, रक्त के कारण रक्त वर्ण का, धवल एवं फेनिल कफ दोष के कारण होता है। दो दोषों का मूत्र मिलित वर्ण वाला एव सन्निपात (तीनों दोषों) के कारण मूत्र का वर्ण श्याम होता है। दोषों के अतिरिक्त व्याख्यानुसार भी मूत्र के वर्ण का उल्लेख किया गया है। नील मेह, कालमेह हरिद्रमेह मञ्जिष्ठा मेह, रस मेह में नामानुसार ही मूत्र वर्ण होता है। कामला में मूत्र की पीत वर्णता पाई जाती है।

पारदर्शकता—

सद्यःत्यक्त मूत्र सामान्य रूप से पूर्ण पारदर्शक होता है। पूय, जीवाणु तथा फास्फोट होने पर मूत्र पारभासिक हो जाता है। फिल्टर पेपर से छान कर भी यदि पारभासिकता बनी रहती है तब निश्चय ही मूत्र में जीवाणुओं की उपस्थिति होती है।

आयुर्वेद निदान में पारशंकता के आधार पर भी व्याधि के लक्षण बताये गये है। वाग्भट्ट नि० स्थान में—

अच्छं बहु सितं ····· लाला तन्तुयुक्तंमूत्रं लालामेहेन पिच्छिलं॥ बा. नि. १७-७,८,९, १०, ११, १२ में कफज प्रमेहों में मूत्र की पारदर्शकता आदि का आधार मानकर ही लक्षणावली प्रस्तुत की है। जिज्ञासु जन ग्रंथ का अनुशीलन कर यह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

आपेक्षिक घनत्व—

आपेक्षिक घनत्व मूत्र में विलेय कणों की मात्रा पर निर्भर करता है। इसका माप यूरिनोमीटर यंत्र के द्वारा किया जाता है (चित्र सं. २५)

इस यंत्र पर १००० से १०७० तक चिन्ह अङ्कित होते हैं तथा एक जार में मूत्र लेकर इस यन्त्र को इस प्रकार डुबाते हैं कि यन्त्र जार के मध्य में रहे। नेत्र को मूत्र के ऊपरी तल की अक्ष में रखकर यन्त्र पर गणना ली जाती है। यही मूत्र का आपेक्षिक घनत्व होता है।
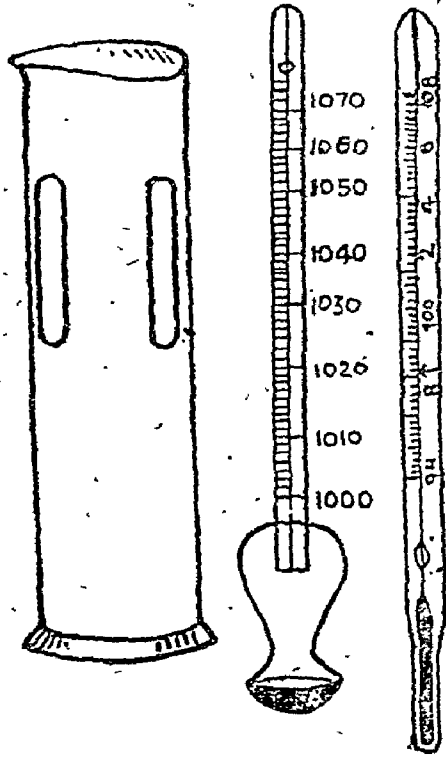
चित्र २५—आपेक्षिकघनत्व का माप यन्त्र

सावधानी—आपेक्षिक घनत्व का माप कमरे के तापक्रम पर किया जाना चाहिए। मूत्र पात्र स्वच्छ हो किसी प्रकार का विसंक्रामक पदार्थ पात्र में न लगा हो।

यन्त्र मूत्र पात्र में भली भांति तैरता रहना चाहिये। यदि मूत्र की मात्रा अल्प हो तो उसमें समभाग स्रुत जल मिलाकर गणना के अन्तिम दो अङ्क द्विगुण कर दें।

सामान्यतः मूत्र का आ. घ. १०१५-१०२५ होता है इस पर कई प्रकार के हेतुक प्रभाव डालते हैं–यथा–तापक्रम, परिश्रम, जल का सेवन, स्वेद प्रवृति आदि। वैकृत अवस्था में निम्न रोगों में आ. घ. में वृद्धि हो जाती है—ग्लाईकोसूरिया, वृक्क शोथ, तीव्र ज्वर, जीर्ण शिरा पूर्णता (Passive Venous Congestion) तथा द्रवाशापहरण (Dehydration) आदि।

आ. घ. निम्नांकित रोगों में घटता है—
उदकमेह, जीर्ण वृक्क रोग

आयुर्वेदीय वाङ्मय में आ. घ. का महत्व योग रत्नाकर में वर्णित तैल बिन्दु परीक्षा द्वारा दर्शाया गया है।

मूत्र की प्रतिक्रिया (Reaction of urine)—

इसका ज्ञान ph दर्शक यन्त्र द्वारा किया जाता है। सामान्य मूत्र का ph ३-५ से ७ तक होता है। सामान्य मूत्र की प्रतिक्रिया उदासीन होती है परन्तु यह ईषत् अम्लीय से ईसत् क्षारीय तक हो सकती है।

शाकाहार मूत्र को क्षारीयता एवं मांसाहार अम्लीयता प्रदान करता है परिश्रम के पश्चात दुग्धाम्ल (Lactic acid) की उत्पत्ति अधिक होने से मूत्र अम्लीय हो जाता है। मूत्र की प्रतिक्रिया वस्तुतः शरीरगत रक्त की प्रतिक्रिया की सूचक होती है। वैकारिक दृष्टि से Acidosis तथा Alkolosis पृथक २ व्याधियों का लक्षण होता है।

आयुर्वेद निदान में "क्षार मेह" में मूत्र का क्षारीय होना प्रतिक्रिया परीक्षा का उदाहरण है।

मूत्र गंध परीक्षा—

सद्यः त्यक्त सामान्य मूत्र निर्गंध होता है परन्तु कालांतर में एमोनिया की गंध आने लगती है। मल पूय आदि का मिश्रण होने पर तीव्र दुर्गंध, एसिटोन होने पर मधुर मदिरा सदृश गंध तथा उड़नशील द्रव्यों के कारण विशिष्ट गंध होती है। आयुर्वेद रोग निदान में मूत्र की गन्ध का उल्लेख किया गया है। यथा—

"मूत्रे वस्त गन्धत्व मूत्र कृच्छ ज्वरोऽरुचिः" तथा—
"विडगंध मूत्र येत कृच्छात विड् विघाते विनिर्दिशेत"

माधव निदान के इन उदाहरणों से मूत्र गंध का निदान में उपयोग सिद्ध होता है।

मूत्र तलछट परीक्षा—

सद्यः त्यक्त मूत्र पूर्ण रूप से स्वच्छ होता है। कुछ देर तक रखे रहने पर उसमें श्लैष्मिक पदार्थ उत्पन्न हो जाता है जो कि तली में बैठ जाता है। यदि आ० घ० अधिक होता है तब यह पदार्थ मध्य भाग या ऊपरी तल पर बना रहता है।

सामान्य मूत्र में यूरेट, फास्फेट अथवा यूरिक एसिड का तलछट पाया जा सकता है। फास्फेट का तलछट श्वेत वर्ण का क्षारीय मूत्र में मिलता है। अम्लीकरण के पश्चात् (Acetic acid मिलने पर) यह लुप्त हो जाते हैं।

यूरेट तथा यूरिक-एसिड का तलछट ईषत् कपिल वर्ण का होता है विशेष कर मूत्र की प्रतिक्रिया तीव्र अम्लीय होती है। यह तलछट गर्म करने पर अथवा क्षार मिलाने पर लुप्त हो जाता है। यद्यपि इन कणों का विशेष महत्व नहीं होता तथापि शरीर में जब प्योरीन (Purin) का विच्छेदन होने लगता है जैसा कि Myelopoolifera-tive Disonders में पाया जाता है तब इन कणों की

उपस्थिति नैदानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाती है। वैकारिक अवस्था में ये कण वृक्क शूल अथवा मूत्रावरोध उत्पन्न कर देते हैं।

तलछट की अणुवीक्षण यंत्र से परीक्षा कर मूत्र गत कणों की प्रकृति का सही सही निदान किया जाता है।

आयुर्वेद विज्ञान में सिक्तामेह तथा अश्मरी रोग के अन्तर्गत मूत्र गत कणों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

२ मूत्र की जैव रासायनिक परीक्षा—
(Bio-chemical examination of Urine)

मूत्र के परम्परागत रसायनिक परीक्षणों के स्थान पर अब व्यवसायिक प्रतिष्ठानों द्वारा निर्मित प्रतिकारक वर्ति तथा प्रतिकारक पट्टिकाओं को प्रयोग किया जाने लगा है अतः इनके प्रयोग से पूर्व इनका सम्यक् घटक ज्ञान तथा उनका कार्य क्षेत्र का ज्ञान कर लेना आवश्यक होता है।

मूत्र में प्रायः अधोलिखित जैव रसायनिक परीक्षाएं की जाती हैं—

प्रोटीन टेस्ट — Albumin, Euglobin, Proteose, Nucleo proteins तथा यदा कदा Mucin मूत्र में पाई जाती है। मुख्य रूप से Albumin का ही उत्सर्ग होता है। प्रोटीन निम्न अवस्था में विशेष रूप से मूत्र में उत्सर्ग होती है—

१. स्वेदाधिक्य, २. वृक्क जलामयता, ३. हृदय एवं यकृत में रक्तावरोध (Cardiac & Hepatic Venous Stasis), ४. रासायनिक विष यथा संखिया, पारद, शीशा आदि, ५. गर्भावस्थाजन्य विष, ६. कामला, ७. वृक्क शोथजन्य रोग। ८. रक्त के रोग यथा स्कर्वी, परप्यूरा और गम्भीर रक्ताल्पता।

प्रोटीन की मूत्र में उपस्थिति तीव्र गति से तन्तुओं के टूटने से सम्बद्ध होती है अतः पूयमयता, न्यूमोनिया की, अन्तिम अवस्था, गम्भीर अग्निदग्धव्रण, गर्भाशय व्रण, यकृत का सड़न के कारण गलना में भी मूत्र में प्रोटीन मिलती है।

परीक्षाएं—मूत्र को एसिटिक एसिड की कुछ बूंद मिला कर अम्लीय कर लेते हैं। परीक्षण नलिका में २/३ भाग लेकर उसके ऊपरी २ से. मी. भाग को अग्नि पर गर्म करें। एक घन प्रक्षेप प्रकट होता है ऊष्मा से प्रोटीन का स्कन्दन होता है। यह प्रक्षेप एल्ब्यूमिन अथवा फास्फेट की विद्यमानता का सूचक होता है। एसिटिक एसिड मिलाने पर फास्फेटजन्य धुंधलापन विलीन हो जाता है जबकि एल्बूमिनजन्य नष्ट नहीं होता।

परीक्षण नलिका में सांद्र शोरकाम्ल २ मि. लि. लेते हैं तथा सावधानीपूर्वक नलिका की प्राचीर के सहारे मूत्र डालते हैं। दोनों के संयोग स्थल पर एक मुद्रिकाकार रचना बनती है। यह रचना एल्ब्यूमिन नाइट्रेट की होती है।

एक परीक्षण नलिका में ५ मि. लि. मूत्र लेकर उसमें २०% Salicyl Sulphonic acid बूंद बूंद करके मिलाया जाता है एक बादल जैसा जिसको कृष्ण पृष्ठ भूमि पर दर्शाया जा सकता है मूत्र में प्रोटीन होने की सूचना देता है। प्रक्षेप की घनता अल्ब्यूमिन की प्रतिशत मात्रा का अनुमानिक बोध भी कराती है।

Reagen Strip—Tetra bromo phenol blue नामक प्रतिकारक से बनी होती है। मूत्र में डुबोने पर प्रोटीन की उपस्थिति में पीले से विभिन्न आभा वाले हरित वर्ण की हो जाती है। परीक्षा अति संवेदनशील है। तथापि पुष्टि हेतु अन्य परीक्षाएं भी आवश्यक होती हैं।

मूत्र में एल्यूमिन का प्रतिशत माप—

यह परीक्षा एल्ब्यूमीनोमीटर नामक यन्त्र से की जाती है। यन्त्र की रचना साधारण शीशे के ट्यूब के समान
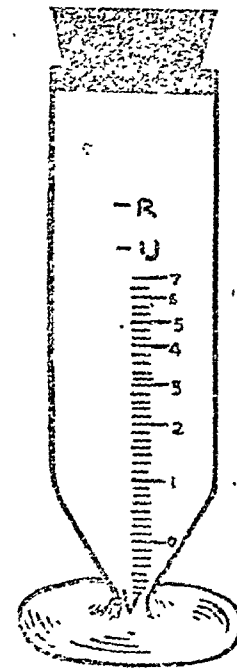
चित्र—२६
एल्ब्यूमीनोमीटर

होती जो १ से ६ तक अंशाङ्कित होती है तथा इनके ऊपर U तथा R के चिन्ह होते हैं।

प्रयोग विधि—गंदले मूत्र को फिल्टर कर लेना चाहिए। प्रतिक्रिया क्षारीय होने पर उसमें एसेटिक एसिड की कुछ बूंद मिला देनी चाहिये।

मूत्र का घनत्व १००८ कर लेना चाहिये। यन्त्र में यू चिन्ह तक मूत्र तथा आर चिन्ह तक एसवैक विलयन (Esbach's reagent) भर लेते हैं। यन्त्र का मुख कार्क से बन्द करके उसे ऊपर नीचे कर मिला लेते हैं तथा स्टेन्ड में २४ घन्टे को खड़ा कर देते हैं। तदुपरान्त तल में संचित प्रक्षेप की रीडिंग लेकर उसको १० से भाग कर देते है। यही एल्ब्यूमिन की प्रतिशत होती है।

मूत्र में शर्करा का परीक्षण—

सामान्य मूत्र में अति सूक्ष्म मात्रा में शर्करा पायी जाती है जिसका परीक्षण परम्परागत विधियों से नहीं हो पाता है। मूत्रगत शर्करा की उपस्थिति वृक्क प्रणालियों की पुनः शोषण क्षमता के अभाव की परिचायक होती है। मूत्र शर्करा ग्लूकोज, दुग्ध-शर्करा (लेक्टोज) तथा ग्लक्टोज आदि मोनोसेक्राइड के रूप में पाई जाती है। लेक्टोज स्तनपान कराने वाली महिलाओं के मूत्र, फल शर्करा अधिक फलों का सेवन करने से तथा ग्लूकोज का निष्कासन धातु पाक के विकार के कारण होता है।

बेनडिक्ट टैस्ट—बेनेडिक्ट विलयन ५ मिली. एक परीक्षण नलिका में लेकर उसमें ८ बूंद मूत्र मिलाकर २ मिनट तक उबालकर ठण्डा कर लेते हैं। शर्करा की उपस्थिति में ईषत हरित से लेकर सघन रक्तवर्ण प्रक्षेप आता है। वर्ण के द्वारा शर्करा की मात्रा का भी अनुमान हो जाता है।

ईषत हरित वर्ण .१ से ५%
हरित प्रक्षेप ५ से १%
पीत प्रक्षेप .१ से २%
रक्त प्रक्षेप २ या अधिक %

अस्पतालीय परीक्षण—बेनेडिक्ट विलयन का ही रूपान्तर होता है। सम्पूर्ण घटक एक वटी के रूप में घनीभूत होते हैं तथा आवश्यक ताप वटी के मूत्र के सम्पर्क में आने पर उत्पन्न होता है। वर्ण परिवर्तन ऊपर वर्णित परीक्षा के अनुसार ही होता है। परीक्षण नलिका में २ बूंद मूत्र तथा १० बूंद जल लेकर उसमें १ वटी डाली जाती है।

Clinistix—वटी के स्थान पर Reagent Strip का प्रयोग किया जाता है। प्रयोग के दस सेकिंड के पश्चात् सम्बद्ध चार्ट से वर्ण का मिलान किया जाता है।

Fehling Solution test—फेहलिंग विलयन ए तथा बी दो प्रकार के होते हैं। दोनों विलयन समभाग एक परीक्षण नलिका में तथा दोनों की सम्मिलित मात्रा की समान मात्रा में मूत्र दूसरी परीक्षण नलिका में लेक गर्म करके मिला देते हैं। हरित पीत या रक्तवर्ण प्रक्षेप मू. शर्करा का द्योतक होता है। फेहलिंग विलयन अधिक ... होने पर स्वयं ही अपचित (कम असर वाला) हो जाता है।
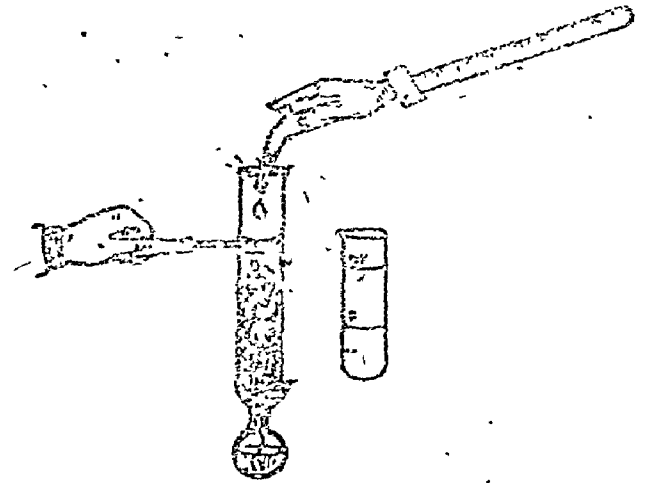
चित्र—२७
शर्करा की प्रतिशत मात्रा का ज्ञान करना

मूत्र शर्करा का प्रतिशत माप—इसकी माप मीटर न-मक यन्त्र से की जाती है। Carwardi Saccharometer इस हेतु प्रयोग किया जाता इस यन्त्र में एक फेहलिंग जार होता है जिस पर F F2 तथा DF के चिन्ह अङ्कित होते हैं तथा एक अं कित पिपेट होता है। इस पर D तथा DU के चि तथा एक अंशकित पैमाना होता है। साथ ही एक क्र विल एवं एक विलोढक भी होता है। (ऊपर चित्र २७ दे

प्रयोग—फेहलिंग जार में F1 चिन्ह तक फेह विलयन A, F2 चिन्ह तक फेहलिंग विलयन B DF तक जल मिलाकर कुल द्रव को क्रूसविल में ... कर गर्म करते हैं।

अंशकित पिपेट में U चिन्ह तक मूत्र तथा चिन्ह तक परिश्रुत जल लेकर मिलाकर गर्म हो रहे ...ल में बूंद बूंद कर मिलाते हैं। विलोढक से मिलाते जाते जहां अवकरण होकर वर्ण परिवर्तन तथा प्रक्षेप आता अंशकित पिपेट पर गणना कर लेते हैं। यही मू शर्करा की प्रतिशत मात्रा होती है।

मूत्र में मधुर रस तथा शर्करा की उपस्थिति परीक्षा—आयुर्वेद विज्ञान में मधुर रस के परीक्षण पिपीलिका आदि को प्रिय होने से मूत्र पर चींटे-च.

व आती हो तब उसमें शर्करा होने का अनुमान लगाया ाता है।

······पट पद पिपीलिकादीनां अभीष्टतम्······
—अ०स०सू० १८

त्र में कीटोन बाडीज की परीक्षा—

मधुमेह की चिरकालीन अवस्था, दीर्घकालीन उप-ास अथवा चिरकालीन वमन प्रवृत्ति में एसीटो एसिटिक सिड या एसीटोन का उत्सर्ग होता है। यदकदा Hy-lro-butyric acid भी मूत्र में पाया जाता है।

वस्तुतः शर्करा तत्व का सम्यक् धातु पाक न होने से रीर में वसा तत्व (Fat) का धातु पाक भी बाधित हो ाता है, अत. वसा धातु पाक के अन्तरिम यौगिक त्र में प्रकट होने लगते है।

परीक्षा Rotheras Nitroprusside test थवा उसका कोई रूपान्तर प्रयोग मे लाया जाता है।

परीक्षण हेतु मूत्र सद्यः त्यक्त बिना गरम किया होना ाहिये। १० मिली. मूत्र को एमोनियम सल्फेट कणो के ारा संतृप्त कर लेते हैं। इसमे ३ बूंद Strong so-ium Nitroprusside का घोल एवं २ मि.ली. trong Ammonia मिलाते है। एक गहरा परमेंगनेट लर प्रकट होता है।

Acetest—उपरोक्त द्रव्यों की वटिका होती है। न वटि॰ा पर एक बूंद मूत्र डालते हैं। २० सैकिण्ड के द वटी का भी उपरोक्त वर्ण हो जाता है। गोली के वर्ण ो Maker's chart के साथ मिलाकर मूत्र में ीटोन की मात्रा का ज्ञान हो जाता है।

शगत पित्त की परीक्षा—

मूत्र में पित्त प्रायः कामला विशेष कर अवरोधक मला में पाया जाता है। सद्यः त्यक्त मूत्र में पित्त ण तथा पित्त रंजक द्रव्य दोनों होते हैं परन्तु बाद में ्तल रंजक द्रव्य ही रह जाते हैं। मूत्र का वर्ण हरिताभ त होता है। परीक्षा निम्न प्रकार की जाती है—

Hay's sulpher test—मूत्र को परीक्षण नका में लेकर उसके ऊपर गंधक चूर्ण छिटक देते हैं। द गंधक के कण तल में बैठने लगे तब मूत्र में पित्त उपस्थिति समझी जाती है। पित्त लवण के कारण तल का तनाव (surface tension) घट जाता है। अतः गन्धक के कण तली में बैठने लगते हैं।

Methylene blue test—एक परीक्षण नलिका में कुछ बूंद मिथायलीन ब्लू लेकर उसको गिरा दे जिससे कि कुछ अंश नलिका की प्राचीरों से लगा रहे। इस

****

चित्र—२८

गेहूं की बाल की शक्ल का ऐसी-सल्फापाइरिडिन क्रिस्टल

****

चित्र—२९

मूत्र के कणीय पदार्थों का सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा दर्शन

अ—यूरिक एसिड ब—एमोनियम यूरेट
स—कैलसियम आक्जेलेट द—एमोनियम या मैग-नीशियम फास्फेट य—ल्यूसि र—टायरोसिन
ल—सिस्टिन व—स्टिलर फास्फेट।

नलिका में २ मिली० मूत्र मिला दें, हरित वर्ण आता है।

Nitric acid test – एक फिल्टर पेपर से मूत्र को छानकर उस पेपर पर १ बूंद Fuming nitric acid डाले, कई प्रकार के वर्ण प्रकट होते हैं। यथा— हरित, नील, धूसर, कपिल, रक्त तथा नील आदि और अन्त में वर्ण हरा हो जाता है।
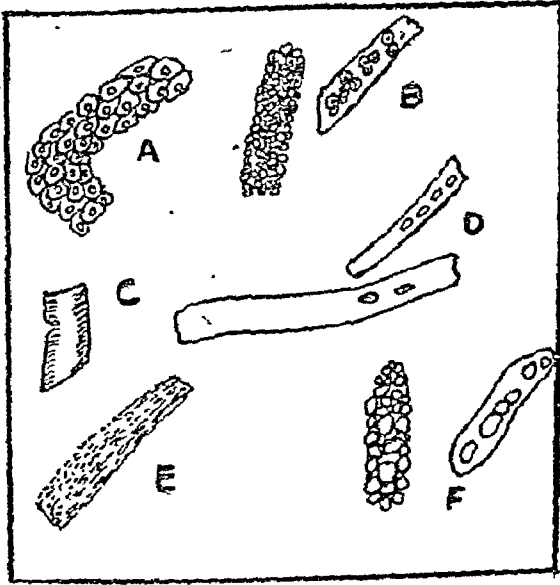
चित्र ३०—वृक्क नलिकाओं में प्रक्षेप (Castes)
अ. आवरक तन्तु प्रक्षेप [कास्ट] ब. रक्त प्रक्षेप [कास्ट]
स. वैक्सी कास्ट द हायलाइन कास्ट य. कणीय कास्ट
र. मेदज कास्ट

मूत्रगत रक्त परीक्षा—

अधो रक्तपित्त में मूत्र में रक्त का उत्सर्ग होता है। कुछ ऐसी भी अवस्थाएँ होती हैं जहां रक्त रंजक-द्रव्य (Haemoglobin) का ही स्राव होता है। अल्प संख्या में रक्त के लोहित कण (R.B C) वृक्क शूल में तथा जीवाणु जन्य एन्डो कार्डाइटिस में पाये जाते हैं। बहु-संख्यक लोहित कण मूत्र को रक्त वर्णता प्रदान करते हैं तथा पात्र के तल में अवक्षिप्त हो जाते हैं।

परीक्षा - परीक्षण नलिका में १ मिली० मूत्र लेते हैं, इसमें ३ बूंद टिंचर गायकम मिला दें, एक सफेद गंदलापन प्रकट होता है। इसमें १ मिली० ओजोनिक ईथर मिलाते हैं। दोनों के संयोग स्थल पर नीला वर्ण होता है।

Reagent strip or Haemastix को सद्यः त्यक्त मूत्र में डुबाया जाता है। ३० सैकिंड पश्चात् वर्ण परिवर्तन होकर नीला हो जाता है।

Occultest–वटी द्वारा भी रक्त परीक्षा होती है।

मूत्रगत पूय की परीक्षा—

पूयजनक जीवाणु का मूत्र मार्ग में उपसर्ग होने पर मूत्र में पूय पाया जाता है।

परीक्षा – टिंचर गायकम मिलाने से हरित वर्णकास्टिक पुटाश मिलाने से धुंधला रज्जू जैसा प्रक्षेप आता है।

सूक्ष्म दर्शक यंत्र परीक्षा—

साधारण मूत्र में प्राप्त अवक्षेप अथवा मूत्र को सेंट्रीफ्यूगल मशीन द्वारा केन्द्रीभूत करके प्राप्त अवक्षेप की १ बूंद कांच पटिका पर रखकर कवरस्लिप से ढककर सूक्ष्म दर्शक यन्त्र के प्रथम कम शक्ति तथा बाद में अधिक शक्ति में देखते हैं। (चित्र—२८, २९, ३०)

तीन प्रकार की रचनायें दृष्टिगोचर होती हैं—

1. Cell 2. Crystals 3. Cast

Cells—रक्त के लोहित कण, श्वेत कण, पूय कोष तथा आवरक कोष (Epithelial cells) पाये जाते हैं। आवरक कोष Columnar, Trasitional तथा Squamuns भेद से तीन प्रकार के होते है। कभी कभी मूत्र में शुक्राणु (Sermatazoa) भी पाये जाते हैं।

Crystals—मूत्र की प्रतिक्रिया के अनुसार होते हैं।

अम्लीय प्रतिक्रिया में – यूरिक एसिड कई आकार के होते है। वर्ण पीला, लाल होता है। चतुष्कोण प्रायः दो शिर वाले होते हैं। यूरेट्स प्रायः गुलाबी या ईंट के वर्ण वाले होते हैं, छोटे छोटे गोल दाने जैसे समूह में मिलते हैं।

कैल्शियम आक्जेलेट—चतुष्कोण आकृति वाले तथा कर्ण रेखा (Diagonal line) वाले होते हैं। यदकदा सिस्टीन, जेन्थीन तथा ल्यूसिन के कण भी पाये जाते हैं।

क्षारीय प्रतिक्रिया में—फास्फेट–श्वेत वर्ण के होते हैं। ये कण तीन आकृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं।

अमोरफस फास्फेट—सूक्ष्म श्वेत दाने जैसे होते हैं।

ट्रिपिल फास्फेट—मध्य भाग में उठे हुए लिफाफे के आकार के श्वेत स्फट होते हैं।

स्टेलरफास्फेट—सफेद लम्बे स्फट झुंड रूप में फैले हैं।

अमोनियम यूरेट्स—काँटेदार गोल स्फट होते हैं।

Casts—मूत्र में अनेक रोगों में लम्बी या बेलनाकार रचनाएं पाई जाती हैं जिन्हें कास्ट्स कहते हैं। ये चार प्रकार की होती है।

पृष्ठ ५२ का शेषांश—

मूत्र रोगों की परीक्षा विधियाँ

वृक्क का आचूषण जीवद्वीक्षण (Aspiration Biopsy)—सर्वप्रथम सिरांतर्गत वृक्कालिन्द चित्रण (Intravenous Pylography) के द्वारा विकृत वृक्क का पता लगाकर, वृक्क का कुछ हिस्सा निकाल कर उसका परीक्षण किया जाता है। इस आंशिक परीक्षण से सम्पूर्ण वृक्कगत विकृति का पता लग जाने के कारण अपवृक्कता, मधुमेहज मुत्सक जाग्रता आदि अनेक वृक्क विकारों के निदान में इसका बहुत उपयोग होता है।

गवीनी शलाकाकरण (Ureteric catheterisation)—प्रत्येक गवीनी में शलाका डालकर उसमें आया हुआ मूत्र स्वतन्त्रतया एकत्र कर उसका परीक्षण मिह, जीवाणु इत्यादि के लिए तथा वृक्क की कार्यक्षमता जानने के लिए भी किया जाता है।

वर्णवस्तिवीक्षण (Chromocystoscopy)—वस्तिवीक्षण यन्त्र से वस्ति तथा गवीनियों के द्वारों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाता है और उसके पश्चात् सिरा द्वारा कोई रंजक (Indigocarmine) दिया जाता है और गवीनी के द्वारों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाता है जिससे उत्सर्जित होने का समय और उसका गहरापन
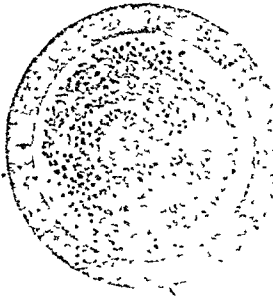
* * * * * * * * *
चित्र—३१
मूत्राशय दर्शक यन्त्र द्वारा मूत्र गवीनी द्वार पर अश्मरी दिखाई दे रही है।
* * * * * * * * *

चित्र संख्या ३२—मूत्राशय में परीक्षण के परिणाम को लिखने का उचित ढङ्ग यथा ऊपर मूत्राशय केअर्बुद का लेखन किया है।

मालूम किया जाता है। अच्छे गहरेपन के साथ रंजक का शीघ्र उत्सर्जित होना वृक्क की कार्यक्षमता का सूचक तथा रंजक का उत्सर्ग विलम्ब से कम गहरापन लिये होना वृक्क की निष्क्रियता का सूचक है। अनेक बार वृक्काश्मरी, वृक्कार्बुद आदि विकारों में विकृत वृक्कोच्छेदन (Nephrectomy) अधिक श्रेयष्कर है, पर दूसरे वृक्क की कार्यक्षमता का पता लगाये विना वह शस्त्रकर्म नहीं किया जा सकता। अतः वृक्कों की कार्यक्षमता की जानकारी के लिये यह परीक्षण किया जाता है।

वृक्कों की क्षमता का पृथक-पृथक आकलन—उपरोक्त उत्सर्जन एक्सरे चित्रण या उपर्युक्त रंजन उत्सर्जन द्वारा किया जा सकता है। जहां एक वृक्क के रोगग्रस्त होने का भय हो वहां शस्त्रकर्म करने के पूर्व दूसरे वृक्क की दक्षता का पूर्ण बोध कर लेना बहुत आवश्यक है।

—पृष्ठ ४० का शेषांश—

मूत्रवह संस्थान (रचना एवं क्रिया शरीर)

का यह भाग मूत्रपथ संकोचनी पेशी (Sphincter Urethrae) के द्वारा आवृत रहता है जिसके कारण यह अत्यधिक संकुचित होता है।

(३) Spongy Urethra—यह शिश्न के Corpus Spongiorsum भाग में रहने वाला १० से० मी० से १५ से० मी० लम्बा भाग होता है जो मूत्रपथ के कलामय मार्ग के अन्तिम भाग से प्रारम्भ होता है तथा शिश्न मुण्ड पर स्थित बहिर्मूत्रपथ द्वार पर समाप्त होता है। मूत्रपथ के इस भाग में Bulbo urethral Glands आकर खुलती है। इस भाग में मूत्रपथ की चौड़ाई हर जगह समान होती है केवल शिश्न मुण्ड में यह कुछ विस्तृत हो जाता है और पुनः संकुचित होकर शिश्न मुण्ड के ऊर्ध्व भाग (Ant-Part) पर एक छिद्र के रूप में खुल जाता है। इस छिद्र को बहिर्मूत्रद्वार कहते हैं।

स्त्रियों में मूत्रपथ की लम्बाई पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम होती है। साधारणतया स्त्रियों में इसकी लम्बाई ४ से० मी० के लगभग होती है।

आधुनिक मूत्र परीक्षा का नैदानिक महत्त्वपरक विवेचन

डा० शिवनारायण गुप्ता एम०डी० [आयु०], एफ०आई०ए० एच०पी०एस०
व्याख्याता—श्री जो० शं० आयुर्वेद महाविद्यालय, नडियाद ।

मूत्र जलीयांश और कतिपय घन द्रव्यों का मिश्रण है । इनमें से किसी की भी मात्रा सामान्य से अधिक होना विकृति द्योतक है । मूत्र में ये विकृतियां चार स्तरों पर आ सकती हैं—

१. आहार द्वारा अधिक मात्रा में लिए गये किसी द्रव्य विशेष का महास्रोतस् में आचूषण अधिक होना ।
२. कोषीय स्तर पर चयापचय (मेटाबोलिज्म) के समय किसी द्रव्य का अधिक उत्पादन होना ।
३. वृक्क स्तर पर ग्लोमेरूलर निस्यंदन एवं ट्युब्यूलर पुनर्शोषण में व्यवधान के कारण किसी द्रव्य का सामान्य से अधिक मात्रा में कलेक्टिंग ट्यूब्युल्स में आ जाना ।
४. अधः मूत्रमार्ग, गवीनियां, बस्ति एवं मूत्र प्रसेक में कुछ द्रव्यों का मूत्र में मिल जाना ।

इस प्रकार देखा जाय तो महास्रोतस से लेकर कोषीय स्तर पर एवं वहां से सम्पूर्ण मूत्रवह संस्थान की विकृतियों का ज्ञान कराने में मूत्र-परीक्षा सहायक हो सकती है । प्रमेह में उपस्थित आविलता के संदर्भ में सुश्रुत के टीकाकार गयदास का कथन है कि यह आविलता दूष्यावयवों की मूत्र में उपस्थिति के कारण होती है । इस कथन के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आविलता के अतिरिक्त अन्य विकृतियां भी दूष्यांशो या दोषों की उपस्थिति के कारण ही होती है । सामान्यतः कुछ द्रव्य मूत्र में अनुपस्थित ही होते हैं, उनकी उपस्थिति विकार सूचक होती है। इसी प्रकार कुछ द्रव्य एक सामान्य निश्चित प्रमाण में उपस्थित होते हैं उनकी मात्रा कम या अधिक होना भी विकार द्योतक होता है ।

योग रत्नाकर में अष्टविध रोगी परीक्षा के अन्तर्गत मूत्र-परीक्षा का विस्तार से वर्णन मिलता है । यह मूत्र परीक्षा मुख्यतः दो प्रकार से वर्णित है । प्रथम—पंचेन्द्रिय द्वारा दोषानुसार दृष्टि की परीक्षा जो मुख्यतः वर्ण एवं स्पर्श पर आधारित है । दूसरे—तैल बिन्दु द्वारा साध्यासाध्यता परक परीक्षा । इन परीक्षाओं में कुछ कमियां रह जाती हैं यथा—मूत्रगत रस एवं दूष्यांशों की उपस्थिति का ज्ञान । यदि हम आधुनिक मूत्र परीक्षा को समाविष्ट करते हुए मूत्र परीक्षा करे तो न केवल ये कमियाँ दूर हो सकती हैं अपितु संप्राप्ति घटकों का अधिक विस्तृत ज्ञान संभव हो कर चिकित्सा—सौकर्य सम्पन्न होगा एवं शास्त्र समृद्धि बढ़ेगी । आधुनिक मूत्र परीक्षा द्वारा हम अपनी नैदानिक पद्धति की पुष्टि कर सकते हैं । परीक्षा विधियां चिकित्सा जगत में विदित हैं, साथ ही हमारा उद्देश्य उनके नैदानिक महत्त्व को प्रतिपादित करना है । अतः विस्तारभय से विधियों की चर्चा में न उतरते हुए हम उनके आयुर्वेद-परक नैदानिक महत्व पर ही विमर्श करना उचित समझते हैं ।

भौतिक परीक्षा—

इसके अन्तर्गत मूत्र के भौतिक गुणों की अपेक्षा की जाती है और ये विधियां इतनी सरल हैं कि कोई भी चिकित्सक २-३ मिनट में सभी परीक्षायें सम्पन्न कर सकता है ।

मात्रा—मूत्र की मात्रा आयुर्वेद मत से चार अञ्जली मानी गई है । यह मात्रा अहर्निश काल में कई कारणों से बढ़घट सकती है—यथा जलपान की राशि, शीत उष्ण काल आदि । आधुनिक मत से सामान्यतः यह १००० मि. ली. से १६०० मि. ली. होती है । प्रमेह का मुख्य लक्षण प्रभूत मूत्रता बताया है अतः प्रमेह में यह मात्रा बढ़ी हुई रहती हैं ।

वर्ण— मूत्र का प्राकृत वर्ण पीताभ होता है, किन्तु कुछ औषधियों के सेवन से या असामान्य रंजक द्रव्यों की उपस्थिति वर्ण परिवर्तन कर देती है । आयुर्वेद मत से दोषानुसार निम्न वर्ण या आकृति हो सकती है—

वात—पाण्डुर वर्ण
कफ—फेन युक्त
पित्त—रक्त वर्ण या अतिपीत वर्ण
त्रिदोष—कृष्णाभ

आधुनिक मत से रक्त की उपस्थिति के कारण मूत्र का वर्ण रक्त, कृष्णाभ रक्त या धूम्राभ हो जाता है । पित्त

की उपस्थिति उसे अत्यन्त पीत या पीताभ हरित बना देती है।

गन्ध—मूत्र की प्राकृत गन्ध सर्वविदित है। अप्राकृत गन्ध निम्नलिखित हो सकती है—

मधुर गन्ध—यह एसीटोन की उपस्थिति के कारण होती है।

शववत् गन्ध—पूयमेह में पूय के सड़ने के कारण होती है।

मलवत गन्ध—पुरीष के मूत्र में मिश्रण के कारण आती है।

स्वच्छता एवं पारदर्शिकता—सामान्य एवं ताजा मूत्र स्वच्छ होता है। रक्त, पूय श्लेष्मा जीवाणुओं आदि की उपस्थित उसे आविल बनाते हैं। आयुर्वेदमत स दूष्यों के अवयवों के कारण यह आविलता उत्पन्न होती है। उन दूष्यावयवों को रासायनिक एवं सूक्ष्मदर्शी परीक्षाओं से विनिश्चय किया जा सकता है।

सापेक्ष घनत्व जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है कि मूत्र में जलीयांश की मुख्य मात्रा के अतिरिक्त कुछ घन द्रव्य होते हैं। जल का घनत्व एक होने से, मूत्र का घनत्व एक से जितना अधिक होगा घन द्रव्यों की उतनी ही अधिक उपस्थिति का द्योतक होगा। सामान्यतः यह १.०१७ से १.०२० के बीच होता है। उदक मेह में यह कम हो जाता है क्योंकि उसमें जलीयांश अधिक होता है घन द्रव्य अल्प। मधुमेह में यह बढ़ जाता है क्योंकि मूत्र में शर्करा आदि घन द्रव्यों का प्रमाण अधिक हो जाता है ज्वर में जलीयांश कम होने से सापेक्ष घनत्व बढ़ता है। वृक्क शोथ में भी सापेक्ष घनत्व बढ़ता है। क्योंकि वृक्क की निस्यंदन क्रिया विकृति होने के कारण घन द्रव्यों का प्रमाण बढ़ जाता है। संक्षेपतः मूत्र में गुरु, पिच्छिल, सान्द्र गुणों की अधिकता सापेक्ष घनत्व को बढ़ाती है और ये गुण उसमें उपस्थित कई द्रव्यों के कारण संभव है।

रासायनिक परीक्षा—

इसमें रसायनिक विधियों से मूत्र में उपस्थित अप्राकृत द्रव्यों की परीक्षा की जाती है।

एल्ब्युमिन या प्रोटीन्स—प्रोटीन, (जो कि आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से मांसधातु के अवयव हैं) रक्त में वृक्क में निस्यंदित होने से मूत्र में उपस्थित नही होती हैं परन्तु अनभ्यस्त द्वारा अधिक व्यायाम करने से तथा गर्भावस्था में ये मूत्र में उपस्थित हो सकते हैं। वैकारिक अवस्थाओं में पांडु, जीर्ण हृद्रोग, वृक्क सिरागत उच्चदाब, वृक्क शोथ, पारद विषमयता, वृक्क गत अर्बुद या यक्ष्मा में मूत्रमार्ग गत शोथ में मूत्र में दृष्टिगोचर होते हैं। ७०

शर्करा—रक्तगत १८० मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ली. शर्करा होने पर वृक्क में निस्यंदित होने पर संपूर्ण शर्करा वृक्क नलिकाओं से पुर्नशोषित हो जाती है अतः मूत्र में अनुपस्थित होती है। परन्तु रक्त में अधिक मात्रा होने पर (हाइपर ग्लाइसीमिया) एवं पुनर्शोषण की प्रक्रिया में बाधा होने पर यह मूत्र में उपस्थित होती है। आयुर्वेद में क्षौद्र मेह, ईक्षु मेह तथा शीतमेह में मूत्र का रस मधुर बताया है। यह रसज्ञान इस रासायनिक परीक्षा से ज्ञात किया जा सकता है। कुछ अवस्थाओं में यथा गर्भावस्था, तीव्र मानसिक आघात एवं संज्ञाहरण आदि में भी मूत्र में शर्करा पाई जाती है।

शोध परिणामों से यह आभास मिलता है कि शर्करा गुण साधर्म्यानुसार कफ वर्ग का द्रव्य है (गुप्ता आदि १९८१)। चरक मत से मधुर रस युक्त ओज का मूत्र द्वारा निष्क्रमण मधुमेह में वर्णित है और गुण साधर्म्यानुसार ओज भी कफवर्गीय द्रव्य है। अतः मूत्रगत शर्करा ओज या कफ के क्षय को प्रदर्शित करती है।

एसीटोन—एटीटोन मेद धातु का घटक है। जब शरीर को उर्जा प्रदान करने में शर्करा असमर्थ होती है तब मेद का विघटन करके शरीर उर्जा प्राप्त करता है। मेद के विघटन के फलस्वरूप एसीटोन का निर्माण होता है और रक्त में इनकी मात्रा बढ़ने पर यह मूत्र मार्ग से बाहर आने लगते हैं। मधुमेह की तीव्रावस्था एवं दीर्घकालीन अनशन में ऐसा होता है। इन्सुलीन की कमी के कारण ग्लुकोज कोषाओं में प्रविष्ट नहीं हो पाता, फलतः उर्जा प्राप्ति के लिये निरुपयोगी हो जाता है और ऐसी स्थिति में यकृत मेद धातु का विघटन प्रारम्भ करता है। आयुर्वेद में भी प्रमेह में मेद धातु में शैथिल्य बताया है जो इसी विघटन का द्योतक प्रतीत होता है।

पित्तरंजक द्रव्य एवं पित्त लवण—ये याकृतपित्त के ही घटक होते हैं और इनकी मूत्र में उपस्थिति रक्त में याकृत पित्त की वृद्धि का ज्ञान एवं कामला का निदान करने में सहायक होती है।

—शेषांश पृष्ठ ७२ पर देखें।

मूत्र प्रणाली में दोषों की उत्पत्ति होने पर आरम्भ में मूत्रकृच्छ्र आदि के लक्षण प्रतीत होते हैं। तद् विषयक ज्योतिर्विद आचार्यों ने निम्न घोषणा की है –

जन्म काले यदा यस्पस्मरे भवति भास्करिः ।
राहुदृष्टः प्रकुरुते मूत्रकृच्छ्रादिकां रुजम् ॥
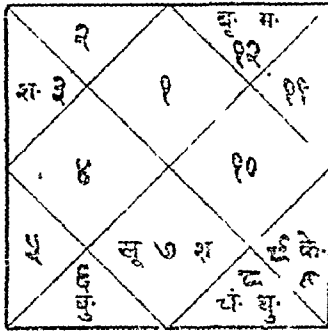
चित्र सं० ३३

अर्थात् जिस प्राणी की जन्म कुण्डली के सप्तम स्थान में शनि हो और राहु की दृष्टि हो उसको मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों की उत्पत्ति संभव हो जाती है। यद्यपि उपरोक्त श्लोक हमारे पूज्य ज्योतिर्विद् मनीषियों ने रचा है, हमारी दृष्टि में यह अधूरा एवं संकेत मात्र ही है। क्योंकि सप्तम स्थान के अतिरिक्त गुरदों एवं रोग का कारक छटा स्थान, सप्तम स्थान में अन्य ग्रहों का योग इस स्थान पर आने वाली दृष्टियां, बलाबल आदि की पूर्णतया उपेक्षा कर दी गई है जिसे मैं उचित नहीं मानता। सप्तम स्थान से मूत्राशय, मूत्रकृच्छ्र रोगों की संभावना है यह तो सही है किंतु इस तथा ऐसी अन्य कुण्डलियों में जहां सप्तम स्थान मे सूर्य दोषकारी है, यदि वहाँ चन्द्र बुध जैसा सौम्य ग्रह होता तथा इस कुण्डली में द्वादशभाव में मंगल जैसा क्रूर सप्तम स्थान पर हानिकारी दृष्टि डाल रहा है वह न होता बल्कि लग्न में भी सौम्य ग्रह होता तो फिर इस श्लोक वर्णित मूत्रकृच्छ्र प्रकुरुते के स्थान में सामान्यरोगोत्पत्ति अल काल ही क्यों अत्यल्प काल के लिये ही संभव रहती और उसका सामान्य उपचार होकर रोग शमन हो जाता। य हमने विशिष्ट रूप से इस कुण्डली का चयन किया है इस रोग की विभीषिका समझाने में सरल बनती है। ह यहाँ सभी नवग्रहों की स्थिति देकर पर्यावलोकन की चे की है। शनि के साथ सूर्य रोग की वृद्धि एवं [illegible] कार है, मंगल की द्वादशे स्थिति सप्तम स्थान पर मारक अथवा गांठ या आपरेशन की स्थिति तक पहुँचाता है अपना सहयोग देता है, केतु उदर विकारों को जन्म दे है तो बुध गुरदे रोग की संभावना देता है, मंगल की दृ पाकर गुरदे की क्रिया में हानिकारी प्रभाव देरहा है। व स्वयं षष्ठेश गुरदा रोगकारी है–उच्च स्थिति में शनि के को अवरोधात्मक गति देकर केन्द्रीय योग दे रहा है। - भी मूत्राशय का नाशकारी प्रभाव संकेत दे रहा है। अ हमें इन दोनों स्थानों का सम्यक विचार करना चाहिए मूत्रवह संस्थान के उपरोक्त चित्र से भी यह स्पष्ट प्रत होता है कि गुरदों की मूत्राशय के आरम्भिक स्रोत अ स्वीकार करने चाहिए। इन्हें मूत्र प्रणालिओं से [illegible] हुआ है। माता पिता के संस्कार सन्तान में होना [illegible] हैं ही। इस प्रकार हम यदि यह चाहते हैं कि इस ज कुण्डली के आधार पर गुरदे या मूत्राशय संस्थान के [illegible] की संभावना की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हमें प्राप्त हो तो रोगकारी स्थान का कारकत्व, शत्रु मित्र [illegible]

स्थिति अंशात्मक भाव, चलित स्थिति नवांशात्मक स्थिति, अन्य ग्रहों की स्थितियाँ एवं उनकी दृष्टियाँ, अयान्तर्दृष्टियाँ भावाधिपति स्थिति, इन पर सौम्यासौम्य दृष्टियाँ बलाबल आदि सब बातों का पूरा विवेचन करना उपयुक्त होगा। इन सब स्थितियों का अनुकूल प्रतिपूजता का समाकलन प्रनक-प्रपक करना होगा। तत्पश्चात महादशा अन्तर्दशाओं आदि के सहयोग में ग्रह गोचर के परिमाण पर मध्यदृष्टि रखकर फलादेश करते समय पूर्ण परिपाक करना होगा तब ही हमारा प्रयत्न सार्थक सिद्ध होगा। मात्र ग्रह की स्थिति को आधार मानकर चाहे हम मानसागरी, वृहज्जातक, लघु पाराशरीय, दीर्घ वृहदपाराशरीय ग्रंथों से फलितार्थ करें चाहे भृगुसंहिता हो अथवा अर्वाचीन गण्यमान्य यशस्वी लेखकों की रचनायें हों इस दृष्टि से ये सभी ग्रंथ अधूरे माने जायेंगे। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के सुयोग रहते हुए जातक को कारक के स्थान में मारक बन जाते हैं और मारक कारक बन जाते हैं। (आगे पृष्ठ ७३ पर)

आधुनिक मूत्र परीक्षा का नैदानिक महत्वपरक विवेचन

पृष्ठ ७० का शेषांश
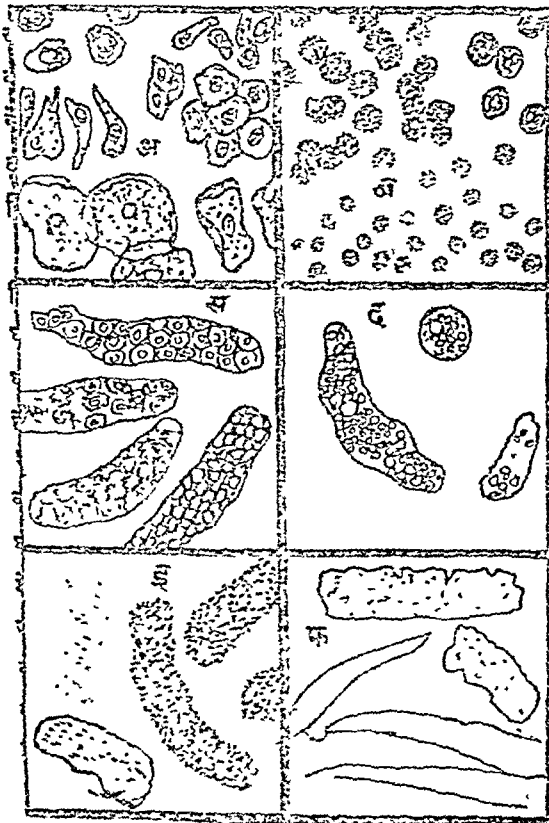
चित्र ३४—मूत्र के कार्बनिक द्रव्यों का सूक्ष्म दर्शन

अ—वृक्क नलिकायें, मूत्राशय, मूत्रवाहिनी, मूत्र प्रसेक नलिका या योनि से निष्कासित इपीथीलियल सैल।

ब—पूय या रक्तकण स—आवरक तन्तु [ऊपर] या पूय [बीच में] या रक्त [नीचे] के कास्ट्स।

द—मेदज कास्ट इ—कणीय कास्ट

फ—वैक्सी कास्ट [ऊपर], हायलाइन कास्ट [नीचे]

सूक्ष्मदर्शी परीक्षा - यह बहुत महत्वपूर्ण परीक्षा है इसके द्वारा विभिन्न कोष समूह (कास्ट्स), रक्तकण, पूय, स्फटिक (क्रिस्टल्स) आदि की उपस्थिति का ज्ञान होता है।

हाइलाइन कास्ट्स की निरन्तर उपस्थिति नेफ्रोस्क्लेरोसिस के कारण होती है। ७२

वेक्सी कास्ट्स — वृद्ध वृक्क शोथ, एवं वृक्क के एमाइलाइड रोगों में उपस्थित होती है।

फिब्रिनस कास्ट्स—तीव्र वृक्क शोथ में प्रायः देखी जाती है।

फेटी कास्ट्स—ग्लोमेरुलर नेफ्राइटिस में उपस्थित होती है।

ब्लड कास्ट्स-वृक्कगत रक्तस्राव में पाई जाती हैं।

ल्यूकोसाइट कास्ट्स—वृक्कगत पाक की अवस्था में ये उपस्थित होती है।

पस सेल्स—अल्प संख्या में ये सामान्यतः उपस्थित होते हैं पर अधिक संख्या मूत्र में मार्गगत शोथ एवं पाक की अवस्था के द्योतक हैं।

रक्त कण—मूत्रमार्ग में कहीं भी रक्तस्राव होने पर ये मूत्र में उपस्थित होते हैं।

स्फटिक—विभिन्न यूरिक एसिड, आक्सेलेट्स एवं फास्फेट्स आदि के स्फटिकों की मूत्र में अत्यधिक उपस्थिति अश्मरी एवं शर्करा रोग या सिक्तामेह की संभावना व्यक्त करती है।

—डा. शिवनारायण गुप्ता एम. डी. (आयु.)
एफ. आइ. ए. एच. पी. एस.
व्याख्याता-श्री. जी. ग. आयुर्वेद महाविद्यालय, नडियाद।

ज्योर्विद आचार्यों ने सप्तम स्थान में शनि की स्थिति एवं उस पर राहु की दृष्टिमात्र से मूत्राशय के रोगों की
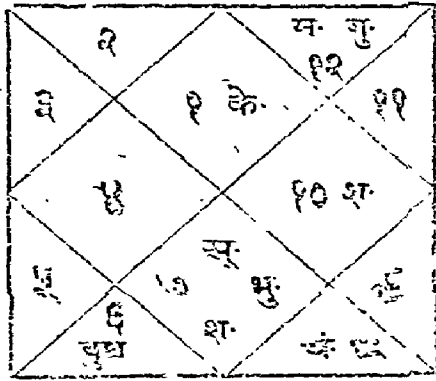
चित्र सं० ३५
मूत्राशय रोग प्रदर्शिका अन्य कुण्डली

उत्पत्ति की सम्भावनायें प्रगट की थीं जिस पर हम पूर्व अपनी टिप्पणी कर चुके हैं। अब हम यहां अपने अनुभव से एक ऐसी कुण्डली प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें सप्तम स्थान में न शनि है और राहु की दृष्टि के स्थान में राहु स्वयं स्थित है। इस कुण्डली में सप्तमे सूर्य एवं शुक्र भी अव स्थित हैं। सप्तमे शनि की स्थिति के स्थान में सप्तम भवन पर शनि की पूर्ण दृष्टि विराजमान है। केतु लग्न में स्थित होकर मूत्राशय संस्थान पर दृष्टिपात कर रहा है तो मंगल गुरु का वल और शनि का दृष्टिवल लेकर सातवें घर मूत्र संस्थान के कारक भवन पर त्रिगुणात्मक दृष्टिपात कर रहा है। इस प्रकार इन ग्रहों की स्थितियाँ एवं दृष्टियाँ मूत्राशय के मूत्रकृच्छ, आदि रोगों की उत्पत्ति और उससे जातक के शरीर सुख, भौतिक सुख से वंचित करने के योग प्रदान कर रहे हैं। इन स्थितियों का विश्लेषण निम्न प्रकार होगा—

मूत्राशय संस्थान का स्वामी शुक्र स्वयं अपने घर में घर में विराजमान होने से शुभ चिह्न हुआ, राहु मित्र का सहयोग मिलना भी श्रेयस्कर है, वह मूत्राशय रोगों की निवृत्ति दे रहा था कि अपने घर में ग्रह युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध झंझट झगड़े में विजय किसी की भी हो हानि दोनों ओर की होती है। वलशाली शुक्र पर सूर्य का घातक आघात प्रारम्भ हुआ तव सहयोगी राहु केतु शनि ने सूर्य पर प्रहार आरम्भ किये। परिणाम यह निकला कि राहु केतु की अनायस शीघ्रगामी गति को मंदगामी शनि ने उनकी अनुकूल प्रगति को रोककर मंदा कर दिया। इस युद्ध में जो ऊष्मा-आतप विकीर्ण हुआ उसके अंश मूत्राशय में स्थापित होगये। इस रोगकारी स्थिति को मंगल ग्रह का अनिष्टकारी हानिकारी मंगल का सहयोग और शनि की क्रूरता भयंकर रूप ले गई—उसने सूर्य को सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार एक ओर ग्रहों का अधिपति सूर्य, ग्रहों में राज्य सेनापति मंगल, राज्यपुत्र शनि तथा इन सवको प्राप्त आध्यात्मिक गुरुवल, दूसरी ओर शुक्र राहु केतु रह गये। सहायक केतु भी अपनी मूलप्रकृति के कारण मंगल के समान मारक बल ले बैठा। परिणाम स्पष्ट होगया कि मूत्राशय के रोगों की उत्पत्ति संभव होगी चूंकि शुक्र अपने घर में बैठा लड़ रहा था इसलिये उसने मूत्राशय की चिकित्सा करके सुरक्षा प्रदान की। दैत्याचार्य शुक्र के पास संजीवनी शक्ति विद्यमान थी जो आजतक शुक्र (वीर्य) के रूप में मानव प्राणी जगत में ही नहीं पशुपक्षी, स्थावर जंगम सवमें विद्यमान है। गुरु द्वादशो स्थित होकर देव गुरु होने के नाते विवेकशील होकर सप्तम स्थान एवं चतुर्थ स्थान पर उच्च दृष्टिपात योग से भौतिक सुखों से वञ्चित करने करने की स्थिति में है। यह तव ही संभव होगा जवकि शिश्नांग पर क्रूर दृष्टि पड़े। यहाँ मंगल और शनि दोनों का योग पाने में यह सफल होगया।

षष्ठम भाव को अर्वाचीन ज्योतिर्विदों द्वारा गुरदे का कारक स्वीकार किया गया, यद्यपि पूर्ण धारणा संशक्त तार्किक शक्ति रखती थी, उनकी दृष्टि में भेद उपभेद रहा किन्तु उन महानुभावों ने कारण को ही कार्य मान लिया। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि जन्म कुण्डली में छठा स्थान रोग कारक है, उस स्थान से सम्बन्धित गुर्दे एवं हर्नियां अथवा पाँचवे स्थान से उदर एवं उदर सम्बन्धी हृदय रोग भी तो देखे जाते हैं। एक ही भाव एक ही राशि से भिन्न भिन्न पचासों कारकत्व लेकर निर्णय किया जाता है। अतः छठा भाग वृक्क स्थान भिन्न कारणों से भ्रष्ट हो जाय तो मूत्राशय पर भी उसका प्रभाव वन पड़ेगा। इसी की पुष्टि में हम निम्न कुण्डली (पृष्ठ ७४ चित्र ३६) उपस्थित कर रहे हैं—

इस कुण्डली में सिंह, मंगल, केतु है, उस पर राहु की पूर्ण दृष्टि अपना कुप्रभाव डाल रही है, षष्ठेश भी शनि-राहु से पीड़ित है, ये सव परिस्थितियां गुरदे की भ्रष्टता की द्योतक हैं। जव रोगी से पूछा गया तो उसने वताया कि गुरदे के पूर्व-दक्षिण भाग में कोप वताया है, वहीं शनि

राहू की इस कुण्डली में दृष्टि है और सूर्य भी पूर्व दिशा का स्वामी है, वहीं वह अपने छठे भवन में अंशगत दृष्टि-पात कर रहा है। यह मूत्राशय का रोगी नहीं था, उसके

चित्र सं० २६
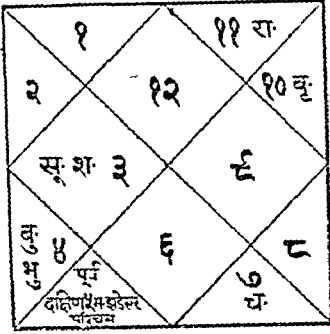
सप्तमेश त्रिकोणस्थ है, परम्परागत भाव से गुरदे का मूत्राशय सम्बन्ध उसे पीड़ा पहुंचा रहा है। मूत्राशय स्वतन्त्र रूप से विकृत नहीं था।

मानव शरीर की रोग धारक स्थिति पूर्ण अध्ययन करने के लिये हमें कुण्डली के द्वादश भवनों एवं नव ग्रहों और साम्प्रतिक आविष्कृत हर्षल नेपच्युन प्लूटो द्वादश ग्रहों की स्थिति का पर्यावलोकन उपयोगी रहता है। जिससे रोग की स्थाई-अस्थाई स्थिति एवं मारक स्थिति प्राप्ति में पत्नी, पुत्र, भ्रातादिक अन्य आश्रितों के कुयोग विद्यमान हैं, सभी विचारणीय श्रेणी में आ जाते हैं। मूत्र संस्थान के रोग किन अन्य मूलभूत कारणों से संभव है। अतः हम यहीं अपने पाठकों एवं ज्योतिष अभ्यासियों के निमित्त निम्न सामिग्री प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) ग्रहों के कारकत्व दोष – आयुर्वेदीय वात, पित्त, कफ त्रिदोषों के आधार पर मूत्र संस्थान पर अपने अपने गुणों के अनुसार प्रभाव पड़ता है। वातकारक ग्रह मूत्र संस्थान में वात कुपित करते हैं, पित्तकारक ग्रह पित्तदोष उत्पन्न करते हैं और कफकारक ग्रह कफदोष उत्पन्न करते हैं यथा बुध, शनि ग्रह वातकारी प्रदाता हैं। गुरु, शुक्र कफकारी रोग दाता बन जाते हैं। मंगल पित्तकारी मूत्र संस्थान के रोग देते हैं। सूर्य उष्णता-दाता ग्रह है। बुध ग्रह शीघ्रगामी अनायास फल प्रदाता है तो शनि ग्रह दीर्घ-गामी, दीर्घ प्रभावी ग्रह है। राहू शनिवत् तथा कदाचित् बुधवत् एवं केतु मंगल अथवा क्वचित् गुरुवत् प्रभावी बन जाता है।

(२) ग्रहों की गतियां: सूर्य चन्द्रमा को छोड़ अन्य सभी ग्रह कभी कभी अपनी निश्चित अवधि के पश्चात् सामान्य गति को छोड़कर वक्री गति धारण करने लग जाते हैं। रोगों की चालू अवस्था में ग्रहों की वक्र गति

— आगे पृष्ठ ७५ पर

मूत्र परीक्षा से साध्यासाध्यत्व एवं अरिष्ट ज्ञान

साध्य[1] लक्षण —तैल बिन्दु के प्रसार की आकृति यदि हंस, कारण्डपक्षी, तालाव, कमल, हाथी, चंवर, छत्र, तोरण, प्रासाद आदि परिपूर्ण दीखते हों तो रोगी शीघ्र आरोग्य लाभ करता है।

अन्य रोगों का ज्ञान –जब तैल बिन्दु का प्रसार चलनी[2] के समान अनेक बिन्दुओं व छिद्रों से युक्त हो तो कुल दोष जाना जाता है। इसमें प्रेत दोष लिखा है।

यदि वह आकृति नराकार हो अथवा दो शिर वाली हो तो रोगी में भूतदोष जाने, इसका भूतविद्यावत् उपचार करे। तैल की बूंद सर्पाकार हो जाय तो वात दोष, छत्राकर

पृष्ठ ६० का शेषांश

होने से पित्त दोष और मोती के समान होने से कफ दोष का ज्ञान करे।

विशेष ज्ञातव्य—मेरे अनुभूत पीछे लिखे परीक्षण को छोड़कर अन्य आचार्यों द्वारा वर्णित उक्त मूत्र परीक्षण के सारे लक्षण दुरूह एवं दुर्विज्ञेय हैं। जिस प्रकार नाड़ीज्ञान बहुत अनुभव व साधना से होता है उसी प्रकार मूत्र प्रसृत तैल बिन्दु की आकृतियों का ज्ञान भी अभ्यास अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसके लिए प्रयत्न, साधना व अनुभव चाहिए।

— वैद्यराज डा रणवीर सिंह शास्त्री पी एच डी॰
अध्यक्ष–जिला वैद्यसभा, आगरा।

---

[1] हंसकारण्ड ताड़ागं कमलं गज चामरम्। छत्रं तोरणं हर्म्यं सुपूर्णं दृश्येत यदि। आरोग्यता ध्रुवंज्ञेया तदा कुर्यात् प्रतिक्रियाम्॥ यो. र. मूत्र परीक्षा॥

संचरण के कारण रोग की प्रवृत्ति एवं वृद्धि में व्यवधान की संभावनायें होने लगती है। इनकी यह स्थिति उस समय और बढ़ जाती है जबकि जन्म कुण्डली में निर्दिष्ट ग्रह वक्र गति पर हों। इस समय रोग पर सावधानी से नियंत्रण कर लिया जाय यही बुद्धिमानी है, लापरवाही न बरती जाय अन्यथा उसके दूरगामी प्रतिकूल परिणाम भोगने को रोगी और उसके परिचारक तत्पर रहें। ग्रहों की संचरण गति में ग्रहों का अस्तकाल भी आता है, गुरु शुक्र के उदय अस्तकाल से तो सामान्य जन भी परिचित हैं। उदयकाल में ग्रह सचेष्ट रहते हैं और अस्तकाल में पराभवी बन जाते हैं।

(३) राशियों का तात्विक विचार—ज्योतिष शास्त्रीय पद्धति के अनुसार समस्त द्वादश राशियों को चार विभागों विभाजित किया गया है। यथा—

१. अग्नि तत्व कारक राशियाँ--(१) मेष राशि (२) सिंह राशि (३) धनु राशि।
२. पृथ्वी तत्व कारक राशियाँ-(१) वृषभ राशि (२) कन्या राशि (३) मकर राशि।
३. वायु तत्व कारक राशियाँ--(१) मिथुनराशि (२) तुला राशि (३) कुंभ राशि।
४. जलीय तत्व कारक राशियाँ--(१) कर्कराशि (२)वृश्चिक राशि (३) मीन राशि।
५. कुछ विद्वानों ने आकाशीय तत्व को पृथ्वी—वायु तत्व के अधीन स्वीकार किया है। कुछ जल एवं वायु के अधीन स्वीकार करते हैं।

मूत्राशय सम्बन्धी मूत्रकृच्छ, आदि रोगों के लिए जन्म लग्न राशि, सप्तम राशि तुला एवं जन्म कुण्डली के सातवें स्थान की राशि और उनके अधिपति की राशि इत्यादि बातों को मध्य दृष्टि रखकर विचार करना चाहिए। इस विधि के द्वारा मूत्रकृच्छ, के ८, मूत्राघात के १२, अश्मरी के पाँचों भेदों के साथ वृक्क सम्बन्धी रोगों का निदान संभव है। इन्ही राशियों के आधार पर मूत्र संस्थान संबन्धी सभी रोगों के कारकत्व का विभाजन निम्न प्रकार होगा—

(१) मेष राशि—अपने साथ दूषित अग्नि तत्वों का समन्वय प्राप्त कर मूत्र संस्थानों पर ग्रंथि एवं पीड़ा—दर्द की सृजनात्मक राशि बन जायेगी। इसमें मस्तिष्क की सन्मुख भाग की शिराओं में उद्वेलन होकर मूत्र संस्थान पर प्रभाव होगा।

(२) वृष राशि—अपने साथ दूषित पृथ्वी तत्वों का भार-अर्धभार प्राप्त करके प्रारम्भ में पाचन क्रिया जनित दोषों की अव्यवस्था उत्पन्न होगी। तत्पश्चात् मूत्र रोगों उत्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

(३) मिथुन राशि—अपने साथ दूषित वायु तत्वों का समीकरण कर शरीरस्थ शक्ति प्रवाह में अव्यवस्था उत्पन्न कर मूत्र संस्थान के रोगों की संभावना प्रदान करेगी।

(४) कर्क राशि—अपने साथ दूषित जल तत्वीय आंशिक ऊष्मा का समन्वय कर आमाशय संस्थान में व्यवधान उत्पन्न कर मूत्रवह संस्थान में रोगों की उत्पत्ति करेगी।

(५) सिंह—अपने साथ दूषित अग्नि तत्वों को ग्रहण कर रक्त विकृति द्वारा सूजन की उत्पत्ति करती है, पश्चात् मूत्र संस्थान के नस नाड़ी केन्द्रों में ऊर्जा हीनता से भयावह दुष्परिणाम उत्पन्न करती है।

(६) कन्या राशि—अपने साथ भूमिस्थ वायुकारक आकर्षक तत्वों को समाहित कर मूत्र संस्थान के गुरदे आदि रोगों में व्यवधान उत्पन्न कर मूत्राशय सम्बन्धी विभिन्न रोगों की उत्पत्ति में सहायक होती है।

(७) तुला राशि—अपने साथ वायव्य कुपित दोषों का समाहार कर नेत्रजन (Nitrogen) की अधिकता के कारण मूत्र संस्थान के वीर्य दोषों को उत्पन्न कर मूत्र संस्थानवह रोगों में विशिष्ट रोगों की उत्पत्ति करती है (इन दोषों में किञ्चित सहयोग मस्तिष्क स्नायविक जाल का भी रहता है)। अतः यह राशि सामान्य असंतुलित होते ही शरीरस्थ मूत्र संस्थान पर विशेष प्रभाव डालती है और असामान्य स्थितिवश तो पौरुषग्रन्थि पर विशेष असंतुलन उत्पन्न कर काम भावना को प्रभावित करती है।

(८) वृश्चिक राशि—अपने साथ कुपित जलीय तत्वों की ऊष्मा का संवरण करके मस्तिष्कीय कोषों का सहयोग पाकर मूत्रसंस्थान के वस्ति मार्ग,मूत्रोत्सर्ग क्रिया पर प्रभारी योग बन जाती है। कुयोग से ग्रंथि एवं विषजन्य ग्रंथि बना देती है।

(९) धनुराशि—यह राशि अपने साथ कुपित ऊष्मा प्रवाही तत्वों को ग्रहण कर सामान्यतः शरीर के किसी भी अङ्ग पर क्षयकारी प्रभाव उत्पन्न कर देती है। रक्त क्रिया में दोष उत्पन्न कर मूत्र संस्थान पर मर्मान्तक घातक सिद्ध हो जाती है।

(१०) मकर राशि—यह अपने साथ भूमि के गंभीर तत्त्व को आत्मसात् करके रक्त संचार क्रिया में विष दोषों की उत्पत्ति करके मूत्र संस्थान प्रणाली पर हानिकारी प्रभाव उत्पन्न करती है।

(११) कुंभ राशि - यह अपने साथ वायु तत्त्वों के कुपित दोषों को ग्रहण कर मूत्राशय, वृक्क संस्थानों की संधियों पर दुष्प्रभाव उत्पन्न करती है। इन स्थानों में पोली गाँठ बना सकती है।

(१२) मीन राशि—यह अपने साथ जल तत्वीय दोषों को कुपितकर मूत्र संस्थानों में जल संग्रह कर अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति कर देती है। इसमें वायु तत्वीय राशियों एवं ग्रहों का प्रभाव त्वरित गति से प्राप्त होता है।

(४) भवनों का कारकत्व—मूत्र संस्थान रोगों की उत्पत्ति के निमित्त हम जन्म कुंडली के प्रथम, चतुर्थ, षष्ठम एवं सप्तम स्थानों को इनका कारक मानेंगे। लग्न भाव कुंडली का प्रथम केन्द्र है, शरीर भी माना जाता है। इसमें यदि क्रूर ग्रहों की स्थिति हो, शत्रु ग्रहों की स्थिति हो, निर्बल अंशों के ग्रह हों अथवा जन्मकालीन निर्बल राशि अथवा भाव हो तो ये सब परिस्थितियाँ प्रतिकूलता प्रदान करने वाली हैं। इस स्थान में व्यवस्थित क्रूर ग्रह सप्तम भवन पर सीधी दृष्टि दोष उत्पत्ति कारक बन जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि ये ग्रह मूत्र संस्थान पर रोग-कारक स्थिति की सम्भावना प्रगट करते हैं, क्रूर ग्रहों में यदि मंगल अथवा केतु की स्थिति हो तब तो उस अङ्ग-नस नाडी केन्द्र को भ्रष्ट कर ही देते हैं, यदि अन्य सह-कारी योग प्राप्त हों तो नष्ट भी कर सकते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ स्थान चन्द्रीय कारकत्व भी अंशगत उदर एवं जलीयकारक ग्रह भवन होने से तीसरे केन्द्र स्थान सप्तम भाव पर कुपित दृष्टि रखने से वह भी भयावह स्थिति प्रगट कर देता है तत्पश्चात् षष्ठ स्थान वृक्क—संस्थान का विशिष्ट भाव होने से मूत्र रोगों की उत्पत्ति में सहयोग प्रदान करता ही है, सप्तम स्थान वस्ति - मूत्राशय का कारक स्थान होने से वह ग्रह राशि की स्थिति एवं दृष्टि भेदों के कारण निर्बलतावश वस्ति कारक रोगों की उत्पत्ति प्रदान करेगा ही। यहां पर ध्यान देने योग्य बात है कि जब किन्हीं स्थानों पर सबल एवं क्रूर ग्रह शनि, मंगल, राहु केतु आदि अपनी दृष्टियां डाल रहे हों तो सम्पूर्ण कुण्डली के सम्पूर्ण ग्रहों की स्थिति एवं दृष्टियां इन भवनों के कारक मूत्र संस्थान रोगों पर अपना कुटिल प्रभाव बनाये रखने में सक्षम रहेंगी। कभी कभी ऐसी संभावनायें अनु-भव में आती है जब लग्न एवं सप्तम स्थान में ग्रहों की मूत्र संस्थान को मारकत्व प्रदान करने वाले ग्रहों की स्थिति वा दृष्टि नहीं होती किन्तु अष्टम एवं द्वादश भाव स्थित ग्रह होते हैं अथवा अन्य प्रकार से ये भाव बिगड़ जाते हैं तो इन भावों के कारकत्व अथवा इनकी आधारीय मान्यता—अष्टम एवं द्वादश भाव-बुरे माने जाने के कारण मूत्र संस्थान के लिये हानिकारी बन जाते हैं, इसमें फलित ज्योतिष का मूल सिद्धान्त कारगर दृष्टिगोचर होता है अर्थात् आठवाँ भवन सप्तम भवन का मारक स्थान होजाता है और द्वादश भाव सप्तम स्थान से छठा भाव-रोगकारी हानिप्रद बन जाता है। इसलिये हमें सप्तम स्थान की हानिकारक स्थिति के अभाव में आठवें बारहवें भाव पर अवश्य ही विचार करना समीचीन होगा।

(५) ग्रहों का धातु वर्गीय गुण—जैसा सर्वविदित है कि आयुर्वेदिक उपचार का आधार वात, पित्त, कफादि सम असम धातु हैं। इनमें से किसी भी गुण का असन्तुलन होने पर शरीर में किसी न किसी प्रकार की व्याधि रोग का उपद्रव दृश्यमान हो जायगा। इसी आधार पर विकृत वातकारक ग्रह मूत्र संस्थान में भी वातदोष कुपित करते हैं, विकृत कफकारक ग्रह कफ दोष से रोग उत्पन्न करते हैं और कुपित पित्तकारक ग्रह पित्त दोषों से मूत्र संस्थान में उपद्रव उत्पन्न करते रहते हैं। रवि मंगल पित्तकारक ग्रह माने गये हैं। इनसे अङ्ग प्रत्यङ्गों में जलन, सूजन आदि के उपसर्ग प्रतीत होने लगते हैं। चन्द्रमा श्लेष्म-कारक ग्रह स्वीकार किया गया है। वह अपनी विकृत अवस्था में मूत्र बाधा उत्पन्न कर सकता है। शुक्र ग्रह कफकारी उपद्रवों को उत्पन्न करके वीर्य से सम्बन्धित मूत्राशय के रोग उत्पन्न कर देता है और बुध, शनि राहु केतु वातकारी उपद्रवों की संभावनायें उद्भूत करते हैं। एक क्षेत्रीय विकारी ग्रह होने पर भी उनकी सब भांति सर्वत्र समान सामञ्जस्यता नहीं है। बुध सहसा अल्पकाल के लिए उपद्रव करेगा, शनि दीर्घकालीन वायु वेगों को कुपित करेगा और उनके स्थाई परिणाम शेष जीवन के लिये हानिकारी सिद्ध होंगे। राहु अगर अकेला होगा तो उस विकृत वायु रोगों को उन्नत कक्षा तक पहुंचा देगा और अन्य ग्रहों का जब प्रभाव होने लगेगा तो तत्सम

प्रभाव में आत्मसात कर लेगा। और केतु की दशा ही विचित्र है, वह वायु दोषों की विकृति से यथासम्भव इस संस्थान को नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा करेगा। सामान्यतः गुरु समधातुवर्गीय स्वीकार किया जाता है किन्तु जब बुध शनि आदि ग्रहों की दृष्टियां इस पर पड़ने लगती हैं तो वह अपनी सौम्यता त्याग कर वात, पित्त, कफकारक दोषों, रोगों की उत्पत्ति में सहयोग देने लगता है और यदि मारक अशुभ स्थानों में बैठा हो तो वह भी शेष जीवन के कल्याण हेतु आध्यात्मिक स्वरुप से मूत्रवह संस्थानों को समाप्त करने की चेष्टा करेगा। इसी प्रकार दूषित शुक्र अपना कफकारी प्रभाव छोड़ बैठता है जब उस पर सूर्य या मंगल जैसे पित्तकारक ग्रहों की दृष्टियां, सान्निध्य का वर्चस्व दृष्टिगोचर होने लगता है। शुभ ग्रह अपना कारकत्व गुण छोड़ बैठा, वह अंशगत अवश्य ही सामञ्जस्यता के साथ मूत्राशय में वीर्यगत दोषों की उत्पत्ति कर देगा।

(६) राशियों का दिशा बोध— जन्म कुण्डली अथवा आकाश को चार अथवा आठ दिशाओं में वर्गीकृत किया गया है, अन्तःदृष्टि से उसके और भी अधिक उपभेद संभव हैं। इसी आधार पर मानव शरीर को भी दिशाओं में विभक्त किया जा सकता है। जन्म कुण्डली में मूत्र संस्थानवह रोगों के निदान और उपचारार्थ इसी विधि का आश्रय लेना आवश्यक है। इससे हमें निश्चित स्थान के अङ्ग-भंग त्रुटि आदि का बोध हो सकेगा। जैसे यकृत गुरदे के दो भाग हैं अर्थात् शरीर के दायें तथा बायें भाग में अवस्थित है, मूत्र प्रणालियां भी दायें-बायें भाग में अवस्थित हैं। इसी प्रकार वस्ति मूत्राशय को भी हम दो या चार भागों में बांट सकते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण भाग मात्र दायां-बायां पर्याप्त नहीं हैं। इस निर्णय के उपरांत हम कह सकेंगे कि गुरदे या मूत्राशय के कौन से भाग दूषित अवस्था को प्राप्त हैं। इसकी तुलना आप शरीर के चित्र (एक्सरे) से कर के देख लीजिये बल्कि जो ज्योतिर्विद अपने विशेष अनुभव को प्राप्त हैं वे ग्रह की दैनिक चालों के परिर्तन से गृह भी बता सकेंगे कि नष्ट या भ्रष्ट अनुभाग किस तारीख को ठीक हो जायगा, या नहीं होगा।

(७) ग्रहों का भोग्यकाल—सामान्यतया सूर्य एक राशि पर यह गोचर स्थिति के अनुसार एक मास, चन्द्रमा लगभग सवा दो दिन, मंगल लगभग डेढ़ मास, बुध एक मास, गुरु तेरहमास, शुक्र एक मास, शनि ढाई वर्ष, राहु-केतु अठारह मास स्थित रहते हैं। इनमें भी कभी कभी विक्षेप संभव होजाता है, जिनका आधार सूक्ष्म गणित है, विधान है। इन ग्रहों में सूर्य पहले पांच दिन, फलदायी माना गया है। चन्द्रमा राशि की अंतिम तीन घटिकाओं पर विशिष्ट फलाश्रयी घोषित किया गया है। मंगल आरम्भ के आठदिन और जब उसका काल ४५ दिन से अधिक होता है तब इसमें भी वृद्धि हो जाती है। बुध सब दिनों में प्रभावी रहता है किन्तु वह दोनों प्रकार के फल देता रहता है। इसलिये इस पर सदैव ध्यान देते रहना चाहिए कि वह कब करवट बदलता है। मूत्र संस्थान जैसे विषम रोगों में चिकित्सक एवं अभिभावक सभी को साव-धान रहने की आवश्यकता है। गुरु अपनी युक्ति के दो मास प्रभाव रखता है। शुक्र अपने एक मास के काल में मध्य के सात दिन अपना विशेष प्रभाव रखते हैं। शनिदेव अपनी संचरण राशि के अंतिम सात महीने दोषपूर्ण कुप्रभावी मारक स्थिति से दुलत्ती झाड़ जाते है। राहुकेतु अंतिम दो मास अशुभकारी क्षयी फल पहुंचाते है। अशुभ फलदायिनी स्थिति इन ग्रहों की विकृति से ही प्राप्त होगी। अन्यथा वे रोग को दूर करने की स्थिति में पहुँचा देते हैं। यह निर्णय स्वानुभूति से ज्योतिषी ही करेगा।

(७) ग्रहों की गति विधियां—सूर्य चन्द्रमा के अति-रिक्त मंगल, बुध, शुक्र शनि जैसा ऊपर संकेत दिया गया है वक्रीगति धारण करते रहते हैं। उनके फलाफल निर्णय के विषय में सामान्य स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

(८) संधिगत स्थिति—जिन रोगियों जन्म लग्न, षष्टम सप्तम अष्टम भाव संधिगत हों—भाव नष्ट होचुके हों, या अन्य कोई भाव संधिगत-या नष्ट भाव, या भाव वृद्धि को प्राप्त हुए हैं उनके फलादेश की अवज्ञा सामान्य नियमों के आधीन समझ कर नहीं की जानी चाहिए। इनका प्रभाव मूत्र संस्थान वह रोगों के समान शरीरस्थ सभी कुटिल रोगों पर पड़ेगा। संधिगत भाव के समान राशि-नक्षत्र एवं ग्रहों की स्थितियां भी संधि को प्राप्त होती रहती है। संधिगत स्थितियां प्रायः प्रतिकूलता प्रदान करती हैं। अनेक बार अन्यत्र वर्णित योग-कुयोग अपना प्रभाव डालने में रह जाते हैं किन्तु ये योग अपना अप्रत्यक्ष-कारी प्रभाव डालते रहते हैं।

मूत्रकृच्छ —

आयुर्वेदीय ग्रन्थ निघण्टु के मूत्राशय अध्याय के अन्तर्गत मूत्रकृच्छ रोग की निदान व्यवस्था के कारणों में व्यायाम-परिश्रमाधिक्य, तीक्ष्ण औषधियों एवं मद्यमांसादि रूक्ष पदार्थों का सेवन प्रमुखतया बताया है। इसकी ज्योतिष वर्गीय निदान व्यवस्था जानने हेतु जन्म कुण्डली और उसके भावों के माध्यम से सहज समझने के लिये एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—
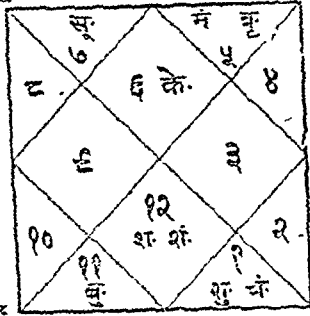
चित्र सं०—३७
मूत्रकृच्छ रोगी की जन्म कुण्डली

आइये, उपरोक्त कुण्डली के अध्ययन से हम मूत्रकृच्छ रोग की संभावना पर विचार करें। सर्व प्रथम देखिये लग्नेश छठे स्थान में बैठकर रोग का कारक बन गया, लग्न में केतु का बैठना भी शुभ नहीं रहा। सप्तम मारक भाव से शनि राहु की लग्न पर दृष्टिपात भी दोषपूर्ण है। इस प्रकार जातक का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहेगा। अब दूसरे भवन भोजन आदि के कारक पर देखते है तो वहां ग्रहों का अधिपति सूर्य अपनी उष्णता उग्रता का वर्चस्व बढ़ा रहा है एक पाद दृष्टि से वहां कटुता प्रदान कर रहा है। यद्यपि मधुरता के प्रतीक गुरुका सहयोग ले रहा है। शुक्र पूर्ण-दृष्टि से अम्ल रस भोज्य पदार्थों में प्रदान कर रहा है और चन्द्रमा क्षार का प्रतीक पूर्ण दृष्टि डाल रहा है। इससे प्रतीत होता है कि जातक अवश्य ही मद्यमांस एक कटु-तीक्ष्ण नमकीन भोज्य पदार्थों का रुचिकारी होगा। शनि राहु की त्रिपाद अंशात्मक दृष्टि कषाय रसों की ओर संकेत देकर हमारी धारणा की परिपुष्टि कर रहा है। इस जातक के तृतीय में वृश्चिक राशि साहस और उद्दण्डता की प्रतीक स्वयं है, उस पर उसके स्वामी तृतीयेश की दृष्टि और द्वादशे स्थिति अत्यन्त साहस एव हिंसक प्रवृत्ति प्रदान करती है। गुरु की योग कारक स्थिति साहस में पागलपन जैसी चरम सीमा पर पहुंचा देने वाला है। यदि तृतीयेश मंगल के स्थान में अन्य ग्रह द्वादश भाव में होता और उस पर दृष्टि न होती तो जातक जातक साहस एवं क्रियाशीलता से हीन आलसी बन जाता। इस तृतीयेश मंगल की स्थिति भयावह होकर—अपराध जघन्यता के कारण कारावास अथवा मृत्यु दंड का भोगी भी हो सकता है। इन कुयोगों को मध्य दृष्टि रखकर लग्न एवं सप्तम स्थान के शनि राहु की स्थिति समक्ष रखते है, ये सब योग कुयोग मूत्राशय सम्बन्धी मूत्रकृच्छ रोग की संभावनायें और उससे नाड़ी केन्द्र की विक्षिप्ता तथा गुरदे के रोगों की ओर संकेत कर रहे हैं।

अब यहां मूत्रकृच्छ एवं मूत्राशय के भेद उप भेदों पर ज्योतिष सम्बन्धी विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। मूत्रकृच्छ के निम्न ८ उपभेद प्रमुख रूप से माने गये हैं अर्थात् (१) वात जन्य (२) पित्त जन्य (३) कफ जन्य (४) सन्निपात जन्य (५) शल्यज (६) पुरीष जन्य (७) अश्मरी जन्य (८) शुक्रज मूत्रकृच्छ।

१. वात जन्य मूत्रकृच्छ—आयुर्वेदिक लक्षण—प्रायः इस रोग में जांघ, उरु की सन्धियों में पीड़ा होती है। मूत्राशय एवं मूत्रेन्द्रिय में दर्द होता है, इस कारण मूत्र भी थोड़ा थोड़ा उतरता है। हाथ की नाड़ी देखने से विदित होता है कि वात दोषी गति प्राप्त हो रही है। ज्योतिष के फलित आधार पर जन्मकुण्डली हो या वर्ष कुण्डली उसमें बुध शनि की स्थिति क्षीण होकर छठे आठवें बारहवें भाव में होगी तथा शनिमंगल राहुकेतु की मारक दृष्टियां एवं ग्रहों की बलाबल क्षीणता सप्तम स्थान पर होगी। सभी दोषों में अंशात्मक स्थितियां भी विचारणीय हैं।

२. पित्त जन्य मूत्रकृच्छ—आयुर्वेदिक लक्षण—इसमें प्रायः मूत्र का रंग रक्ताभ, पीला कष्ट से उतरने वाला होता है। इस पित्ताग्रही रोग निदान में अन्य पित्त दोषों के साथ नाड़ी की गति पित्त प्रकृति की प्रदर्शिका होती है।

३. कफ जन्य मूत्रकृच्छ आयुर्वेद मतेन इसके लक्षण—मूत्राशय एवं शिश्न में भारीपन प्रतीत होता है, सूजन हो जाती है, मूत्र में चिकनापन होता है। मूत्रश्वेतवर्ण का होता है एवं नाड़ी कफ प्रधान ज्योतिष के आधार पर मूलतः शुक्र ग्रह की विकृति होगी। भले ही शुक्र स्वग्रही अथवा उच्च का क्यों न हो उस पर क्रूर ग्रह सूर्य, मंगल शनि की युति अथवा दृष्टि अवश्य होगी। शनि शुक्र यद्यपि

मित्र हैं तथापि शनि अपनी नैसर्गिक प्रतिभा को तिलाञ्जलि पूरी तरह नहीं दे सकेगा। सूर्य की युति अथवा दृष्टि शुक्र के बल को बलात् क्षीण करती है। सूर्य शुक्र परस्पर शत्रुपक्षीय सम्बन्ध भी तो रखते हैं। शनि ग्रह दीर्घगामी फलित प्रदान करता है अतः मूत्र संस्थान के कफ जन्य रोगों की उत्पत्ति करके सहज भाव से मूत्र उतरने में कठिनाई प्रदान करेगा।

४. सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र—आयुर्वेद के मतानुसार इस रोग में सन्निपात सम्बन्धी लक्षण प्रतीत होते हैं। यह मूत्रकृच्छ्र कष्ट साध्य होता है। इस रोग में रोगी पीड़ित होकर सन्निपात जैसी स्थिति को प्राप्त हो जाता है। ज्योतिष वर्गीय लक्षणों में हमारी व्यवस्था निम्न प्रकार है। षष्ठ-सप्तम स्थान एवं गुरु शुक्र ग्रहों का वर्चस्व हीन बली रहता है। इससे मूत्र संस्थान के कारक ग्रह एवं भवन दोनों निर्बलता को प्राप्त होते पाये गये हैं। उपरोक्त कुयोग भी समाविष्ट होते हैं जिससे मूत्रकृच्छ्र योग की सम्प्राप्ति होती है। इन सब कारणों के अतिरिक्त चन्द्र एवं कर्क राशि तथा लग्न स्थान की निर्बलता स्पष्ट-प्रगट होती है। प्रायः सप्तम स्थान मे शनि राहु की स्थिति लग्न स्थान पर पूर्ण दृष्टि होने के नाते मन मानस में असन्तुलन हो जाता है। चन्द्र हीन बली, शनि राहु केतु द्वारा युति वा दृष्टि से सन्निपात की स्थिति उत्पन्न करेगा।

५ शल्यज मूत्रकृच्छ्र—आयुर्वेद सिद्धांतानुसार शल्यज रोग के लक्षण इस प्रकार कहे हैं। उदरादि की शल्य क्रिया में असावधानी अथवा किसी प्रकार से चोट पहुंचने पर मूत्रकृच्छ्र रोग की संभावना हो जाती है। ज्योतिषवर्गीय लक्षणों में जन्म कुण्डली के निदान मे हमें केवल सप्तम स्थान का ही सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इस स्थान पर मंगल का पूर्णतया कुप्रभाव रहेगा। सप्तम स्थान और शुक्र की अवनति कारक स्थिति मङ्गल के साथ जरूरी है। यदि उस पर केतु की युत दृष्टि है तो इस स्थिति में मूत्रकृच्छ्र रोगी के प्राणान्त का भय है। ऐसी सम्भावना होने पर रोगी की आयु स्थिति विचारणीय है—रोगी अल्पायु, मध्यमायु, दीर्घायु है। महादशा के अन्तर्गत दशाओं का समीकरण कर लेना भी उचित रहेगा। मङ्गल शल्य क्रिया में मारक बन सकता है।

६. पुरीषज मूत्रकृच्छ्र—आयुर्वेद के अनुसार इसके लक्षण मलावरोध, वातशूल एवं अफरा से मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न हो जाता है। ज्योतिष वर्गीय निदान हेतु उसके लक्षण निम्न प्रकार होंगे—सर्व प्रथम पञ्चमस्थान की विकृति आवश्यक है। बुध ग्रह की स्थिति पर गंभीर चिंतन आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि पंचम स्थान उदर का कारक भवन है, उस पर बुध के कारक वायु दोष प्रकुपित होने सूर्य का सहयोग मलावरोध करता हुआ मूत्र अवरोधात्मक सृष्टि शनि का योग पाकर द्विगुणित रूप से उभरने लगता है। इस स्थिति के साथ छठे सातवें घर के ग्रहों का बलाबल एवं अन्य परिस्थितियों का निदान परमावश्यक है। इसमें सूर्य मलावरोध, बुध वात प्रकोप, मङ्गल आदि मूत्रबाधा उत्पन्न करते हैं।

७. अश्मरी जन्य—ज्योतिष फलित सिद्धांतों के आधार पर सप्तम स्थान, सप्तमेश, लग्नेश आदि तो हैं ही। जन्म कुण्डली में शुक्र के साथ या चन्द्रमा की युति मङ्गल के साथ होने से अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र की संभावना देती हैं। मङ्गल-भौम-भूमिपुत्र मूत्रनली में छोटे छोटे टुकड़ों की व्यवस्था का कारक बन जाता है। अन्य शनि का योग दीर्घकालीन रोग की स्थिति का प्रदर्शक होता है, राहु अपने स्वभाव के अनुसार स्थान की अस्पष्टता प्रगट करता है कि वह किस स्थान में अवस्थित है। ग्रह एवं भावों के अनुसार स्थिति जानने की चेष्टा करनी चाहिये।

८. शुक्रज मूत्रकृच्छ्र—इसका आधार आहार-बिहार विचार विशेष रूप से माना गया है। मूत्र मार्ग में शुक्र के व्यवधान होने पर इस रोग में पीड़ा उत्पन्न होती है। इस रोग में त्रिदोषों में वातकफ भ्रष्ट कारक योग होते हैं। ज्योतिष वर्गीय कारण एवं लक्षणों में लग्न लग्नेश से आहार-विहार आदि की क्रियाओं का मार्ग दर्शन मिलता है। गुरु की स्थिति एवं भ्रष्टता विवेक को नष्ट कर देती है। सप्तम स्थान, बुध, शुक्र ग्रहों की स्थिति इस रोग के लिए अवलोकनीय रहती है। मूत्रकारक एवं वातकारक ग्रह दोनों इस रोग में अवरोधात्मक प्रसंग उपस्थित करते हैं। मूत्र संस्थान का कारक ग्रह शुक्र है ही। वह शुक्र ग्रह वीर्य का प्रतीक भी किन्हीं कारणों स्थितियों, परिस्थितियों के कारण भ्रष्ट अथवा दूषित हो जाय तो इस क्षेत्र में पीड़ा पहुँचावेगा ही। दूसरी ओर बुध वातकारक ग्रह माना गया है। यह दूषित होने पर अपनी प्रतिक्रिया में व्यवधान उपस्थित कर देता है। इस प्रकार बुध, शुक्र दोनों ही मूत्र संस्थान में शुक्रज पीड़ाकारक बन जाते हैं। शुक्र

बुध के शनि राहू ग्रह नैसर्गिक रूप से भिन्न क्षेत्रीय हैं। तब इनका कार्य मित्र के कार्य में सहायता पहुँचाना है अर्थात् रोगी की रोग वृद्धि एवं दीर्घकालीन बना देना है। इन ग्रहों भवनों पर सूर्य मंगल के प्रभाव वीर्य को पीड़ित करना उनका स्वभाव है और शनि को अवरोध प्रदान करना उसका निजी स्वभाव है। इस प्रकार जातक शुक्रज मूत्रकृच्छ्र रोग से पीड़ित बनेगा — ऐसा निर्णय कर लेना चाहिये।

६. पथरी शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र—पित्त से पकने वाली और वायु वेग से शुष्क होने वाली पथरी कफ से बंध न पावे। इस स्थिति में यह पथरी कण मूत्र मार्ग में रेत के समान झरने लगें तब यह शर्करा कहलाती है। इस शर्करा योग से हृदय में कम्पन, पीड़ा, मन्दाग्नि, कोख शूल प्रभृति रोगों की उत्पत्ति आयुर्वेद के अनुसार लक्षण बताये हैं।

ज्योतिष वर्गीय मत—इस मूत्रकृच्छ्र के लिये लग्न, षष्टम भाव-भावेश के अतिरिक्त पंचम नवम् स्थान और उनके अधिपतियों का निर्णय करना चाहिए। यदि इन स्थानों पर पीड़ाकारक मङ्गल एवं चन्द्र, बुध, शनि आदि ग्रहों के द्वारा इन भवनों को शिथिलता प्राप्त हो गई है तो हृदय में पीड़ा, कम्पन, कुक्षि शूल, मन्दाग्नि जैसे रोगों की उत्पत्ति सम्भव होकर सप्तम स्थान की भ्रष्टता उसके योगों के कारण पथरी शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र रोग की उत्पत्ति करेंगे ही।

मूत्राघात—

आयुर्वेदीय मतेन मूत्राघात रोग के बारह भेद कहे गये हैं। [१] वात कुण्डलिका, [२] अष्ठीला, [३] वात वस्ति, [४] मूत्रातीत, [५] मूत्रजठर, [६] मूत्रोत्सर्ग, [७] मूत्रक्षय, [८] मूत्र ग्रन्थि, [९] मूत्र शुक्र, [१०] उष्ण वात, [११] मूत्रसाद, [१२] विड् विघात।

(१) वात कुण्डलिका मूत्राघात—आयुर्वेदीय लक्षण—इसमें मल मूत्रादि वेगों के रुकने से वायु प्रकुपित हो जाती है तब मूत्राशय में पीड़ा उत्पन्न होने लगती है। वायु वेग मूत्रगति को उलटने में समर्थ होकर कुण्डलाकार गति से मूत्राशय में मूत्र विचरण करने लगता है। इस प्रकार मूत्र उतरने में बाधा हो जाती है।

ज्योतिषवर्गीय मत से—सामान्यतः मूत्राघात के समस्त बारह भेदों में बुध, शनि और मङ्गल ग्रहों की विकृति आवश्यक है। मूत्रादि गति में बाधा डालने वाला ग्रह भी शनि होता है। उसे अपने मित्र बुध ग्रह का सहयोग जब मिल जाता है तब वात कुण्डलिका रोग की सम्भावना की वृद्धि करता है। इसका कारण यह है कि एक ओर से मङ्गल ग्रह अपनी हठ योगिता के बल से स्वस्थ पुरुष को पेशाब करने की इच्छा में किसी भी कारणवश रोकने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है तब मूत्राशय में रुके हुये मूत्र की गति बदल कर उलटी हो जाती है। नीचे की जगह ऊपर उठने लगती है। इस गति का कारण एक ओर बुध का सहयोग होता है तो दूसरी ओर मङ्गल, शनि का। बुध की प्रवृत्ति क्रियाशीलता में अनायास विपरीतता देकर मूल रोकने की स्थिति बन जाती है। बुध स्वयं भी तो वातकारक ग्रह है और शनि भी वातकारक बुध का सहयोग देकर अवरोधक प्रतिरोधक स्वभाव से उलटे हुए को रोककर धक्का देने पर उतारू हो जाता है। परिणामतः मङ्गल की पूर्वावस्था से भौम कारकत्व कुण्डलाकार स्थिति अपने रूप की नैसर्गिकता प्रदान करता है। इस प्रकार वात कुन्डलिका मूत्राघात की उत्पत्ति बन जाती है। मूत्राशय के मूत्राघात के अन्तर्गत सभी द्वादशी भेदों में जन्म कुन्डली के सातवे स्थान का समुचित अध्ययन करना समीचीन होगा। उपरोक्त लाक्षणिक वर्णन हुआ है रोगी जातक की इन ग्रहों की स्थिति से रोग की उत्पत्ति और उससे कितनी हानि होगी यह सप्तम स्थान की राशि तथा लग्न-लग्नेश, सप्तमेश और इन क्षेत्रों पर मित्र शत्रु की दृष्टियां, अपान्तर दृष्टियां, कारक मारकत्व ग्रहों आदि का भी अनुशीलन करना चाहिए। ये नियम सभी मूत्रस्थान के उपरोगों में मान्य होंगे।

(२) अष्टीला मूत्राघात—वस्ति एवं गुदा में वायु द्वारा अफरा हो वायु रुके और चंचल पत्थर की पिंडी प्रगट होकर पीड़ा हो ये आयुर्वेदिक लक्षण हैं। यह भी सामान्यतः वातकुंडलिका के समान ही रोग है।

ज्योतिष आधार निदान- वायु प्रकोपकारी बुध, शनि ग्रहों की विक्षिप्तदशा होने पर अष्ठीला मूत्राघात की उत्पत्ति हो जाती है। जातक के सप्तम स्थान पर जब बुध का प्रकोप दृष्टिगोचर हो, शत्रु क्षेत्रीय बुध हो, अंश हीन दुर्बल हो शनि द्वारा दूषित हो, राहु-केतु असहयोग करें और पीड़ा दायक मङ्गल अपना प्रभाव डाले तो इस रोगी के रोग में वृद्धि होजाय। बुध पर शनि की अवरोधक

दृष्टि में मङ्गल वेगवान होकर पिंडी सी आकृति बना देता है। ये तीनों ग्रह स्वयं पीड़ाकारक बन जाते हैं। इस अवस्था में मात्र केतु की दृष्टि हो तब भयंकर पीड़ा की संभावनायें बन जाती हैं। पर चन्द्र गुरु जैसे सौम्य ग्रहों का सहयोग हो तो पीड़ा में न्यूनता रहती है। यह नियम भी इन सभी द्वादश उपभेदों के लिए ग्राह्य हैं।

(३) वात वस्ति मूत्राघात—शारीरिक अन्य रोग जन्य मूत्र बाधा हो तब मूत्राशय द्वार प्रकुपित वायु द्वारा अवरुद्ध हो जाय परिणामतः मूत्राशय में पीड़ा से मूत्र रुके। इस प्रकार का लाक्षणिक निदान आयुर्वेदिक शास्त्र वेत्ताओं ने किया है।

ज्योतिर्विद दृष्टि से वात वस्ति रोग की लाक्षणिक स्थिति इस प्रकार होगी। सामान्यतः सप्तम स्थान को मूत्र संस्थान का अधिकारी भाव माना जाता है किन्तु प्रत्येक जातक या रोगी के विभिन्न गृह और उनके अधिपति संभव होंगे। सप्तमेश यदि बुध शुक्र, शनि ग्रह हुए तब तो वस्ति के रोगों की उत्पत्ति कारक प्राकृतिक स्वरूपेण ये स्वतः ही हो जायेंगे और यदि यहां मेष या वृश्चिक राशि हुई अथवा अन्य कोई उग्र राशियां धनु सदृश हुई तो अपने सप्तमेश के अनुसार वे प्रतिफल प्रदान करेंगे। जैसे मेष, वृश्चिकाधिपति मङ्गल या सिंह राशि अधिपति सूर्य सप्तमेश होगया तो मूत्राशय संस्थान के लिये हानिकारी प्रभाव अवश्य होगा। ये दोनों ग्रह इस क्षेत्र को अग्निमय बना देंगे। यह नियम समस्त द्वादश उपभेदों के निमित्त ग्राह्य है। अब वातवस्ति रोग की संभावना हेतु उपरोक्त कथन को मध्य दृष्टि रखकर बुध शनि ग्रहों की स्थिति, दृष्टि, योग, सहयोग, वियोग का ध्यान रखना भी आवश्यक है। मङ्गल शनि, राहु के सहयोग से मूत्राशय संस्थान में बाधा उत्पत्ति के स्पष्ट लक्षण प्रदर्शित करते हैं।

(४) मूत्रातीत मूत्राघात—परिस्थितिवश पर्याप्त समय तक मूत्र रोके रखने के पश्चात् जब मूत्र उत्सर्ग किया जाता है तब कभी कभी मूत्र एकदम या जल्दी नहीं उतरता बल्कि शनैः शनैः उतरता है। यह सामान्य कष्टसाध्य होता है, ऐसा आयुर्वेद शास्त्रों का अभिमत है।

फलित ज्योतिष के अनुसार इसके लाक्षणिक निदान में यह कहना समीचीन होगा कि सप्तम स्थान में मङ्गल की स्थिति हो या दृष्टि हो, चन्द्रमा लग्न स्थान में अवस्थित हो, शनि दशम भाव में विराजमान होकर चन्द्र मंगल ग्रहों पर दृष्टिपात करता हो केन्द्रीय स्थिति हो तो इस रोग की संभावना बन जाती है। यदि मङ्गल ग्रह की शत्रु पक्षीय स्थिति हो और क्रूर ग्रह सूर्य की दृष्टि प्राप्त हो आरंभ में मूत्र अवरुद्धता की स्थिति भी बन जाय किन्तु चन्द्र की अनुकूल स्थिति मूत्रबाधा हरने में सहायता अवश्य प्रदान करेगी, क्योंकि चन्द्रमा स्वयं जलीय ग्रह है। मूत्र बाधा उत्पन्न करने में जहां शनि मङ्गल अथवा सूर्य की आवश्यकता रहती है वहीं सौम्य ग्रह बुध, गुरु शुक्र संचालन गति प्रदान कर्ता बन जाते हैं। इनमें भी बुध की दशा तो बहुत निराली है। इन बुद्ध श्रीमान् जी का पता नहीं स्वगृही हैं किंतु वक्री होगए उदय के स्थान में अस्तस्थिति प्राप्त हो गये। और तो ये प्रायः सूर्य के साथ रहते हैं, समीप रहना तो इनका धर्म है ही, ये द्विद्वादश योग ही बनाते हैं। इस से दूर योग तो बनावेंगे ही नहीं। इसलिए इनका स्वभाव विचित्र है, अनुकूलता में प्रतिकूलता एवं प्रतिकूलता में अनुकूलता प्रदान करने में चूकते नहीं। वे यह नहीं सोचेंगे कि यह मेरा स्थान है, मित्र देश में बैठा हूं, अंगों को दूषित क्यों करें। इसलिये ज्योतिर्विदों को अन्य ग्रहों की अपेक्षा इस ग्रह का फलादेश सावधानी से करना चाहिए। सूर्य के सहचर होकर स्वयं लुप्त हो जाते हैं। संपूर्ण फलित हेतु उपरोक्त विचारों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

(५) मूत्र जठर मूत्राघात- आयुर्वेदीय लक्षणों के अनुसार इस उपरोग में मूत्रवेग रोकने पर कुपित अपान वायु वस्ति प्रदेश में पीड़ा उत्पन्न कर देती है, पेट भी कभी-२ फूल जाता है। ज्योतिष मान्यता के आधार पर हमें सर्व प्रथम रोगी की जन्म कुन्डली के पांचवे घर पर दृष्टिपात करना चाहिए। इस उपरोग में पांचवां एवं सातवां दोनों घर अनिष्टकारी प्रभाव से ग्रसित होने चाहिए। सप्तम स्थान व उसके अधिपति की निर्बलता आवश्यक है, उस पर बुध ग्रह के अनिष्टकारी प्रकोप होंगे। यह बुध मंगल से भी दूषित होगा। जैसे द्वादश भाव में मंगल स्थित होकर छठे, सातवे दोनों स्थानों पर अपना क्रूर प्रभाव रखेगा। छठे भाव में पञ्चमेश बुध पड़ा हो तो उदरभावेश बुध छित्त भाव से अपने उदर स्थान के रोगों की ओर संकेत देता है। पंचमेश छठे स्थान उदर रोगदाता और पांचवे से छठा उसका मारक स्थान हुआ। उस पर मंगल की दृष्टि पड़ी। यह त्रिविध

योग सिद्ध हुआ। उधर द्वादशस्थ मंगल सप्तम भाव पर भी अपना पूर्ण मारक दृष्टिपात कर रहा है। इस प्रकार पंचम सप्तम दोनों स्थान भ्रष्ट हो गए, मंगल उदर पीड़ा, बुध अफरा प्रधान हो गया। इन स्थितियों में अन्य शत्रु क्षेत्रीय प्रभावकारी योग हों, शनि, राहु, केतु क्रूर ग्रहों के प्रभाव सप्तम स्थान पर ही तो मल मूत्र स्थान के गुह्य स्थानों पर प्रभाव बन ही जावेगा। यह स्वीकार करना ही होगा।

(६) मूत्र जठर मूत्राघात—प्रवृत्त हुआ मूत्र वस्ति या शिश्न के किसी भाग में रुक जाय, जोर लगाकर मूत्र उतारने में कष्ट हो तो मूत्र जठर रोग की उत्पत्ति आयुर्वेद मतेन मानी जायगी। इस रोग के निमित्त ज्योतिषमतेन धारणा यह है कि पूर्ववत् बुध ग्रह की स्थिति, दृष्टि, बलाबल, सप्तम भाव को आधार मान कर करेंगे। सामान्यतः प्राकृतिक रूप से चन्द्रमा का इस शरीर पर प्रधान लक्ष्य होने से जलीय स्थिति से मूत्र बनना और उसका निकास है किन्तु जब मंगल शनि का योग बनता है तो हठपूर्वक रुकना, जोर लगाकर निकलना और पीड़ा देना इसके प्रतीक बन जाते हैं। अन्य गुरु जैसे सौम्य ग्रहों के प्रभाव से रोग में शिथिलता बरतने लगती है। अवरोधक क्रिया में बाधा बनकर रोगी के अनुकूल स्थिति बन सकेगी। अतः सप्तम भाव की स्थिति क्रूर-अक्रूर ग्रहों की स्थिति दृष्टि तथा अन्य योगों का बहुविधि चिन्तन करना लाभकारी है।

(७) मूत्रक्षय—आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के अनुसार परिश्रम की अधिकता से रूक्षता प्राप्त शरीर मूत्राशय में पित्तात्मक वायु का प्रकोप करके रोगी को वेदना प्रदान करता है।

ज्योतिष सिद्धान्त से हम इस प्रकार निर्णय करेंगे—सप्तम स्थान पर मंगल की बुध पर पूर्ण दृष्टि हो, केतु, शनि या सूर्य का प्रभाव या दृष्टि हो। केतु मंगल एकाकी अथवा सहयोगी बनकर शरीर में अधिक परिश्रम के योग बनाकर रूक्षता प्रदान करेंगे। लग्न—सप्तम स्थान में मेष, सिंह, वृश्चिक आदि राशियों में से कोई एक हो और उपरोक्त ग्रहों का प्रभाव हो तो मूत्रक्षय रोग की सम्भावना प्रकट होती है। मेष, वृश्चिक राशियां मंगल के अधीन हैं। यह अग्निकारक तत्व के साथ पीड़ाकारी ग्रह भी है। यदि उसे किसी प्रकार शनि, राहु का संयोग हो तो यह अनायास दीर्घकालीन रोग प्रदान करेगा। केतु को मंगल या क्षीण हानिकारी बुध का सहयोग मिले तो द्विगुण भाव से पीड़ाकारी बन जायगा। अतः सप्तम भाव, भावेश, राशियां, ग्रहादि का समीचीन विचार श्रेयस्कर रहता है। इससे रोग की पूर्णता, अपूर्णता, अंशात्मक ढङ्ग से विदित होती है।

(८) मूत्र ग्रन्थि—मूत्राशय के मुख पर यदाकदा गांठ बन जाती है। ऐसा आयुर्वेदीय मत है। ज्योतिष वर्गीय परिपेक्ष्य में हमारी धारणा यह है—मूत्राशय सम्बन्धी सभी रोगों में जैसाकि ऊपर वर्णन किया है कि सप्तम स्थान की भ्रष्टता प्रमुख कारण है, लग्न विचार भी आवश्यक है ही। मंगल की लग्न चतुर्थ, सप्तम अथवा द्वादश भाव स्थिति, क्रूर शत्रुपक्षीय दृष्टि मूत्राशय में येन केन प्रकारेण ग्रन्थि की उत्पत्ति प्रदान कर सकती है। बुध, शनि ग्रहों का प्रकोप रोग की स्थिति का आभास कराता है। यदि सप्तमेश स्वग्रही हों, मंगल बुध ग्रहों से शत्रु पक्षीय भावना प्राप्त हो अथवा सप्तम भाव पर शनि केतु की दृष्टि या योग हो तो रोगी की भयावह स्थिति बन जायेगी। तात्पर्य यह है कि बलाबल के अनुसार रोगी पीड़ित होता है और यह तो सभी उपरोगों में समझ लेना चाहिये कि गोचर ग्रह विपरीत स्थिति में अनुकूलता भी प्रदान कर सकते हैं और सम्पूर्ण निर्णय करने में हमें दशाओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

(९) मूत्र शुक्र—आयुर्वेदिक लक्षण—कदाचित संभावना यह पाई जाती है कि स्त्री प्रसंग की उग्रता व्यग्रता मूत्र क्रिया रोक ली जाती है तो परिणामतः आदि या अन्त में वीर्य स्थान भ्रष्ट होकर ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार स्त्री प्रसङ्ग के पूर्व अथवा बाद में वीर्य निरसरण होता है। ज्योतिष विधान के अनुसार इस अवस्था प्राप्ति के कारण भाव लग्न स्थान, सप्तम स्थान प्रमुख हैं। ग्रहों में चन्द्रमा, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र एक ओर हैं और इनके कुप्रभावी शनि, राहु केतु आदि ग्रह कारक माने जावेंगे। काम प्रवृत्ति उत्तेजित करने हेतु लग्न एवं सप्तम भाव पर विशेषतः, चंद्र-मंगल, गुरु, शुक्र योगकारी बनेंगे। मन में संकल्प चंद्र द्वारा मङ्गल द्वारा उद्दीप्ति एवं क्रियाशीलता, गुरु शुक्र द्वारा प्रवृत्ति इसके कारक बनते हैं। इन स्थानों पर शनि आदि ग्रहों की अवरोधात्मक स्थिति बनने पर गोचर ग्रहों का सहयोग पाकर उत्तेजित भावना में चन्द्र द्वारा प्रवाहित

मूत्र को सूर्य की अवरुद्ध करने वाली स्थिति से स्त्रीसंग प्रकृति में बाधा पाकर शुक्र अन्यस्थिति के अनुसार मूत्राशय रोगोत्पत्ति बन जायेगी। प्रवाह के रोकने की दूषित प्रवृत्ति पथरी रोग में भी परिणित हो जाती है। अतः प्रमुखतः नवयुवकों को स्त्री प्रसङ्ग के पूर्व-पश्चात् सावधानी बरतने की आवश्यकता है। उत्तेजित मादक द्रव्यों का सेवन इस रोग में सहायक बन जाता है। इससे कामांध प्रवृत्ति बनकर मूत्रोत्सर्ग क्रिया की उपेक्षा करने से मूत्राशय को भारी कीमत उठानी पड़ती है। षष्ठम स्थानीय वृक्क एवं सप्तम स्थानीय मूत्राशय पर ही प्रभाव नहीं बनता अपितु मानसिक उन्माद अथवा वाणी के अवसाद प्राप्त होते हैं। चन्द्र मन पर प्रहार करता है, मस्तिष्क प्रभावी होजाता है, द्वितीय भाव कारक शुक्र बिगड़ने से वाणी प्रहार हो जाता है। संक्षेप में इतना ही संकेत यहां दिया जा रहा है।

(१०) उष्णवात—व्यायामाधिक्य या धूप में अधिक चलने से आमाशय में प्रकुपित दोषों की प्राप्ति होने पर वात पित्त दोनों का प्रभाव होकर वस्ति, अंडकोष एवं गुदादि में पीड़ा होने लगती है। इसमें हल्दी या रक्ताभ वर्ण का मूत्र कष्ट से प्रवाहित होता है।

ज्योतिष वर्गीय सिद्धान्तों के आधार पर उष्णवात उपरोग की इस प्रकार व्यवस्था देंगे। इस रोग में सूर्य, बुध आदि ग्रहों की प्रधानता रहती है। सूर्य मङ्गल के सहयोग पित्तकारी रोगों की उत्पत्ति करते है और बुध शनि ग्रह वातकारी ग्रह माने जाते है। इसलिये सूर्य मङ्गल बुद्ध शनि आदि के प्रभाव से जैसा इस विषय में ऊपर अनेक बार सिद्धान्त स्थापित किया गया है, इस रोग की अभिवृद्धि होगी। इस रोग में बुध के साथ सूर्य हो और उधर मंगल शनि का योग या दृष्टि योग संप्राप्त हो तो इस रोग की श्रीवृद्धि और भी बढ़ जाती है। रोगी की कुण्डली में इन योगों के साथ सप्तम स्थान भी विकृत होगा। शनि के कुप्रभाव से मूत्र निस्सरण क्रिया में बाधा उत्पन्न हो जाती है, केतु लग्न, तीसरे या सातवें भाव में रहे तो इस रोग की विभीषिका और बढ़ेगी। सभी रोगों में षष्ठ, अष्ठम, द्वादश भावों के स्वामियों के सहयोग पर विचार भी होना चाहिए। ये स्थान भ्रष्टता प्रदान करते हैं।

(११) मूत्रसाद—आयुर्वेदीय पक्ष से वायु प्रकोप द्वारा पित्त एवं कफ भी दोष पूर्ण बन जायें तो इससे मूत्र दाह युक्त लाल, सफेद गाढ़ा मूत्र उतरने लगता है।

फलित ज्योतिष सिद्धान्त हमें मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। अर्थात् मंगल, बुध, शुक्र इन तीनों ग्रहों का समान या तारतम्यभाव से सप्तम भाव का प्रभावित होना आवश्यक है। इस दुराग्रही स्थिति में शनि की स्थिति अथवा दृष्टयात्मक प्रभाव का सहयोग हो, शत्रु भाव एवं अंशात्मक हीनता प्रगट हो तो दीर्घकालीन रोग की स्थिति बन जाती है। सूर्य की सप्तमें मंगल पर दृष्टि पीड़ादायक है, सूर्य शनि का संघर्ष हो जाय तो सब योग समन्वयता से ध्वंसात्मक स्थिति मूत्राशय की इस उपरोग के माध्यम से बन जाय। इनमें ऐसे भी सुयोग बनते हैं जब अकेला सूर्य बुध तथा शुक्र पर संयोगी प्रभाव डालकर वात एवं कफ जनित रोगों का दमनकारी बन जाता है। केतु की स्थिति या दृष्टि मारकत्व प्रदान करती है किन्तु यदि उस भाव का वह स्वामी हो, वहाँ त्रिकोण या उच्च अंश राश्यात्मक हो तो इस प्रकार स्वगृही, मूल त्रिकोण या उच्चराशिग होने से वह रक्षात्मक प्रवृत्ति धारण करेगा। इस प्रका कुयोगों की स्थिति में कुप्रभावी राशि या ग्रहों की स्थिति प्रतिकूलता, रोगोत्पत्ति में अवश्य ही बाधक बनेगी इस प्रकार के सिद्धान्त सर्वत्र स्वीकार करना चाहिए इनकी उपेक्षा फलितादेश को असत्य सिद्ध कर देगी।

(१२) विड् विघात मूत्राघात—आयुर्वेदीय मतेन शरयं रूक्ष एवं दुर्बलेन्द्रिय रोगी का मल वायु से प्रकुपित होक उदावर्त को प्राप्त हो तब मल के कारण मूत्र मार्ग भ्रष्ट को प्राप्त हो जाय तो मूत्र प्रवाह कष्टकारी हो जाता है

ज्योतिष मतानुसार इस उपयोग में रोगी की कुण्ड में लग्न स्थान, षष्ठम स्थान एवं सप्तम तीनों स्थानों व अध्ययन करना चाहिए। उपरोक्त वर्णन में संदर्भवश तत्र प्रकाश डाला गया है—वस्तुतः लग्न स्थान दोष पू होने पर स्वास्थ्य पर प्रमुख रूप से प्रभाव हो जाता हम तो लग्न स्थान से मस्तिष्क प्रगति भीदेखकर रो स्थापना करते हैं—मानसिक असंतुलन से रोग तो बन जाते हैं, बुद्धि भ्रंश से 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' पुष्टि करते हैं। और रोग रोगेश पर पूर्व प्रकाश डा चुके हैं। सप्तम भाव की विकृति से कितने भयङ्कर परिण निकलते हैं यह मूत्र संस्थान के समस्त रोगों में मूत्रकृच्छ एवं मूत्राशय सम्बन्धी उपरोगों पर विशद विचार दे चु

है। विद् विद्यात हेतु यहाँ और स्पष्ट करदें कि शरीर की रूक्षता, परिश्रमाधिक्य योग सूर्य सह भौम में संपन्न होता है शुक्र सप्तम स्थान का कारक ग्रह भी इनके द्वारा शुष्कता प्राप्त करता है, तब ही सप्तम स्थाने क्रूर ग्रहों की स्थिति मंगली कुण्डली बना देती है। इस प्रकार सप्तम स्थान की भ्रष्टता भिन्न भिन्न रोग प्रदाता होजाती है। हमने मूत्राघात या मूत्र संस्थान रोगों में कई स्थानो पर बुध, शनि के हानिकारी योग एवं दृष्टियों वात दोषों को अनायास प्रकुपित करने वाली, त्वरित एवं मन्दगामी प्रभाव डालने वाली बताया है, यह युक्ति यहाँ इस उपरोग में भी पुष्टिदाता हैं, ये योग मारक स्थिति में पहुँचा सकती है। मंगल, शुक्र योगों के कारण यदि अवस्था आयु निश्शेष की संभावना हो तो निश्चय ही इस रोग के कारण प्राणान्त सम्भव है।

मूत्र संस्थान के मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राशय सम्बन्धी रोगों के विशद विवेचन के साथ हम निम्न स्पष्टीकरण करके कुछ महत्वपूर्ण अभिज्ञान और प्रकट करना चाहते हैं जिसके द्वारा इन रोगों के चिकित्सक ज्योतिर्विदों को यह ज्ञान भी उपलब्ध हो सकेगा, कि बिना एक्सरे चित्र की सहायता लिये, रोगी के वृक्क या मूत्र संस्थान के किस भाग पर रोग का प्रभाव है। सप्तम भाव को चार भागों में बांट कर इसका हमें ज्योतिष के माध्यम से स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा। इसका उदाहरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं—
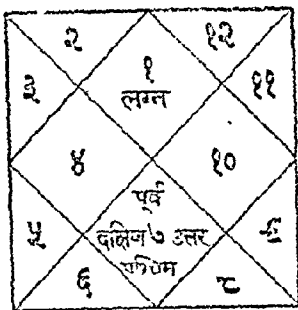
चित्र—३८

अर्थात् पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर। कुण्डली में सामान्य नकशे के समान उत्तर, दक्षिण, पश्चिम, पूर्व दिशायें नहीं होतीं। यहाँ सप्तम भाव के उत्तर भाग में पूर्व दिशा होगी, दक्षिण भाग में पश्चिम इत्यादि। बाईं तरफ दक्षिण और दाईं ओर उत्तर। इसका कारण यह है कि हमारा आकाश भी इस प्रकार विभाजित है, सूर्योदय की ओर पूर्व, सूर्यास्त की ओर पश्चिम। अब देखिये लग्न में स्थिति किसी ग्रह की सम्पूर्ण दृष्टि सप्तम भाग पर पड़ती है। वह उसके पूर्व भाग पर पूरा प्रभाव डालेगी, तीसरे भवन स्थित ग्रह की दृष्टि दक्षिण पूर्व क्षेत्र पर प्रभाव डालेगी, चौथे भवन स्थित ग्रह की दृष्टि सप्तम भाव के दक्षिण पूर्व भाग पर प्रभाव रखेगी। इसी प्रकार पञ्चम भवन स्थित ग्रह की सातवें भवन के आधे भाग पर प्रभाव डालेगी। इसी प्रकार द्वादश भवन की पूर्ण दृष्टि दक्षिण पश्चिम भाग पर, दसवें ग्यारहवें स्थान में स्थित ग्रहों की दृष्टियों का प्रभाव सातवें घर के उत्तर भाग में प्रभाव होगा। इस प्रकार हम मूत्राशय में स्थित व्याधि की स्थिति का निदान कर सकते हैं। राहु केतु की दृष्टियां कुछ विद्वान विशिष्टों के आधार पर उलटा कम ही रखना चाहिये। अन्य वक्र ग्रहों की स्थिति जिस स्थान पर वह ग्रह अवस्थित रहता है, मूलतः वही समझा जावेगा उसका फल भले ही विचारणीय है।

— ज्योतिर्विद् आचार्य निर्विकार गुप्त
साहित्य रत्न, शिक्षा विशारद
३६०/१० सुन्दर विलास, अजमेर।

मूत्र रोग चिकित्सा

मूत्र-रोग

(द्वितीय खण्ड)

मूत्रकृच्छ्र विमर्श...

वैद्य दरबारीलाल आयु. निपुण

मूत्रकृच्छ अर्थात् पेशाब करने में जो कष्ट होता है उसे मूत्रकृच्छ्र रोग कहते हैं। रोग पैदा किस प्रकार होता है, इसका वर्णन नीचे किया जाता है।

निदान—

अति व्यायाम से, तीक्ष्ण औषधियों के सेवन से, रूखे अन्न पानों से, मद्य पीने से, मैथुन से, नृत्य से, तेज चलने से तथा घोड़े आदि की पीठ पर सवारी करने से, आनूप जीवों का मांस खाने से, मछली खाने से, अध्यशन (भोजन पर भोजन करने) से अजीर्ण से इन कारणों से मनुष्यों को आठ प्रकार का मूत्रकृच्छ्र रोग हो जाता है।

सम्प्राप्ति— अपने अपने कारणों से कुपित हुये दो दोष अलग अलग या मिलकर वस्ति में कुपित होकर जब मूत्र मार्ग को पीड़ित करते हैं तब कठिनता से मूत्र आता है।

लक्षण—

आयुर्वेदज्ञों ने मूत्रकृच्छ्र निम्नलिखित आठ प्रकार का माना है—(१) वातज (२) पित्तज (३) कफज (४) सन्निपातज (५) शल्यज (६) पुरीषज (७) अश्मरीज (८) शुक्रज। इनके पृथक पृथक लक्षण नीचे लिखे जाते हैं—

वातजमूत्रकृच्छ्र— वंक्षण, वस्ति तथा लिङ्ग में तीव्र पीड़ा होती है। मूत्र थोड़ा-थोड़ा तथा बार-बार आता है।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र में पीला-पीला रक्त से मिला हुआ, पीड़ा युक्त तथा कठिनता से बार-बार आता है।

कफज मूत्रकृच्छ्र में लिंग और वस्ति में भारीपन तथा शोथ (सूजन) होता है तथा मूत्र पिच्छिलता युक्त होता है।

त्रिदोषज मूत्र कृच्छ्र में सभी दोषों के कुपित होने से

सभी रूप रोग में प्रकट होते हैं। ऐसा मूत्रकृच्छ्र रोग कष्ट साध्य है।

शल्यज मूत्रकृच्छ्र—मूत्रवाही स्रोतों के शल्य से क्षत या अभिहत हो जाने पर उस आघात से भी मूत्रकृच्छ्र रोग हो जाता है। इसमें अत्यन्त पीड़ा होती है। इसके लक्षण वातज मूत्रकृच्छ्र के समान होते हैं।

पुरीषज मूत्रकृच्छ्र—मल के रुक जाने से वायु विगुण होकर आध्मान (अफरा) तथा वातशूल को करता है तथा मूत्र को रोक देता है।

अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र—अश्मरी अर्थात पथरी के हो जाने से मूत्र कष्ट के साथ आता है।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र—वीर्य के दोषों से मूत्र मार्ग के उपहत होने पर विधारण किया हुआ वीर्य मूत्रकृच्छ्र रोग को उत्पन्न कर देता है। उसमें वीर्य के साथ-साथ कठिनता से मूत्र आता है। वस्ति और लिंग में शूल होता रहता है।

अश्मरी के अतिरिक्त शर्करा भी मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न करती है, जिसका वर्णन नीचे किया जाता है।

अश्मरी तथा शर्करा दोनों रोगों की उत्पत्ति के कारण तथा लक्षण एक समान ही हैं। अश्मरी पित्त से पकती हुई और वायु से सुखाई जाती हुई कफ के सन्धान से विमुक्त हुई २ अर्थात् पृथक हुई २ क्षरण करती हुई अर्थात टूट-फूट कर पृथक होती हुई शर्करा कहाती है। सारांश यह है कि पथरी जब टूटकर चूर्ण रूप हो जाती है और मूत्र के साथ मूत्र मार्ग से निकलती है तो उसे शर्करा रोग कहते हैं। इस शर्करा से हृदय में पीड़ा होती है, कंपन होता है, पेट में शूल होता है तथा जठराग्नि मन्द होजाती है तथा मूर्च्छा होती है और भयङ्कर मूत्रकृच्छ्र होजाता है।

मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा—

वातज मूत्रकृच्छ्र में अभ्यंग, स्नेह निरुह वस्ति देना, पसीना निकालना, उपनाह, उत्तर वस्ति देना, सेंक अर्थात औषधियों के क्वाथ से सिंचन करना तथा शालपर्णी आदि वात-नाशक दवाओं से सिद्ध किये हुए रसों को वातिक मूत्रकृच्छ्र में देना चाहिए।

गिलोय, सोंठ, अमलतास, असगन्ध, गोखरू, इनमें से प्रत्येक द्रव्य समभाग लेकर मिला २ तोला लेकर जल ३२ तोला डाल कर क्वाथ करे। जब आठ तोला शेष रहे तो उतार छानकर पियें। इससे वातज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र में जल का सिंचन, अवगाहन, शीत द्रव्यों का लेप वस्ति तथा दूध आदि पीना तथा विरेचन (जुलाब) देना, मुनक्का, विदारीकन्द, गन्ने का रस इनसे पकाकर घी पिलाना। कुशा की जड़, कास की जड़, शर (पतेल) की जड़ दर्भ की जड़ तथा गन्ने की जड़ को समभाग लेकर क्वाथ कर पिलावें। इससे पित्तज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है तथा वस्ति की शुद्धि होती है। इसे तृण पंचमूल क्वाथ कहते हैं। इसी तृण पंचमूल के साथ गोदुग्ध का क्षीर पाक बना उस दूध को पीने से लिंग से निकलता हुआ खून बन्द होजाता है।

शतावर, कास की जड़, कुशा की जड़, गोखरू, विदारीकन्द की जड़, गन्ने की जड़ तथा कसेरू इन सबको समभाग लेकर क्वाथ कर उसमें शहद और मिश्री मिलाकर पीने से पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है।

हरीतक्यादि क्वाथ—हरड़, गोखरू बड़ा, अमलतास का गूदा, पाषाण भेद, धमासा प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर क्वाथ कर शहद मिलाकर पिलावें तो दाह, पीड़ा तथा विबन्ध सहित मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करता है।

खीरे के बीज, मुलहठी, दारुहल्दी समभाग लेकर पीसकर चावलों के धोये पानी से पीने से पित्तज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है।

आमला स्वरस तथा ईख का रस शहद मिलाकर पीने से रक्तयुक्त मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है। दाख और मिश्री समभाग लेकर दही के पानी के साथ मिलाकर खाने से पित्तज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है।

नारियल के जल में गुड़ तथा धनियां का चूर्ण मिलाकर पीने दाह सहित मूत्रकृच्छ्र तथा रक्तपित्त रोग नष्ट होता है।

कफज मूत्र कृच्छ्र में—यवक्षारादि क्षार तथा उष्ण, तीक्ष्ण अन्नपान करना चाहिए। स्वेद देना, जौ का अन्न खाना, वमन तथा निरूह वस्ति देना, तक्र पिलाना, तिक्त तथा कालीमिर्च आदि से पकाये हुए तेल सेवन कराना तथा वस्ति देना ये सभी बातें लाभ पहुँचाती हैं। छोटी इलायची के चूर्ण को गोमूत्र से, सुरा से या केले के रस से देने से कफज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है। चावलों के जल के साथ प्रवाल भस्म देने से कफज मूत्रकृच्छ्र अच्छा होता है।

त्रिदोषज मूत्र कृच्छ्र में सब किया रोगी का बल देख कर करें। यदि कफ की अधिकता हो तो पहले वमन

करावे, पित्त की अधिकता हो तो पहले विरेचन देवे, यदि वात की अधिकता हो तो पहले वस्ति देवे। (१) बड़ी कटेली, पृष्ण पर्णी, पाठा, मुलहठी, इन्द्र जौ का क्वाथ पीने से सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है। (२) शतावरी की जड़ का क्वाथ खांड़ और शहद मिलाकर पीने से त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है। (३) कुछ-२ गरम दूध में गुड़ मिलाकर यथेष्ठ पीने से सभी मूत्र कृच्छ्र में लाभ होता है। इससे शर्करा रोग और वात रोग भी नष्ट होते हैं।

शल्यज (अभिघातज) मूत्र कृच्छ्र में वातज मूत्रकृच्छ्र के समान क्रिया करे। पञ्च वल्कल अर्थात् वरगद, पीपल, गूलर, पिलखन और वेंत की छाल प्रत्येक समभाग लेकर पीस लें और चिकनी मिट्टी उसके समभाग ले सबको जल में पीसकर गरम कर लेप करें तो अभिघातज मूत्र कृच्छ्र में लाभ होता है। (२) घी और खांड़ मिलाकर मन्थ बनाकर पियें। (३) पकाये हुए दूध में आधा भाग खांड़ मिलाकर पीयें। आमले के स्वरस में या ईख के रस में शहद मिलाने से अभिघातज मूत्रकृच्छ्र ठीक होता है।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र में शिलाजीत में शहद, दूध, खांड़ और घी मिलाकर पीने से या शहद में मिलाकर शिलाजीत चाटने से लाभ होता है। (२) तृणपंचमूल के क्वाथ से पकाये हुए गोघृत को पीने से शुक्रज मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ योग रत्नाकर में लिखा है कि वीर्य के दोष की शुद्धि के लिये यौवन मदोन्मत्ता स्त्री के साथ मैथुन करे तो यह दोष दूर हो जाता है।

पुरीषज मूत्र कृच्छ्र की चिकित्सा स्वेद देना, पाचक, सारक, वायु निस्सारक चूर्ण खिलाना, तेल मलकर सेकना, वस्ति देना इन उपायों से लाभ होता है। गोखरू के बीजों के क्वाथ में यवक्षार मिलाकर पीने से पुरीषज मूत्रकृच्छ्र शीघ्र ही ठीक हो जाता है।

अश्मरी मूत्रकृच्छ्र में स्वेद आदि वातनाशक क्रियायें करनी चाहिए। पाषाण भेद का क्वाथ पिलावें। (२) छोटी इलायची, दन्ती की जड़, मुलहठी, पाषाण भेद, रेणुका के बीज, गोखरू, वासा, एरण्ड मूल. इन सबको समभाग लेकर क्वाथ करे। इस क्वाथ में शिलाजीत व खांड़ मिलाकर पीने से अश्मरी युक्त मूत्र कृच्छ्र अच्छा होता है।

ऊपर विशेष चिकित्सा का वर्णन किया गया है नीचे सामान्य चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है, जो हर प्रकार के मूत्रकृच्छ्र में लाभ करता है—

(१) गोखरू, अमलतास का गूदा, दर्भ की जड़, कास की जड़, जवासा, पित्तपापड़ा, और हरड़ का क्वाथ शहद मिलाने से अश्मरी और मूत्रकृच्छ्र के असाध्य रोगी भी ठीक हो जाते हैं।

(२) पाषाण भेद, निसोत, हरड़, जवासा, गोखरू, पुष्कर मूल. ढाक के बीज, सिंघाड़े के बीज तथा ककड़ी के बीजों का क्वाथ पीने से रुका हुआ मूत्र सुगमता से हो जाता है।

(३) गोखरू का पंचाङ्ग लेकर क्वाथ बनाकर खांड तथा शहद मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र तथा उष्ण वातरोग दूर होता है।

(४) छोटी इलायची के बीज, पाषाणभेद, शिलाजीत, पीपल प्रत्येक द्रव्य समभाग ले चूर्ण करे। इस चूर्ण को चावलों के पानी में घोलकर पिये या इस चूर्ण को गुड़ मिलाकर खायें तो असाध्य मूत्रकृच्छ्र भी ठीक हो जाता है।

(५) अङ्कोल का क्षार तथा तिल का क्षार समभाग लेकर शहद में मिलाकर चाटे और ऊपर से दही का पानी पिये तो मूत्र की रुकावट दूर होती है, मूत्र खुल कर आता है।

(६) यवक्षार में सम भाग खांड मिलाकर पिलाने से भी सभी मूत्रकृच्छ्र अच्छे हो जाते हैं। या यवक्षार युक्त छाछ को यथेष्ठ पीवे तो मूत्रकृच्छ तथा अश्मरी दोनों नष्ट होते हैं। या यवक्षार १ माशा, पेठे का रस ४ तोले, खांड १ तोले मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है।

(७) छोटी इलायची के बीजों का चूर्ण आमला स्वरस में मिलाकर पीने से मूत्रकृच्छ्र में आराम होता है। अथवा छोटी इलायची के बीज और गोखरू का चूर्ण शहद में चाटने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है।

(८) पिंडखजूर, आमले के बीजों की गिरी, पीपल, शिलाजीत, छोटी इलायची के बीज, मुलहठी, पाषाण भेद, सफेद चन्दन, ककड़ी के बीज, धनियां समभाग लेकर चूर्ण कर समभाग खांड मिलाकर चावलों के पानी से सेवन करे तो अंगों का दाह लिंग का दाह, गुदा, वंक्षण तथा वीर्य के दाह को नष्ट करता है, तथा शर्करा और अश्मरी के शूल को नष्ट करता है और बलकारक है।

(९) गोक्षुराद्य गुग्गुल के प्रयोग करने से प्रमेह, प्रदर मूत्राकृच्छ्र, मूत्रघात, अश्मरी तथा सभी प्रकार के वीर्य दोष तथा सभी प्रकार के वात रोग नष्ट होते हैं।

(१०) गोखरू के बीज, मूली, विड लवण, ककड़ी के बीज इन सबको समभाग लेकर कांजी से पीस कर वस्ति के स्थान पर लेप करें तो शीघ्र मूत्र को निकाल देते हैं या चूहे की विष्ठा को जल में पीस कुछ गरम कर वस्ति पर लेप करे या ढाक के फूल उबालकर उसके पानी की जल धारा वस्ति पर डालें और फूलों में कलमी शोरा मिला पीस गरम कर वस्ति स्थान पर लेप करे या केवल गरम पानी की धारा वस्ति पर डाले या अपामार्ग के पत्ते व कलमी शोरा मिलाकर पीस कर वस्ति स्थान पर लेप करे या मूत्रेन्द्रिय के मुख के छिद्र में कपूर लगाने से मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है और पेशाब साफ आने लगती है।

(११) चन्द्रकला रस—मूत्र मूत्रकृच्छ्र नष्ट करने में चमत्कारी प्रभाव रखता है। मूत्रकृच्छ्र के अतिरिक्त सब प्रकार के पित्तरोग, अन्दर बाहर के महादाह, ज्वर के महाताप, भ्रम, मूर्च्छा, रज का अतिस्राव, घोर रक्त प्रदर रक्तपित्त को नष्ट करता है। उसको ग्रीष्मकाल तथा शरद काल में जब पित्त कुपित होता है तब खायें तो विशेष लाभ करता है।

(१२) रस सिन्दूर में यवक्षार, खांड़ और तक्र मिलाकर पीने से सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्र शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

(१३) चूने के पानी में तिल का तेल और शक्कर मिलाकर पीने से कष्ट साध्य मूत्रकृच्छ्र मिट जाता है।

(१४) लहसुन को पीसकर पेड़ू पर लेप करने से मूत्र उतर जाता है। तीव्र मूत्रल है।

(१५) मूत्र दाह मिटाने एवं पेशाव साफ लाने के लिए वंशलोचन, छोटी इलायची के बीज, शीतल चीनी समभाग लेकर चूर्ण बना ३-३ माशे दूध की लस्सी से लें।

(१६) पुटासियम एसीटास १५ ग्रेन, टि० सिल्ला १० मिनिम, टि० डिजिटेलिस ५ मि०, स्प्रिट ईथरिस नाइट्रोसाई २० मि०, परिश्रुत जल १ औंस ऐसी १-१ मात्रा ३-३ घण्टा बाद दें। इससे पेशाव साफ उतरने लगता है तथा पेशाव की जलन मिट जाती है।

(१७) पेशाव खोलने के लिए गोखरू २॥ तोला, लेकर दो कप पानी में औटावें। जब आधा कम पानी शेष रहे तब उतार छान लें और ४ रत्ती कलमी शोरा व ६ माशा मधु मिला पीवें तो पेशाब खुलकर हो जाता है।

(१८) बरगद के पत्ते पानी में उबाल कर पीने से पेशाब हो जायेगा।

(१९) कलमी शोरा, यवक्षार, जीरा सफेद, रेवन्द चीनी, कबाब चीनी, छोटी इलायची के बीज १-१ तोले, मिश्री ६ तोले लेकर ३-३ माशा ३-३ घण्टे बाद दूध की लस्सी से प्रयोग करें। इससे पेशाब व दस्त खुलकर आने लगते हैं। मूत्राशय की पथरी, पुराना सुजाक, पेशाब की जलन, पेशाब का बूंद-२ जलन के साथ आना, पेशाब की रुकावट आदि दूर होती है।

(२०) पौरुष ग्रन्थि (प्रोस्टेट ग्रन्थि) शोथ के कारण पेशाब खुलकर न होता हो तो दुग्ध प्रोटीन का इन्जेक्शन लगायें।

(२१) यवक्षार, अपामार्ग क्षार, तिल क्षार, कलमी शोरा, नौसादर, पुनर्नवा क्षार २-२ रत्ती मिला गोखरू क्वाथ ५ तोले में घोलकर पिलायें। इससे रुका हुआ पेशाब आने लगता है। पथरी गलकर निकल जाती है। वृक्कशूल मिट जाता है।

(२२) काले बिच्छू को कतर कर गुड़ में गोली बनाकर देने से पथरी गलकर मूत्र द्वारा निकल जाती है और वृक्कशूल तो तत्काल ही बन्द हो जाता है।

(२३) ए० बी० एम० रिसर्च इन्स्टीट्यूट बायलोजीकल हापुड़ का मूत्रल इन्जेक्शन रुके हुये पेशाब को आधे घण्टे के अन्दर खोल देता है। जीर्ण वृक्क शोथ (नेफराइटिस) तथा वृक्कोत्कर्ष पर लाभप्रद है। वृक्कों तथा मूत्राशय में आई सूजन को समाप्त कर मलोत्सिकाओं को क्रियाशील बनाता है। रक्त में मिले दूषित पदार्थ मूत्र द्वारा शरीर के बाहर निकल जाते हैं। मूत्र रोग तथा वृक्करोगों में यह अत्यन्त सफल सिद्ध इंजेक्शन है। इसके प्रयोग से मूत्राशय तथा वृक्कों से अश्मरी (पथरी) छोटे छोटे टुकड़ों में टूट कर (पेशाब अधिक होने से) मूत्र के साथ बाहर निकल जाती है। २ सी. सी. का इंजेक्शन नितम्ब प्रदेश की मांस पेशी में लगाना चाहिये। रुका हुआ पेशाब यदि इंजेक्शन देने के आधा घण्टा के अन्दर न हो तो दूसरा

—शेषांश पृष्ठ ६४ पर देखें।

वैद्य श्री गुनराज शर्मा मिश्र, आयुर्वेदाचार्य,
आयु० शिरोमणि (श्रीलंका), आयु०वा०(श्रीलंका)
नई शुक्रवाडी, नागपुर–२

※☆※

मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी दोनों का चोली दामन का सम्बन्ध है। दोनों भाई बहिन है। सामान्यतः निदान भी दोनों का एक सा ही है स्थान और वेदना का स्वरूप भी एक समान है। प्रायशः मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। संख्या भेद से मूत्रकृच्छ्र अष्टविध और अश्मरी चतुर्विध मानी है। चरक और सुश्रुत इसमें भेद रखते हैं। चरक की मान्यता है कि यह त्रिदोष के संपर्क के बिना नहीं होती, अतः एक ही प्रकार की है किन्तु सुश्रुत ने दोषों के तारतम्य भेद से तीन प्रकार और शुक्राश्मरी ऐसे चार भेद माने है। तदनुसार ही लक्षण स्वरूप और चिकित्सा के प्रकार दिये है। सुश्रुत ने अश्मरी को न केवल कष्टसाध्य माना है अपितु दारुण और मृत्यु माना है। जैसे कि—

अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तक प्रतिमो मतः।
तरुणो भेषजैः साध्यः प्रवृद्धः छेदमर्हति ॥

इसी प्रकार अष्टांग हृदय ने भी सुश्रुत की मान्यता को स्वीकार किया है और उपर्युक्त श्लोक को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। भावप्रकाश वात, पित्त और कफ भेद से तीन प्रकार और शुक्र से चौथी प्रकार की अश्मरी मानता है। प्रायः सभी अश्मरियां कफ के संयोग से ही ही होती हैं। और सभी तत्काल चिकित्सा के अभाव में यमोपम (मृत्युकर्त्ता) होती हैं—।

वात पित्त कफै, स्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजा मता।
प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि महर्षि अग्निवेश के कार्यकाल में भी अश्मरी कष्टसाध्य ही समझी गई है किन्तु यमोपम और अन्तक प्रतिम नहीं समझी गई है। महर्षि अग्निवेश ने दो प्रकार की विशेष चिकित्सा का उल्लेख किया है जो कि उस समय होती थी। जैसे कि– चरक चिकित्सा स्थान अ. २६ श्लोक ६८ से कहा है—

पीत्वाऽथ मद्यं निगदं रथेन हयेन वा शीघ्रजवेन यायात्।
तैः शर्करा प्रच्यवतेऽश्मरी तु शाम्येन्न चेच्छल्यविदुद्धरेत्ताम्॥

अर्थात् अन्य चिकित्साओं के प्रयोग से सफलता मिलने में असफलता प्रतीत होती हो तो निगद नाम का मद्य पी कर अश्मरी का रोगी शीघ्र गति से चलने वाले रथ अथवा घोड़े की सवारी करके चलें। तीव्र वेग से चलने वाली सवारी का मूत्राशय, मूत्रनलिका पर जो झटका लगता है उससे अश्मरी और शर्करा च्युत हो जाती है और बाहर निकल जाती है किन्तु यह भी ध्यान रहे कि न केवल तीव्र गति से चलने वाली सवारी इसमें कार्यकारी है अपितु निगद नामक मद्य भी उतना ही प्रभावी है और उसके नशे में जब वाहन पर बैठकर वह चलता है तब उसे किसी प्रकार का विचार नहीं रहता है खूब तेज दौड़ाता है। तीव्र गति से चलने में हवा का प्रेशर और सवारी का झटका तथा क्षार गुणधर्मी निगद मद्य का क्षरण क्रम उसमें विशेष सहायक होते है। ऐसा ज्ञात होता है कि यह चिकित्सा बहुत प्रभावी फलप्रद थी। यदि इससे अश्मरी गिरती नहीं है तो शल्य विशेषज्ञ से उसे निकलवा देना चाहिये यह महर्षि अग्निवेश का निर्णय है। किन्तु दुर्भाग्य है कि सम्प्रति साधनाभाव और परम्परा के न रहने से यह चिकित्सा लुप्त हो गई है। इसी प्रकार महर्षि अग्निवेश के अनुभव मे निम्नलिखित प्रयोग भी उतना ही प्रभावी है। जिसके विषय में भी यही लिखा है कि अन्य किसी चिकित्सा से लाभ न हो तो इसका प्रयोग करें। जैसा कि—

एवं न चेत् शाम्यति तस्य युंज्याद्
सुरां पुराणां मधुमासवं वा।
विहंग मांसानि च बृंहणाय
बस्तीश्च शुक्राशय शोधनार्थम्।
शुद्धस्य तृप्तस्य च वृष्ययोगैः
प्रियानुकूलाः प्रमदा विधेयाः ॥

—चरक चिकित्सा अ. २६ श्लोक ७१-७२

तात्पर्य यह है कि बहुत प्रकार की शास्त्र में कही

हुई चिकित्साओं से शुक्रज अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र में लाभ नहीं मिलता है तो पुरानी मदिरा अथवा मधुकासव पिलाना चाहिये और रोगी को बृंहण करने के लिये पक्षियों का मांस खिलाना चाहिए। शुक्राशय के शोधनार्थ उत्तर वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। शुक्राशय शुद्धि के पश्चात् वाजीकरण औषधियों से रोगी को पुष्ट और तृप्त करके उसकी अत्यन्त प्रिय और अनुकूल रमणी से मैथुन करने के लिए कहना चाहिए। यह प्रयोग अश्मरी के पातन के लिए प्रभावी और अव्यर्थ थे ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु आज इनका व्यवहार नहीं होता है।

अब मैं मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी की उस चिकित्सा का जिकर करना चाहता हूं जिसे रात दिन अपनी व्यवस्था में रोगियों पर प्रयुक्त करता रहता हूं। जैसाकि शास्त्रीय उल्लेख है कि नवीन रोग और श्रद्धावान् रोगी हो तो अवश्य लाभ होता है। साथ ही यह भी अनुभव में आया है कि महिलाओं के अश्मरी पातन में शीघ्र और सहज सफलता मिलती है। चरकोक्त निम्नलिखित "कार्पास मूलादि प्रयोग" कुछ संशोधन परिवर्धन के साथ कालेज के अस्पताल में प्रयुक्त होता है जिसका परिणाम बहुत ही लाभप्रद है जैसे कि— कपास का मूल, अडूसा का मूल, पाषाण भेद, वला का मूल, स्थिरादि वर्ग की औषधें, छोटा पचमूल, सरिवन, पिठिवन, छोटी कटेरी, वड़ी कटेरी, इनके मूल, गोखरू, कुलत्थी, खरबूजा का छिलका, खरबूजा के बीज, गवेधुका का मूल, श्वेत पुनर्नवा मूल, इन्द्रायण मूल, काली पुनर्नवा मूल, शतावरी, गुडवेल और असनपर्णी इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर (बहुकल्पं सम्पन्नं योग्यमौषधम्) के सिद्धान्तानुसार क्वाथ, दूध या घृत षडङ्ग पानीय के रूप में वातज अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र तथा द्विदोषज और त्रिदोषजन्य मूत्रकृच्छ्र में क्रमशः प्रयोग करें। क्वाथ, दूध, घृत तथा षडंगपानीय के प्रयोग के समय २-२ ग्राम शुद्ध शिलाजीत, २-२ ग्राम कलमी शोरा मिलाकर प्रयोग करें। दिन में ३ बार। यह प्रयोग दश सप्ताह में पूर्ण लाभ करता है। आज तक सैंकड़ों रोगियों पर इसका प्रयोग हो चुका है। जयपुर के कवि शिरोमणि श्री कृष्णरामजी भट्ट अपनी सिद्ध भैषज मणिमाला में लिखते हैं कि—

चलदलतरुमूल छल्लजात कषायः
लवण गुड सहायो मात्रया पीतमात्रः।
दृढ़ निविड़मूलं दुःसहं कुक्षिशूलम्
समयति यदि शंका मित्र दत्वा परीक्ष्यः।

यह प्रयोग भयङ्कर गुरदे के रोग में जादू का काम करता है। वृक्काश्मरी में इसका सतत् प्रयोग किया गया है। जितना कम परिश्रम साध्य प्रयोग है उतने ही कम समय में तत्काल रोग को शान्तकर रोगी को सुखी बना देता है।

प्रयोग—पीपल के मूल की छाल ताजी २ तोला को १ पाव पानी में डालकर क्वाथ बनाना एक छटांक शेष रहने पर आधा तोला सेंधा नमक और एक तोला गुड़ का प्रतिवाप देकर छानकर रोगी को पिला देना। कविराज स्वयं लिखते हैं कि हे मित्र, देकर परीक्षा कीजिये।

मूत्रकृच्छ्र वृक्काश्मरी मूत्रपिंडगत शर्करा, वृक्कशूल, वृक्कदाह, एवं मूत्राशय के समस्त विकारों में सद्यःफलदायी वीरतर्वादि कषाय (सुश्रुतोक्त कुछ परिवर्धित)— वीरतरु, नीले फूल का पियांवासा, लाल फूल का पियांवासा, पीले फूल का पियांवासा, बांदा, दर्भमूल, नरसर, शर, कुशा की जड़, कांस की जड़, पाषाण भेद, अरनी मूल, ईख की जड़, सफेद आक की जड़, स्योनाक की जड़, नीलोफर, हुलहुल, गोखरू, शतावर, कपास की जड़, कुलथी, खर्बूजा का छिलका इन सबको जौ कूटकर मिलाकर ४-४ तोले की मात्रा को कषायार्थ अठगुने पानी में रात को भिगोदेना अष्टमांश शेष रहने पर छानकर ६ रत्ती शुद्ध शिलाजीत, २ रत्ती हजरुलयहूद भस्म तथा ६ रत्ती श्वेतपर्पटी मिलाकर पिलाना, इसी प्रकार रात को देना। सुबह १० बजे और शाम को ५ बजे 'त्रिविक्रम रस' रस रत्न समुच्चयोक्त १ रत्ती से २ रत्ती तक की मात्रा में शहद में देकर ऊपर से विजौरा निम्बू की जड़ ६ माशा के शीत कषाय में पिलावें। विजौरा निम्बू के शीत कषाय के अभाव में हरड़, वहेड़ा पाषाण भेद, धमासा धनियां गोखरू, ककड़ी के बीज, कुलत्थी और खरबूजा के छिलका का कषाय दें।

भोजन के बाद—तुरीको (इस नाम से डिसेन कम्पनी हैदराबाद की टेवलेट मिलती है। सर्वथा आयुर्वेद की है)। २ गोली और २ गोली अश्मरीहर (पथरीना) वैद्यनाथ की खिलाकर अश्वगन्धारिष्ट ४ चम्मच, दशमूलारिष्ट ४ चम्मच और उशीरासव ४ चम्मच मिलाकर बराबर पानी मिलाकर पिलावें। यह चिकित्सा सफल है। इसका दश सप्ताह का प्रयोग है। यदि इससे पथरी नष्ट नहीं होती तो आप्रेशन ही एकमात्र उपाय है।

मूत्रकृच्छ्र-लक्षण एवं चिकित्सा

वैद्यवर पं० अनन्त नारायण ठाकुर
भूतपूर्व आयुर्वेद चिकित्सा अधिकारी, देवगढ़ (देवास) म०प्र०

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्य
प्रसङ्गनित्यद्रुत पृष्ठ यानात्।
आनूपमांसाध्यशनादजीर्णात्स्यु-
र्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥
पृथङ्मलाः स्वैः कुपितानिदानैः,
सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति
यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥
(च०चि०अ० २६)

बहुत व्यायाम करने से, मिर्च और राई आदि तीक्ष्ण औषध बहुत खाने से, रूक्षान्न खाने से, मदिरा बहुत पीने से, नित्य घोड़े व ऊँट आदि पर सवार होकर बड़े वेग से दौड़ाने पर, जल के समीप रहने वाले जीवों का मांस खाने से, एकबार का भोजन पचे बिना फिर दूसरी बार भोजन करने से, अजीर्ण रहने पर मनुष्यों के आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र हो जाते है। वातादि दोष अपने अपने कारणों से पृथक-पृथक या सब एक साथ मिलकर जब मूत्राशय में कुपित हो जाते है, तब मूत्र के मार्ग में पीड़ा उत्पन्न कर देते हैं। उस मनुष्य का पेशाब बड़े कष्ट से उतरता है। इस रोग को "मूत्रकृच्छ्र" कहते हैं।

मूत्रकृच्छ्र रोगों के प्रकार—

अष्टवितिदोषैःपृथक् त्रीणि सन्निपातेनैकं, शल्यज पुरीषज शुक्रजाश्मरीजानीत्येकैकानि ॥

इस प्रकार आठ प्रकार के होते हैं—

(१) वातज मूत्रकृच्छ्र, (२) पित्तज मूत्रकृच्छ्र, (३) कफज मूत्रकृच्छ्र, (४) सन्निपातज या त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र, (५) शल्यज मूत्रकृच्छ्र, (६) पुरीषज मूत्रकृच्छ्र, (७) अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र, (८) शुक्रज मूत्रकृच्छ्र

अब इनकी पृथक-पृथक चिकित्सा व लक्षण लिखते हैं—

१. वातज मूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणमाह—

तीव्रार्तिरण्वङ्क्षणबस्तमेढ्रे,
स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात् ॥

अर्थात् पेड़ू, मूत्राशय और लिंग में तीव्र पीड़ा, बार बार व थोड़ा थोड़ा मूत्र उतरना, ये वात जनित कृच्छ्र के लक्षण हैं।

चिकित्सा वातज मूत्रकृच्छ्र में अभ्यङ्ग (मालिश), स्नेहपान, निरूह बस्ति, स्वेद, उत्तर बस्ति तथा सेकना एवं सरिवन प्रभृति वातशामक औषधों द्वारा सिद्ध किये गये मांस का सेवन करना चाहिए। यह सामान्य चिकित्सा है। विशेष योग निम्नानुसार है—

अमृता नागरं धात्री-वाजिगन्धात्रिकण्टकान्।
प्रतिवेद्यान्नगोगार्नः सशूलो मूत्रकृच्छ्रवान् ॥

अर्थात् गुर्च, सोंठ, आंवला, असगन्ध और गोखरू, इन्हें २-२ तोला लेकर इनका क्वाथ कर पीने से वेदना-युक्त वातज मूत्रकृच्छ्र भी दूर हो जाता है।

२. पित्तज मूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणं—

पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं
कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥

अर्थात् पित्तज मूत्रकृच्छ्र में मूत्र का रङ्ग लाल व पीला हो जाता है तथा दाह व कष्ट के साथ बार बार मूत्र उतरता है।

चिकित्सा—

सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा
ग्रैष्मो विधिर्बस्तिपयोविकाराः।
द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च
कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ॥

अर्थात् पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्र में शीतल जल या अन्य शीतल द्रव्यों से परिषेक करना चाहिये तथा शीतल जल में बैठना, शीतल प्रलेप करना और ग्रीष्मऋतुचर्यानुसार आहार विहार करना चाहिए। बस्ति देना तथा दूध के पदार्थ खाना, मुनक्का खाना, विदारीकन्द, गन्ने का रस पीना तथा घृत का सेवन करना चाहिए।

अन्य योगाः यथा गुड़ामलक प्रयोग—गुड़ के साथ समभाग आंवले का चूर्ण खाने से वीर्य बढ़ता है और

रुकावट दूर होती है और इससे रक्तपित्त, दाह, शूल तथा मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाता है।

एर्वारु बीजादि प्रयोग—ककड़ी के बीज, मुलेठी व दारुहल्दी, इनको चूर्ण कर चावल के धोवन के साथ पीने से मूत्रकृच्छ्र दूर होता है।

३. कफज मूत्रकृच्छ्र लक्षण—

वस्तेः सलिंगस्य गुरुत्व शोथौ,
मूत्रं स पिच्छं कफमूत्र कृच्छ्रे ॥

अर्थात् कफज मूत्र कृच्छ्र में लिङ्ग व मूत्राशय में भारीपन तथा शोथ हो जाता है और मूत्र चिकना व सफेद हो जाता है।

चिकित्सा—

क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानंस्वेदोयवान्नं वमनं निरुहाः तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैला–भ्यङ्गपानं कफमूत्र कृच्छ्रे ॥

कफज मूत्र कृच्छ्र में क्षार, गरम, तीक्ष्ण और कटु अन्नपान, स्वेद कराना, यव का पथ्य देना, वमन, निरूह वस्ति तथा तिक्त औषधों के साथ सिद्ध किये गये तैल की मालिश तथा पान कराना चाहिए।

मूत्रेणसुरया वाऽपि कदली स्वरसेन वा।
कफ मूत्र कृच्छ्र विनाशायश्लक्ष्णं पिष्ठा त्रुटिं पिबेत् ॥

कफज मूत्रकृच्छ्र दूर करने के लिए छोटी इलायची को गोमूत्र, शराब या कदली स्वरस के साथ पीसकर पीना चाहिए।

"श्वदंष्ट्रा विश्वतोयं वा कफ कृच्छ्र विनाशनम् ॥"

गोखरू और सोंठ का क्वाथपीने से कफज मूत्र कृच्छ्र दूर हो जाता है।

तण्डुलधावनेन प्रवाल चूर्णं पिबेत् कफ मूत्रकृच्छ्रे।

प्रवाल भस्म को चावल के धोवन के साथ पीने से कफमूत्रकृच्छ्र दूर होता है।

४. त्रिदोषज या सन्निपातज कृच्छ्रस्य लक्षणं—

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाता
द्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम्।

उपरोक्त कहे हुए वातज, पित्तज व कफज तीनों मूत्रकृच्छ्रों के लक्षण जब एक साथ मिलते हैं तो यह सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र होता है। इसमें तीनों दोषों के लक्षण होते हैं अतः इसे त्रिदोषज भी कहते हैं। यह कष्ट साध्य होता है।

चिकित्सा—त्रिदोषजन्य मूत्रकृच्छ्र में प्रथम वायु को अपने स्थान पर लाकर प्रकृतिस्थ करना चाहिए। तदनन्तर यह परीक्षा करे कि तीनों (वात, पित्त और कफ) में से किसकी बाहुल्यता है। यदि कफाधिक्य हो तो वमन, पित्ताधिक्य में विरेचन और वाताधिक्य में स्नेहन वस्ति देना चाहिए। इस प्रकार पूर्ण रूप से निदान करके ही चिकित्सा करनी चाहिए, अन्यथा यह कष्टसाध्य मूत्रकृच्छ्र असाध्य हो जाता है।

विशेष चिकित्सा—

बृहती धावनी पाठा-यष्टीमधुकलिङ्गकाः।
पाचनीयो बृहत्यादिः कृच्छ्रदोषत्रयापहः ॥

अर्थात् छोटी तथा बड़ी कटेरी, पाढा (पाठा), मुलेठी और इन्द्रयव, इस बृहत्यादि पाचनीय गण के सेवन से त्रिदोषजन्य मूत्रकृच्छ्र दूर हो जाता है।

५. शल्यज मूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणं—

मूत्र वाहिनी नाड़ियों में सलाई चलाने से घाव होने पर या और किसी प्रकार लगने पर मूत्रकृच्छ्र हो जाता है। यह शल्यज मूत्रकृच्छ्र बड़ा कष्टदायक होता है। इसके उपरोक्त वातज मूत्रकृच्छ्र के समान लक्षण होते हैं। इसेअभिघातज भी कहते हैं। इसमें सद्योव्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये तथा वातशामक उपचार करना चाहिए।

मधुर, खट्टे तथा नमकीन और स्निग्ध, आहार तथा मालिश और स्नेहयुक्त वस्ति देनी चाहिए और वातशामक गण का सेवन करना चाहिए। तथा—असगन्ध, खरैटी, कन्घी, गगेरन, दशमूल, सोंठ, नख, नखी और रासना ये वातनाशक गण हैं।

असगन्ध के क्वाथ तथा कल्क के साथ चतुर्गुण दूध में सिद्ध किया गया घृत वात को नष्ट करने वाला, वीर्य तथा मांस को बढ़ाता है।

६. पुरीषज मूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणं—

मल का वेग रोकने से वायु कुपित हो जाता है तथा पेट फूलता है और पेट में वातशूल होता है। मूत्र में रुकावट हो जाती है। ये लक्षण 'पुरीषज मूत्रकृच्छ्र' के हैं।

चिकित्सा—मलजन्य मूत्रकृच्छ्र में स्वेदन और चूर्ण क्रिया अर्थात् फलवर्ति या विरेचन चूर्ण का प्रयोग करना

—शेषांश पृष्ठ १०० पर

मेरी सफल चिकित्सा-विधि

मूत्रकृच्छ्रता

वैद्य रामदत्त शास्त्री आयुर्वेदाचार्य एम०ए०, राज० औषधालय, शोभासर (चूरू) राज०

मैं यहाँ अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्रता से पीड़ित उपचार किये गये ४ रोगियों का विवरण देना चाहूंगा। इन सभी प्रयोगों के साथ दिन में ३ बार दो-दो सिस्टोन गोलियां (हिमालय) पानी के साथ सेवन करवाई तथा भोजनोत्तर चंदनासव दोनों समय ३० मिली. समान जल के साथ दिया गया—
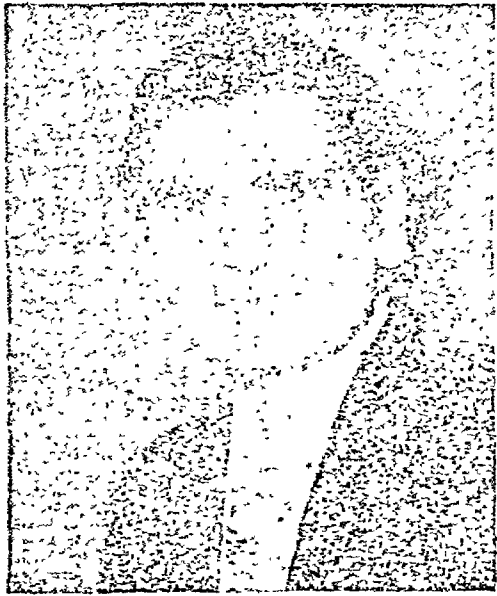
(१) रोगी नाम- चेतराम जाट ग्राम मुरड़ाकिया वय- ५५ वर्ष-कृषक- कई महिनों से दुर्धर्ष मूत्रकृच्छ्रता से पीड़ित था बारम्बार यह शिकायत होती रहती थी उपचारवश कभी कम कभी ज्यादा। यह मेरे पास रात ११ बजे पहुँचा बड़ी भारी वेदना से पीड़ित था अवरुद्धता तथा कृच्छ्रता को देखते हुए कैथीटर का प्रयोग किया गया मूत्र उतरा शांति मिली। मूत्रावतरण के पश्चात् मैंने प्रयोग नं. १ प्रातः सायं तथा सिस्टोन, चन्दनासव का योग दिया। यह प्रयोग २५ दिन तक चला। कोई अधिक शिकायत न हुई। किन्तु १ दिन सायं वैसी ही असह्य वेदना से युक्त होकर आया, पेशाब बन्द था। कैथीटर का पुनः प्रयोग किया गया—वेदना, कृच्छ्रता और प्रोस्टेट वृद्धि को देखते हुए भी अश्मरी निर्हरण हेतु शल्य चिकित्सा के लिए सुजानगढ़ अस्पताल जाने की सलाह दी गई। सायं रोगी अस्पताल पहुंचा। प्रातः आपरेशन के लिये कहा गया। रात्रि में दी गई चन्दनासवादि लेकर विश्राम करने लगा कि १२ बजे लघुशंका हुई और एक प्रबल वेग के साथ कुछ ठोस वस्तु सी मूत्र मार्ग से बाहर आई प्रतीत हुई। टार्च के प्रकाश से देखा गया तो वहां एक मेंगनी के आकार की कोई चीज है। उसे ले प्रातः डाक्टर सहाब को दिखाई तो कहा कि अब आपके आपरेशन की जरूरत नहीं है।

(२) रोगी—तेजाराम मेघवाल वय ५ वर्ष, ग्राम—शोभासर—श्वास कास से भी पीड़ित यह रोगी भी कई दिनों से मूत्रकृच्छ्रता से ग्रस्त था। इसका नसबन्दी आपरेशन भी ५ वर्ष पहले हो चुका था, रातदिन शिकायत करता रहता कि पेडू भारी रहता है दर्द बना रहता है, पेशाब कष्ट से होता है—इसे प्रयोग नं. २ तद्वत् व्यवस्था पूर्वक ३० दिन दिया गया, एक दिन असह्य वेदना से ग्रसित हो जाने पर यह भी अस्पताल गया डाक्टर ने एक्सरे के लिए कहा एक्सरे लेने पश्चात् पाया गया कि चावल जैसी अश्मरी अवस्थित है। आपरेशन के लिए कहा गया तो शल्य क्रिया भी तेजाराम ने नहीं करवाया। औषध वही पूर्ववत् चालू रखी। एक सप्ताह पश्चात् उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि वही चावल बराबर अश्मरी उसके मूत्र मार्ग से सवेग बाहर आई।

(३) रुग्णा जानकी देवी जाट ग्राम—सासामी—वय ४० वर्ष। कई दिनों से कृच्छता से पीड़ित—उसे प्रयोग नं. ३ दिया गया क्योंकि यहां मतीरे श्रावण से लेकर आश्विन कार्तिक तक बहुतायत से होते हैं। इसे भी सिस्टोन और चन्दनासव दिया गया। इसके महिने में करीब ४ बार मुद्ग (मूंग) के समान अश्मरियां मूत्र मार्ग से बाहर आई और व्याधि से छुटकारा मिला।

(४) रोगी किशोर सिंह वय १६ वर्ष ग्राम शोभासर प्रयोग नं. ४ के साथ औषधि व्यवस्था पूर्ववत् रखी गई। २० दिन में ही आशातीत सफलता मिली। अश्मरी

चने बराबर मूत्रमार्ग के शिश्नाग्र भाग में आकर फंस गई। रोगी बड़ी वेदना महसूस करने लगा। अश्मरी ग्राह्य थी अतः संदंश के द्वारा इसका निर्हरण कर दिया।

अश्मरी बड़ी हो जाने पर शल्य क्रिया द्वारा ही इसका अन्तिम उपचार है। यह वृक्क गवीनी मूत्राशय कहीं भी हो सकती है और मूत्रकृच्छता उत्पन्न कर देती है।

इसके लिए सर्व सुलभ सफल ५ प्रयोग जो कि पूर्ण परीक्षित हैं निम्नांकित हैं—

१ यवक्षार ६ ग्राम, पिसी मिश्री ६ ग्राम मिलाकर प्रातः सायम्—अनुपान ठंडा जल।

२—५ ग्राम कलमी शोरा या (श्वेतपर्पटी) ५ ग्राम बड़ी इलायची के दाने पिसे हुए शीतल जल के साथ।

३—मतीरा (तरबूज) के अन्दर की गिरी का जल ३०० ग्राम, जीरा २ ग्राम, मिश्री ६ ग्राम मिला पिलावें।

४—खरैंटी की जड़ २० ग्राम, २०० ग्राम पानी में औटाकर छान कर अवशेष में ५० ग्राम प्रातः सायं पीवें।

५—बबूल की नरम पत्तियां, गोखरू १०-१० ग्राम पीस कर २० ग्राम मिश्री मिला १०० ग्राम पानीमें पीवें।

कई शास्त्रीय योग भी हैं जिनमें निम्नांकित २ योग सर्व विदित आशुफलप्रद है—

(१) मूत्रकृच्छान्तक रस—इसमें केवल शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक और यवक्षार मात्र तीन औषधियां हैं। इनको बराबर की मात्रा में लेकर पहले पारद गन्धक की कज्जली बना लेनी चाहिए। फिर यवक्षार मिला खरल करके रख लेना चाहिए। इसकी मात्रा - से ३ मिली ग्राम तक है। अनुपान शीतल जल या तक्र।

(२) कुशावलेह - कुश, कास, खस, ईख, सरकण्डे की जड़ प्रत्येक १००-१०० ग्राम लेकर कूट लेनी चाहिए फिर इन्हें १० किलो पानी मे डालकर औंटावें २ किलो शेष रहने पर छान लिया जावे, तदनन्तर इसमें ५०० ग्राम चीनी मिला अवलेह योग्य चासनी बना लें। इसमे मुलेठी, ककड़ी के बीज, कुम्हेडा के बीज, खीरे के बीज, वंशलोचन, आमले, तेजपात, इलायची, नागकेशर, वरुणछाल, गिलोय, प्रियंगुफूल सभी ६-६ ग्राम लेकर पीसछान, यह प्रत्येक द्रव्य मिला देवें। यह कुशावलेह उत्तम मूत्रल है—इसकी मात्रा १५ से २० ग्राम तक है। अनुपान ठंडा जल।

इसके सेवन करने से सभी तरह के मूत्रकृच्छ, अश्मरी, मूत्राघात और प्रमेह भी नष्ट हो जाते हैं।

शेषांश पृष्ठ ८६ का

इंजेक्शन तुरन्त ही देना चाहिये।

(२४) होमियोपैथी की लाइकोपोडियम नाम की दवा पथरी को गलाकर निकाल देती है। वृक्कशूल को नष्ट कर पेशाब साफ लाती है। कैन्थरिस भी महान उपयोगी दवा है। पेशाब की जलन शान्त कर मूत्र साफ लाती है। पथरी को भी गलाकर निकाल देती है।

(२५) श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० झांसी का मूत्रल पाउडर रुके हुए मूत्र को खोलता है। हैजा मूत्रकृच्छ, मूत्राघात आदि बीमारियो में रुके हुए मूत्र को खोल कर आराम पहुंचाता है।

(२६) डाबर (डा. एस. के. वर्म्मन) प्रा. लि. का "यूराल्का" रक्त में क्षार का परिमाण ठीक रखकर मूत्र की बढ़ी हुई एसिड को कम कर एवं मूत्र की मात्रा को बढ़ाकर मूत्राशय सम्बन्धी दोष, शोथ, जलोदर तथा अन्य मूत्र सम्बन्धी दोषों को ठीक करता है। जी मिचलाना, वमन में लाभप्रद है।

फतेहगढ़ सिखलाई सेन्टर के श्री गुरदयाल सिंह को दर्द गुर्दा (वृक्कशूल) शुरू होगया जिससे परेशान रहने लगे। दवा भी काफी की मगर लाभ नहीं हुआ। हमारे पास १०-७-८१ को आये। हमने उनको ऊपर लिखे हुए योग नं० १ व २१ का प्रयोग कराया जिससे वे १०-१२ दिनों मे बिल्कुल ठीक हो गये और अभी तक ठीक हैं। तबसे उनको दर्द का दौरा नहीं पड़ा। योग नं० १ की दवाओं में पाषाण भेद व बरने की छाल और मिलवाई थी।

पथ्य—पुराना लाल शाली चावल, मूंग, खांड़ गाय का दूध, तक्र, दही, पेठा, परवल, ककड़ी के बीज, खजूर, नारियल, चौलाई, आमला, घी, साबूदाना हितकारी हैं।

अपथ्य—मद्य, श्रम मैथुन, हाथी, ऊँट, घोड़ा, साइकिल की सवारी, विरुद्ध भोजन, विषम भोजन, पान, मछली, मांस, नमक, अदरख, तेल, तिलकुट, हींग, तिल, सरसों, उड़द, करारे, अति तीक्ष्ण द्रव्य, लालमिर्च, विदाही पदार्थ, रूक्ष, अम्ल द्रव्य, गरम मसाला, चाय, आम की खटाई, अचार आदि अपथ्य हैं। इन्हें सेवन न करे।

—वैद्य दरबारीलाल आयुर्वेद भिषक्,
अशोक भैषज्य भवन, फतेहगढ़
जिला फर्रुखाबाद (उ० प्र०)

डा० विजयकुमार वार्ष्णेय, कटरा बाजार, सहावर टाउन [एटा] उ०प्र०

सम्प्राप्ति—मूत्र मार्ग में संकोच, क्षोभ या दाह उत्पन्न होकर मूत्र त्याग करते समय रोगी को कष्ट हो तो उसे मूत्राघात कहते हैं।

कारण—

(१) अधिक व्यायाम करना।
(२) तीक्ष्ण व उष्ण अन्नपान अधिक करना।
( ) शीघ्र गमन व सवारी का अधिक प्रयोग।
(४) आनूपज व पशु पक्षी मांस का अधिक सेवन
(५) अध्यशन आदि।

अपने-अपने कारणों से प्रकुपित वातादि दोष पृथक-पृथक या एक साथ जल वस्ति में पहुंच कर मूत्र मार्ग से संकोच दबाव या क्षोभ आदि उत्पन्न करते हैं तब मूत्र त्याग करते समय रोगी को कष्ट होता है। इसी को मूत्राघात कहते हैं।

मल मूत्रादि के वेगों को रोकने से रूक्षादि पदार्थों के सेवन आदि से कुपित हुए दोष (विशेषतया वात) वात कुण्डलिका आदि १३ प्रकार के मूत्राघात को उत्पन्न करता है—

(१) वातकुण्डलिका—कुपित हुआ वस्ति में रहने वाला वायु मूत्र में प्रविष्ट होकर कुण्डलाकार संचार करता है। वस्ति में पीड़ा मूत्र त्याग थोड़ी-थोड़ी मात्रा में पीड़ा के साथ वात की विकृति के कारण वस्ति मुख संकोचनी पेशी संकुचित हो जाती है मूत्र-त्याग नहीं हो पाता और संकोच कम होने पर-मूत्र त्याग होने लगता है। इस अवस्था को आजकल (Spasmodic stricture) कहा जाता है।

(२) वातवस्ति (Retension of Urine)—वेग को रोकने से वस्ति स्थित प्रकुपित वायु वस्ति के मुख में अवरोध उत्पन्न कर देता है। इससे मूत्र त्याग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है तथा वस्ति और कुक्षि प्रदेश में तीव्र पीड़ा होती है और इस कुक्षि साध्य व्याधि को वात वस्ति कहते हैं। इस अवस्था में पूर्णतया मूत्र का अवरोध कुछ काल के लिए हो जाता है तब इसे पूर्ण मूत्रावरोध कहते हैं।

(३) मूत्र जठर—मूत्र त्याग न करने से वस्ति में स्थित वायु प्रकुपित होकर पेट को फुला देती है और नाभि के निम्न प्रदेश में तीव्र आध्मान को उत्पन्न कर देता है। इस वस्ति में मूत्र भरा रहता है तथा वस्ति अधिक विस्तृत हो जाती है और पेड़ू में अधिक उभरी हुई प्रतीत होती है। अतः इसमें पेट फूल जाता है, मूत्र त्याग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है। इसे चिन्ह की दृष्टि से Distended bladder तथा लक्षण की दृष्टि से Complete Retention of Urine कह सकते हैं।

(४) मूत्रक्षय (Anurea or Suppression of urine)—रूक्ष प्रकृति तथा थके हुए वस्ति में स्थित पित्त तथा वायु प्रकुपित होकर मूत्रक्षय एवं दाह उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था में जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, मूत्र का आना कम हो जाता है, वस्ति रिक्त रहती है, मूत्र त्याग की इच्छा रहती है। वस्ति में मूत्र रहने पर भी मूत्र नहीं निकलता और रिक्त वस्ति में दाह तथा पीड़ा होती है। ये तीव्र वृक्क शोथ तथा आन्त्रिकघात में विशेष रूप से देखने को मिलता है।

(५) मूत्र ग्रन्थि (Enlargement of Prostrate or Tumour of the bladder)—वस्ति मुख के अन्दर अश्मरी के समान गोल स्थिर तथा छोटी ग्रन्थि को मूत्र ग्रन्थि कहते हैं। सापेक्ष निदान का निश्चय बकरी के दूध की गन्ध से होती है।

(६) उष्णवात—व्यायाम, अत्यधिक पद यात्रा तथा धूप में वायु के द्वारा गुदा में दाह उत्पन्न करता है और मूत्र मार्ग द्वारा हरिद्रा वर्ण रक्त मिश्रित मूत्र या केवल रक्त का ही स्राव करता है और बहुत कठिनता से बार-बार मूत्र त्याग होता है। यह अवस्था सामान्य मूत्राशय कला शोथ (Cystitis) या मूत्रप्रसेक शोथ (Urethritis) के कारण उत्पन्न होती है या शोथ पूयमेह (Gonorrhoea) या अन्य दूसरे संक्रमणों के द्वारा भी हो सकता है। प्राचीन वैद्य पूयमेह का उष्णवात से ही ग्रहण करतेहैं।

(७) मूत्रसाद—पित्त की विशेषता होने पर मूत्र त्याग में विशेष रूप से दाह मूत्र का वर्ण पीला-लाल अथवा गोरोचन के समान होता है तथा कफ की अधिकता में शंख के चूर्ण के समान त्रिदोषज में मिश्रित वर्ण मिलता है। जल की कमी रहने से मूत्र गाढ़ा रहता है। इसलिए मूत्र त्याग में कष्ट रहता है। इसे अल्प मूत्रता (Scanty urination) कह सकते हैं।

(८) वस्ति कुण्डल (Atonic condition of the bladder)—आघात आदि से वस्ति अपने स्थान से उठकर गर्भ के समान प्रतीत होता है। इस अवस्था में वस्ति से शून्य स्पन्दन तथा दाह, मूत्र बूंद-बूंद तथा वस्ति पर दबाव डालने पर धारा रूप में निकलता है। शरीर जकड़ जाता है तथा ऐंठन समान पीड़ा होती है। ये व्याधि शस्त्र अथवा विष से बुझे हुए शस्त्र के समान पीड़ादायक है। इसमें वायु की प्रबलता होती है।

(९) अष्ठीला वर्णन—कुपित वायु वस्ति तथा गुदा में आध्मान उत्पन्न करते हुए अष्ठीला के समान चल एवं उभरी ग्रन्थि को पैदा कर देता है जिसे अष्ठीला कहते हैं। मल-मूत्र त्याग में अवरोध तथा पीड़ा होती है। ये अवस्था आजकल Tumour of the bladder or enlaged Prostate में मिलती है।

(१०) मूत्रातीत (Incontinuence of urine)—अधिक समय तक मूत्र रोकने से मूत्र त्याग करने पर मूत्र जल्दी नहीं उतरता और यदि उतरता भी है तो बहुत धीरे-धीरे। इसी को मूत्रातीत कहते हैं।

(११) मूत्रोत्सङ्ग (Stricture of urethra)—मूत्र त्याग करते हुये मनुष्य का मूत्र वस्ति, शिश्ननाल या शिश्नमणि में रुक जाता है या रक्तयुक्त मूत्राघात या धीरे-धीरे कभी-कभी अल्प मात्रा में पीड़ा या बिना वेदना के भी निकलता है। इस दुष्ट वायुजन्य अवस्था को मूत्रोत्सङ्ग कहते हैं।

(१२) मूत्र विड् विघात (Recto-vesical fistula)—जब वायु विलोम होकर मूत्रमार्ग में पहुंच जाता है तो मल से युक्त या मल की गन्ध वाले मूत्र को पीड़ा के साथ त्याग करता है। इस अवस्था को विड् विघात कहते हैं। भगंदर होने पर मल का कुछ भाग मूत्राशय में जा सकता है। ऐसी स्थिति में मूत्र में मल के टुकड़े तथा गन्ध मिलती है या पुरीष गन्धवत् मूत्र त्याग होता है। ये अवस्था Recto vesical fistula में देखने को मिलती है।

(१३) मूत्र शुक्र—मूत्र का वेग रहते हुए मैथुन करते हुए पुरुष का वायु प्रकुपित हो जाता है। इसके द्वारा प्रवृद्ध अपने स्थान से हटा शुक्र मूत्र त्याग के पूर्व या पश्चात निकलता है, ये चूने के पानी के समान होता है, इसे मूत्र शुक्र कहते हैं। मूत्र त्याग में कृच्छता नहीं होती, शुक्र ग्रन्थित होने पर कृच्छता पैदा होता है।

विभेदक लक्षण—इस रोग में पूर्णतया अवरोध हो जाता है (Retention of urine)। मूत्र का त्याग बूंद-बूंद करके बिना पीड़ा के हो जाता है। वस्ति मूत्र से भर जाती है परन्तु रिक्त नहीं होती है। जबकि मूत्रकृच्छ में मूत्र का अवरोध नहीं होता है परन्तु पीड़ा, वेदना और दाह (जलन) के साथ मूत्र का त्याग होता है। मूत्राघात में वेदना मूत्र के अवरोध या रुकने के कारण होती है। कभी-कभी मूत्रावसाद की भी एक अवस्था पाई जाती है। आधुनिक विज्ञान इस रोग को मूत्रप्रवृत्ति का अवरोध (Obstructed Micturition) मानती है।

मूत्राघात व मूत्रकृच्छ दोनों ही रोग में मूत्र करते समय कष्ट होता है। अतः दोनों में भेद जानना अत्यन्त आवश्यक है—

भेद

मूत्रकृच्छ	मूत्राघात
इसमें मूत्र का अवरोध कम समय तक रहता है।	इसमें मूत्र का अवरोध अधिक समय तक रहता है।
इसमें मूत्र त्यागते समय अधिक पीड़ा होती है।	इसमें मूत्र त्यागते समय साधारण पीड़ा होती है।
इसके मूत्र में रुकावट नहीं आती है।	इसमें मूत्र बूंद-बूंद करके आता है।

साध्यासाध्यता—

वस्ति का मुख श्लेष्मा से अवरुद्ध हो गया हो तथा जिसमें पित्त की अधिकता हो तो वह असाध्य, जिसमें वस्ति मुख कफ अवरुद्धन हो और जिसमें ऐंठन युक्त पीड़ा न होती है वह साध्य होता है किन्तु कुण्डलीकृत असाध्य होता है तथा वस्ति के कुण्डलीभूत होने पर प्यास मूर्च्छा तथा श्वास ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—

चिकित्सा सूत्र—

दोषानुसार चिकित्सा करें–मूत्राघात चिकित्सा करें। उत्तर वस्ति व वस्ति कर्म, स्निग्ध विरेचन, विषम भेदों की चिकित्सा कारणानुसार करें।

(१) गोक्षुरादि क्वाथ—गोखरू के पत्ते, फल और जड़ को समप्रमाण में मिश्रित कर २ तोला लेकर, ३२ तोला पानी में क्वथित करें, १/४ भाग शेष रहने पर छानकर १ तोला शहद तथा २ तोला शर्करा मिलाकर देते हैं।

(२) दशमूल क्वाथ—बेल की छाल, खम्भारी, पाढल, सोनापाठा, अरनी, गोखरू, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, पिठवन, सरिवन, रास्ना, पीपर, पीपरामूल, कूठ, सोंठ, चिरायता, नागरमोथा, खरैटी, गुरुच, सुगधवाला, दाख, जवासा और सोया, इन सबों का क्वाथ बनाकर शुद्ध-शिलाजतु २ रत्ती तथा १ तोला शर्करा मिश्रित कर पीने को दें।

(३) कूष्माण्ड स्वरस—कोहड़े के फल को पीसकर उसका ४ तोला स्वरस निकाल कर उसमें ४ रत्ती यव-क्षार तथा १ तोला पुराना गुड़ मिलाकर पीने को दें।

(४) विम्बीमूल लेप—बिम्बी (डिण्डोरी–कुन्दरी) लता की जड़ को काञ्जी के साथ पीसकर नाभि प्रदेश से वस्ति पर्यन्त भाग पर लेप करायें, लाभ होता है।

(५) मुष्टि योग—अशोक के बीज के चूर्ण को २ माशे लेकर शीतल जल के साथ पीने से लाभ होता है।

(६) रस सिन्दूर—रस सिन्दूर आधी रत्ती से १ रत्ती लेकर कांजी २ तोला, सैंधव लवण ४ रत्ती के साथ मिश्रित कर प्रयोग करें, लाभ होता है।

(७) वीरतर्वादिगण—वीरतर (शर की जड़) नील तथा पीत पुष्प वाला, पियावासा, दर्भ, बांदा, नरसल, गुर्च, काश, कुश, पाषाणभेद, ईख की जड़, सोनापाठा, कटसरैया, सूर्यावर्त का भेद, अगस्त्य की छाल, अरणी, नीलोफर, गोखरू क्वाथ विधिसे इनके प्रयोग से विशेष लाभ होता है।

(८) उशीरादि चूर्ण—खस, तगर, सोंठ, शीतल—चीनी, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, लौंग, पिपरामूल, पिप्पली, छोटी इलायची, नागकेशर, मोंथा, मुलेठी, कपूर, बंशलोचन, तेजपात ये प्रत्येक २-२ तोला और १६ तोला काली अगर लेकर चूर्ण कर लें। ३ से ६ माशे शीतल जल से अनुपान करने से लाभ होता है।

(९) शुद्ध शिलाजीत १ माशा, दशमूल क्वाथ ८ तोला चीनी २ तोला मिलाकर पानी से प्रयोग करने से लाभ होता है।

(१०) शुद्ध शिलाजीत १ माशा को चीनी २ तोला की चाशनी में पकाकर सेवन से लाभ होता है।

(११) शुद्ध शिलाजीत १ माशा को वीरतर्वादि क्वाथ ८ तोला और मधु २ तोला को मिलाकर प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है।

पथ्य - पुराने लाल चावल, दुग्ध, दही, परवल, खजूर, ककड़ी, नारियल का कच्चा फल, पेठा, अद्रक आदि।

अपथ्य—देशकाल तथा सात्म्य विरुद्ध भोजन, व्यायाम, अधिक पदयात्रा, शीत में सोना, रूक्ष, विदाही, पदार्थों का सेवन, मैथुन, संधारणीय वेगों का धारण करना वर्जित है।

मूत्रकृच्छ्र पर मेरा अनुभव

आयुर्वेदाचार्य विरिञ्चिलाल शास्त्री, भिषग्रत्न, आयुर्वेद वाचस्पति (एम.एस.सी.ए.), आयु बृह० (डी.एस.सी.ए.)
श्री माहेश्वरी आयुर्वेदीय दातव्य औषधालय, इस्लामपुर (झुन्झुनू) राजस्थान ।
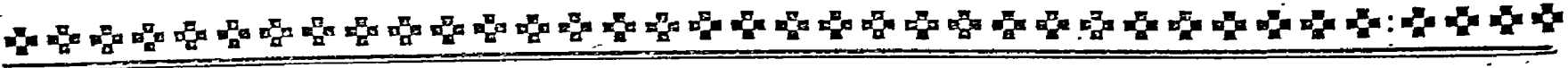
इस रोग की उत्पत्ति भी बाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुषों की हर आयु में हो सकती है। मूत्र रुक-रुक कर आना, न्यून होना, गरम-गरम जलता हुआ होना, दाह के साथ पीड़ा होना, बूंद-बूंद पेशाब का उतरना, दाह और जलन के साथ, उसे मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। वैसे इसका निदान इस प्रकार है—

व्यायाम तीक्ष्णौषध रूक्षमद्य
प्रसंग नृत्यद्रुत पृष्ठयानात् ।
आनूपमत्स्याध्यशनाद जीर्णात्
मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ ॥

अर्थात् अधिक व्यायाम से, अधिक तीक्ष्ण औषधि के सेवन से, रूखे अन्न पान से, मद्य से, अधिक मैथुन से, अधिक तेज चलने से, घोड़ा आदि की सवारी, ज्यादा सवारी करने से; नृत्य से, आनूप जीवों के मांस भक्षणों से, अध्यशन अजीर्ण पर भोजन करने से मूत्रकृच्छ्र होता है। यह आठ प्रकार का है। इसके लक्षण भेद से विशेष विशद लेख होगा। अतः मैं इसकी अनुभूत चिकित्सा ही लिखकर समाप्त कर देता हूं। चिकित्सा स्वानुभूत लिख रहा हूं—

स्वप्नमेहजन्य मूत्रकृच्छ्र में कबाबचीनी (शीतल मिरच) १ तोला की, ८ खुराक कर पीसकर ३-३ घण्टे से शहद में चटावेंगे तो विशेष व शीघ्र फायदा होगा।

अन्य मूत्रकृच्छ्र नाशक योग—

(१) यवक्षार पपड़ी १ तोला, निम्बू रस १ छटांक तथा शहद आधी छटांक मिश्रण कर २-२ घण्टे से १-१ तोला लेते रहने से शूल सहित मूत्रकृच्छ्र दूर होता है।

(२) छोटी ऐला चूर्ण यवक्षार देशी मिलाकर १-१ माशा रोजाना ४-४ बार दिन में देने से ठीक रहता है।

(३) त्रिदोषज हो चाहे वातदोषज व अन्य पित्त कफ दोषज और अभिघातजन्य दोष, मूत्रकृच्छ्रता में गोक्षुर का पंचांग दूध में उबाल कर दोनों समय ठंडा कर पीने मात्र से ही दूर होता है।

(४) गोक्षुरादि चूर्ण मिश्री मिला मधु से चाटकर ऊपर से जल पीने मात्र से मूत्रकृच्छ्र ठीक होता है।

(५) चन्दन सफेद व मिश्री घोटकर पीने मात्र से दाहयुक्त मूत्रकृच्छ्र ठीक होता है।

(६) वैसे पंचतृण—कुशकासोशरोदर्भीइक्षुश्वेती जड़ मंगाकर मिश्री या चीनी मिलाकर पीने से भी फायदा होता है।

(७) श्वेत पर्पटी मूत्रावरोध एवं मूत्र कृच्छ्रता में विशेष उपयोगी है।

तरल पदार्थों दूध, मठ्ठा, फलों-रस इत्यादि पथ्य हैं। ●

※ मूत्राघात ※

(२) डेल्कामारा ६ × एकोनाइट ६ × शक्ति—यदि भीग जाने पर रोग हो तो।

(३) चिमाफिला ३०—रोग पुराना होने पर दें।

(४) बेलाडोना Q दें।

बायोकेमिक—केलि म्यूरियेटिकम ३ × दें।

ऐलोपैथिक औषधियां—

१. नस द्वारा ५% ग्लूकोज चढ़ावें। साथ में हिमा-

※ पृष्ठ १०१ का शेषांश ※

लय ड्रग की 'सिस्टोन' की २ टिकिया दिन में ३ बार दें।

२. वृक्क प्रदेश पर कपिंग ग्लास लगाने से भी मूत्र आ जाता है।

३. पायरीडियम (वार्नर हिन्दुस्थान) की १-१ टिकिया आवश्यकतानुसार देने से मूत्र आ जाता है।

—डा० शिवपूजन सिंह कुशवाह एम०ए०
१३/४०, हजारी बंगला, कानपुर

मूत्रावरोध एवं उपचार

आचार्य पं. शिवकुमार वैद्यशास्त्री, आयु. बृह.

मूत्रावरोध (Retension of urine) सामान्यतः श्वसनक ज्वर, आमवातिक ज्वर, मन्थर ज्वर। इन रोगों में शारीरिक उत्ताप की वृद्धि हो जाने पर मूत्रावरोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त ज्वरावस्था में शराब, क्विनाइन, सोमल (संखिया मिश्रित) औषधियों के अतियोग से वृक्क कार्य में शिथिलता होना वृक्क प्रदाह भूतकाल में सुजाक आदि रोग हो जाने पर पुनः मूत्रमार्ग में प्रदाह हो जाना, उदर कृमि का प्रकोप, आक्षेप, हिस्टेरिया, सगर्भावस्था, मल अथवा वायु के दबाव से मूत्रावरोध होना आदि कारणों द्वारा मूत्रावरोध हो जाता है। इस उपद्रव का उपचार करते समय मूल कारण को दूर करने का भी प्रयत्न करना चाहिए।

यदि मल या वायु का दबाव हो तो उसे दूर करना चाहिए। यदि उदर कृमि के कारण हो तो उन्हें कृमिघ्न औषधियों द्वारा दूर करना चाहिए। शराब, क्विनाइन, सोमरस आदि मिश्रित औषधों के अतियोग से हुआ हो तो उन्हें भी बन्द करा देना चाहिए। क्विनाइन का अतियोग होने पर निद्रानाशक रक्त दबाव वृद्धि, घबराहट, मूत्रावरोध और मूत्रदाह उत्पन्न हो जाते हैं।

वृक्क प्रदाह अधिक हो तो मूत्र विरेचन नहीं दे कर स्वेद द्वारा रक्त में से विष निकाल कर देना उचित होता है। मूत्राशय में भरा हुआ मूत्र रबर की नली के द्वारा निकाल देना समीचीन होता है। फिर आवश्यकतानुसार सौम्य, प्रदाहनाशक, मूत्र जनन औषधें दी जा सकती हैं।

मूत्रावरोधनाशक चिकित्सा विधि (सरल परीक्षित)—

खस की जड़, गोखरू, जवासा, अनन्त मूल, खीरे के बीजों की गिरी, ककड़ी के बीजों की गिरी, शीतल चीनी और बरने की छाल, इन सबको समान भाग मिलाकर उसमें से १ तोला लेकर चटनी की भांति पीसकर गरम किए हुए १० तोला जल में छान रोगी को पिला देवें। आवश्यकतानुसार १-१ घण्टे के अन्तर पर इसी प्रकार इसे २-३ बार दिया जाना चाहिए। इस प्रकार करने से मूत्रदाह एवं मूत्रावरोध का कष्ट दूर होकर पेशाब खुलकर आ जाता है और ज्वर भी कम हो जाता है। गोखरू २ तोला को कुचल कर एक पाव जल में क्वाथ बना चतुर्थांश शेष रहने पर ४ रत्ती शिलाजीत या यवक्षार क्वाथ में मिलाकर पिलाने से अथवा अनन्तमूल की चाय बनाकर पिलाने से उष्णता शमन होकर मूत्र साफ आ जाता है। शोरा और नौसादर ३-३ माशे २० तोले जल में डाल फिर इस जल में दोहरा शुद्ध स्वच्छ वस्त्र भिगोकर नाभि के नीचे वस्ति स्थान पर रखने के आध घण्टे के मध्य पेशाब खुलकर उतर आता है। इस प्रकार से ही चिकनी पोता मिट्टी अथवा पीली मिट्टी कूट पानी में आटे की भांति पतली लपसी सी बना, इसको वस्ति स्थान पर एक अंगुल मोटा लेप कर ऊपर से ऊनी कपड़ा लपेट देने

के आध घण्टे के मध्य पेशाव अच्छी प्रकार से खुलकर आ जाता है। इसके अतिरिक्त पानी की बरफ कूटकर वस्त्र में पोटली बना उसके वस्ति स्थान पर १५-२० मिनट तक फेरते रहने से भी पेशाब बहुत अच्छे प्रकार से आ जाता है। साथ ही पेशाब के समय मूत्रेन्द्रिय का दाह आदि कष्ट भी दूर हो जाते हैं। यदि सुजाक रोग का होना हेतु हो तो चन्दन का तैल २ बूंद बताशे मे भरकर देना उचित होता है अथवा सफेद चन्दन को चकले पर पानी मे घिसकर पिलाने से भी मूत्रेन्द्रिय प्रदाह शात होकर मूत्र खुलकर आ जाता है।

यदि आमवात रोग के हेतु से मूत्रावरोध हो तो प्रस्वेद अधिक आता है। उसके स्वेद मे एक प्रकार की दुर्गन्ध आती है। ऐसा होने पर यवक्षार, केले का क्षार, तृण पचमूल के क्वाथ मे मिलाकर देना आवश्यक होता है अथवा टेसू के फूलों के क्वाथ मे शोरा कलमी ३ माशे मिला गरम-गरम जल से वस्त्र डोबाडोबकर वस्ति स्थान को बार बार सेकने से भी शीत से जकडने के कारण रुका पेशाव आधा घण्टे के मध्य अवश्य उतर आता है। यदा-कदा मूत्रावरोध का उपद्रव अतीव कष्टकारी भयङ्कर तथा तत्काल प्राणहरण करने वाला देखा जाता है।

मूत्रावरोध होने पर तत्काल सावधानीपूर्वक उपयुक्त लिखित उपचारो मे से स्थिति अनुसार उपचार करना परमावश्यक है। आशा है चिकित्सक बन्धु मेरे सुपरीक्षित एवं स्वानुभूत प्रयोगो से अवश्य लाभ प्राप्त कर मूत्रावरोध वाले रोगियो के प्राण रक्षक बनेंगे।

शास्त्रों मे मूत्र का अवरोध होने से निम्नलिखित उपद्रवों का हो जाना बतलाया गया है –

नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्र वेदनम्।
तन्मूत्र जठरं विद्याद् गुद वस्ति निरोधनम्॥

—आयुर्वेद बृहस्पति आचार्य श्री शिवकुमार वैद्य शास्त्री
शिव चिकित्सालय, रावतपाडा, आगरा

※ पृष्ठ ९२ का शेषांश ※

चाहिए। अभ्यङ्ग तथा वस्ति देना चाहिए। एक अन्य योग इस प्रकार है, यथा—

क्वाथं गोक्षुर बीजस्य यवक्षार युतं पिबेत्।
मूत्रकृच्छ्रं शकृज्जञ्च पीत. शीघ्रं विनाशयेत्॥

अर्थात् गोक्षुर का क्वाथ, यवाक्षार मिलाकर पीने से शीघ्र आराम मिलता है।

७ अश्मरीज मूत्रकृच्छ्रस्य लक्षण—

अश्मरी हेतु सा पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत्॥

अर्थात् जिन्हें अश्मरी रोग हो और मूत्रकृच्छ्र हो जाय तब उसे अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। इस रोग के उत्पन्न होने पर वातज तथा कफज मूत्रकृच्छ्र के समान चिकित्सा करनी चाहिए। तथा एक अन्य योग यहां देते हैं—

तक्रेण युक्तं शितिमारकस्य
बीजं पिबेत् कृच्छ्र विनाश हेतो।

शितिवार के बीज का चूर्ण मट्ठे में मिलाकर पीने से यह दूर हो जाता है।

८. शुक्रज मूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणं—

वातादि दोषो के प्रकोप से जब वीर्य में विकार आ जाता है तथा वीर्य मूत्रमार्ग से निकलने लगता है तब मूत्र वीर्य के साथ कष्ट से निकलता है तथा मूत्राशय व मूत्रमार्ग मे पीड़ा होती है। इसे शुक्रज मूत्रकृच्छ्र की संज्ञा दी गई है। इसमे शिलाजीत को मधु के साथ चाटने से यह रोग दूर हो जाता है।

छोटी इलायची, भुनी हींग और घृत के साथ दूध पीने से मूत्र तथा शुक्र के दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

कषायोऽडित बलामूल—"साधितोऽशेष कृच्छ्रजित"

अर्थात् कन्धी (बला) की जड का काढ़ा पीने से सब प्रकार के मूत्रकृच्छ्र दूर हो जाते हैं।

सब आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र को दूर करने के निम्नलिखित योग दिये जाते हैं—

१—लोह भस्म (बलानुसार) ५ रत्ती से २ माशा तक शहद के साथ खूब मर्दन कर खाने से मूत्राघात तथा दारुण मूत्रकृच्छ्र भी दूर हो जाता है।

२—गोखरू, एरण्ड मूल, शतावर या कुश, काश, शर, उशीर और ईख की जड़ इन सबको समभाग मिलाकर पीने से दारुण मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात आदि दूर होते हैं।

३—गोखरू, अमलतास का गूदा, दर्भमूल, धमासा, हरड, इन सबको समभाग लेकर ४ तोले का क्वाथ करें तथा बलानुसार प्रातः पीने से अश्मरी और भयङ्कर मूत्रकृच्छ्र भी दूर हो जाता है। तीव्र वेग मे आवश्यकतानुसार २-२ घण्टे से क्वाथ पिलावें।

इस प्रकार हमने आठों प्रकार के मूत्रकृच्छ्र रोगो के लक्षण स्पष्ट कर इनकी प्रथक प्रथक चिकित्सा का वर्णन किया है। साथ ही सम्मिलित मूत्रकृच्छ्र और सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्रो की चिकित्सा का वर्णन किया है। ※

मूत्राघात

डा. शिवपूजन सिंह कुशवाहा एम.ए.

मूत्राघात, मूत्रनाश, मूत्र न बनना, आंग्ल भाषा में 'Anuria & uriné Supression' कहते हैं। इसमें रोगी को मूत्र उतरना बन्द हो जाता है।

आयुर्वेदिक औषधियां—

मूत्राघात रोग में दोषों का विचार करके उसकी उग्रता के अनुसार मूत्रकृच्छ्र हर योगों का प्रयोग करना चाहिए तथा वस्ति, उत्तरवस्ति व एरण्ड तैल विरेचन देना चाहिए।

१—कल्कमेर्वारुबीजानामक्षमात्रं ससैन्धवम्।
धान्याम्लयुक्तं पीत्वैव मूत्राघाताद्विमुच्यते॥
(भैषज्य रत्नावली, ३५ मूत्राघात चिकित्सा प्रकरणम्)

ककड़ी के बीजों को २ तोले भर लेकर पानी के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बना लेवें तथा इस कल्क को ४ तोले भर कांजी में मिश्रित करके ४ माशे भर सैंधव लवण चूर्ण डालकर पीने से मूत्राघात रोग से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

२- कोहड़े (सीताफल) के फल को पीसकर उसका ४ तोले भर स्वरस निकाल के छानकर उसमें ४ रत्ती यवक्षार (जवाखार) तथा १ तोले भर पुराना गुड़ मिलाकर पीने से मूत्राघात, मूत्र शर्करा व अश्मरी रोग नष्ट हो जाता है। (भै० र० श्लोक ३)

३—गोखरू के पत्ते, फल और जड़ को समप्रमाण में मिश्रित कर २ तोले भर लेकर ३२ तोले पानी में क्वथित करके चौथाई शेष रहने पर छानकर १ तोले भर शहद तथा २ तोले भर शर्करा (चीनी) मिलाकर पीने से मूत्राघात रोग नष्ट होता है। (भै० र०, श्लोक ·)

४—दिग्वी (कुन्दरी) लता की जड़ को कांजी के साथ पीसकर नाभि प्रदेश से वस्ति पर्यन्त भाग पर लेप कर देने से मूत्राघात नष्ट होता है। (भै. र., श्लोक ६)

५—मूत्र के रुक जाने पर शिश्न के छिद्र में २ रत्ती कर्पूर को महीन पीस कर प्रविष्ट करना चाहिए।

(भै० र०, श्लोक ७)

६—अशोक के बीजों के चूर्ण को २ माशे भर लेकर शीतल जल के साथ पीने से मूत्राघात नष्ट होता है।

(भै० र०, श्लोक ८)

७—शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती भर लेकर आधा तोले भर शहद तथा आधा तोले भर शर्करा के साथ मिश्रित कर सेवन करने से मूत्र जठर और मूत्रातीत रोग नष्ट होता है। (भै० र०, श्लो० १५)

तैलादि की मालिश, स्नेहपान, जुलाब, वस्तिकर्म, स्वेदन, जलक्रीड़ा, उत्तर वस्ति, पुराने लाल चावल, मट्ठा, दुग्ध, दही, उड़द की दाल का यूष, पुराने सीताफल का शाक, परवल का शाक हरड़, अदरक, ये सब मूत्राघात में हितकारी हैं।

व्यायाम, अधिक मार्ग चलना, शीत में सोना, बैठना, भ्रमण करना, रूक्ष भोजन, मैथुन, मूत्राघात में वर्जित हैं।

८—मूली के पत्तों के आधा सेर स्वरस में ३ माशे कलमी शोरा मिलाकर पिलाने से शीघ्र ही पेशाब होने लगता है। (चिकित्सा चन्द्रोदय, सातवां भाग)

होमियोपैथिक औषधियां—

(१) कैन्थेरिस ३× इसकी सर्वोत्तम औषधि है।

—शेषांश पृष्ठ ९८ पर देखें।

के आध घण्टे के मध्य पेशाब अच्छी प्रकार से खुलकर आ जाता है। इसके अतिरिक्त पानी की बरफ कूटकर वस्त्र में पोटली बना उसके वस्ति स्थान पर १५-२० मिनट तक फेरते रहने से भी पेशाब बहुत अच्छे प्रकार से आ जाता है। साथ ही पेशाब के समय मूत्रेन्द्रिय का दाह आदि कष्ट भी दूर हो जाते हैं। यदि सुजाक रोग का होना हेतु हो तो चन्दन का तैल २ बूंद बताशे में भरकर देना उचित होता है अथवा सफेद चन्दन को चकले पर पानी में घिसकर पिलाने से भी मूत्रेन्द्रिय प्रदाह शांत होकर मूत्र खुलकर आ जाता है।

यदि आमवात रोग के हेतु से मूत्रावरोध हो तो प्रस्वेद अधिक आता है। उसके स्वेद में एक प्रकार की दुर्गंध आती है। ऐसा होने पर यवक्षार, केले का क्षार, तृण पंचमूल के क्वाथ में मिलाकर देना आवश्यक होता है अथवा टेसू के फूलों के क्वाथ में शोरा कलमी ३ माशे मिला गरम-गरम जल में वस्त्र डोबाडोबकर वस्ति स्थान को बार बार सेकने से भी शीत से जकड़ने के कारण रुका पेशाब आधा घन्टे के मध्य अवश्य उतर आता है। यदा-कदा मूत्रावरोध का उपद्रव अतीव कष्टकारी भयङ्कर तथा तत्काल प्राणहरण करने वाला देखा जाता है।

मूत्रावरोध होने पर तत्काल सावधानीपूर्वक उपर्युक्त लिखित उपचारों में से स्थिति अनुसार उपचार करना परमावश्यक है। आशा है चिकित्सक बन्धु मेरे सुपरीक्षित एवं स्वानुभूत प्रयोगों से अवश्य लाभ प्राप्त कर, मूत्रावरोध वाले रोगियों के प्राण रक्षक बनेंगे।

शास्त्रों में मूत्र का अवरोध होने से निम्नलिखित उपद्रवों का हो जाना बतलाया गया है –

नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्र वेदनम्।
तन्मूत्र जठरं विद्याद् गुद वस्ति निरोधनम्॥

—आयुर्वेद वृहस्पति आचार्य श्री शिवकुमार वैद्य शास्त्री
शिव चिकित्सालय, रावतपाड़ा, आगरा

※ पृष्ठ ९२ का शेषांश ※

चाहिए। अभ्यङ्ग तथा वस्ति देना चाहिए। एक अन्य योग इस प्रकार है, यथा—

क्वाथं गोक्षुर बीजस्य यवक्षार युतं पिवेत्।
मूत्रकृच्छ्रं शकृज्जञ्च पीतः शीघ्रं विनाशयेत्॥

अर्थात् गोक्षुर का क्वाथ, यवाखार मिलाकर पीने से शीघ्र आराम मिलता है।

७. अश्मरीज मूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणं—

अश्मरी हेतु सा पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत्॥

अर्थात् जिन्हें अश्मरी रोग हो और मूत्रकृच्छ्र हो जाय तब उसे अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। इस रोग के उत्पन्न होने पर वातज तथा कफज मूत्रकृच्छ्र के समान चिकित्सा करनी चाहिए। तथा एक अन्य योग यहां देते हैं—

तक्रेण युक्तं शितिमारकस्य
बीजं पिवेत् कृच्छ्र विनाश हेतो।

शितिवार के बीज का चूर्ण मट्ठे में मिलाकर पीने से यह दूर हो जाता है।

८. शुक्रज मूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणं—

वातादि दोषों के प्रकोप से जब वीर्य में विकार आ जाता है तथा वीर्य मूत्रमार्ग से निकलने लगता है तब मूत्र वीर्य के साथ कष्ट से निकलता है तथा मूत्राशय व मूत्रमार्ग में पीड़ा होती है। इसे शुक्रज मूत्रकृच्छ्र की संज्ञा दी गई है। इसमें शिलाजीत को मधु के साथ चाटने से यह रोग दूर हो जाता है।

छोटी इलायची, भुनी हींग और घृत के साथ दूध पीने से मूत्र तथा शुक्र के दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

कषायोद्धित वलामूल—"साधितोऽशेष कृच्छ्रजित"

अर्थात् कन्घी (वला) की जड़ का काढ़ा पीने से सब प्रकार के मूत्रकृच्छ्र दूर हो जाते हैं।

सब आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र को दूर करने के निम्नलिखित योग दिये जाते हैं—

१—लौह भस्म (बलानुसार) ५ रत्ती से २ माशा तक शहद के साथ खूब मर्दन कर खाने से मूत्राघात तथा दारुण मूत्रकृच्छ्र भी दूर हो जाता है।

२—गोखरू, एरण्ड मूल, शतावर या कुश, काश, शर, उशीर और ईख की जड़ इन सबको समभाग मिलाकर पीने से दारुण मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात आदि दूर होते हैं।

३—गोखरू, अमलतास का गूदा, दर्भमूल, धमासा, हरड़, इन सबको समभाग लेकर ४ तोले का क्वाथ करें तथा बलानुसार प्रातः पीने से अश्मरी और भयङ्कर मूत्रकृच्छ्र भी दूर हो जाता है। तीव्र वेग में आवश्यकतानुसार २-२ घण्टे से क्वाथ पिलावें।

इस प्रकार हमने आठों प्रकार के मूत्रकृच्छ्र रोगों के लक्षण स्पष्ट कर इनकी पृथक पृथक चिकित्सा का वर्णन किया है। साथ ही सम्मिलित मूत्रकृच्छ्र और सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्रों की चिकित्सा का वर्णन किया है। ❁

मूत्राघात

डा. शिवपूजन सिंह कुशवाह एम.ए.

मूत्राघात, मूत्रनाश, मूत्र न बनना, आंग्ल भाषा मे 'Anuria & uriné Supression' कहते हैं। इसमें रोगी को मूत्र उतरना बन्द हो जाता है।

आयुर्वेदिक औषधियां—

मूत्राघात रोग में दोषों का विचार करके उसकी उग्रता के अनुसार मूत्रकृच्छ्र हर योगों का प्रयोग करना चाहिए तथा वस्ति, उत्तरवस्ति व एरण्ड तैल विरेचन देना चाहिए।

१—कल्कमेर्वारुबीजानामक्षमात्रं ससैन्धवम्।
धान्याम्लयुक्तं पीत्वैव मूत्राघाताद्विमुच्यते॥

(भैषज्य रत्नावली, ३५ मूत्राघात चिकित्सा प्रकरणम्)

ककड़ी के बीजों को १ तोले भर लेकर पानी के साथ पत्थर पर पीसकर कल्क बना लेवें तथा इस कल्क को ४ तोले भर कांजी में मिश्रित करके ४ माशे भर सैंधव लवण चूर्ण डालकर पीने से मूत्राघात रोग से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

२—कोहड़े (सीताफल) के फल को पीसकर उसका ४ तोले भर स्वरस निकाल के छानकर उसमें ४ रत्ती यवक्षार (जवाखार) तथा १ तोले भर पुराना गुड़ मिलाकर पीने से मूत्राघात; मूत्र-शर्करा व अश्मरी रोग नष्ट हो जाता है। (भै० र० श्लोक ३)

३—गोखरू के पत्ते, फल और जड़ को समप्रमाण में मिश्रित कर २ तोले भर लेकर ३२ तोले पानी में क्वथित करके चौथाई शेष रहने पर छानकर १ तोले भर शहद तथा २ तोले भर शर्करा (चीनी) मिलाकर पीने से मूत्राघात रोग नष्ट होता है। (भै० र०, श्लोक ·)

४—बिम्बी (कुन्दरी) लता की जड़ को कांजी के साथ पीसकर नाभि प्रदेश से वस्ति पर्यन्त भाग पर लेप कर देने से मूत्राघात नष्ट होता है। (भै. र., श्लोक ६)

५—मूत्र के रुक जाने पर शिश्न के छिद्र में २ रत्ती कर्पूर को महीन पीस कर प्रविष्ट करना चाहिए।

(भै० र०, श्लोक ७)

६—अशोक के बीजों के चूर्ण को २ माशे भर लेकर शीतल जल के साथ पीने से मूत्राघात नष्ट होता है।

(भै० र०, श्लोक ८)

७—शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती भर लेकर आधा तोले भर शहद तथा आधा तोले भर शर्करा के साथ मिश्रित कर सेवन करने से मूत्र जठर और मूत्रातीत रोग नष्ट होता है। (भै० र०, श्लो० १५)

तैलादि की मालिश, स्नेहपान, जुलाब, वस्तिकर्म, स्वेदन, जलक्रीड़ा, उत्तर वस्ति, पुराने लाल चावल, मठ्ठा, दुग्ध, दही, उड़द की दाल का यूष, पुराने सीताफल का शाक, परवल का शाक. हरड़, अदरक, ये सब मूत्राघात में हितकारी हैं।

व्यायाम, अधिक मार्ग चलना, शीत में सोना, बैठना, भ्रमण करना, रूक्ष भोजन, मैथुन, मूत्राघात में वर्जित हैं।

८—मूली के पत्तों के आधा सेर स्वरस में ३ माशे कलमी शोरा मिलाकर पिलाने से शीघ्र ही पेशाब होने लगता है। (चिकित्सा चन्द्रोदय, सातवां भाग)

होमियोपैथिक औषधियां—

(१) कैन्थेरिस ३ X इसकी सर्वोत्तम औषधि है।

—शेषांश पृष्ठ ६८ पर देखें।

मूत्रविषमयता

कवि. गिरिधारी लाल मिश्र (विशेष सम्पादक)
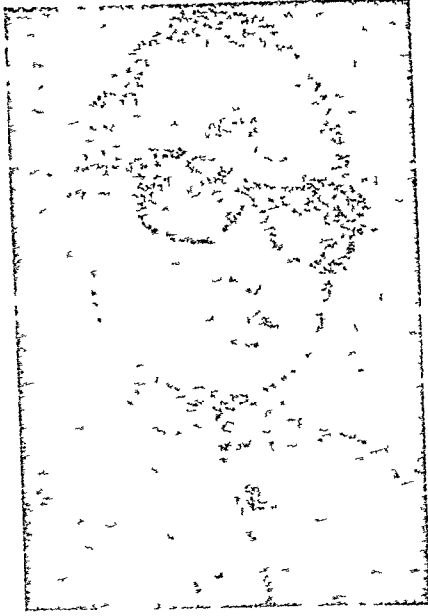
यूरीमिया (Uraemia)—इस शब्द की व्युत्पत्ति यूरी और ईमिया शब्द से मिलकर हुई है। यूरी से अभिप्राय: यूरिया तथा ईमिया रक्त के लिए प्रयुक्त है। मूत्र के लिए यूरीन शब्द अंग्रेजी में प्रयुक्त है क्योंकि मूत्र मे यूरिया काफी मात्रा मे निकलता है। इसलिए मूत्रस्थ यूरिया का रक्त में अधिक मात्रा मे मिलना, यूरीमिया या मूत्र की रक्त मे विषावस्था या मूत्र विषमयता कहा जाता है जिसका अभिप्राय शरीर की उस अवस्था से है जिसमें स्वस्थ अवस्था मे मूत्र से निकलने वाले पदार्थ बाहर न निकल कर शरीर मे ही रुक जाते हैं। वृक्क का मुख्य कार्य शरीर के लिए अयोग्य पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना है, वृक्क के कार्य में गड़बड़ी व वृक्क के किसी भी रोग में वृक्क की निष्क्रिता होने से दूषित पदार्थ मूत्र से न निकल कर जब रक्त में मिलते रहते हैं तो यह विष युक्त अवस्था ही मूत्र विषमयता (यूरीमिया) कहलाती है।

कारण—

(१) आजकल वृक्क की निष्क्रियता से होने वाले बहुत से लक्षणों में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। मूत्र में नत्रजनीय पदार्थों का (यूरिया, यूरिकाम्ल, क्रेटीनीन) अवरोध हो जाता है। वृक्कों का एक प्रधान कार्य भोजन तथा धातुओं के प्रोटीन पदार्थों के नाइट्रोजन और कार्बन के पाचन से उत्पन्न (Non Protein nitrogen) मल को जो रक्त में संचित होता रहता है, शरीर से बाहर निकालना है। मूत्र से निकलने वाले नत्रजन की दैनिक मात्रा १८ ग्राम होती है, जिसमें से १५.४ ग्राम तो केवल यूरिया द्वारा शरीर से निकलता है। मूत्र द्वारा प्रतिदिन ३३ ग्राम यूरिया रक्त में से निकलता है। साधारणतः रुधिर में २० मिलीग्राम प्रतिशतक या वृक्कों में ५० मिलीग्राम प्रतिशत यूरिया भी होता है। यदि यह बढ कर ७० प्रतिशत हो जाय तो वह वृक्क के रुग्ण होने का लक्षण है। १२० मि०ली० प्रतिशत हो जाय तो मूत्र विष संचार (uraemia) का सूचक होता है।

(२) वृक्कों का यह कार्य है कि शरीर में बढ़े हुए अम्लों को मूत्र द्वारा बाहर करते रहे, जिससे रक्त में अम्ल द्रव्यों की वृद्धि नही हो सकती। भोजन से प्राप्त होने वाले सोडियम, पोटेशियम, कैल्शियम, मैगनेशियम आदि रक्त को क्षारीय प्रकृति का बनाये रखते है। पर वृक्कों में Soda bicarb के विलीन न होने के कारण रक्त में उसके स्तर के गिर जाने से उसमें सोडियम, कैल्शियम की मात्रा कम हो जाने से तथा शरीर के जलीयांश के अधिकाधिक बाहर निकल जाने से (Dehydration) तथा पोटेशियम सल्फेट और फास्फेट के रक्त में अधिक रुक जाने से रक्त में विषमयता होने से मूत्र विषमयता कहते हैं।

(३) जीर्ण वृक्करोग, मधुमेह जनित वृक्करोग तथा

जीर्ण वृक्काशय शोथ (Pyelonephritis) के उपद्रव रूप में भी यूरीमिया होता है।

(४) रक्त भार की वृद्धि से तथा मूत्रमार्ग में अवरोध तथा पौरुष ग्रन्थि वृद्धि से भी यह रोग होता है।

(५) हृदय दौर्बल्य के उपद्रव रूप में तथा बहुमूत्रता आदि में शरीर का अधिक जलीयांश निकल जाने से भी मूत्र विषमयता हो जाती है।

यह मूत्र विष-संचार का रोग किसी विष-विशेष से होता है या अनेक स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक आमद्रव्यों (Metabolites) की वृद्धि से भी होता है यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए यूरीमिया शब्द एक अस्पष्ट शब्द है, जिसमें बहुत से लक्षणों का समावेश है जो कि रक्त की अवस्था पर तथा मस्तिष्क की रक्त वाहिनियों की अवस्था पर निर्भर करता है।

लक्षण —

बड़ी आयु के व्यक्तियों में पांडुता के साथ रक्त भार वृद्धि के लक्षण हों, विशेषतः रात्रि को मूत्र अधिक आता हो तथा १०० सी. सी. रक्त में २०० मि. ग्रा से अधिक यूरिया रहता हो जिससे मूत्र में यूरिया की मात्रा कम हो, मूत्र का आपेक्षिक भार कम हो तथा मूत्र में एल्ब्युमिन रक्तकण, श्वेत कण जाते हों तो वृक्करोग का सन्देह करना चाहिए क्योंकि वृक्क जब तक अपने कार्य को सुव्यस्थित रखते हैं तब तक शरीर के लिए अयोग्य पदार्थों का शरीर से निरन्तर निस्सरण होता रहता है पर वृक्क के रुग्ण होने से शरीर के दूषित पदार्थों को मूत्र द्वारा निस्सरण न होकर रक्त में विलीन होकर विषमयता के लक्षण प्रगट होने लगते हैं।

(१) अन्न मार्ग पर दुष्प्रभाव—मूत्र विषमयता के प्रारम्भिक लक्षण बहुधा अन्नारुचि होना है क्योंकि आमाशय श्लेष्मकला के Oxyntic सैलों में यूरिया के द्वारा विश्लिष्ट हो जाने से वहां जो अमोनिया उत्पन्न होता है उससे आमाशय का अम्ल क्षीण हो जाता है जिससे आगे चल कर जब क्षुधा घट जाती है तो शरीर की मांसधातु टूटने लगती है, क्षुधानाश के कारण तथा शरीर के प्रोटीन्स के खर्च होते जाने से कृशता और निर्बलता के लक्षण होते हैं। अतः थकावट यूरीमिया का सूचक लक्षण होता है। अम्लोत्कर्ष (Acidosis) के कारण ग्लानि, मानसिक अवसाद या औदासीन्य होता है और अन्न मार्ग पर विषमयता का दुष्प्रभाव होने से पहले अजीर्ण, अरुचि, वमन, अफारा, मलबन्ध आदि लक्षण होते हैं। रोग के बढ़ने पर प्रातःकालीन वमन के लक्षण भी होते हैं। जिह्वा शुष्क व मुखपाक और मुख से श्वास छोड़ने पर मूत्रवत् गन्ध आती है और मुख में धातु का स्वाद रहता है। आमाशय तथा आन्त्र की शिकायत जैसे तृषा, अरुचि, उत्क्लेश, वमन तथा प्रायः हृदय के ऊपर दर्द रहता है और अन्त में तीव्र अतिसार व असाध्य अतिसार (uraemic enteritis) का दौरा हो कर मृत्यु होजाती है। वृद्ध व्यक्तियों में कभी-कभी असाध्य वमन व अतिसार का आक्रमण हो तो अजीर्ण का सन्देह न करके वृक्क रोग का ही सन्देह करना चाहिए क्योंकि छोटी आंत व बड़ी आंतों में शोथ तथा यूरीमियाजनित व्रण (uraemic ulcerative colitis) के कारण होने वाला अतिसार ही मारक होता है।

(२) मस्तिष्क पर दुष्प्रभाव—मस्तिष्क पर मूत्र-विषमयता का दुष्प्रभाव होने से तन्द्रालुता या तन्द्रा व उदासीनता का लक्षण रहता है। रोगी को निद्रा प्रबलता से दबा लेती है जिससे वह पहले ही खुर्राटे लेने लगता है परन्तु शीघ्र ही नींद टूट भी जाती है और इस प्रकार रात में कई बार नींद आती है और टूट जाती है अथवा रोगी दिन में तन्द्रालु तथा रात को उन्निद्रा (Insomnia) रहता है या शीघ्र ही नींद आती है और फिर वह शीघ्र ही टूट भी जाती है जो मस्तिष्क के पोषण की न्यूनता को सूचित करती है। मस्तिष्क के पोषण में न्यूनता आने से स्मृतिनाश, एकाग्रता की न्यूनता, आवेश, बेचैनी, क्रोध आदि मानसिक दुर्बलता के लक्षण होते हैं। मेटाबोलाइटों के रुक जाने के कारण तन्द्रा, मूर्च्छा, मोह सन्यास की क्रमिक अवस्था को रोगी प्राप्त होने लगता है। संज्ञावाही नाड़ियों के अवरुद्ध होने से मूर्च्छा होती है। आचार्य सुश्रुत ने मूर्च्छा के लक्षण लिखते हुआ कहा है—

संज्ञावहास्तु नाड़ीषु पिहितस्वनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत्॥
मोहो मूर्च्छेति तां आहु·· ··· ··· ···।

(३) नाड़ी मण्डल पर दुष्प्रभाव—रक्त में कैल्सियम के न्यून हो जाने से अथवा बहुत सम्भवतः पोटासियम की वृद्धि से नाड़ी मण्डल पर दुष्प्रभाव से हाथ-पांव की अंगुलियों

में स्ताभ (Cramp), कम्प, पेशियों में पिपीलिका संचार (Tmilchia पिपीलिका संचारमिवाङ्गेषु) तथा आक्षेप (Tetany), शाखाओं में दर्द तथा आक्षेप (Convulsion) के लक्षण होते हैं। नाडियों पर दुष्प्रभाव से नाडीशूल (Neuralgia) हो सकता है। मस्तिष्क नाडी का पोषण न होने से शिरोभ्रम तथा कर्ण दोष (Tinnitis) के लक्षण होते हैं।

(४) रक्त भार वृद्धि—इस रोग में रक्त भार बढ़ा रहता तथा वही कई खराबियों का कारण होता है। रक्त-स्राव के कारण ही नेत्र विकार, हृदय तथा मस्तिष्क विकारों की वृद्धि होती है। रक्त भार के कारण निरन्तर सिरदर्द बना रहता है। रक्त भार के बढ़ने से भी आक्षेप हो सकते हैं। पैरों में सुप्ति, दाह, वेदना और चमचमाहट के लक्षण होते हैं। वाम हृदय में रक्तभार वृद्धि जनित अतिवृद्धि होने के बाद जब कभी शक्ति से अधिक श्रम किया जाता है तो हृदयदौर्बल्य के लक्षण हो जाते हैं।

(५) श्वसन संस्थान—श्वसन केन्द्र पर रक्त की अम्लीयता (Acidosis) का दुष्प्रभाव होकर यूरीमिया के कारण श्वास काठिन्य भी हो जाता है। इसके कारण रोगी को श्वास का सहसा होने वाला आक्रमण रात में होता है। रोगी श्वास लेने के लिए बिस्तर पर बैठ जाता है परन्तु इसमें किसी प्रकार की नीलिमा नहीं होती तथा श्वास में प्रायः अस्पष्ट शब्द रहता है जो कभी सतत रहता है और कभी कभी कई सप्ताह तक। हिक्का होती है या Chyne Stoke श्वास कई सप्ताह तक चलता रहता है। इसे यूरीमिक श्वास (Uraemic Asthama) कहते हैं जो डायाफ्राम की मांसपेशी पर इस विषमयता का प्रभाव होने से होता है।

(६) रक्तवाहिनियों पर दुष्प्रभाव-शरीर की समस्त रक्तवाहिनियों के कठोर होते जाने के कारण मांस और मेद दोनों क्षीण हो जाते हैं जिससे शरीर कृश होता जाता है। मस्तिष्क तथा शरीर दोनों की कार्य शक्ति क्षीण होती है जिससे शीघ्र थकावट होने का लक्षण हो जाता है तथा मानसिक मन्दता का लक्षण भी हो जाता है।

(७) पश्चिम दृष्टिपटल की रक्तवाहिनियों में क्षीणता के हो जाने से दृष्टिमन्दता का लक्षण भी होता है।

(८) त्वचा पर दुष्प्रभाव—वृक्क रोग में त्वचा सम्बन्धी शिकायतें उपद्रव रूप में हो जाती हैं। त्वचा नाड़ियों के विक्षोभ से कण्डू, पामा, कोढ, विस्फोट, शीत पित्त, एक्जीमा आदि हो जाते हैं जो साधारण औषधियों से ठीक नहीं होते है। ये टांगों पर विशेष दीखते हैं। त्वचा शुष्क और मटियाले रंग की हो जाती है।

(९) अतिशय रक्ताल्पता हो जाती है जिसका कारण अस्थि मज्जा के ऊपर विषैला प्रभाव है। मूत्रविष के कारण रक्तावरोधता पर किसी प्रभाव से रक्तभार बढ़ जाने तथा धमनी रोग के हो जाने से नासिका, दन्त, मांस, अन्नमार्ग, श्वास मार्ग, मूत्र मार्ग, त्वचा आदि से रक्त स्राव (Purpura तथा Petichiac) भी हो जाता है। बड़ी आयु में मस्तिष्क में रक्तस्राव होकर मृत्यु हो जाती है।

(१०) रक्त में कैल्सियम और सोडियम के कम होजाने तथा पोटासियम के बढ़ जाने से हृदय-मांस के कार्य में क्षति हो जाती है, उसकी नियमित गति में विषमता आजाती है, अस्थियों में मृदुता और शुष्कता का उपद्रव हो सकता है।

संक्षेपतः: चिरस्थायी वृक्क रोग के कारण धमनी रोग के हो जाने तथा रक्त में कुछ रासायनिक द्रव्यों के जमा हो जाने से उपरोक्त लक्षण होते हैं।

निदान—

रोग की पहिचान—वृक्क की प्रारम्भिक निष्क्रियता को एक या दोनों वृक्कों की क्षमता योग्यता परीक्षणों से तथा मूत्र एवं रक्त में यूरिया की परीक्षा से रोग निर्णय किया जा सकता है—१२०-१५० मिलीग्राम प्रतिशतक रक्त यूरिया का होना रोग का निर्णय कर देता है। मूत्र में एल्ब्युमिन के साथ किसी भी प्रकार के छिलके (Casts) का होना वृक्क की विकृति व क्षति के सूचक हैं।

यूरिया की मात्रा को देखकर यूरीमिया का निदान किया जाता है जोकि बिना लेबोरेटरी के सम्भव नहीं। अतः यूरिया रोग के निदान के लिए आधुनिक पैथोलोजी की सहायता लेना नितान्त आवश्यक है क्योंकि मस्तिष्क और हृद्वाहिनी संस्थान के अन्य रोगों में भी ये लक्षण मिलते हैं जोकि यूरीमिया में पाये जा सकते हैं। अतः यदि रोगी को कम मात्रा में पेशाब उतरे और इसका विशिष्ट गुरुत्व कम हो तो इस रोग का सन्देह हो जाना चाहिए। तब मूत्र और रक्त में यूरिया की मात्रा का परीक्षण कर

इस रोग का निर्णय किया जाता है रक्त यूरिया के लिए रक्त परीक्षण नितान्त आवश्यक है । यद्यपि मूत्र में व रक्त में यूरिया का परीक्षण करना विकृतिविज्ञान विशेषज्ञ का विषय है तथा आवश्यकता पड़ने पर रुग्ण को उन्हीं के पास भेजा जाता है तथापि पाठकों की सामान्य जानकारी के लिए यह यूरिया परीक्षण विधि का विवेचन प्रासंगिक है—

वृक्क की क्षमता का निर्धारण—सर्व प्रथम वृक्क के संतोषजनक-कार्य की जानकारी के लिए वृक्कों की क्षमता का सामान्य परीक्षण करते हैं। एतदर्थ वृक्क की मूत्र निर्माण की क्षमता को देखते हैं—१ मिनट में वृक्क धमनी गुच्छों में से १२० मि. लि. मूत्र छनता है । अतः कुल मूत्र निर्गम २४ घण्टे में १५०० मि.लि मूत्र निकलता है। यदि अधिक तरल पदार्थ खिलाने से मात्रा बढ़ जाती है तो वृक्कों का कार्य सन्तोषजनक मानते हैं।

यूरिया उत्सर्ग परीक्षण—स्वस्थ व्यक्ति के वृक्क प्रति मिनिट १ सी.सी. मूत्र छानते हैं । १ मिनिट में जो धमनी गुच्छों से जो १२० मि.लि मूत्र छनता है उसमें से ५४ मि. लि. विलीन होजाता है । इससे पता लगता है कि वृक्क १ मिनिट में ५४ सी सी. रक्त से यूरिया का उत्सर्ग करता है। इसे वृक्क की यूरिया उत्सर्ग सामर्थ्य कहते हैं । आदर्श सामर्थ्य—जिसमें वृक्क १ मिनिट में २ सी.सी. या इससे अधिक मूत्र बना लेते है यह ६० प्रतिशत सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य यदि ४० या २० रह जाय तो वृक्क रुग्ण माने जाते हैं ।

परीक्षण विधि—प्रातः रोगी को २ गिलास जल पिलाया जाता है, एक घण्टे बाद वह मूत्र त्याग करता है तो उसका मूत्र एकत्र (नमूना नं. १) किया जाता है। साथ ही रक्तयूरिया आकलन के लिए रक्त भी लिया जाता है । फिर २ गिलास जल पिलाया जाता है और १ घण्टे बाद मूत्र त्याग करता है और फिर मूत्र जांच के लिये (नमूना नं० २) लिया जाता है तथा रक्त यूरिया की जांच के लिए रक्त भी लिया जाता है । जब मूत्र का उत्सर्ग २ मि. लि. या अधिक प्रति मिनिट होता है तो निम्नलिखित सूत्र के अनुसार अधिकतम यूरिया उत्सर्ग निकाल लिया जाता है —

$$\frac{\text{मूत्र आहित} \times \text{मूत्र का यूरिया सान्द्रण}}{\text{सम यूरिया सान्द्रण}}$$

सामान्य रक्त यूरिया की मात्रा प्रत्येक १०० मि.लि. रक्त में १५-४० मि.ग्रा. होती है। ६० मि.लि. ग्रा. यूरिया प्रति १०० मि.लि. रक्त से अधिक होने पर वृक्क का कार्य सन्तोषजनक नहीं है एवं वृक्क क्षति का द्योतक है ।

तीव्र मूत्र विषमयता (Acute uraemia)—कभी-२ तीव्र उपसर्गों से अथवा भारी धातुओं के उपयोग और उनकी विषाक्तता तथा इन्ट्रावीनस पायलोग्राफी व तीव्र वृक्क शोथ एवं गवीनियों के अवरोधस्वरूप वृक्क की गुच्छिकाओं से मूत्र की मात्रा कम छनने से अमूत्रता (Suppression of urine) होकर अल्पमूत्रीय तीव्र मूत्र-विषमयता हो जाती है तथा ज्यों ज्यों वृक्कों में आघात बढ़ता है त्यों त्यों रोग के लक्षण तीव्र गति से बढ़ते हैं—

वृक्क शरीर के मलों को विसर्जित करने वाले प्रमुख यन्त्र हैं । अतः वृक्कों की क्रियाशीलता में कमी आने से दूषित पदार्थों के रक्त में मिलने से रक्त वाहिनियों में परिवर्तन होता है । वाहिनी की भित्ति में अपजनन अन्य परिवर्तनों के पीछे इन मांस स्तर में अतिवृद्धि होने से वाहिनियाँ मोटी हो जाती हैं तथा रक्तचाप बढ़ जाता है तथा धीरे-धीरे रक्तचाप बढ़ता है तो वृक्कों की छानने की क्रिया बढ़ती है पर वृक्क रुद्ध होने के कारण मल पदार्थों का उत्सर्ग नहीं कर पाते हैं और रक्तता के साथ दौर्बल्य, स्नायुपेशी विकृति, रक्तस्राव के लक्षण होते हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से सर्वाङ्ग शोथ, अग्निमान्द्य, अरोचक, भ्रम, मूर्च्छा, संन्यास, प्रमेह और वातव्याधियों का एक साथ प्रकोप होता है—

गुदे (वृक्कयो) हृदि शिरसि अंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः ।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेरातुराः परिवर्जयेत ॥

जब तक वृक्कों की क्रिया से साधारण गड़बड़ी रहती है कोई लक्षण नहीं मिलते पर धीरे धीरे गड़बड़ी की बढ़ी हुई अवस्था होने पर रक्तचाप बढ़ जाता है और वही इन सब खराबियों का कर्त्ता होता है । वृक्क क्रिया का पतन (Renal Failure) कहीं धीरे धीरे और कहीं द्रुतगति से हुआ करता है। कभी वृक्क क्रियाघात बिना लक्षणों के भी वर्षों तक चलता रहता है जिसे गुप्त यूरी-

मीया कहते हैं तथा कभी कभी वृक्क क्रियाघात बड़ी तेजी से होता है।

वृक्क के बहुत से रोगों में शिर दर्द होता है विशेषतः जिसकी समाप्ति यूरीमिया में होती है तथा इसका प्रमुख कारण रक्तचाप वृद्धि पाया जाता है। बड़ी आयु में प्रायः शिर दर्द का रहना, नींद का न आना, तुरन्त जग जाना, व रात में कई बार निद्रा आना और जगजाना वृक्कशोथ के ही कारण होता है जिसमें यूरीमिया ही प्रमुख कारण बनता है। रक्तस्राव होने लगता है—नकसीर होना प्राथमिक लक्षण है तथा मस्तिष्क का रक्तस्राव प्रायः मृत्यु का कारण बनता है।

चोट लगजाने से कटी हुई ऊतकों का नत्रजन भी वृक्कों द्वारा ही छनता है। यदि वृक्क पहले से ही रुग्ण हों तो यूरिया की मात्रा प्रतिदिन ४० से १०० मि. ग्रा. तक बढ़ती है। इसी प्रकार सीरम पोटाशियम ८ मि.ली. २१ प्रति लिटर तक बढ़ता है तो हृदय की क्रिया पर आघात होता है और हृदय की गति विषम होजाती है।

श्वासावरोध—पहले यह केवल श्रम से होता है, इसके साथ वामाक्षेपक कोष्ठ अतिवृद्धि भी होती है तथा फेफड़ों में भी होने से श्वास कष्ट बढ़ जाता है। अम्लोत्कर्ष की वृद्धि से ग्लानि और मनोविभ्रम बढ़ता है स्मृतिभ्रंश तथा स्वभाव में चिड़चिड़ापन होजाता है, भ्रम, चक्कर आना तथा नाना प्रकार की नर्व-वेदनायें होती हैं। एल्ब्युमिन्यूरिया के कारण रेटिना में शोथ, पेपीलायटिस, अग्नि की ज्वाला के समान रक्तस्राव, अपजनन का क्षेत्र श्वेत रहता है, धमनियों में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। रोगी काम करता रहता है तथापि शारीरिक और मानसिक शक्ति कम हो जाती है, मांसपेशियों तथा त्वचा के निचले तन्तुओं में क्षीणता होने लगती है।

जीर्ण मूत्रविषमयता (Chronic uraemia)—जब वृक्क की क्रिया या बनावट के विकार के कारण यह बिगड़ जाता है तब शरीर के निकले नत्रजनीय पदार्थ को शरीर से बाहर करना, अम्लीय पदार्थ, अधिक शर्करा को रक्त में से बाहर करना, उचित मात्रा में लवणों को शरीर में रखना आदि वृक्क के सामान्य स्वाभाविक कार्यों में गड़बड़ी होने लग जाती है। जब गड़बड़ी साधारण होती है तो कोई उपद्रव नहीं होते पर मूत्र की संकेन्द्रण की शक्ति घटती जाती है और बहुत मात्रा में मूत्र त्याग होने लगता है जिसका विशेष घनत्व १०१० से १०१२ तक ही रहता है पर रात में यह संकेन्द्रण कम हो जाने से रोगी रात में कई बार मूत्र त्याग करता है तथा मूत्र की परीक्षा करने पर उसमें एल्ब्युमिन पाया जाता है, रक्तचाप बढ़ा हुआ रहता है जो धीरे-धीरे बढ़ता रहता है जिससे वृक्कों में खराबी रहती है। कई प्रकार के मेटाबोलाइट संचित होकर रोग की वृद्धि करने लगते हैं जिसके कारण—क्षुधानाश, मुखपाक, अतिसार, वमन, कार्श्य, दौर्बल्य आदि लक्षण प्रारम्भ में होते हैं पर रोग की लाक्षणिक चिकित्सा से ही रोगी को यत्किञ्चित स्वास्थ्य लाभ होते रहने से रोगी व चिकित्सक का ध्यान इस ओर नहीं जाता है और धीरे-धीरे मूत्र के विजातीय पदार्थ रक्त में मिलकर जीर्ण विषमयता (Chronic uraemia) बनता है। जीर्ण मूत्र विषमयता में हृदय को बड़ा आघात लगता है जिसका मुख्य कारण रक्तचाप वृद्धि तथा गौण कारण रक्तक्षय व अन्य उपसर्ग हैं।

रक्त दाब के कारण हृदय और मस्तिष्क में भी विकार उत्पन्न होते हैं। हृदय निपात (Heart Failure) की सम्भावना बढ़ जाती है। रक्तक्षय व हृदयघात, यूरिया आदि मेटाबोलाइटों के रुक जाने के कारण रोगी को क्षीण करते जाते एवं संज्ञावाही नाड़ियां अवरुद्ध होने लगती हैं और रोगी मानसिक अवसाद औदासीन्य, शंकालुता, मोह, मूर्च्छा को प्राप्त होता है।

संक्षेप में इस रोग के प्रमुख कारणों में अति रक्तदाब तथा मेटाबोलाइटों के संचय के कारण अन्नमार्ग, श्वसन संस्थान, रक्तवाहिनियों तथा त्वचा और नाड़ी मण्डल, मस्तिष्क पर जो दुष्प्रभाव पड़ता है उनका विस्तृत वर्णन पीछे लक्षणों में हम कर आये हैं।

अन्य ग्रन्थकारों के मत—

यूरीमिया के निम्न भेद किये जाते हैं—

हृदय नैर्बल्यता जनित मूत्र विषमयता—तीव्र अतिसार अति वमन, हृदयदौर्बल्य आदि वृक्कों का साथ न मिले तो वृक्कों का कार्य बन्द (Nitrogen retention) हो जाता है। इस अवस्था को Pre-renal uraemia

कहते हैं तथा पौरुष ग्रंथि वृद्धि, वृक्क की अश्मरी व गर्भाशय के कैंसर के कारण मूत्रमार्ग के अवरोध होकर जो मूत्रविषमयता होती है उसे Post-renal uraemia कहते हैं, यह अवस्था असाध्य ही समझी जाती है।

कुछ विद्वान वास्तविक (Genuine) और प्रावेगी (Convulsive) भेद से दो प्रकार का मानते हैं। वास्तविक यूरीमिया में मस्तिष्क, महास्रोतीय तथा हृदय-फुफ्फुसीय,विकारजन्य लक्षण होते हैं तथा प्रावेगी यूरीमिया वास्तविक यूरीमिया से अलग होता है। यह वृक्कों की क्रिया असफलता व नाइट्रोजन युक्त द्रव्यों के संचय पर निर्भर नहीं करता बल्कि रक्तक्षय वृद्धि और मस्तिष्क शोथ के कारण होता है जिससे अपस्मार की तरह प्रवेग (झटके) आते हैं तथा रोगी गहन तन्द्रा में डूब जाता है।

चिकित्सा—

यदि यूरीमिया की चिकित्सा सम्यग् निदान कर दृढ़ता से रोग के लक्षणों व चिन्हों को ध्यान में रखते हुए की जाय तो सफलता सम्भव है, पर खासकर यदि गुच्छनलकीय शोफ के कारण यूरीमिया हो तो वह असाध्य ही माना जाता है। किन्तु यदि कहीं मूत्र मार्ग में अवरोध हो तो मूत्रमार्ग की बाधाओं को दूर करना ही इसकी चिकित्सा है। आयुर्वेद के मूत्राघात में मूत्र प्रवर्तक योग इस रोग में लाभदायक हैं। यूरीमिया की प्रारम्भ में वही चिकित्सा है जो इन्टरस्टीशयल वृक्क शोथ की है। विषैले पदार्थों को मूत्र द्वारा बाहर निकाल देना या वहीं नष्ट कर देना चाहिए। इस रोग के कई लक्षण रोगी को बड़ा कष्ट देते हैं। अजीर्ण, अनिद्रा, हिक्का, श्वास कृच्छ्रता, मूत्राघात, रक्तचाप वृद्धि आदि के लक्षणानुसार चिकित्सा व्यवस्था की जाती है।

लक्षणानुसार चिकित्सा—

(१) अजीर्ण—यूरीमिया की स्थिति में रोगी कुछ भी पचा नहीं पाता, विपाक्तता के कारण भूख भी नहीं लगती तथा जो भी खाना दिया जाय, वमन करके उलट देता है। अन्नारुचि व वमन के लिए मुख से पानी न देकर ५ प्रतिशत डैक्सट्रोज सहित नारमल सैलाइन को ४-८ औंस की मात्रा में चार-चार घन्टे के बाद गुदामार्ग द्वारा देना चाहिए या १० प्रतिशत ग्लूकोज के नार्मल सलाइन के घोल को शिरामार्ग द्वारा देने से भी अन्नारुचि और वमन के लक्षण शान्त होते हैं। १ औंस जल में १ ड्राम ग्लूकोज मिलाकर ऐसे २ औंस जल के पिलाने से भी वमन शान्त हो जाती है।

आयुर्वेद में—यवक्षार ४ रत्ती शीतल जल से या गोक्षुरादि क्वाथ से देने का विधान है। मधुर क्षार (सोडा बाई कार्ब), नौसादर, कलमीशोरा २-२ रत्ती अथवा श्वेत पर्पटी गुरुच्यादि अर्क व गोक्षुरादि क्वाथ से देने से भी उपद्रव शान्त हो जाते हैं। आरग्वधादि अवलेह भी उत्तम लाभदायक है।

(२) रक्त में मूत्र विषमयता को दूर करने के लिए स्वेद देना चाहिए। इसके लिए शरीर पर गरम सेक और गरम वाष्प देनी चाहिए। आचार्य चरक स्वेद की उपयोगिता के सन्दर्भ में लिखते हैं—अग्निर्दीप्ति मार्दवं त्वक्प्रसादं भक्तश्रद्धा स्रोतसोनिर्मलत्वम्। कुर्यात् स्वेदो जाड्येयतन्द्र्यापहारमुस्तब्धात् सन्धींश्चेष्टमत्थाशुचास्य॥

अतः इस रोग में स्वेद का बड़ा महत्व है, केवल इसलिये नहीं कि स्वेदन से यूरिया पसीने से निकल जाता है बल्कि वृक्क को भी उत्तेजना मिलती है और वृक्कों के कार्य में सुधार होता है। गरम पानी की वस्तियां भी दी जा सकती हैं पर तीव्र विरेचन नहीं देना चाहिए क्योंकि इससे रोगी को निर्बलता आती है।

पाईलोकारपीन को भी स्वेद के लिये बरतते हैं पर इसे अधिक देर तक नहीं बरतना चाहिये। क्योंकि यह अवसाद करती है। वृक्क पुरुषों में रक्तभाराधिक्य हो तो रक्त मोक्षण करके (१/२ से १ पाइन्ट) रक्त निकालना चाहिए, बशर्ते रक्त न्यूनता न हो। शिरामोक्षण व विरेचन से जो शारीरिक दुर्बलता होती है वह ग्लूकोज सैलाइन देने से पूर्ति हो जाती है। रक्त यूरिया के बदले तथा हीमोग्लोबिन घटने से उत्पन्न पाण्डुता (Anaemia) के लिए Vitamin B12 दिया जाता है तथा रक्तस्राव के लिए Vitamin C 200mg दिया जाता है। आयुर्वेद के मुक्ता, प्रवाल, अकीक पिष्टी के योग रक्तस्राव की अवस्था में लाभदायक रहते हैं। रक्तदान (Blood Transfusion) भी सामयिक लाभ करता है।

आयुर्वेद के—शिलाजित्वादि लौह का गोक्षुरादि क्वाथ से देने का विधान है। सर्वतोभद्र वटी (स्वर्ण, रौप्य, अभ्रक, स्वर्णमाक्षिक गन्धक, शिलाजीत समभाग वरुण क्वाथ की भावना देकर गोली बनावें) को गोक्षुर के क्वाथ से देते हैं।

(३) अनिद्रता, व्याकुलता, सिरशूल, रक्तभाराधिक्य आदि उपद्रवों को दूर करने के लिए Ismelin or Aldomet आदि का प्रयोग विशेष लाभदायक माना जाता है। आयुर्वेद के वृहद वात चिन्तामणि रस, चिन्तामणि चतुर्मुख रस व कृष्ण चतुर्मुख रस के प्रयोग उक्त उपद्रवों को शान्त कर बलवृद्धि भी करते हैं।

(४) श्वासकृच्छ्रता के लिए, जो रक्त में क्षार की न्यूनता से होती है, सोडा बाई कार्ब २ ग्राम रोज, तब तक दिया जाता है जब तक कि मूत्र की अम्लीयता न रहे तथा कोई शामक औषधि लार्जेक्टिल आदि देते हैं।

आयुर्वेद में सितोपलादि चूर्ण १ माशा में अभ्रक भस्म १ रत्ती, यवक्षार २ रत्ती देने से इस कष्ट की निवृत्ति होती है तथा छाती पर महानारायण तैल मर्दन कर स्वेदन देना भी लाभदायक है।

(५) हिक्का मूत्र विषमयता का भयङ्कर लक्षण है। लावसीजम देने से या Chlorpromazine 50 mg. की मात्रा में व Promazine Hydrochloride ५० मिली. मात्रा में दिन में तीन बार देने से यह ठीक होती है।

आयुर्वेद में—स्वर्णभस्म, मुक्ता, लौह, ताम्र भस्म समभाग (१-१ रत्ती) को मधु से चटाकर ऊपर से बिजौरा नीबू का रस + काला नमक और मधु मिलाकर पिलाने से हिक्का का सद्यः शमन होता है। मयूर चन्द्रिका भस्म भी मधु से देना लाभदायक है। इलायची चूर्ण और मिश्री मिलाकर व यवक्षार मिश्री मिलाकर खिलाकर ऊपर से गरम जल पिलाने से सद्य हिक्का शान्त होती है।

(६) मूत्र विषमयता जनित खल्ली (Tetgmy) और स्तम्भ (Cramp) रोग के लिए Calcium Gluconate का १ प्रतिशत घोल १-२० सी.सी. की मात्रा में शिरा द्वारा दिया जाता है तथा विटामिन 'डी' का प्रयोग करते हैं।

(७) त्वचा पर होने वाली कण्डु को Ergotamine आधा मिली. की मात्रा मे देते हैं। पुनर्नवा गुग्गुल तथा आरोग्यवर्धिनी वटी का प्रयोग लाभ करता है।

(८) मूत्रावरोध की स्थिति यूरीमिया में रहती ही है तथा मूत्रल द्रव्यों के प्रयोग करने आवश्यक रहते हैं, पर इस रोग में पारदीय मूत्रल योगों का प्रयोग करने से वृक्कों को बड़ा नुकसान पहुँचता है। मूत्रल योगों में ऐलोपैथी में लैसिक्स और आयुर्वेद में श्वेत पर्पटी प्रशस्त योग है। गोक्षुरादि गुग्गुल, गोक्षुरादि क्वाथ, तृण पंचमूल क्वाथ व धान्य पञ्चक क्वाथ के प्रयोग भी हितकर हैं।

(९) मूत्रावरोध की स्थिति में अम्लोत्कर्ष तथा यूरिया वृद्धि की स्थिति घातक होती है। इसके लिए स्क्स्थ मोलर लैक्टेट सोल्यूशन का प्रयोग किया जाता है। इसके एक लिटर तरल के देने से ३४० मिलि. ५ प्रतिशतक सोडियम कार्बोनेट बनता है जो अम्लोत्कर्ष को निष्क्रिय कर देता है।

(१०) जलाभाव (Dehydration) के कारण वृक्कों की क्रिया असफल होकर यूरीमिया उत्पन्न हो गया हो तो ऐसी अवस्था में सिरामार्ग से ड्रिप विधि द्वारा तरलों के उपयोग से यूरीमिया से रोगी मुक्त हो जाता है। जलाभाव की हर स्थिति में सैलाइन व ग्लूकोज सैलाइन का प्रयोग रोगी को जीवनदान देता है। रोग के भीषण लक्षणों के बचने के लिए रोगी को खतरे से बाहर करने के लिए आधुनिक अस्पतालों में रोग के लक्षणों की स्थिति के अनुसार अधोलिखित प्रयोग सैलाइन के माध्यम से रोगी पर किये जाते हैं—

यूरीमिया में सिरा द्वारा तरल घटकों का प्रयोग प्रयोगशाला द्वारा निम्न परीक्षणों का ज्ञान कर तदनुसार प्रयोग किया जाता है—

(१) रक्त में क्लोराइड और सोडियम की कमी में—नार्मल सोडियम क्लोराइड सैलाइन।

(२) अम्लोत्कर्ष की वृद्धि रोकने हेतु स्क्स्थ मोलर सोडियम लैक्टेट की बोतल चढ़ाना।

(३) अल्ब्युमिन की कमी दूर करने हेतु—रक्ताधान या प्लाज्मा व सीरम अल्ब्युमिन चढ़ाना।

( ) मूत्रराशि बढ़ाने व यूरिया निर्हरण हेतु—डिस्टिल वाटर में ५ प्रतिशत ग्लूकोज चढ़ाना।

उपरोक्त तरल घटकों को प्रतिदिन १ से २ लिटर तक शिरामार्ग से ड्रिप विधि द्वारा दिया जाता है जिससे मूत्र मात्रा की वृद्धि होकर रुकी हुई नाइट्रोजन युक्त उपद्रवों की तीव्रता घट जाती है। रोगी को तीव्र वमन व तीव्र अतिसार के बाद मूर्च्छा आ जावे तो ग्लूकोज सैलाइन की बोतल चढ़ाना जीवनदान का काम करती है जो सोडियम की कमी को दूर कर अमृत का काम करती है।

—शेषांश पृष्ठ १२५ पर देखें।

मूत्रकृच्छ्र, सुजाक और अश्मरी पर अनुभूतयोग

आचार्य श्री रघुवीरशरण शर्मा आयुर्वेद बृह. (डी.एस-सी.ए.)
डी १५० भजनपुरा, दिल्ली–५३
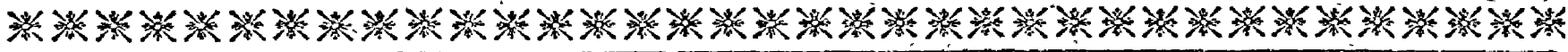
(१) केन्थारिस ३० × १ दिन में ४ मात्रा। अनुपान पानी से।

लाभ—मूत्राघात, मूत्र कृच्छ्र और पथरी को नष्ट करता है परन्तु छोटी हो।

(२) हजरलयहूद दूसरा नाम बेर पत्थर। इसको इमामदस्ता में कूट लो। फिर घीग्वार के पट्ठे में या मूली के रस में मिलाकर मिट्टी के कुल्हड़ में रख कर कंडों की आग से फूंक लो। २-३ बार में भस्म बन जायेगी। फिर शीशी में भर कर रख लो। इसमें से ४ रत्ती और २ रत्ती यवक्षार या नौसादर मिला कर दिन में २-३ बार पानी से लें, छोटी पथरी कुछ दिनों में गलकर निकल जायेगी। यदि पानी के बजाय गोखरू के काढ़े से सेवन करें तो अधिक लाभ होगा।

(३) आयोवाण वटी, सिद्ध भैषज्यमणिमला—

भानुभागमयो वाणं सर्ज सागर भागिकम्।
कृत्वापेहर तैलेन वटी वन्धयमापकीम्॥

१२ भाग कौड़िया लोबान, ४ भाग सफेद राल—इन दोनों का सूक्ष्म चूर्ण कर के चन्दन के तेल में घोट कर १-१ माशे की गोली बना शीशी में रख लो। मात्रा–१ गोली २-३ बार दिन में शर्बत मीठा अनार के साथ।

लाभ—सूजाक, मूत्रकृच्छ, पेशाब में जलन में लाभ करता है।

(४) स्तम्भन चूर्ण अक़रकरा २० माशे तुख्मरीहा २० माशे, मिश्री २७ माशे।

मात्रा और अनुपान—मात्रा ४ माशे अनुपान पानी से प्रातः सायम्। गुण–स्वप्न प्रमेह, लाला प्रमेह, शुक्र प्रमेह, और शीघ्रपतन में लाभ होता है। यदि रात को मैथुन से पूर्व सेवन करें तो शीघ्र वीर्यपात नहीं होता।

(५) कर्पूर वटी–कर्पूर १ तोला, त्रिफला ८ तोला, पुराना गुड़ तीन वर्ष का ९ तोला। पहिले त्रिफला का कपड़छन चूर्ण करलें। बाद में कपूर को चूर्ण में मिलाकर खरल में मर्दन कर लो। जब कर्पूर बिलकुल मिल जाय तब उसमें गुड़ को मिलाकर खरल में घोट कर ६-६ रत्ती की गोली बनाकर शीशी में भरकर रख लें।

मात्रा और अनुपान— १-१ गोली जल के साथ प्रातः सायम् सेवन करे। यह स्वप्न प्रमेह की उत्तम औषधि है।

पथ्य—गुड़, तेल, खटाई, ब्रह्मचारी रहें।

आभा चूर्ण—सिद्ध भैषज मणिमाला—

(६) बबूल की उत्तम छाल, बबूल का गोंद, बबूल के फूल और बबूल की कच्ची फली इनका चूर्ण बनाकर रखलें। मैं इसमें बबूल की पत्ती भी मिलाता हूं। मात्रा–३ माशे। अनुपान जल ताजा प्रातः सायम्। इससे प्रमेह और स्वप्न प्रमेह में लाभ होता है। यदि पूयमेह (सुजाक) में देना हो तो दूध की लस्सी के साथ दें।

(७) जामुन की मींग का चूर्ण करके रखलो। मात्रा २ माशे अनुपान जल से। इससे मधुमेह में लाभ होता है और अतिसार में भी।

(८) माजूफल, पपरिया कत्था, असली वंशलोचन और छोटी इलायची के बीज प्रत्येक १-१ तोला। इन सबका चूर्ण करके इसमें २॥ तोला चन्दन का तेल मिला कर रखलें। मात्रा १॥ माशे प्रातः सायं। अनुपान गर्मियों में चीनी का शर्बत और जाड़ों में कच्चे दूध से लें।

गुण—सुजाक में अच्छा लाभ करता है। मूत्र कष्ट से आना, जलन होना और प्यास शरीर की दाह को शांत करता है।

(९) १ तोला सफेद चन्दन का बुरादा रात को पानी में भिगो दो। सवेरे उस में २ तो० चीनी मिलाकर पीवें। इससे मूत्र कृच्छ्र में लाभ होता है साथ ही पिपासा और दाह को भी नष्ट करता है। यदि इसमें ५ बूंद चन्दन का तेल मिला दें तो अधिक लाभ होता है।

(१०) खरबूजे के छिलके का क्षार, यवक्षार, तिल का क्षार और अर्कक्षार इनको मिला घोटकर शीशी में रखलें।

मात्रा–४-६ रत्ती अनुपान गोखरू का काढ़ा अभाव

में ताजा पानी प्रातः सायम्। गुण मूत्रकृच्छ्र, वात गुल्म और अश्मरी में अनुभूत है। पुनश्च-वात गुल्म में दशमूल का क्वाथ आवश्यक है।

(११) गोक्षुरादि चूर्ण—गोखरू छोटे, आमला और गिलोय तीनों १-१ तोला। इनका सूक्ष्म चूर्ण करके रखलें।

मात्रा—२ माशे। अनुपान ताजा पानी प्रातः सायं।

गुण—स्वप्न प्रमेह की अव्यर्थ औषधि।

(१२) गोखरू, ताल मखाना, सफेद मूसली, कवांच के बीज, खरैटी के बीज, अतिबला, कंघी के बीज हरेक समभाग। इनका सूक्ष्म चूर्ण करके रखलें। (शार्ङ्गधर)

मात्रा—४ माशे। अनुपान दूध प्रातः सायं। यदि इसमें १ रत्ती बङ्ग भस्म भी मिलालें तो अधिक लाभ होगा।

गुण—बल वीर्यवर्धक है। प्रमेह को दूर करता है। स्वप्न प्रमेह में भी लाभ करता है। पुनश्च-अधिक रति के निमित्त रात को सोते समय उष्ण दूध से लेना चाहिए।

चूर्णमिदंपयसानिशिपेयं यस्यगृहे शतभ्रमदामस्ति।

—शार्ङ्गधर।

(१३) बबूल की कच्ची फली का चूर्ण और मिश्री या चीनी समभाग मिलाकर शीशी में रखलें। मात्रा—४ माशे। अनुपान जल प्रातः सायं दो बार—इससे प्रमेह में लाभ होता है। शुक्र तारल्य (वीर्य का पतला होना) और थोड़ी सी उत्तेजना पर जिनका वीर्य स्राव होता है उनके लिये महौषधि है।

(१४) गूलर के कच्चे फलों को सुखाकर चूर्ण करलें।

मात्रा—दो माशे। इसमें १ रत्ती उत्तम लोह भस्म मिलालें। अनुपान मधु अभाव में पानी प्रातः सायम्। यह उदक मेह (मूत्र का अधिक आना) की उत्तम औषधि है।

(१५) बिल्व पत्र का रस २ तोला में मधु मिलाकर सेवन से मधुमेह में, इक्षुमेह में और शीतमेह में अच्छा लाभ होता है। बेल के पत्तों में पानी के छींटे देने पड़ते हैं तब रस निकलता है।

(१६) गुडमार बूटी प्रसिद्ध है इसका चूर्ण १॥ माशे पानी से प्रातः सायं दोनों समय। इसके सेवन से २-३ दिन में निश्चित ही शर्करा कम हो जाती है।

पुनश्च—मैं गुड़मार और जामुन की गिरी दोनों को मिलाकर देता हूं, रोग दबा रहता है। इसके अतिरिक्त केले का रस भी शर्करा कम करता है।

(१७) ज्यम्बोलिनम् ३० × होमियोपैथिक है इसकी दिन में २-३ मात्रा के सेवन से भी लाभ होता है।

(१८) नेट्रमसल्फ ६× नेट्रम फास ६× बायोकैमिक प्रतिदिन एक को प्रातः व दूसरी शाम को कुछ महीनों तक सेवन से मधुमेह में काफी लाभ होता है।

(१९) धात्री रसायन (स्वयं आविष्कृत)-पके आमलों का रस ५ सेर, शहद ३ सेर, धाय के फूल ८० तोला इनको मिलाकर चीनी के पात्र में या मिट्टी के चिकने पात्र में जैसे दूध चलाने की चलावनी में भर कर मुख बन्द कपड़ मिट्टी करके उसमें एक महीना रखदें या जमीन में दाब दें। एक मास बाद छानकर बोतल में रख लें।

मात्रा—१॥ तोला, समान भाग जल मिलाकर भोजन के बाद दोनों समय लें।

गुण—रसायन है। कफमेह, पित्तमेह, मधुमेह, प्रदर, रक्त प्रदर, अम्लपित्त, पांडु रोग, कामला, शुक्रतारल्य (वीर्य स्राव) सबको दूर करता है। यह प्रयोग मेरा आविष्कृत है, मैंने बहुत वर्ता है उत्तम योग है।

(२०) आमले का रस २ सेर निकाल कर किसी मिट्टी के पात्र में या चीनी के पात्र में रख दें। कुछ देर बाद आमलकी सत्व नीचे बैठ जायेगा तब रस को पृथक् कर दें। जितना रस हो उसमें दूनी चीनी मिलाकर शर्बत बना लें यथा आमले का शर्बत बन गया। नीचे बैठा सत्व को छाया में सुखाकर शीशी में रखलें। यह भी मेरा आविष्कार है। २ रत्ती त्रिवङ्ग १ तोला शर्बत में मिला कर प्रातः सायं चाटें। यह कफ प्रमेह दोनों में लाभ करेगा। इसी प्रकार आमले के सत्व में भी त्रिवङ्ग या अकेली वंग लें। सत्व १ माशा बङ्ग या त्रिवङ्ग २ रत्ती शहद से प्रातः सायं सेवन करें। यह सर्व प्रकार के प्रमेहों में लाभ करेगा।

(२१) मांजिष्ठ प्रमेहों में और हारिद्र प्रमेह में नवायस लोह ४ रत्ती मधु और घी से चटाकर ऊपर से गिलोय काढ़ा पिलावें प्रातः सायं निश्चित लाभ होगा। उक्त दोनों प्रमेहों में त्रिफला का या नीम का या गिलोय का हिम कषाय भी नवायसलोह का अनुपान उचित रहेगा।

प्राणाचार्य पं० हर्षु ल मिश्र प्रवीण बी०ए० (आनर्स) आयुर्वेदरत्न, आयुर्वेदाचार्य
सेवा निवृत्त आयु० विभागीय निरीक्षण अधिकारी, रायपुर (म०प्र०)

आयुर्वेद में बहुमूत्र नाम का कोई पृथक रोग नहीं है। आयुर्वेद में वर्णित उदकमेह शीतमेही बहुमूत्र रोग का प्रतीक है। बहुत मात्रा में जलवत बारबार मूत्र विसर्जन होना ही बहुमूत्र कहाता है। उदकमेह की भी यही स्थिति होती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की भाषा में इसे Polyuria कहते है। यह रोग प्रायः प्रौढ़ों और वृद्धों को अधिकतर होता है। यह रोग मधुमेही को भी होता है। दूसरे शब्दों में उदकमेही और शीतमेही को प्रायः मधुमेह हो ही जाता है। मधुमेही को होने वाला बहुमूत्र आयुर्वेद के शीतमेह के अन्तर्गत आजाता है। बिना शर्करा स्राव के जब बहुमूत्र होता है, तब वह उदकमेह के अन्तर्गत आजाता है। जब वह शर्करायुक्त हो जाता है और मूत्र की स्वाभाविक ऊष्मा कम हो जाती है तथा मूत्र का गुरुत्व कम अथवा जलवत हो जाता है, तब वह शीतमेह का रूप धारण कर लेता है। बहुमूत्र के रोगी को शर्करामेह, शीतमेह, इक्षुमेह, मधुमेह होजाने की सम्भावना रहती है। बहुमूत्र में शर्करास्राव की स्थिति कायम होजाने पर उसे आधुनिक पाश्चात्य चिकित्साविद् Glycosuria अथवा Dibeties Melitus कहते हैं। बहुमूत्र में विशिष्ट गुरुत्व (Specific gravity) जलवत होने से तैलकी बूंद मूत्र पात्र में छोड़ने से वह मूत्र के पूरे सतह पर फैल जाती है, न स्थिर रहती और न डूबती है। मधुमेह (Dibeties वा Glycosuria) में मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व (Specific gravity) प्रायः बढ़ जाता है, परिणामतः तैल बूंद मूत्र की सतह पर छोड़ने से वह स्थिर रहता है, फैलता नही। असाध्य मधुमेह में वह बूंद मूत्र की ऊपरी सतह से नीचे चली जाती है। बहुमूत्र में मूत्र विसर्जन की हाजत बार बार होती हैं। मूत्रका वेग आने पर रुकता नहीं। शीघ्रतापूर्वक मूत्र विसर्जन की व्यवस्था यदि नहीं हो सकी तो मूत्र के वेग को कितना भी रोको, मूत्र बाहर निकल ही पड़ता है और कपड़ा आर्द्र हो जाता है। युवावस्था में होने वाले बहुमूत्र में रोगी मूत्र के वेग को कुछ हद तक रोक सकता है, परन्तु ६० वर्ष से ऊपर के वृद्धों में बहुमूत्र की हालत में, मूत्र का वेग रोकना संभव नहीं रहता। बहुमूत्र के वृद्ध रोगियों की यह स्थिति बड़ी दयनीय होती है। पौरुष ग्रंथी और मूत्राशय ग्रीवा के स्नायु तंतुओं में शैथिल्य आने से मूत्रातिवेगी बहुमूत्र दयनीय स्थिति कायम हो जाती है। विशुद्ध उदकमेही (बहुमूत्र रोगी) को मूत्रातिवेगी दशा में भी मूत्र के साथ शर्करा का स्राव नहीं होता। बहुमूत्र रोगी को मूत्र के साथ जहां शर्करा जाने लगती है, वहां वह मधुमेह का रूप धारण कर लेता है तथा बहुमूत्र गौड़ व्याधी हो जाती है तथा शर्करा का स्राव प्रधान व्याधि बन जाता है। रक्त शर्करा एवं मूत्र शर्करा की स्थिति कायम होते ही उदकमेह (बहुमूत्र) की स्थिति बदल कर शीतमेह की स्थिति आजाती है, और यही स्थिति मधुमेह में परिणत हो जाती है। इसलिए उदकमेह (बहुमूत्र) होते ही उसको तुरन्त रोकने वाली चिकित्सा करनी चाहिए।

विशेष सूचना—स्त्रियों को भी बहुमूत्र रोग होता है, स्त्रियों की मूत्र के साथ ही शर्करा स्राव होता है। स्त्रियो के बहुमूत्र को सोम रोग की संज्ञा आयुर्वेद में दी गयी है। वैद्यगण स्त्रियों के बहुमूत्र को सोम रोग कहते हैं।

बहुमूत्र के सामान्य लक्षण—

प्रायः उदकमेह (बहुमूत्र) में प्रत्येक घण्टे दो घण्टे के अन्तर से बार बार अधिक मात्रा में जलसदृश मूत्र विसर्जन होता है। मूत्र जलवत सफेद शीतल और निर्गन्ध होता

है। मूत्रातिवेगी बहुमूत्र में मूत्र की ऊष्मा कम हो जाती है। मूत्र कुछ पीला किन्तु बार बार न रुकने वाले वेग के साथ होता है। परन्तु मूत्र विसर्जन के समय जितने वेग से मूत्र की हाजत होती है, उतने वेग से मूत्र मूत्रमार्ग से नही निकलता। मूत्र फूटे हुए वर्तन में रखे जल की तरह चूने लगता है। यह स्थिति बहुमूत्र रोगी को मैथुन शक्ति के ह्रास की प्रतीक है। बहुमूत्र रोगी को मूत्र विसर्जन मे कोई बाधा और कष्ट नही होता। बहुमूत्र के कारण आहार के पोषक तत्व, जलतत्व, जलरूप मे शरीर से बाहर निकलने लगते हैं, जिससे बहुमूत्र रोगी का शारीरिक बल क्षीण होने लगता है। बहुमूत्र रोगी की मस्तिष्क की अमृत ग्रंथी (Pituitary gland) और वृक्को मे भी विकृति आ जाती है। इसी विकृति के कारण ही बहुमूत्र होता है।

बहुमूत्र रोगी की चिकित्सा मे प्रारभिक रेचनकर्म—

सर्व प्रथम बहुमूत्र रोगी को विशुद्ध एरण्ड तैल (Pure castor oil) ५ तोला को १ पाव गरम दूध मे डालकर, उस दूध को प्रातः सुखोष्ण पिलावें। जब विरेचन हो चुके तब गेहूं की दलिया की गो दुग्ध मे बनी यवागू सेवन करावें। इसके बाद नीचे लिखी औषधियो का प्रयोग करें। एरण्ड तैल की ५ तोला मात्रा सबल स्त्री पुरुषों के लिये है। निर्बल व्यक्ति को २ तो० से ३ तोला तक की मात्रा उपयुक्त है।

बहुमूत्र की सफल अनुभूत औषधि योजना—

(१) घृतपक्व हरिद्रा चूर्ण १ माशा + तवकिया पीली हरताल भस्म १ रत्ती प्रात. सायं मधु और घृत से चटावें।

(२) अर्जुनत्वक् चूर्ण १ माशा + वज्राभ्रक भस्म सहस्रपुटी १ रत्ती नित्य प्रातः सायं मधु से चटावें।

(३) बबूल की कोमल शुष्क फलियों का चूर्ण १ माशे बबूल पत्र चूर्ण १ माशा, लोह भस्म (जलतर) १ रत्ती सबकी १ मात्रा बनाकर प्रातः सायं मधु से चटावें। इससे बहुमूत्र (उदकमेह-शीतमेह) इक्षुमेह मधुमेह मिटते हैं।

(४) हर्पुलकफजमेहारि वटी—बकायन (महानिम्ब) के बीज की मींगी का चूर्ण २ तोला, बबूल की कोमल फली का शुष्क चूर्ण २ तोला, काली मिर्च का चूर्ण २ तोला, स्वर्ण माक्षिक भस्म २ तोला, सूर्यतापी लोह शिलाजीत ४ तोला, बरियारी की जड का चूर्ण ८ तोला, सबका मिश्रण बनाकर घृत और शहद से सान कर एक-एक माशे के वटक बनाले। एक से २ वटक प्रातः साय गाय के गरम दूध से सेवन करें तो १५ दिन में बहुमूत्र, शीत मेह, इक्षुमेह मे राहत मिलती है। दशो प्रकार के कफजप्रमेह इसके सेवन से मिटते हैं। ३ माह के सेवन से स्थायी लाभ होता है।

(५) हर्पुल अति मूत्रांतक वटी—बरियारी (खरैंटी) की जड़ की त्वचा का चूर्ण ४ तो०, बीजबंद लाल ४ तो०, बीज बन्द (काला वा स्याम) ४ तोला बकायन के बीज का चूर्ण ४ तो०, शुद्ध कुचला चूर्ण ४ तो०, सूर्यतापी शुद्ध लौह शिलाजीत ४ तो०, कांतलौह भस्म (हिंगुल-योगेन जारित ६० पुटी जलतर १ तोला, बंग भस्म (तवकिया हरताल योगेन जारित १० पुटी जलतर) २ तो., नागभस्म तिलपर्णी के स्वरस योगेन जारित हरित वर्ण २ तो० (सहस्त्रपुटी अभ्रक २ तो०। सब औषधियों को खरल मे डालकर मेथी के पत्रों के स्वरस की भावना देकर आधा माशे की वटी बना ले। मात्रा १ से २ वटी प्रातः सायं मधु मिश्रित सुखोष्ण गो दुग्ध के अनुपान से सेवन करें।

गुण—इसके सेवन से उदकमेह और समस्त कफजमेह तथा बहुमूत्र निःसंदेह दूर होते हैं। यह मधुमेह में शर्करा के स्राव को रोकता है। रक्त की अस्वाभाविक बढ़ी हुई शर्करा को भी कम करता है। स्त्रियों के सोम रोग पर भी लाभकारी है।

(६) सर्पगंधा चूर्ण २ रत्ती, सहस्रपुटी अभ्रक भस्म १ रत्ती, शुद्ध कुचला १ रत्ती सबको मिलाकर १ मात्रा बनालें। प्रातः सायं अमृतास्वरस १। तो०, मधु ६ माशा में मिला-बहुमूत्र रोगी (उदकमेही) को चटावें तो बहुमूत्र का वेग ७२ घण्टे मे थम जाता है। १ से ३ माह तक सेवन करते रहने से स्थायी लाभ होता है। यह योग युवा, प्रौढ़, वृद्ध स्त्री पुरुष सबके लिये उपयोगी है। कफज प्रमेह, मधुमेह, स्त्रियो के सोम रोग मे भी लाभ करता है।

(७) जामुन की छाल का चूर्ण १ माशा + घृतपक्व हरिद्रा चूर्ण १ माशा + प्रवाल पंचामृत, २ रत्ती, प्रात. सायं मधु से चाटने से बहुमूत्र का वेग बार बार नही आता। कुछ दिन लगातार सेवन करने से बहुमूत्र रोग स्थाई रूप से आराम हो जाता है।

डायलैसिस

निर्देशक—डा. सत्यपाल गुप्ता, प्रवक्ता—ललित हरि राज. आयु. कालेज, पीलीभीत (उ.प्र.)
लेखक—डा. विजयकुमार वार्ष्णेय, कटरा बाजार, सहावर टाउन (एटा) उ.प्र.
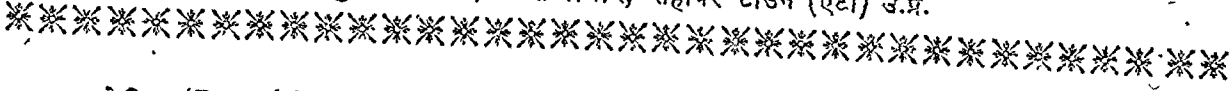
डाइलेसिस (Dialysis) का शाब्दिक अर्थ किसी भी द्रव का शुद्धिकरण करना है। वह द्रव जिसको शुद्ध करना है और जो लगातार गतिशील है उसको जल या घुलनशील पदार्थ से किसी पतली झिल्ली के द्वारा प्रथक करना।

डाइलेसिस प्रायः वृक्क कार्य की क्षमता पूर्णतः समाप्त होने पर वृक्कावसाद (Renal failure) की अवस्था में किया जाता है। जब औषधि चिकित्सा से वृक्क की मूत्र निर्माण प्रक्रिया नहीं सुधरती है तो रक्त की विषमयता को दूर करने के लिए डाइलैसिस का प्रयोग करते है। ये दो प्रकार का होता है—

(१) कृत्रिम वृक्क (Heamodialysis)

(२) उदरावरण कलान्तर्गत (Peritoneal dialysis)

निर्देश—

(१) प्रायः उस समय करते हैं जब रक्त में यूरिया की मात्रा 300–400 mg./100c.c. से अधिक हो जाती है।

(२) यदि सीरम में पोटाशियम मात्रा बढ़कर 6.5 MEq/L (सामान्य मात्रा 3.5–5.0MEq/L) हो जाय अथवा सीरम में बाईकार्बोनेट की मात्रा 13MEq/L से कम हो जाये।

आमतौर पर डाइलैसिस मूर्च्छा (fits stupor), सर्वाङ्ग शोथ, संन्यास आदि लक्षण शुरू होने से पहले कर देना चाहिए।

(१) कृत्रिम वृक्क द्वारा हीमोडाइलैसिस या एक्स्ट्रा-कार्पोरल डाइलैसिस—

इस विधि में जिस यन्त्र का प्रयोग वृक्क कार्य की तरह निस्यन्दन के लिए करते है उसको कृत्रिम वृक्क कहते हैं। इसका सिद्धान्त है कि इस यन्त्र में लगी हुई सेलोफेन ट्यूब के द्वारा रक्त का विषमयताजन्य पदार्थ अर्थात् रक्तगत यूरिया आदि जोकि अग्निप्रक्रिया (Metabolism) के द्वारा उत्पन्न दूषित पदार्थों को कालापन को छोड़कर पानी में छन जाते है अर्थात् रोगी का रक्त नलिकाओं में परिभ्रमण करता हुआ Rinsing fluid के सम्पर्क में आकर सेलोफेन ट्यूब की झिल्ली के द्वारा परासरणक्रिया (Osmosis action) से इस द्रव में रक्त का विष छन जाता है। यहां पर रक्त के विष अर्थ Metabolites से है।
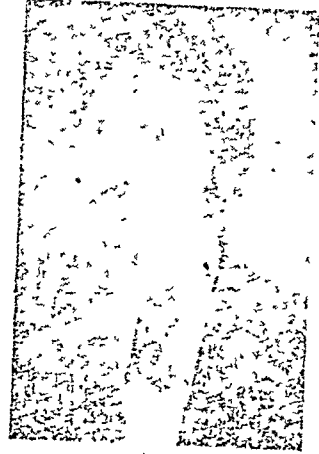
—लेखक—

यह प्रक्षालक द्रव (Rinsing fluid) जल, ग्लूकोज एवं इलैक्ट्रोलाइट से मिलकर बनता है। यह रक्त की परासरण प्रक्रिया रक्तगत यूरिया एवं Electrolytes की सान्द्रता पर निर्भर करती है।

जैसे—यदि रक्तगत यूरिया अधिक है और प्रक्षालक में यूरिया नहीं है तो यूरिया रक्त से प्रथक होकर प्रक्षालक द्रव में आ जाता है। जबकि सीरम सोडियम की सान्द्रता एवं विद्रावक द्रव की सान्द्रता सामान्य मात्र है

तो सोडियम रक्त से नहीं छनेगा। ये ध्यान रहे कि प्रक्षालक की सांद्रता का बना रहना। इस कार्य प्रणाली में अत्यन्त आवश्यक है कि प्रक्षालक द्रव रक्त में वापिस नहीं जाये।

इसके लिए प्रक्षालक द्रव प्लाज्मा की अपेक्षाकृत अधिक शक्ति वाला (Hypertonic) होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस द्रव में ग्लूकोज की सान्द्रता अधिक रहे। यह यन्त्र इस प्रकार का निर्मित हो जोकि पायरोजन प्रतिक्रिया, रक्त स्कन्दन, रक्तस्राव (Thrombosis) और Heamolysis आदि उपद्रव न कर सके। रक्त स्कन्दन Heparinization से रोका जा सकता है। परन्तु रक्तस्राव बहुत भयङ्कर उपद्रव है जोकि स्थानिक हैपाराइजेशन से रोका जा सकता है।
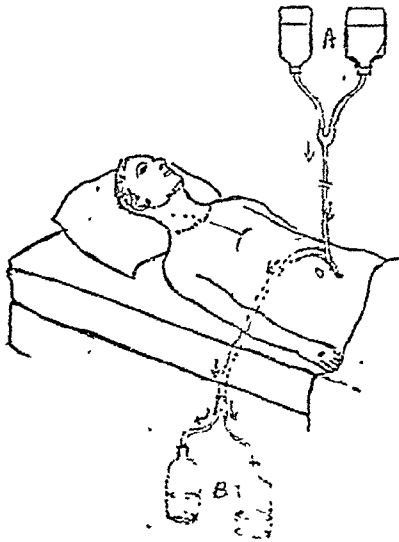
चित्र सं०—३६
डाइलैसिस पर रखा रोगी

ये शुद्ध रक्त इन सेलोफेन नलिकाओं से भ्रमण करता हुआ शुद्ध होकर सिरा में वापिस आ जाता है। इस हीमो-डाइलैसिस के प्रभाव से १२-२४ घण्टे के अन्तर्गत रोगी को कोई यूरीमिक लक्षण नहीं होते हैं।

(२) उदरावरण कलान्तर्गत (Peritoneal) डाइलैसिस—

यह विधि बहुत ही लाभदायक एवं साधारण है। इसका प्रयोग रक्तज मूत्र विषमयता (Ureamia) की प्रारम्भिक अवस्था में मूत्रविष (Nitrogen metabolites) को शरीर से बाहर निकालने के लिए करते हैं। परन्तु यह विधि उक्त Heamodialysis की अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली होती है।

इसको विशेष साधनों (तकनीकी ज्ञान) एवं केन्द्र की आवश्यकता नहीं पड़ती और आर्थिक दृष्टि से भी अल्पव्यय होता है। इसमें उदरावरण कला ही डाइलैसिस हेतु कला का कार्य करती है।

विधि—सर्वप्रथम रोगी को उत्तान स्थिति में लिटाकर मूत्राशय को कैथीटर से खाली करके रोगी के उदर को, उदरशल्य क्रिया की तरह बाल आदि साफ करके विसंक्रामक विलयन से साफ करे। फिर नाभि और भगास्थि (Pubic bone) के मध्य रेखा (Line alba) के नीचे १/३ भाग पर छोटासा (आधा सैन्टीमीटर) भेदन कर्म स्थानीय संज्ञाहरण करके करना चाहिए जिससे व्रीहियन्त्र (Trocar and canula) उदरावरण गुहा में जा सके। एक पोलीथीन ट्यूब जो ३५ सैन्टीमीटर लम्बी तथा व्यास में ०.३ एमएम. हो एवं इसके अन्तिम सिरे १० सैन्टीमीटर लम्बाई में अनेकों छिद्र हों वह उदरावरण गुहा में डाल दी जाती है।

डाइलैसिस प्रारम्भ करने से पहले उदावरण गुहा को दो लीटर डाइलैसिस हेतु द्रव को ११ या १५ नं० गॉज की २॥ इन्च लम्बी सूची से वेधन कर्म (Puncturing) करके भर दें। फिर सूची निकाल कर वेधन स्थान को धमनी संदंश से फैलाकर उस छिद्र में एक कैनूला या स्टिलेट डाल दें। यदि बार-बार डाइलैसिस की आवश्यकता पड़े तो टेनकोफ (Tenckhoff) नाम का कैथीटर प्रयोग में लायें।

उदरगुहा में डाइलैसिस द्रव डालने से पहले थोड़ा गरम कर लें जिससे उदरावरण गुहा से द्रव शीघ्र निकलता है। दो लीटर द्रव का उदरावरण गुहा में डालना और उससे निकालना Single Exchange कहलाता है। कुछ विशिष्ट रोगों में जैसे संकोचक हृदयावसाद, श्वसनक की व्याधियां, पानी बदलना आदि रोगों में एक लीटर द्रव प्रयोग में लाया जाता है।

द्रव को उदरावरण गुहा में भरने का समय १० मिनट लगना चाहिए और गुहा में द्रव रुकने का समय ३०-४५ मिनट रहता है और उदरावरण गुहा से द्रव

निकलने का समय १०-३० मिनट होता है अर्थात् एक पूरा बदलाव होने में १-१॥ घन्टा लगता है। यदि बदलाव १२-३६ घंटा तक बीच में कई बार करना चाहिये। आमतौर पर १२-२५ बदलाव (२५-५० लीटर द्रव से) किये जाते हैं। ३६ घण्टे से अधिक करने पर शोथ एवं उदरावरण कला शोथ की सम्भावना रहती है। यदि और अधिक डाइलैसिस की आवश्यकता हो तो दो या तीन दिन का अन्तर देकर करें।

कभी-कभी उदरावरण गुहा में वेधन करने पर उदरावरण गुहा में रक्त के थक्के एकत्रित हो जाते हैं और कैथीटर के मुख को अवरुद्ध करके डाइलैसिस हेतु द्रव को निकालने में अवरोध उत्पन्न करते है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कुछ चिकित्सक इस द्रव में १००-१००० यूनिट हैपरीन मिला देते हैं। यदि तीन बदलाव के उपरान्त लालिमा युक्त द्रव नही निकले तो हैपरीन नहीं मिलायें। यह निष्कासित द्रव बिल्कुल साफ एवं रङ्गहीन होता है। कभी-कभी यह पीला और रक्तयुक्त हो सकता है। जब कैथीटर या पोलीथीन नलिका को निकालें तो एन्टीबायोटिक मरहम लगाकर विसंक्रमित पट्टी बांधें। थोड़ा द्रव का व्रण से स्रवण (Oozing) हो सकता है। उसकी चिन्ता न करें।

निर्देश—

कभी-कभी ड्रेनेज बहुत धीमा एवं बूंद-बूंद करके हो सकता है तब कैथीटर की ओर हाथ से उदर पर दबाव दें। साथ ही रोगी को करवट दिलायें और रोगी को सिर की ओर से उठायें तो निकलने वाला बहाव बढ़ जाता है। इस प्रक्रिया को करते समय रोगी का नियमित भार नाड़ी और रक्तचाप नोट करना चाहिये जिससे रोगी जलाधिक्यता (Over hydration) और Volume depletion में नहीं जाये। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन सीरम, इलैक्ट्रोलाइट्स, रक्तगत यूरिया क्रिटेनिन और शर्करा की मात्रा का परीक्षण कराएं। साथ ही डाइलैसिस से निकले द्रव का रंजन (culture) करना चाहिये। कभी-कभी रोगी को औषधि (Antibiotic etc.) देते हैं वह भी डाइलैसिस के द्रव के साथ निकल जाती है।

उपद्रव—

(१) साधारण उपद्रव के रूप में उदर में कष्ट एवं भारीपन, श्वासकष्ट हो सकते हैं।

(२) द्रव का स्रवण वेधन स्थान से हो सकता हैं। जोकि निःसंक्रमित बन्धन या दबाव से रोका जा सकता है।

(३) कभी-कभी तीव्र उदरशूल—द्रव के उदरावरण गुहा में द्रव भरते समय और निकलते समय हो सकता है। इसके लिए २% प्रोकेन सोलूशन ५ मिली. कैथीटर के द्वारा डाल देते हैं।

(४) कभी-कभी आन्त्र, मूत्राशय या वृहद धमनी या सिरा को क्षति हो सकती है।

(५) उदरावरण कला शोथ ५% तक हो सकती है।

(६) फुफ्फुस शोथ सम्बन्धी उपद्रव हो सकते हैं जैसे Atelectasis and Hydrothorax.

(७) कभी कभी रक्त में पानी की कमी (Volume depletion) के कारण हृत्स्पन्दन (tachycardia) हो सकता है और रोगी को रक्तचापाधिक्य, हृदयावसाद और वृक्क कार्यविसाद हो सकता है।

(८) कभी-कभी शर्कराधिक्यताजन्य संन्यास (Hyperglycaemic Hyperosmolal coma) हो सकता है।

(९) हृदय रोगी के लिए डाइलैसिस करने से पहले डिजीटैलिस औषधि देना बन्द कर दें।

(१०) वागस नर्व की उत्तेजना से हृदय का भयङ्कर Bradyarrhythmia हो सकती है।

(११) मधुमेह रोगी को शर्कराधिक्यता (Hyperglycaemia) उत्पन्न हो सकता है।

(१२) डाइलैसिस शारीरिक असन्तुलन के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे-शिरःशूल, आक्षेप, मूर्च्छा, अरुचि वमन, मानसिक चिन्ता आदि।

उपरोक्त उपद्रव हीमोडाइलैसिस में भी मिल सकते हैं।

उदरावरण कलान्तर्गत डाइलैसिस हेतु द्रव—

घोल (विलयन)	G/L	MEQ/L	MOSM/L
सोडियम (१)	३.०३	१३२	१३२
कैल्सियम (२)	०.०७	३.५	१.८
मैग्नीसियम (३)	०.०२	१.५	०.८
क्लोराइड-	५.५६	९६.२	९६ १
लैक्टेट (४)	३.१२	३५.०	३५.०
डैक्ट्रोज [१.५%] (५)	१५.००	—	७५.१
योग		२७१ १	३४४.५

—शेषांश पृष्ठ १२६ पर देखें।

अल्पमूत्रता

कवि० श्री डा० गिरिधारीलाल मिश्र ए०,एम०बी०एस० (विशेष सम्पादक-धन्वन्तरि)

[१] द्रवापहरण (Dehydration)—तीव्र अतिसार, प्रवाहिका, वमन, अतिस्वेदन आदि कारणों से शरीर से अधिक भाग में जलीयांश का निर्हरण हो जाता है जिससे मूत्र मात्रा घट जाती है।

[२] ज्वर—सामान्यतः ज्वर में मूत्र की राशि कम ही रहती है और यदि उचित मात्रा में जल सेवन न हो तो मूत्र की राशि और भी कम हो जाती है।

[३] हृदय की दुर्बलता—विशेषतः हृदय के दक्षिणार्द्ध की असंतुलित (Decompensated) स्थिति में मूत्र की राशि बहुत कम होती है। इसके अतिरिक्त रक्तचाप और यकृदाल्युदर में भी मूत्र की राशि घट जातीहै।

[४] वृक्क शोथ तथा मूत्र विषमयता आदि रोगों का एक लक्षण अल्पमूत्रता भी है। अतः अल्प मूत्रता के लक्षणों के आधार पर प्रमुख रोग का निदान कर उसकी चिकित्सा करने से अल्पमूत्रता स्वतः दूर हो जाती है।

अल्प मूत्रता की सीमा—स्वस्थ मनुष्य की दिन-रात की मूत्र राशि १४०० मिली या १॥ लीटर लगभग होता है, पर जल की मात्रा बहुत कम करने पर भी ७०० मि. ली. से कम मूत्र नहीं बनता। इसलिये ७०० मिली. से भी कम मूत्र राशि प्रतिदिन (२४ घंटे) की हो तो उसे अल्पमूत्रता कह सकते हैं।

निदान—

अल्पमूत्रता के लक्षण मूत्राघात व अमूत्रता या मूत्र विबन्ध से सम्बन्धित होते हैं। पौरुष ग्रन्थि वृद्धि और वृक्क शोथ व वृक्क विकारों में भी अल्पमूत्रता के लक्षण होते हैं। अल्पमूत्रता की स्थिति में मूत्र मार्ग में सलाई (कैथेटर) डालकर देखना चाहिये। क्योंकि किसी रोग के कारण यदि मूत्र का अवरोध हुआ होगा तो कैथेटर डालने से काफी मूत्र निकल आता है, क्योंकि यह वास्तविक अल्पमूत्रता न होकर अवरोधजन्य होती है।

चिकित्सा—

रोग के कारण के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये। यदि अतिसार आदि कारणों से शरीर के द्रवापहरण के कारण रोग हुआ हो तो पानी में ग्लूकोज मिलाकर व निम्बू का शर्बत बनाकर पिलाना चाहिये। रोग की उग्रावस्था में शिरा द्वारा नार्मल सलाइन चढ़ाने से तत्काल लाभ होता है। ज्वरावस्था में संजीवनी वटी, त्रिभुवन कीर्ति रस को अमृता सत्व से देने से स्वेद तथा मूत्र द्वारा दोष निर्हरण होता तथा मूत्र प्रवृत्ति भी होती है।

आयुर्वेदीय मूत्र योग—(१) श्वेत पर्पटी १ माशा + मिश्री १ माशा, यवक्षार १ माशा + मिश्री १ माशा ठंडे पानी से देने से अल्पमूत्रता दूर हो जाती है। धारोष्ण दूध या दुग्ध की लस्सी, गन्ने का रस तथा सन्तरे का रस, निम्बू का शर्बत पीना लाभदायक है। गोक्षुरादि गुग्गुल का प्रयोग भी स्मरणीय है।

एक निदानज्ञ की दृष्टि में........

प्रमेह

वैद्य जगदीश के. पुरोहित

कारण—

तेषां मेदोमूत्र कफावहम् ॥१॥

अन्नपान क्रियाजातं, यत्प्रायस्तत्प्रवर्तकम् ।
स्याद्वम्ललवण स्निग्ध गुरुपिच्छिल शीतलम् ॥२॥

नवधान्य सुरानूपमांसे इक्षुगुडेगोरसम् ।
एक स्थानासनरतिः शयनं विधिवर्जितम् ॥३॥

—वा॰ नि॰ अ॰ १०

वाग्भट्टाचार्य ने प्रमेह रोग होने का कारण निम्नोक्त बताया है—मधुर द्रव्य, अम्लगुण युक्त द्रव्य, लवण पदार्थ, स्निग्ध गुण युक्त द्रव्य, गुरु गुण वाले द्रव्य, पिच्छिल और शीत गुण वाले पदार्थों का अति सेवन, नया धान, सुरा, आनूप देश के प्राणी का माँस का अति सेवन, इक्षु या इक्षु-रस का अधिक सेवन, गुड़, दुग्ध, घृत, गोरस, मट्ठा, तैल वि॰ स्निग्ध-गुरु आहार का अति सेवन, एक ही स्थान पर या आसन पर लोटना, अर्थात् व्यायाम आदि का अभाव याने कि आरामदायक, वैभवयुक्त जीवन बनाने की क्रिया, दिवास्वाप (दिन में सोना) और रात्रि के समय जागना, प्रकृति के नियम के विरुद्ध आहार-विहार करना ये सर्व प्रक्रिया (अन्न, पान, क्रिया) वसा, मूत्र, और कफ ये तीनों को दूषित करता है । और "प्रमेह रोग" उत्पन्न करता है । आधुनिक चिकित्सक उसे "डायेबिटिज्" कहते हैं ।

सामान्य लक्षण—

सामान्य लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता । —वा. नि

प्रमेह रोग का सामान्य लक्षण बताते हुए वाग्भट्ट ने "प्रभूत आविल मूत्रता" शब्द प्रयोग किया है । अर्थात् पेशाब अधिक होता है और आविल युक्त गंदा दूषित (सफेद रङ्ग का) पेशाब होता है ।

मूत्राशय से उतरकर बारबार पेशाब मूत्रनली द्वारा बाहर निकलता है । इसलिए स्वभाव से ही शरीर में रुकावट हो आती है । बाद में जैसा प्रमेह हो वैसे ही चिह्न हो जाते है । अगर कफज प्रमेह होगा तो उसके लक्षण उससे मिल जायेंगे । वातज प्रमेह होगा तो उसमें प्रमेह की प्रारम्भिक अवस्था यही होती है । प्रमेह में शरीर की धातु पेशाब के साथ निकलती है ।

पूर्वरूप—

पूर्वरूप उसे कहते हैं जो रोग के पहले हो, रोग पैदा होने के पहले जो चिह्न होते हैं उन्हें ही "पूर्वरूप" कहते हैं । बुखार होने से पहले जैसे शरीर गर्म होने लगता है । पेट में दर्द होने से पहले जैसे आमाशय कठोर होने लगता लगता है । उसी तरह के चिह्न प्रमेह रोग से पहले भी होते है । पूर्वरूप देखकर ही किसी भी रोग का अनुमान सहज में ही किया जाता है—

"तेषान्तु पूर्वरूपाणि, हस्तपादतलदाहः स्निग्ध पिच्छिल गुरुता, गात्राणां मधुर शुक्रमूत्रता तन्द्र सादः पिपासा, दुर्गधश्च, श्वास कास तालु गल जिह्वा दन्तेषु मलोत्पत्ति जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानां । तत्र आविलं प्रभूत मूत्रलक्षणाः सर्वे एवं प्रमेहाः सर्व एव दोष समुत्था सह पिडिकाभिः । —सु॰ नि॰

प्रमेह रोग के पूर्वरूप ये हैं–हथेली और तलवे गरम रहने लगते हैं । शरीर में कुछ चिकनापन, गाढ़ापन और भारीपन होने लगता है । मूत्र मधुर और सफेद होने लगता है । आंखें झपी सी रहने लगती हैं । शरीर में थकावट सी मालूम होने लगती है । प्यास अधिक लगती

है। सांस में बदबू और तालु गला, जिह्वा, दांत इनमें मैल जमने लगते हैं। बाल मलिन और उलझे हुए से होने लगते हैं। अंगुलियों के नाखून जल्दी बढ़ना, पेशाब का गंदला और अधिक होना ये प्रमेह के खास चिह्न हैं। घनघोर वृष्टि के आने से पहले जैसे वायु का तूफान उठने लगता है ठीक उसी तरह प्रमेह के पहले ये लक्षण पैदा होने लगता है। यह जरूरी नहीं कि सारे चिह्न एक साथ ही पैदा हो जांय और एक ही रोगी को जाय। इन चिह्नों में से २-४ चिह्न ही प्रमेह के परिचायक होने लगते हैं।

प्रमेह रोग के भेद—

प्रमेह के मुख्य तीन प्रकार हैं—(१) वातज प्रमेह, (२) पित्तज प्रमेह. (३) कफज प्रमेह।

वातादि तीन दोषों और मेद मांस आदि धातुओं की विशेषता और संयोग की विशेषता से मूत्र या पेशाब के रंग विशेष में जो फर्क होता है उसीसे प्रमेहों के बीस [२०] भेद बताये हैं।

वातज प्रमेह के भेद	चार।
पित्तज प्रमेह के भेद	छः।
कफज प्रमेह के भेद	दश।

कफज प्रमेह की सम्प्राप्ति—

वस्तिमाश्रित्य कुरुते प्रमेहान् दूषितः कफः।
दूषयित्वा वायुक्लेद स्वेद मेदो रसाभिपम्॥
[वा. नि. अ. १०]

उपरोक्त कारण से शरीरस्थ प्रकुपित कफ मूत्राशय में रहकर क्लेद, स्वेद, वसा, रसधातु और मांस धातु को दूषित करता है और वे 'कफज प्रमेह' के अन्तर्गत उदकमेह आदि दस प्रकार के प्रमेह पैदा करता है।

पित्तज प्रमेह की सम्प्राप्ति —

पित्तं रक्तमपि क्षीणे कफादौ मूत्रं संश्रयम्॥

अधिक गरम, चरपरे पदार्थों के खाने से जब पित्त कुपित हो जाता है तब वह कफादि धातुओं का क्षय कर देता है। उनके दूषित होने पर पित्त पेशाबगत रस, रक्तादि धातु, क्लेद, स्वेद, वसा आदि को दूषित करके क्षारमेह आदि छः 'पित्तज प्रमेह' पैदा करता है।

वातज प्रमेह की सम्प्राप्ति—

धातून वस्तिमुपानीय तत्क्षयेऽपिच मारुतः॥

जब शरीर में कफ और पित्त क्षीण हो जाते हैं, तब वायु कुपित हो उठता है और फिर वह (प्रकुपित वात) रसादि धातु, वसा, मज्जा, लसीका और ओज इनको खींचकर पेशाब की थैली पर ला घेरता है। फिर वे पेशाब द्वारा बराबर निकल जाते हैं और वसामेह आदि चार प्रकार के प्रमेह पैदा करता है।

कफज प्रमेह के भेद—(दश)

१. उदकप्रमेह, २. इक्षुमेह, ३. सांद्र प्रमेह, ४. सुरा प्रमेह, ५. पिष्ट प्रमेह, ६. शुक्र प्रमेह, ७. सिक्ता प्रमेह, ८. शीत प्रमेह, ९. शनैः प्रमेह, १०. लाला प्रमेह।

पित्तज प्रमेह के भेद—(छः)

१. क्षार प्रमेह, २. नील प्रमेह, ३. काल प्रमेह, ४. हरिद्र प्रमेह, ५. मंजिष्ठ प्रमेह, ६. रक्त प्रमेह।

वातज प्रमेह के भेद—(चार)

१. वसा प्रमेह, २. मज्जा प्रमेह, ३. क्षौद्र प्रमेह, ४. हस्ति प्रमेह।

प्रमेह में सामान्य लक्षण एक ही फिर भेद क्यों?

दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः।
मूत्रवर्णादि भेदेन् भेदो मेहेषु कल्प्यते॥ —वा. नि.

दोष और दूष्य में फर्क नहीं फिर भी ये दोष और दूष्य के अपने अपने विशेष संयोग से मूत्र का रङ्ग, गन्ध स्वाद, स्पर्श आदि में जो फर्क मालूम होता है इससे ये सभी भेद पाये जाते हैं।

प्रमेह के नाम	दोषादि प्रकार	सामान्य लक्षण	
(१) इक्षुमेह	कफज प्रमेह	इक्षुरस समान, मधुर, अतिप्रमाण,	सुखसाध्य, (उत्तम चिकित्सा से)
(२) उदकमेह	कफज प्रमेह	शीत, श्वेतवर्ण युक्त, निगन्ध, जल समान, गंदला पिच्छिल मूत्र प्रवृत्ति।	सुखसाध्य
(३) सान्द्रमेह	कफज प्रमेह	दर्दी का पेशाब रात्रि भर रखने से घट्ट सा हो जाता है।	सुखसाध्य

प्रमेह के नाम	दोषादि प्रकार	सामान्य लक्षण	
(४) सुरामेह	कफज प्रमेह	सुरा तुल्य पेशाव और रात्रीभर पेशाव को रखने से (दर्दी का पेशाब) ऊपर से पतला और नीचे घट्ट, मटियाला रङ्ग जैसा होता है।	सुखसाध्य
(५) पिष्टमेह	कफज प्रमेह	चावलों के धोवन जैसा, श्वेत, अति प्रमाण में होता है। दर्दी में रोमहर्ष लक्षण मिलते हैं।	सुखसाध्य
(६) शुक्रमेह	कफज प्रमेह	वीर्य समान या शुक्र के साथ मूत्रप्रवृत्ति।	सुखसाध्य
(७) सिक्ताप्रमेह	कफज प्रमेह	पेशाब के साथ श्वेत बालू, दर्दसह मूत्रप्रवृत्ति।	सुखसाध्य
(८) शीतमेह	कफज प्रमेह	मधुर, शीत, अति प्रमाण में मूत्र प्रवृत्ति समय रोमहर्ष, शीत लगना।	सुखसाध्य
(९) शनैमेह	कफज प्रमेह	शनैमेही धीरे धीरे पर मिकदार में कम मूतता है। (रुक-रुक कर कम पेशाब प्रवृत्ति)	सुखसाध्य
(१०) लालामेह	कफज प्रमेह	लालातन्तु समान, पिच्छिल पेशाब प्रवृत्ति	सुखसाध्य
(११) क्षारमेह	पित्तज प्रमेह	पेशाब का रस, गंध, स्वाद और स्पर्श (सब) क्षारयुक्त (खारी जल समान)।	कष्टसाध्य
(१२) नीलमेह	पित्तज प्रमेह	"नीलार्थ" नीले रंग का पेशाव, अधिक प्रमाण में, पेशाव करने के जगह पर नीले रङ्ग का अस्थिर दाग।	कष्टसाध्य
(१३) कालमेह	पित्तज प्रमेह	काजल समान मूत्रप्रवृत्ति।	कष्टसाध्य
(१४) हारिद्रमेह	पित्तज प्रमेह	कटु, हरिद्रा जैसा, दाहयुक्त, पीतवर्ण का पेशाब होता है।	कष्टसाध्य
(१५) मंजिष्ठमेह	पित्तज प्रमेह	मजीठ के पानी जैसा रङ्ग, बदबू युक्त पेशाव होता है।	कष्टसाध्य
(१६) रक्तमेह	पित्तज प्रमेह	रोगी का पेशाब लाल वर्ण का, गर्म, खाराश युक्त, दाहयुक्त और बदबू युक्त होता है।	कष्टसाध्य
(१७) वसामेह	वातज-प्रमेह	वसायुक्त या "वसा" का ही पेशाब होता है।	असाध्य
(१८) मज्जामेह	वातज प्रमेह	मज्जायुक्त या "मज्जा" का ही पेशाब होता है। लेकिन बारबार होता है।	असाध्य
(१९) हस्तिमेह	वातज प्रमेह	मदमस्त हाथी के मद जैसा वेगविहीन, लसिका युक्त पर मिकदार में ज्यादा मूतता है। पेशाब विबन्ध वाला होता है।	असाध्य
(२०) क्षौद्रमेह	वातज प्रमेह	दूसरा नाम "मधुमेह"। पेशाब शहद के रङ्ग का, मधुर, कषैला और रूखा होता है।	असाध्य

साध्यासाध्यत्व में फर्क क्यों?

साध्ययाप्य परित्यज्या, मेहास्तेनैव तद्भवाः।
समासम क्रिय तया, महात्यय तयाऽपि च॥
[वा. नि. अ. १०]

उपरोक्त कफज दस प्रमेह सुख-साध्य, पित्तज छः प्रमेह कष्टसाध्य और वातज चार प्रमेह असाध्य बताये हैं।

कफज प्रमेह इसलिए साध्य हैं कि केवल मेद आदि धातुओं के दूषित होने से होता है। कर्पण रूप एक क्रिया से ही नाश हो जाते हैं यानी इसकी औषधि क्रिया समान है। ये केवल एक कफ को ठीक करने से आराम हो जाते

हैं। किसी को घटाना और किसी को बढ़ाना नहीं पड़ता। कफज दस प्रमेह में दोष और दूष्य एक ही होने से साध्य है।

पित्तज प्रमेह इस कारण से कष्टसाध्य है कि ये कफ आदि सौम्य धातुओं के क्षय होने पर, मेद आदि दूषित होने से होते हैं। इनकी औषधि क्रिया कफज प्रमेहों की तरह समान नहीं, असमान है। ये मधुर और रूखी आदि विषम क्रिया से नाश होते हैं। विषम इसलिए कि शीतल और मधुर पदार्थ पित्त को शान्त करते हैं। पर मेद को बढ़ाते हैं। उधर गरम और कटु पदार्थ मेद को नाश करते हैं, पर पित्त को बढ़ाते हैं। इसलिए पित्तज छः प्रमेहों में मधुर और रूखी एवं असमान चिकित्सा करते हैं क्योंकि मधुर से पित्त शान्त होता है और रूक्षता से मेद आदि बढ़ने नहीं पाते। इस तरह दोष दूष्य की विषम क्रिया हो जाने से पित्तज प्रमेह कष्टसाध्य है।

वातज प्रमेह को असाध्य बताते हुए कहा है कि वातज प्रमेह सारी धातुओं के क्षय होने से होते हैं। वायु मज्जा आदि गम्भीर धातुओं को आकर्षण करने से पीडित करता है। वातज प्रमेह में सारी धातुयें क्षय होती हैं और उनकी चिकित्सा विषम है इसीसे वातज प्रमेह असाध्य समझे जाते हैं। प्रमेह में धातुयें पतली होकर पेशाब में मिलकर बाहर गिरने लगती हैं। इससे प्रमेह रोगी दिन-दिन कमजोर होने लगेगा और रोगी कृश होता चला जायेगा। इसलिए वातज चार प्रमेहों को असाध्य बताया है।

प्रमेह रोग में उपद्रव—

आचार्य वाग्भट्ट ने कफज प्रमेहों के उपद्रव के बारे में लिखा है कि अन्न का अच्छी तरह से पाचन न होना, (अविपाक), अरुचि (भोजन के प्रति अरुचि), वमन, निद्रा खांसी, जुकाम, ये सब कफज प्रमेह के उपद्रव है। उसके अलावा भी पेशाब और शरीर पर मक्खियां बैठती हैं। अङ्ग गौरवता, शिरःशूल आदि उपद्रव मिलते हैं।

पित्तज प्रमेह के उपद्रव में मूत्राशय और मूत्रेन्द्रिय में तोदवत् वेदना, अण्डकोषों में तीव्र वेदना, ज्वर, दाह, तृषा, अम्ल उद्गार, मूर्च्छा (बेहोशी) आदि मुख्य हैं। नेत्र, दस्त और मूत्र आदि पीतवर्णयुक्त होते हैं।

वातज प्रमेह के उपद्रव में उदावर्त, कम्प, उरःशूल, हृत्शूल, निद्रानाश, सारे शरीर में शूल, श्वास, कास, गला सूख जाना आदि मुख्य हैं।

जो प्रमेह सुखसाध्य होता है वे भी उपद्रव सहित होने से कष्टसाध्य बनता है। आचार्यों का मत है कि यदि प्रमेह रोग के होते ही इलाज न करने से सब तरह के प्रमेह समय पाकर 'मधुमेह' (Diabeties Mellitus) बनता है और जब मधुमेह हो जाते हैं तब असाध्य हो जाते हैं।

प्रमेह के अरिष्ट लक्षण—

जिस प्रमेह रोगी में सब लक्षण हों, जिसके पेशाब के साथ बहुत सा वीर्य जाता हो और जो पिडिकाओं से पीड़ित हो उस प्रमेह रोगी में जीने की सम्भावना कम रहती है।

जो प्रमेही मूर्च्छा, वमन, ज्वर, खांसी, विसर्प और गुरुता या भारीपन से युक्त हो, वह असाध्य है अर्थात् उनको आराम नहीं मिलता।

मधुमेही मनुष्य से पैदा हुए प्रमेही का प्रमेह बीज के दोष के कारण साध्य नहीं होता। यानी उसका प्रमेह असाध्य ही है। क्योंकि जो विकार जिसके परम्परा से आते हैं वे कभी आराम पा नहीं सकता।

प्रमेह रोग में बताये गये उपद्रवों के साथ शराविका दस प्रमेह पिडिकाओं में से कोई पिडिका हो और रोग ने शरीर में वास कर लिया हो तो प्रमेह रोगी का आराम होना असम्भव है। क्योंकि आचार्यों ने कहा है कि—

मूर्च्छाछर्दि ज्वर श्वास कासापसर्प गौरवैः।
उपद्रवैरुपेतोयः प्रमेही दुष्प्रतिक्रियः ॥

प्रमेह और रक्तपित्त में क्या फर्क ?

उपरोक्त बताये हुये प्रमेह रोग के पूर्वरूप के लक्षण के बिना हारिद्र वर्ण का पेशाब या रक्त वर्ण का पेशाब होता है, वही 'रक्तपित्त' समझना चाहिए।

—वैद्य श्री जगदीश. के. पुरोहित बी.एस.ए एम.
धराद (बनासकांठा) उ. गु.

* * * *

क्या प्रमेह मूत्ररोग है?

वैद्य बनवारीलाल गौड़ भिष, आयु. बृह.

वैद्य श्री बनवारीलाल गौड़ राजस्थानी परम्परा के सुयोग्य स्नातक हैं। आपने १९६६ में भिषगाचार्य एवं १९७४ में आयुर्वेद बृहस्पति में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। प्रथम श्रेणी में संस्कृत में एम०ए० किया। आप गुलाबी नगरी जयपुर में राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान में सेवारत ख्याति प्राप्त चिकित्सक एवं सुप्रसिद्ध विद्वान लेखक हैं। गत २ वर्षों में ही आपके द्वारा लिखित ५ पुस्तकें तथा २७ शोध-पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। हाल ही में राजस्थान के स्वास्थ्य एवं आयुर्वेद मन्त्री द्वारा आपको आपके उल्लेखनीय लेखन कार्य हेतु सम्मानित किया गया है। आपका यह लेख पठनीय एवं मननीय है।

—गिरिधारीलाल मिश्र (विशेष-सम्पादक)

सामान्यतया शरीर को या मन को दुःख देने वाले भाव को रोग कहा जाता है। "विकारोदुःखमेव च" में यही अभिव्यक्ति प्रस्फुटित होती है। लेकिन सभी विकारों को एकमात्र दुःख संज्ञा से ही सम्बोधित कर लेने मात्र से इस तन्त्र के प्रमुख प्रयोजन 'धातुसाम्य क्रिया' की पूर्ति नहीं हो पाती। इसलिये रोगों का अनेक प्रकार से विभाजन करके वर्णन किया है तथा तदनुरूप ही चिकित्सा-वर्णन करके शास्त्र को एक व्यवस्थित स्वरूप दिया है। रोगों के इस विभाजन क्रम में जिन माप दण्डों का उपयोग किया है वे हैं—

रुजा, वर्ण समुत्थान, स्थान, आकृति एवं नाम इत्यादि। इन्हीं मापदण्डों को ध्यान में रखते हुए "प्रमेह" संज्ञा का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि इस संज्ञा में रुजा वर्ण समुत्थान और स्थान इन चारों का ही हेतुत्व है। जब चिकित्सा की जाती है तो प्रमेह के चिकित्सा-सूत्र में प्राधान्येन "समुत्थान" और "स्थान" की ओर विशेषेण ध्यान दिया गया है। अतः स्थान दृष्ट्या और समुत्थान दृष्ट्या प्रमेह की क्या स्थिति है यह विश्लेषण योग्य है। यह विशुद्धरूपेण शास्त्रीय विषय है, ऐसे विषयों का विश्लेषण-विशिष्ट विशेषांकों में होना आवश्यक है।

इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम स्थान का क्या अभिप्राय है यह ज्ञेय है—जैसाकि स्पष्ट है अथवा जो स्थान सर्वाधिक रोग-ग्रस्त है वही ग्रहीत होगा। स्थान शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य चक्रपाणि कहते हैं कि—'स्थानभेदा आमाशयादयो रसादयश्च"। इस व्याख्या के अनुरूप प्रमेह में स्थान का निर्धारण करते हैं तो उपर्युक्त व्याख्या के दोनों ही वाक्य काम में आ जाते हैं अर्थात् 'आमाशयादयः' के अनुसार 'वस्ति' तथा 'रसादयः' के अनुसार 'मेद' दोनों ही प्रमेह के 'स्थान' मान लिये जाते हैं। इससे यह संशय हो जाता है कि 'वस्ति रोग' है अथवा मेदो रोग।

प्रमेह मेदो-रोग है वस्ति रोग नहीं—

यद्यपि आगे उपशीर्षकों में सम्पूर्ण विषय को क्रमबद्ध प्रस्तुत किया जा रहा है फिर भी यहां यह कह देना उपयुक्त है कि प्रमेह मेदो रोग है "वस्ति रोग" नहीं। वस्ति रोग नहीं है यह कह देने पर अनेक शंकायें एक साथ उपस्थित हो जाती हैं, जिनमें मुख्य यह है कि प्रमेह की अभिव्यक्ति ही वस्ति और वस्ति स्थित मूत्र के द्वारा होती है, इसीलिये लौकिक व्यवहार में भी इसका 'मूत्ररोग' संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। इस शंका का निवारण आगे के वर्णन से हो जायगा। यहां तो इतना कह देना ही पर्याप्त है कि संहिताओं में 'वस्ति-रोग' और 'मूत्ररोग'

एक ही बात है क्योंकि वस्ति रोगके अन्तर्गत मूत्रकृच्छ्र,मूत्राघात आदि मूत्ररोगों का ही वर्णन है। कहीं पर भी वस्ति रोगों में प्रमेह का उल्लेख नहीं है। मेदज रोगों में प्रमेह का स्पष्टतः उल्लेख है तथा चिकित्सा में भी मेदोरोग-चिकित्सा से प्रमेह चिकित्सा सम्पन्न हो जाती है जबकि मूत्र रोग चिकित्सा सूत्र से प्रमेह में कोई लाभ नहीं होता। अतः प्रमेह को मेदोरोग ही माना जाता है, मूत्र-रोग नहीं लेकिन मूत्र में अभिव्यक्ति होने से व्यवहार में इसे मूत्र-रोग भी कह दिया जाता है।

इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग को निम्न उपशीर्षकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है—

१. प्रमेह व्युत्पत्ति एवं परिभाषा—

प्र + मिह क्षरणे + करणे घञ्। प्रकर्षेणमेहति क्षरति वीर्यादिरनेन इति। रोग विशेषः। तत् पर्यायः मेहः, मूत्र-दोषः इति राज निघण्टु। बहुमूत्रता इति हेमचन्द्रः।

(शब्दकल्प द्रुम)

इसे यों भी स्पष्ट किया जाता है कि—प्रकर्षेण प्रभूतं प्रचुरं वारम्वारम् वा मेहति मूत्रत्यागं करोति यस्मिन् रोगे स प्रमेहः। अर्थात् जिसमें अधिक मात्रा में या वार-वार मूत्रत्याग होता हो वह रोग प्रमेह है। आचार्य वाग्भट ने इस मूत्र की अप्रवृत्ति को मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात माना है तथा अति प्रवृत्ति को प्रमेह।[1] वाग्भट्ट के इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि प्रमेह में मूत्र की अतिप्रवृत्ति होती है। लेकिन सान्द्रमेह, पिष्टमेह एवं शनैः मेह में मूत्र की अतिप्रवृत्ति नहीं होती, वहां अतिप्रवृत्ति की व्याख्यायों की जा सकती है कि मूत्र के माध्यम से दोषों की अति प्रवृत्ति तथा वार-वार मूत्र की प्रवृत्ति होना ही अतिप्रवृत्ति है। यह सभी को स्वीकार्य है कि प्रमेह में शरीरस्थ क्लेद (जसमें अनेक घटक मौजूद रहते हैं) मूत्र से वहिर्भूत होता है। आचार्य सुश्रुत भी मूत्र की अति प्रवृत्ति को प्रमेह मानते हैं।[2]

२. प्रमेह की उत्पत्ति में मूत्र का दायित्व—

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमेह में मूल रूपेण विकृति वस्ति में नहीं होती। लेकिन प्रमेह के निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण एवं चिकित्सा आदि में एक भी प्रसंग ऐसा नहीं है जिसमें वस्ति या मूत्र को अलग करके देखा जा सके। अतः यहां उन प्रसंगों को संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है जिनमें वस्ति या मूत्र को प्रमेह से सम्पृक्त करके देखा जाता है तथा सम्भवतः इसी सम्पृक्तता के कारण प्रमेह को मूत्र रोग कहने की परम्परा सी चल पड़ी है। यथा—

(क) प्रमेह के दोष—प्रमेह में कफ, पित्त और वायु इन तीनों की दुष्टि का निर्देश है। इन तीनों में प्राधान्येन कफ की विकृति होना अनिवार्य है। कफ में बहु द्रवत्व होगा तभी प्रमेह होगा[3] अन्यथा प्रमेह न होकर अन्य ही कोई रोग होगा। कफ के गुण-धर्मों को देखने पर पता चलता है कि उसमें द्रवत्व गुण नहीं है, पिच्छिलत्व अवश्य है। अतः प्रमेह के विशिष्ट हेतुओं के सेवन करने पर श्लेष्मा में पिच्छिलत्व के माध्यम से अभिवृद्ध होने वाला द्रवत्व ही प्रमेहजनक है। यह पिच्छिलत्व एवं द्रवत्व शरीरस्थ क्लेद में भी होता है।

(ख) प्रमेह के दूष्य—प्रमेह के विशिष्ट दोष कफ में बहुद्रवत्व एवं दूष्यों का क्लेदत्व ही प्राधान्येन निर्देश्य हैं। मेद, रक्त, शुक्र, अम्बु, वसा, लसीका, मज्जा, रस, ओज एवं मांस ये सब दूष्य हैं। इनका क्लेदत्व ही प्रमेह में मूत्र-मार्ग से क्षरित होता है।

(ग) दोष-दूष्य संमूर्च्छना मूत्र के दायित्व का वर्णन करने के सन्दर्भ में दोष-दूष्य संमूर्च्छना का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है—

जब निदान, दोष, एवं दूष्य ये तीनों ही प्रमेह जनक होते हैं तो सबसे पहले अभिवृद्ध तद्रूप श्लेष्मा शरीर में विसृत होता है तथा विसर्पित होता हुआ वह मेद से मिश्रीभूत होता है। यह मिश्रीभूत स्वरूप शरीर के क्लेद एवं

---

१. इति विस्तरशः प्रोक्ता रोगा मूत्राप्रवृत्तिजाः। निदान लक्षणैरूर्ध्वं वक्ष्यन्तेऽति प्रवृत्तिजाः॥ (अ. हृ. नि. ९/४०)

२. किंचिच्चाभ्यधिकं मूत्रं तं प्रमेहिणमादिशेत्। प्रवृत्तं मूत्रमत्यर्थं तं प्रमेहिणमादिशेत्। (सु. नि. ६/२२, ६/२३)

३. बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः। (च नि. ४/६)

[illegible]

मांस से संसृष्ट होता है तथा मूत्ररूप में परिणत होता है।[1]

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में यह स्पष्ट है कि विकृत क्लेद और मेद मूत्र में परिणत होने की स्थिति में वस्ति में गमन करते हैं, अतः वस्ति भी प्रभावित होती है। लेकिन वस्ति के प्रभावित होने मात्र से ही तो इसे वस्ति रोग नहीं कह सकते। हृद्गुल्म और वस्ति गुल्म इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। जिनमें विकृति का मूल महास्रोतस् में रहता है तथा उसे ध्यान में रखकर की गई चिकित्सा से ही लाभ होता है। इसीलिये हृद्गुल्म की हृद्रोगों में तथा वस्तिगुल्म की वस्ति रोगों में गणना नहीं की है। उसी तरह से उद्भव एवं चिकित्स्य स्थल मेदोवह स्रोतस् होने के कारण प्रमेह को भी वस्ति रोगों या मूत्ररोगों में नहीं गिना जा सकता।

सुश्रुत एवं वाग्भट भी दोष-दूष्य संमूर्च्छना क्रम में वस्ति के महत्व को उल्लिखित करते हैं, लेकिन उनके वर्णन से भी स्पष्ट है कि वे वस्ति को व्यक्ति स्थल या प्रभावित क्षेत्र ही मानते हैं। उद्भवस्थल वस्ति के रूप में उन्हें भी स्वीकृत नहीं।

(घ) प्रमेह का प्रधान लक्षण मूत्रातिवृद्धि—मूत्र की वृद्धि या अतिप्रवृत्ति को प्रमेह का प्रधान लक्षण माना गया है। अतः ऐसी स्थिति में मूत्र या मूत्रवह स्रोतस् में विकृति नहीं मानी जाय यह कैसे हो सकता है। क्योंकि स्रोतस् की दुष्टि के लक्षणों में स्पष्टतः कहा गया है कि—

'अतिप्रवृत्ति सङ्गो वा'''' ''' ''''(च. वि. ५/२४)

यहां अतिप्रवृत्ति स्रोतस् में अभिवाहित होने वाले रसादि की मानी गई है।[2] अतः मूत्रवह स्रोतस् में अभिवाहित होने वाले मूत्र की अतिप्रवृत्ति मूत्रवहस्रोतस् की विकृति को सूचित करती है। अतः मूत्रवह स्रोतस् की विकृति जिस रोग में हो वह मूत्र-रोग क्यों नहीं होगा? इसका उत्तर "हां" में देने से पहले प्रमेह में स्रोतोदुष्टि के प्रकरण को देखना होगा।

३. प्रमेह में स्रोतोदुष्टि—

ऊपर दोष-दूष्य संमूर्च्छना प्रकरण में यह कहा गया है कि प्रमेह में मेदोवह स्रोतो दुष्टि एवं मूत्रवहस्रोतोदुष्टि दोनों ही होती हैं। लेकिन दुष्टिप्रकार में भिन्नता होने से प्रमेह रोग के प्रति उत्तरदायित्व भी दोनों का भिन्न २ है। प्रमेह में स्रोतो दुष्टि प्रकरण को निम्नानुसार वर्णित किया जा सकता है—

(अ) मेदोवह स्रोतोदुष्टि—अव्यायाम, दिवास्वप्न तथा मेद को बढ़ाने वाले पदार्थों का सेवन तथा वारुणी का अत्यधिक सेवन करने पर मेदोवह स्रोतस् दूषित हो जाते हैं।[3]

उपर्युक्त स्रोतोदुष्टि प्रकरण को प्रमेह के हेतुओं में घटित करें तो दोनों में साम्य है अर्थात् मेदोदुष्टि के हेतु प्रमेहोत्पादक भी होते हैं। अन्य हेतुओं से उत्पन्न प्रमेह की सम्प्राप्ति में भी मेद की दुष्टि को स्वीकृत किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रमेह में मेदोवहदुष्टि निश्चित रूप से होती है। मेदोवहस्रोतस् का मूल वृक्क और वपावहन को कहा गया है।[4] प्रमेह में वृक्कों की विकृति का होना तथा मेदस्वियों में प्रमेह की आधिक्येन उत्पत्ति होना भी इसी बात की पुष्टि करते हैं।

यहां वृक्क विकृति का तात्पर्य उससे होने वाले कार्य में विकृति होना है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक विज्ञान में रक्त के छनने से मूत्र की उत्पत्ति होना माना है। अतः मूत्र में प्राप्त होने वाले तत्त्व पहले रक्त में स्थित रहते हैं। इस प्रसङ्ग की आचार्यों के इस वाक्य से—'शरीरक्लेदं पुनर्दूषयन् मूत्रत्वेन परिणमयति' से तुलना की जा सकती है। साथ ही मूत्र के कार्य 'वस्तिपूरण विक्लेदकृन्मूत्रम्' को भी उद्धृत किया जा सकता है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरस्थ क्लेद का नियन्त्रण वृक्क के माध्यम से मूत्र के द्वारा होता है। लेकिन यहां इतना याद रखना चाहिये कि हम सामञ्जस्य भले ही किसी भी वाक्य का अन्य वाक्य से कर दें, लेकिन चिकित्सा सूत्र में मेदोवहस्रोतस् की विकृति का अपाकरण ही आयुर्वेदीय चिकित्सा का वैशिष्ट्य है तथा यही एक

---

१. च. नि. ६।८

२. अतिप्रवृत्तिरित्यादिना सामान्येन स्रोतोदुष्टि लक्षणमाह: अतिप्रवृत्तिरिह स्रोतोवाह्यस्य रसादेर्बोद्धव्याः। (च. वि. ५।२४ पर चक्रपाणि)

३. अव्यायामाद्दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात्। मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चाति सेवनात्॥ (च. वि. ५।१६)

प्रमुख आधार है जिसके कारण प्रमेह का अधिष्ठान मेदोवह स्रोतस् को निःसन्देह कहा जा सकता है।

(ब) मूत्रवह स्रोतोदुष्टि—मूत्र के वेग से युक्त व्यक्ति यदि कुछ खाये या स्त्री-सेवन करे अथवा मूत्र के वेग को रोके तो मूत्रवहस्रोतस् दूषित होते हैं।

मूत्रवहस्रोतोदुष्टि के इन संक्षिप्त हेतुओं को देखकर प्रमेह-परक कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। लेकिन मूत्रवहस्रोतोदुष्टि के लक्षणों से अवश्य ही सहयोग प्राप्त हो सकता है। यथा—अतिसृष्ट अथवा अतिबद्ध, अल्प-अल्प अथवा बार-बार, बहल (गाढ़ा) एवं शूल सहित मूत्र त्याग करते हुए देखकर यह कहा जा सकता है कि इसके मूत्रवहस्रोतस् दूषित हो गये हैं।[1]

प्रमेह में मूत्र की अतिप्रवृत्ति प्रधान लक्षण है। अतः मूत्रवहस्रोतोदुष्टि से इसका साम्य देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रमेह में मूत्रवहस्रोतस् भी दूषित होते हैं।

स्रोतोदुष्टिपरक निष्कर्ष —

प्रमेह की सम्प्राप्ति को देखकर यह कहा जा सकता है कि प्रमेह का अधिष्ठान मेदोवह स्रोतस् तथा सभी प्रमेहों में मेदोदुष्टि अवश्य होती है।[2] लेकिन प्रमेह की अभिव्यक्ति मूत्र में होती है। परिणामस्वरूप मूत्रवहस्रोतस भी दूषित होते हैं। अतः निष्कर्ष रूप में यही कहा जाएगा कि प्रमेह में मूत्रवहस्रोतस् की दुष्टि मेदोवह स्रोतोदुष्टि के कारण होती है। चरक संहिता में कहा भी है कि स्रोतस् दूषित होकर दूसरे स्रोतस् को दूषित करते हैं। प्रमेह में स्रोतोदुष्टि का यही प्रकार स्पष्ट दिखाई देता है।[3] अतः मूलतः मेदोवहस्रोतोदुष्टि से होने वाले प्रमेहरोग को बाद में दूषित होने वाले मूत्रवहस्रोतस् के आधार पर मूत्ररोग कहना गलत तो नहीं है, पर इसे मूत्ररोग की अपेक्षा मूत्रदोष कहा जाय तो अधिक उचित होगा। सम्भवतः मूत्र के इसी विकृत स्वरूप के कारण इसे मूत्ररोग (व्यवहार में) कहा जाने लगा है।

मूत्र के स्वरूप ज्ञान से प्रमेह ज्ञान —

यद्यपि ऊपर के प्रसङ्गों में यह स्पष्ट किया है कि प्रमेह मेदोरोग है मूत्र रोग नहीं। तथापि मूत्र रोग मानने में यह युक्ति भी दी जा सकती है कि प्रमेह के ज्ञान में सर्वाधिक महत्त्व मूत्र के स्वरूप का है। मूत्र के वर्ण, स्वरूप, रस, गन्ध आदि को देखकर प्रमेह का ज्ञान एवं प्रमेह के भेद किये जाते हैं।[4] कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) जल के समान, इक्षु के समान, घन या प्रसन्न भाग आदि लक्षण युक्त मूत्र को देखकर कफज प्रमेह जाने जाते हैं।[5] इसी तरह पित्तज और कफज प्रमेह का स्वरूप पृथक्शः निर्दिष्ट है।

(ख) प्रमेह के पूर्वरूप में कहा गया है कि उस व्यक्ति के मूत्र पर चीटियां लग जाती हैं।[6]

(ग) हारिद्रवर्ण और रुधिर युक्त मूत्र का त्याग करने वाले व्यक्ति में यदि प्रमेह के पूर्वरूप का इतिहास नहीं प्राप्त होता है तो प्रमेह नहीं होता अपितु उसे रक्तपित्त का प्रकोप मानना चाहिए।

इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध हो सकता है कि प्रमेह में मूत्र विकृति होती है। लेकिन इसी आधार पर इसे मूत्ररोग कहेंगे तो फिर रक्तपित्त के उपर्युक्त 'हारिद्रवर्णम्…'आदि

---

१. अतिसृष्टमतिबद्धं ……मूत्रवहान्यस्य स्रोतांसि दुष्टानीति विद्यात्। (च. वि. ५।८।)
अतिसृष्टं व अतिबद्धं चेति विकल्पेन बोद्धव्यम्, अतिसृष्टातिबद्धयोरेकत्रा संभवात्। अल्पाल्पं वा तथा भीक्ष्णं वेति च विकल्पः। (चक्रपाणि)

२. साध्यास्तु मेदो यदि नाति दुष्टम्। (अ. हृ. नि. १०।४१)
……… मेदोनाऽतिदुष्टमित्यनेनैतज्ज्ञापयति, सर्वमेहेषु मेदोदुष्टिरवश्यं भाविनीति …… (अरुणदत्त)

३. स्रोतांसि स्रोतांस्येव …… (च. वि. ५।९)
स्रोतांसि धातवश्च दुष्टाः प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोष संक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थः। (चक्रपाणि)

४. (क) वर्णं रसं स्पर्शमथापि गन्धं, यथास्वदोषं भजते प्रमेहः। (च. चि ६।१२)
(ख) मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते। (अ. हृ. नि. १०।८)

लक्षण भी रक्तपित्त को मूत्ररोग कहलवाने के लिए पर्याप्त होंगे । इस प्रसंग में एक बात का और ध्यान देना चाहिए कि स्वेद, मूत्र, पुरीष आदि ऐसे मल हैं जिनमें शरीर की अनेक विकृतियों के परिणाम प्राप्त होते हैं अर्थात् शरीर में कोई भी विकृति हो तो उससे उत्सृष्ट विष या त्याज्य तत्त्व इन्हीं मलों के द्वारा बहिर्भूत होते हैं । अतः शरीर में होने वाली किसी भी विकृति के कारण मूत्र भी दूषित होगा ही, तो क्या हम उसे भी मूत्र रोग कह देंगे । और तो और ज्वर रोग में ही मूत्र में दोष या विकृति दृष्टिगोचर होती है, पर हम उसे मूत्ररोग नहीं कहते ।

प्रमेह को मूत्ररोग नहीं मानने में एक युक्ति और दी जा सकती है—मूत्ररोग और प्रमेह की चिकित्सा में पार्थक्य । यथा—

प्रमेह एवं मूत्ररोग की चिकित्सा में भिन्नता

प्रमेह की चिकित्सा में कहा गया है कि दो तरह के प्रमेही होते हैं, एक स्थूल और दूसरे कृश । स्थूल में संशोधन और कृश में सन्तर्पण करना चाहिये । इसके अतिरिक्त प्रमेह चिकित्सा के प्रसङ्ग में यह स्पष्ट निर्देश है कि कफ, क्लेद और मेद को बढ़ाने वाले हेतुओं का त्याग करना चाहिये ।

इसी प्रसङ्ग में मेदोवहस्रोतोदुष्टि के चिकित्सा प्रसंग को देखें तो वहां कहा गया है कि विविधाशितपीतीय अध्याय में कहे गये क्रम का सेवन किया जाय (च. वि. ५।२७) । अष्टौनिन्दितीय में गुरु एवं अपतर्पण द्रव्यों के प्रयोग का निर्देश है (च. सू. २१।२०।२८) । विविधाशितपीतीय अध्याय में मेदोरोगोंमें प्रमेह का प्राधान्येन निर्देश है (च. सू २८।१५) तथा वहां पर चिकित्सा भी एक जैसी ही कही गई है । मूत्रवहस्रोतस् की विकृति में मूत्रकृच्छ्र में निर्दिष्ट क्रिया करने का उल्लेख है (च. वि. ५।२८) ।

अतः दोनों की चिकित्सा—प्रक्रियायें भी भिन्न है । प्रमेह में मूल हेतु मेदोधातु की या मेदोवह स्रोतस् की दुष्टि का अपाकरण करने पर मूत्रदोष का विनिवर्तन हो जाता है । जबकि मूत्रवह स्रोतस् की दुष्टि के दूर करने में मूत्र साक्षात् रूप से प्रभावित होता है ।

उपसंहार—

१. प्रमेह मेदोज रोग है ।
२. यह मूत्ररोग न होकर मूत्रदोष है ।
३. प्राधान्येन मेदोवहस्रोतस् दूषित होते हैं तथा बाद में ये ही स्रोतस् मूत्रवह स्रोतस् को विकृत करते हैं । अतः लोक-व्यवहार में इसी आधार पर इन्हें मूत्र-रोग कहा जाता है ।
४. प्रमेह का अधिष्ठान मेदोवह स्रोतस् है जब कि अभिव्यक्ति का स्थान मूत्रवह स्रोतस है ।
५. प्रमेह में मूत्र प्रभावित हुये बिना नहीं रहता ।
६. प्रमेह की चिकित्सा मेदोवह स्रोतोदुष्टि की चिकित्सा से साम्य रखती है ।
७. मूत्र शरीरस्थ मलों का या त्याज्य तत्वों के उत्सर्जन का माध्यम है । अतः मेदोवह स्रोतस् में दुष्टि होने पर त्याज्य तत्वों को त्यागने के आधार पर ही इसे मूत्ररोग नहीं कहा जा सकता ।
८. बस्ति रोगों में प्रमेह की गणना नहीं है जबकि मेदोज रोगों में प्रमेह की गणना है ।

—वैद्य श्री बनवारी लाल गौड़ भिषगाचार्य,
आयुर्वेद-बृहस्पति, एम. ए., डिप्लोमा इन जर्मन
मौलिक सिद्धान्त विभाग
राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

मूत्र विषमयता ● पृष्ठ १०८ का शेषांश ●

जिनको वृक्क रोग के साथ हृदय रोग भी हो विशेषकर वृद्ध पुरुषों में, उन्हें अधिक मात्रा में सिरा द्वारा तरल देना भी खतरनाक है क्योंकि अधिक तरल को सहन करना दुर्बल हृदय के वश की बात नहीं है ।

पथ्य चिकित्सा—रोगी को पूर्णतः विश्राम देना चाहिए । १-२ कप दुग्ध दिन में ३-४ बार, स्वल्प बिस्कुट, थोड़ी रोटी फल के साथ दिया जा सकता है । कम प्रोटीन वाला भोजन देना चाहिये । इससे रक्त में सल्फेट भी घट जाता है । मध्यम प्रोटीन भोजन देना अच्छा रहता है ।

प्रातःकाल—रोटी या टोस्ट २ औंस, मक्खन या घी आधा औंस, मधु आधा औंस, दुग्ध व चाय ४-४ औंस ।

—आगे पृष्ठ १२६ पर

मध्यान्ह—रोटी ३ औंस, हरी सब्जी, फल, आलू २-२ औंस, मक्खन या घी आधा औंस।

सायङ्काल—रोटी या टोस्ट, आलू, हरी सब्जी ३-३ औंस, फल ४ औंस, मक्खन आधा औंस तथा दिन भर में चीनी कुल २ औंस। १-१॥ मास तक यही भोजन व्यवस्था दी जाती है। इसके बाद रोगी के बलानुसार भोजन में घृत, चीनी कार्बोज कुछ और बढ़ा दिया जाता है।

दिन भर में ३ लिटर तक जल अवश्य पिलाना चाहिए। मूत्र अधिक आ रहा हो तो रोगी को लवण भी ६-७ ग्राम दैनिक मात्रा देना चाहिए। रक्तभाराधिक्य की स्थिति में नमक का प्रयोग अधिक मात्रा में नहीं किया जा सकता। पर रक्त भार को घटाने की अधिक औषधियां भी नहीं देनी चाहिए क्योंकि इससे वृक्कों को रक्त और भी कम मिलता है।

रोग तीव्र रूप में हो, रक्त में यूरिया १०० मिली. प्रतिशत से अधिक हो तो पानी दिन में १॥-२ लिटर से अधिक नहीं देना चाहिए तथा प्रत्येक वार जल में ग्लूकोज मिलाकर देना चाहिए। कुछ मक्खन भी देना चाहिए।

जब वृक्क मूत्र सम्बन्धी मलों को निकालने में असमर्थ हो गये हों, मूत्र की मात्रा कम हो, यूरिया की निकासी कम हो तो अन्य आहार बन्द करके ३ छटांक उबले चावल चीनी के साथ दिन में तीन वार देने चाहिए और मृदु विरेचक औषधियों द्वारा अथवा वस्तियों के द्वारा आंतों के रास्ते से मलों को निकालने का प्रयास करना चाहिए। आयुर्वेद की पंचकर्म चिकित्सा यहां प्रयोग करनी चाहिए।

आयुर्वेद में—सर्वतोभद्र रस, तारकेश्वर रस, शिलाजित्वादि लौह, गोक्षुरादि क्वाथ, गोक्षुरादि गुग्गुल, पुनर्नवामण्डूर, पुनर्नवारिष्ट, लौहासव आदि प्रशस्त योग हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा—कृत्रिम वृक्क व Renal Tranplantation की चिकित्सा अभी तक परीक्षणाधीन हैं। वैसे कई प्रयोग सफल भी हुए हैं। कृत्रिम वृक्क द्वारा डाइलैसिस चिकित्सा के सप्ताह में १-२ वार १०-१२ घंटे लेने से २॥-३॥ वर्ष और जीवित रह सकता है पर यह चिकित्सा बड़ी मंहगी है।

डायलैसिस शेषांश पृष्ठ ११३ का

आयुर्वेद मत से डाइलैसिस—

प्राचीन एवं आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सिद्धान्तों का समन्वय एवं गहन अध्ययन करें तो आयुर्वेद के विशिष्ट सिद्धान्त आधुनिक जगत में शतप्रतिशत सही उतरते हैं, क्योंकि आधुनिक चिकित्सकों को आयुर्वेद के सिद्धांत एवं जड़ी बूटियों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। जबकि प्राचीनतम् वैद्यों को आधुनिक शरीर रचना एवं सम्प्राप्ति (पैथोलाजी) का ज्ञान नहीं होता है और न ही वनस्पति विज्ञान विशेषज्ञों की सहायता ही ली जा सकती है। इसलिये आयुर्वेद में अन्वेषण नहीं हो पाते हैं। अतैव निम्न तथ्यों द्वारा डाइलैसिस की प्रक्रिया को आयुर्वेद सिद्धान्तों से पूर्णतया समन्वय कर सकते हैं।

प्राचीन वैदिक युग में गोमूत्र का शारीरिक रोगों को नष्ट करने के लिए एवं यकृत की क्रिया सुधारने के लिए विनष्टीकरण एवं रक्त निर्माण प्रक्रिया के लिये (detoxication and Heamopoitic action) लम्बे समय से प्रयोग किया जाता रहा है। प्राचीनतम आयुर्वेदिक ग्रन्थों में गौ मूत्र को विभिन्न प्रकार की व्याधियों का शमन करने के लिए क्वाथ में जल के स्थान पर गौ मूत्र का प्रयोग किया गया है अर्थात् आधुनिक विज्ञान में जिस प्रकार से Mannitol औषधि renal failure के रोगी को एवं शरीर से दूषीविष (Toxaemia or Septiceamia) को दूर करने के लिए देते हैं। यह औषधि भी यूरिया आदि (मूत्र) से बनाई जाती है। जबकि गौमूत्र भी आयुर्वेदिक मैनीटॉल व्याधियों में विभिन्न प्रकार के क्वाथों के साथ देने पर शरीर से दूषीविष आदि भयङ्कर व्याधियों को दूर करता है। इस आयुर्वेदिक मैनीटाल के द्वारा मूत्र निर्माण प्रक्रिया सुधरती है। रक्तगत यूरिया एवं रक्तगत क्रेटीनिन का स्तर सामान्य अवस्था में आता है और रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इसके अतिरिक्त वृक्क कार्यावसाद रोग में पंचतृणमूल क्वाथ गोमूत्र आदि चिकित्सा से रोगी लाभान्वित होता है।

डा० (श्रीमती) शोभा मोवार—डिमांसट्रेटर, डा० जयराम यादव—लेक्चरार
डा० यज्ञदत्त शुक्ल—रीडर, प्रो० पी०सी० जैन—स्नातकोत्तर शारीर विभाग
राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ।

आयुर्वेद का विषय पुरुष दोष धातु मल मूलक है। दोष साम्यावस्था में रहकर देह का धारण और विभिन्न कारणों से दूषित होकर अन्य संघटक द्रव्यों धातु एवं मल को दूषित करके व्याधि उत्पन्न करने के कारण होते हैं।

जिन परिस्थितियों के कारण दोषों की अवस्था साम्यावस्था से विषमावस्था को प्राप्त होती है वह उसके निदान हैं। दूषित दोष प्रकोपक कारणों से दूषित होकर किस प्रकार द्रव्यों को प्रभावित कर रोगोत्पत्ति करते हैं, इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को संप्राप्ति की संज्ञा दी गयी है।

प्रमेह रोग मूत्रजन्य व्याधि हैं जिनमें विभिन्न कारणों से दोष विकृत दोषों के प्रभाववश मूत्र की मात्रा और प्रवृत्ति में वृद्धि हो जाती है। प्रमेह शब्द प्र उपसर्गपूर्वक मिह्—क्षरणे धातु से घं प्रत्यय करके बनता है। (प्र—मिह—घ) इसका तात्पर्य है विकृत मूत्र का त्याग करना। इस कथन की पुष्टि आचार्यों ने प्रमेह के लक्षण का वर्णन करते हुए "सामान्य लक्षणं तेषां प्रभूताविल मूत्रता" शब्दों द्वारा की है। महर्षि चरक ने इनको त्रिदोष के प्रकुपित होने के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधि कहा है और इसके २० भेद भी उनकी संहिता में वर्णित हैं। प्रमेह महर्षि सुश्रुत के अनुसार सहज और अपथ्य कारणजन्य २ प्रकार का बताया गया है। सहज प्रमेह की उत्पत्ति माता के बीज दोष के कारण होती है और अपथ्य आहार विहार सेवन से अहिताहाजन्य प्रमेह रोगियों का विभेद करते हुए सुश्रुत ने कहा है कि सहज प्रमेह से पीड़ित रोगी कृश, रूक्ष, थोड़ा खाने वाला होता है जबकि इसके विपरीत अहिताहार जन्य प्रमेह का रोगी अधिकांशतः स्थूल, अधिक खाने वाला, स्निग्ध, लेटने-बैठने, सुख अनुभवी होते हैं। स्त्रियों के सम्बन्ध में आचार्य चरक का मत है कि जिन स्त्रियों में नियमित रूप से रजोदर्शन होता है उन्हें प्रायः प्रमेह और जिन स्त्रियों का शरीर मासिक धर्म के कारण नियमित रूप से शुद्ध नहीं हो पाता उन्हें प्रमेह की संभावना रहती है।

प्रमेह यद्यपि त्रिदोष के प्रकुपित होने के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधि है। किंतु तीनों में कफ दोष प्रधान होता है। श्लेष्मा उचित निदान उपस्थित होने पर कुपित होकर शिथिलता के कारण शीघ्र शरीर में फैलता है और मेद के साथ मिलकर उसे दूषित करता है। विकृत हुआ कफ मांस के अधिक घट जाने से मेद के साथ मिलकर शरीर क्लेद और मेद के साथ सम्बद्ध होता है और कफ मांस से दूषित होने के कारण मांस में विभिन्न प्रकार की विकृतियां यथा शराविका कच्छपिका पिड़का आदि उत्पन्न होती हैं। इसके पश्चात यह शरीरस्थ क्लेद को दूषित करके मूत्र को दूषित कर देता है। वंक्षण प्रदेश और वस्ति से उत्पन्न होने वाले मूत्रवहस्रोतसों के भेद और क्लेद से भरे हुए भारी मुख को प्राप्त कर वह रुक जाता है। तत्पश्चात प्रकृति विकृति रूप प्रमेही और उनकी असाध्यता या स्थिरता को उत्पन्न करता है। प्रमेह रोग के हेतु प्रकोपक कफ, मेद, मांस, शरीरस्थ क्लेद, रस, वसा, लसिका और

ओज आचार्य चरक ने इस संघटकों को प्रमेह के दूष्यों के अन्तर्गत कहा है।

सामान्य रूप से यह रोग समाज के उस वर्ग में प्रमुखता से पाया जाता है। जो शारीरिक श्रम से विमुख होकर सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करते हैं। यह लोग अधिकतर सुख आसनों पर बैठकर आराम प्रदान करने वाली सामग्रियों का उपभोग करते हैं तथा कफ मेद वर्धक पौष्टिक द्रव्यों का प्रधानता से ग्रहण करते हैं। इनका जीवन सुखास्वामय होता है। महर्षि चरक ने प्रमेह रोग का निदान वर्णन करते हुए गुदगुदे विस्तर पर चेष्टा रहित स्थिति में पड़े रहना, अधिक स्वप्न अर्थात सोना, ग्राम्य जल जन्तुओं तथा आनूप मांस का सेवन, दुग्ध का सेवन, नवीन अन्न तथा वर्षा जल का सेवन, गुड़ या उसकी विकृति शर्करा से बने हुए पदार्थों का अधिक मात्रा में प्रयोग करते हैं जिसके कारण उनमें अत्याधिक या बार-बार गंदले मूत्र त्याग की प्रवृत्ति हो जाती है। दधि और दुग्ध के विकारों का भी समावेश इनमें किया है। वाग्भट ने दधि शब्द के स्थान पर गो रस शब्द का प्रयोग किया है यह सभी निदान कफवर्धक हैं, और इसी कारण प्रमेह की उत्पत्ति करते हैं। ग्राम्य एवं आनूप से आचार्य चरक का मन्तव्य बकरे एवं मछली भैंस सूअर आदि का मांस सम्मिलित किया जा सकता है। आचार्यों के अनुसार यद्यपि प्रमेह में प्रमुख रूप से कफ दोष की ही विकृति होती है, किन्तु वात और पित्त भी प्रमेह उत्पन्न करने के हेतु होते हैं।

कफ से १० प्रकार के प्रमेह, पित्त से छः प्रकार के तथा वात से चार प्रकार के होते हैं। सुश्रुतानुसार उन अन्नपान एवं विहार का सेवन जो मेद, मूत्र एवं कफ की उत्पत्ति करता है प्रमेह के हेतु हैं। इसके अन्तर्गत आचार्य मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, शीतल, नवीन धान्य, सुरा, आनूप, मांस ईख गुड़ दधि (गोरस) आदि, एक ही स्थान पर बैठे रहना, दिवास्वप्न एवं विधि रहित शयन प्रमेह का कारण है। सुश्रुत ने हो कफ से उत्पन्न होने वाले १० प्रमेहों को साध्य, पित्त से उत्पन्न ६ प्रमेहों को याप्य और चार वात जनित प्रमेहों को असाध्य कहा है।

चरक ने प्रमेह की साध्यासाध्यता से संबंधित इसी प्रकार का विवेचन प्रस्तुत किया है, इन्होंने कफ पित्त वात से उत्पन्न प्रमेह को क्रमशः समक्रिय, विषम क्रिया और महात्यय कहा है। समक्रिय से तात्पर्य है कि कफोत्पादक द्रव्यों के सेवन से कफ की वृद्धि होती है और इस रोग के दूष्य भी चूंकि कफ के समान धर्मी हैं इसलिये साध्य व्याधि होती है। पित्तज प्रमेह में दोष और दूष्य दोनों की चिकित्सा भिन्न होने के कारण याप्य होता है। वातजन्य प्रमेह धातुओं का ह्रास अतिशीघ्रता से होता है। उसकी पूर्ति उतनी ही शीघ्रता से करने वाले द्रव्यों का अभाव होने के कारण इसे असाध्य कहा गया है।

वात पित्त एवं श्लेष्मा से उत्पन्न होने वाले विभिन्न प्रमेहों की सम्प्राप्ति विभिन्न आयुर्वेदीय आचार्यों के अनुसार निम्न तालिकावत है—

संहितायें	सामान्य संप्राप्ति
चरक—	कुपित वात, पित्त और कफ दोष मूत्राशय में जाकर मूत्र को दूषित कर अपने लक्षण वाले वातज, पित्तज, कफज प्रमेहों को उत्पन्न करते हैं।
सुश्रुत—	प्रमेहोत्पादक आहार विहार का सेवन करने वाले पुरुष के अपरिपक्व (आमावस्था) अवस्था में ही वात, पित्त और कफ मेद एवं वसा के साथ मिलकर मूत्रवाही स्रोतों के आश्रय से नीचे की ओर आकर वस्ति मुख का आश्रय लेकर जब बाहर निकलने लगते हैं तब प्रमेहों की उत्पत्ति होती है।
माधव निदान—	गुदगुदे बिस्तरे पर निश्चेष्ट आराम से पड़े रहना, सुखपूर्वक अधिक सोना, दही का सेवन, ग्राम्य, जल जन्तु तथा आनूप प्राणियों के मांस रस का सेवन, दुग्ध सेवन, नवीन अन्न तथा नवीन वर्षाजल, गुड़ (या शर्करा) के बने पदार्थ तथा अन्य सम्पूर्ण कफवर्धक पदार्थों का सेवन करना प्रमेह का उत्पादक हेतु है।
अष्टांग हृदय—	शरीर के क्लेद, स्वेद, मेदस्, वसा और मांस को दूषित करके वस्ति में लाकर स्वयं आकर प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

आधुनिक काल में वैज्ञानिकों ने भी प्रमेह के कारणों में अधिक कार्बोहाइड्रेट और वसायुक्त आहार का ग्रहण करना, अल्प शारीरिक परिश्रम को सम्मिलित किया है उसके अनुसार अग्न्याशय (Pancreas) से निकलने वाले इन्सुलिन नामक हारमोन को रक्त मिश्रित कार्बोहाइड्रेट से कोष को शक्ति की प्राप्ति का उल्लेख किया है। विभिन्न कारणों से जब अग्न्याशय के कोषों का नाश हो जाता है तब Insulin की उत्पत्ति कम हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में ग्लूकोज की मात्रा रक्त में बढ़ जाती है और प्रमेह की उत्पत्ति होती है।

प्रमेह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार आधुनिक काल में उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर यह माना जाता है कि यह व्याधि आनुवंशिक कारणों से एवं जन्म के पश्चात विभिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है। आज भी प्रमेह को दो तरह का मानते हैं। जिसके प्रथम प्रकार में रक्त एवं मूत्र में शर्करा की वृद्धि हो जाती है किन्तु शर्करा की मात्रा में अन्तर नहीं पड़ता है। द्वितीय प्रकार में मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। किन्तु उसका आपेक्षिक घनत्व कम होकर १००२ से १००६ के मध्य हो जाता है। आयुर्वेद ने इसे उदकमेह की संज्ञा दी है। इस अवस्था में विसर्जित होने वाले क्लोराइड की मात्रा में कमी हो जाती है। सामान्य रूप में मनुष्य प्रतिदिन ४-५ लीटर मूत्र विसर्जित करता है। Diabeties Incipidus की अवस्था में मूत्र की मात्रा कई गुना वृद्धि और तृष्णा भी तीव्र हो जाती है। यह अवस्था पीयूष ग्रन्थि या Hypothalanus के अर्बुद की अवस्था में होती है। क्योंकि इस समय पीयूष ग्रन्थि के हारमोन में न्यूनता हो जाती है। इस हारमोन की कमी हाइपोथैलमो न्यूरोहाइपोफिसियल इकाई के नष्ट होने के कारण होती है जिसके कारण वृक्काणु (Nephrons) के दूरस्थ से समीपस्थ लहरदार नलिकाओं से जल का पुनः शोषण मन्द पड़ जाता है। सामान्य रूप से १८० लीटर द्रव नित्य प्रति ग्लोमेरूलस फिल्ट्रेट के रूप में निकलता और इसमें से १५० लीटर पुनः शोषित हो जाता है। इस अवस्था में अधिकतम मूत्र की मात्रा ३० लीटर उत्पन्न होती है। इसका १५% पृष्ठ पीयूष के हारमोन द्वारा पुनर्शोषित हो जाता है। यह अवस्था शरीर के तापक्रम नियन्त्रण प्रक्रिया में विकृति के कारण भी उत्पन्न हो सकती है। प्रमुख रूप से इस अवस्था में उत्पन्न प्रमुख कारण पश्चाद् पीयूष ग्रन्थि का विकार ही है।

दूसरी अवस्था अर्थात् Diabeties mellitus की प्रमुख रूप से Pancreas की विकृति से उत्पन्न होती है। क्योंकि इस अवस्था में रस रक्त में परिभ्रमित होने वाला ग्लूकोज पूर्णरूपेण से शक्ति रूप में परिवर्तित होकर शरीर के कोषों को लाभान्वित नहीं कर पाता और रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। आधुनिक काल में प्रमेह मूत्र में ग्लूकोज की उपस्थिति अग्न्याशय (Pancreas) को विकृति पीयूष ग्रन्थि (Pituitary), अधिवृक्क अवटुका आदि स्रोत, ग्रन्थियों से निकलने वाले स्राव की विषमता, आहार, अनशन, अधिक भोजन और वसा एवं कार्बोहाइड्रेट का अधिक मात्रा में ग्रहण करना आदि। आहारजन्य विषमताओं ग्लाइकोजिनेलाइसिस एवं वृक्कीय कारणों से उत्पन्न होते हैं। शरीर में वसा कार्बोहाइड्रेट के धातु विकृति के कारण प्रमेह की उत्पत्ति होती है। अग्न्याशय से इन्सुलिन की उत्पत्ति उन्हीं कोषों से होती है। यह तत्व इन कोषों के कणोंके रूप में स्थित रहता है और आवश्यकतानुसार रक्त में उसकी प्रविष्टि होती है।

आधुनिक काल में इन्सुलिन से सम्बन्धित पूर्ण रासायनिक ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है। इन्सुलिन शर्करा एवं वसा के शरीर द्वारा उपभोग में तो सहायक होती है साथ ही यह प्रोटीन के अधिक विखण्डन को रोकता है। इन्सुलिन के कारण शर्करा का उपयोग रक्त में ही नहीं हो जाता है। उनके रक्तों में प्रविष्ट होने की गति बढ़ जाती है। यह पेशियों और यकृत के कोषों में ग्लाइकोजन संग्रह में भी सहायता करता है। इन्सुलिन के प्रभाव के कारण पेशियों में की शर्करा ग्लाइकोजन के रूप में प्रविष्टि की मात्रा बढ़ जाती है। इन्सुलिन वसा धातु पाक में भी सहायक होता है। यह शरीर में वसा निर्माण प्रक्रिया को तीव्र करता है। शरीर में पांच अन्तःस्रावी ग्रन्थियां जिनका प्रमेह जनित तत्वों पर कोई प्रभाव नहीं होता। 'Insulin, Pepsin' और HCl नामक Enzymes के द्वारा नष्ट हो जाता है।

* * * *

प्रमेह प्रकार

कवि० श्री गिरिधारीलाल मिश्र ए.,एम.बी.एस.
अध्यक्ष—केदारमल स्मारक धर्मार्थ आयुर्वेदिक हास्पीटल, तेजपुर [असम]

साध्या कफोत्था दश पित्तजा षड् यास्या न साध्या पवनाच्चतुष्कं ॥

प्रमेह कफज १०, पित्तज ६ और वातज ४। इस प्रकार कुल २० तरह के होते हैं। जिनका नामकरण विभिन्न आचार्यानुसार निम्न तालिका में दर्शाया गया है—

प्रमेह : भेद : तालिका :

दोष	संख्या	चरकोक्त भेद	सुश्रुतोक्त भेद	वाग्भट्टोक्त भेद	आधुनिक मतानुसार
कफज	१	उदकमेह	उदकमेह	उदकमेह	Diabetes Insipidus or Polyuria
१०	२	रसमेह	इक्षुवालिकामेह	इक्षुमेह	Glycosuria
	३	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह	Phosphaturia
	४	सान्द्र प्रसादमेह	सुरामेह	सुरामेह	Acetonuria
	५	शुक्लमेह	पिष्टमेह	पिष्टमेह	Chyluria
	६	शुक्रमेह	शुक्रमेह	शुक्रमेह	Spermatorrhea
	७	सिकतामेह	सिकतामेह	सिकतामेह	Oxaluria
	८	शनैर्मेह	शनैर्मेह	शनैर्मेह	"
	९	लालामेह	—	लालामेह	
	१०	शीतमेह	—	शीतमेह	
			लवणमेह		Chloride
			फेनमेह		Pneumaturie
पित्तज	११	क्षारमेह	क्षारमेह	क्षारमेह	Alkalineuria
६	१२	कालमेह	—	कालमेह	Melanuria
	१३	नीलमेह	नीलमेह	नीलमेह	Indicanuria
	१४	लोहितमेह	शोणितमेह	शोणितमेह	Haematuria
	१५	मांजिष्ठमेह	मांजिष्ठमेह	मांजिष्ठमेह	Urobilinuria
	१६	हारिद्रमेह	हारिद्रमेह	हारिद्रमेह	Haemoglobinuria
			अम्लमेह		
वातज	१७	वसामेह	वसामेह	वसामेह	Lipuria
४	१८	मज्जामेह	—	मज्जमेह	
	१९	हस्तिमेह	हस्तिमेह	हस्तिमेह	Polyuria
	२०	मधुमेह	क्षौद्रमेह सर्पिमेह	मधुमेह	Diabetes Mellitus

श्री रघुवीरशरण शर्मा आयुर्वेद जगत के उद्भट विद्वान हैं तथा 'धन्वन्तरि' पर आपकी कृपादृष्टि सदैव से बनी रही है। आप शुद्ध आयुर्वेद के पूर्ण समर्थक एवं विद्वान है। आपने कई पुस्तकें लिखी हैं जो आपकी विद्वत्ता की द्योतक हैं। 'भगवान धन्वन्तरि के काल निर्णय' के सम्बन्ध में आपके कई लेख 'धन्वन्तरि' में प्रकाशित हुये हैं जो इस ओर आपके गहन अध्ययन के द्योतक हैं। लगभग ८४ वर्ष की इस वृद्धावस्था में भी 'धन्वन्तरि' के लिये अपने लेख प्रेषित करना 'धन्वन्तरि' के प्रति आपके अगाध स्नेह को ही प्रदर्शित करता है। 'भगवान धन्वन्तरि' से प्रार्थना है कि आप सहस्त्र वर्षीय हों। —दाऊदयाल गर्ग।

मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्र दोषास्तथैव च।
मूत्रदोषाश्च ये चापि बस्ति स्थाने भवन्तिहि॥
—योगरत्नाकर प्रमेहाधिकार

अर्थात् मूत्राघात, प्रमेह, वीर्य दोष, मूत्रदोष ये सभी बस्ति स्थान के रोग है, प्रमेहों के जन्म दाता-कफःसपित्त-पवनश्च दोषा मेदोऽस्त्रशुक्राम्बु वसा लसीकाः। मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः प्रमेहिणां विंशतिरेवमेहाः। वात पित्त कफ नाम के तीन दोष हैं। ये दोष मेद, रक्त, वीर्य वसा क्लेद लसीका मज्जा रस, ओज और मास ये दूष्य हैं। इनको वात पित्त और कफ नाम के दोष दूषित करके प्रमेहों को करते है।

दोष—शरीर दूषणाद्दोषा धातवो देह धारणात् शार्ङ्गधर संहिता। ये शरीर के शिर हृदय फुफ्फुस यकृत् वृक्क (गुर्दा) आदि सभी अङ्गों को दूषित करके रोग उत्पन्न करते हैं अतः इनका नाम दोष है और ये ही शरीर को धारण करते है अर्थात् शरीर की स्थिति को कायम रखते हैं अतः इनका नाम धातु भी है। जब भी मनुष्य प्रकृति नियमों का उलङ्घन करता है, मिथ्या आहार विहार करता है तभी उसको दण्ड देने को जा पहुंचते हैं। फिर भी मुख्य धातु रस रक्त मांस मेद अस्थि मज्जा और वीर्य हैं। इनमें भी संसार धातु नाम से वीर्य को ही जानता है अतिरिक्त इनके अष्टम धातु ओज है। आयुर्वेद में इसको जीवन के रूप में स्वीकार किया है "तन्नाशान्नाविनश्यति" अर्थात् ओज के नाश होने पर मनुष्य का भी नाश हो जाता है अर्थात् मरण निश्चित है। ओज सैकड़ों वर्षों से आज तक विवाद का विषय रहा है। सुश्रुत चरक अष्टांग संग्रह वाग्भट्ट के टीकाकारों के भी विभिन्न मत रहे है। वर्तमान काल के उभय पक्षीय वैद्यक ज्ञाता वन में भटकते रहे हैं। एक विद्वान ने इसको प्लाज्मा सिद्ध करने का प्रयास किया था किन्तु प्लाज्मा शरीर को नष्ट नहीं करता ओज करता है तन्नाशन्ना विनश्यति। कुछों का मत है कि एल्व्यूमिन ही ओज है परन्तु इसमें कुछ सत्यांश संभव है सर्वांश में नहीं। मैंने भी लगभग १५ वर्ष पूर्व ओज क्या है? शीर्षक लेख सचित्र आयुर्वेद कलकत्ता में छपवाया था। उसकी विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी परन्तु अब मुझे स्वयं याद नहीं है कि मैंने क्या सिद्ध किया था हां इतना अवश्य याद है कि एल्व्यूमिन के पक्ष मे नहीं था। सुश्रुत ने इसको प्राणों का आधार माना है "प्राणायतनमुत्तमम्" सु.सू. १५।२२।

प्रमेह का पूर्वरूप—

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्रागरूपं पाणिपादयोः।
दाहश्चिक्कणता देहे तृड् स्वाद्वास्यं च जायते॥

दांतों आदि मे मैल, हाथ पांवों में जलन, शरीर चिकना मुख का स्वाद मीठा यह पूर्वरूप हैं। सुश्रुत ने लिखा है कि—

तेषांतु पूर्वरूपाणि—हस्त पाद तलदाहः स्निग्ध पिच्छिल गुरुता गात्राणां मधुर शुक्ल मूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धश्च श्वासः तालु गल जिह्वा दन्तेषु मलोत्पत्ति-

जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् । सु नि. ६।४ ।

हाथ पांव के तलुओं में जलन, शरीर के अंगों में चिकनापन, पिच्छिलता और भारीपन, पेशाब मीठा और सफेद, तन्द्रा गमूदगी, थकावट प्यास, शरीर पर दुर्गन्ध, काम करने में हांफना, तालु गला जीभ और दांतों में मैल की उत्पत्ति केशों का आपस में अटकना, और नाखूनों की वृद्धि ।

प्रमेह के सामान्य लक्षण जो सर्व बीसों प्रमेह में होते हैं—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविल मूत्रता । —योग रत्नाकर

अर्थात् मूत्र का अधिक आना और वह कुछ गदला भी हो। कफ जन्य प्रमेहों की संख्या दस है उनके लक्षण ये हैं—

अच्छं बहुसितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ।
मेहमुदकमेहेन किञ्चिदाविल पिच्छिलम् । १
इक्षोरसमिवात्यर्थंमधुरश्चेक्षुमेहतः । २
सान्द्रीभवेत् पर्युसितं सान्द्रमेहेन मेहति । ३
सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधोघनम् । ४
संहृष्ट रोमा पिष्टेन पिष्टवद् बहुलं सितम् । ५
शुक्राभं शुक्रमिश्रं शुक्रमेही प्रमेहति । ६
मूर्ताणूनूसिकता मेही सिकतारूपिणोमलाम् । ७
शीत मेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् । ८
शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दमन्दं प्रमेहति । ९
लाला तन्तु युतं मूत्रे लालामेहेनमेहति । १०

उदकमेह में मूत्र स्वच्छ, मात्रा में अधिक, सफेद, शीतल, गन्ध रहित जल के समान किन्तु कुछ गंदला और पिच्छिल होता है। गंदला भी है पिच्छिल भी है फिर भी स्वच्छ है। आश्चर्य है इक्षुमेह में ईख के रस के समान मिठास होता है, सान्द्र मेह में मूत्र को रख देने पर गाढ़ा हो जाता है । सुरामेही की यह पहचान है कि ऊपर स्वच्छ रहता है और नीचे का भाग गाढ़ा । पिष्टमेह में मूत्र त्याग के समय रोमांच होता है और पिष्ठी के समान होता है। शुक्रमेह में वीर्य पेशाब के साथ आता है या अकेला भी आजाता है । सिकता शब्द ही बता रहा है कि छोटे कण पथरी के रहते हैं । सुश्रुत में लिखा है कि इसमें मूत्रत्याग के समय दर्द भी होता है—सरुजंसिकतानुविद्ध सिकतामेही । शीतमेह में मूत्र अधिक शीतल होता है और मूत्र का स्वाद मीठा रहता है । शनैर्मेही रुक रुक कर मूतता है । जैसे मनुष्य के मुख से लार टपकती है वैसे पेशाब में लार सी आती है । लाला तन्तु युतं मूत्रं लालामेहेन मेहति । जिसके मूत्र के साथ लार जैसे टपके वह लालामेह है ।

पित्त के ६ प्रमेह —

गन्धवर्ण रसस्पर्श क्षारेण क्षारतोयवत् ।
नील मेहेन नीलाभं कालमेही. मसीनिभम् ॥
हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासन्निभम् दहत् ।
विस्रं मंजिष्ठमेहेनमंजिष्ठा सलिलोपमम् ॥
पित्तमुष्णं सलवणं रक्तभम् रक्त मेहतः ॥

क्षार मेही का मूत्र गन्ध में वर्ण में रस में छूने खारी पानी के समान हो वह क्षारमेह है । नीलमेही का मूत्र नील वर्ण का होता है और काल मेही का मूत्र काली स्याही जैसा होता है । हरिद्रामेही का मूत्र स्वाद में कड़वा और रंग में हरिद्रा के समान पीला होता है और जलन के साथ होना । मंजिष्ठा प्रमेह में मजीठ पानी या काढा कुछ कत्था जैसा रंग होता है । रक्त प्रमेह में मूत्र कुछ गरम होता है स्वाद में नमकीन होता है और वर्ण में रक्त के समान लाल होता है । ये छः प्रमेह पित्त के हो गये । अब वात के सुनो —

वसा मेही वसामिश्रं वसाभं मूत्रयेन् मुहुः ।
मज्जाभं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः ॥
कषायं मधुरं रूक्षं क्षौद्रमेहं वदेद् बुधः ।
हस्तीमत्त इवाजस्रं मूत्रं वेग विवर्जितम् ॥
सलसीकं विवद्धंच हस्तमेही प्रमेहति ॥

—आयुर्वेद विज्ञान (चरक)

वसामेही वसा मिश्रित या वसा के समान मूत्र करता है ।

शुद्ध मांसभवः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ।

—शार्ङ्गधर संहिता ।

शुद्ध मांस से स्नेह निकलता है उसका नाम वसा है । इसका वर्ण कुछ लाल होता है मज्जा के प्रमेह में मूत्र मज्जामिश्रित उतरता है, मज्जा के समान उसका वर्ण होता है । मज्जा चर्बी को कहते हैं। इसका रंग घी के समान ही होता है । सूअर की चर्बी का ही पहले प्रयोग करते थे । क्षौद्रमेह में-जिसका प्रसिद्ध नाम मधुमेह है जिसको डाईबिटीज कहते हैं इसमें मूत्र का स्वाद कसैला होता है जैसा हर्र का या आमले का होता है। साथ ही यह मीठा भी होता

है पर रूक्ष होता है इसीमें ही निरन्तर लगातार मूत्र करता रहता है। इसमें लसीका भी मिली रहती है। अब हमने बीसों प्रकार के प्रमेहों को लिख दिया है।

साध्य, याप्य और असाध्य पर विचार

साध्याः कफोत्था दश पित्तजाः षट्
याप्या न साध्याः पवनाच्चतुष्कः।
समक्रियत्वाद विषमक्रियत्वान् महात्ययत्वा च यथाक्रमंते।

कफ जन्य दस प्रमेह साध्य हैं, क्योंकि दोष कफ और दूष्य मेद आदि की चिकित्सा समान है। जैसे कटु और तिक्त (कड़वे) द्रव्यों से दोष और दूष्य दोनों का ही नाश होता है। अतः कफजन्य साध्य हैं। पित्त के छः प्रमेह याप्य हैं, इनकी चिकित्सा में विषमता है। जिन मधुर आदि द्रव्यों से पित्त का नाश होता है उन्हीं से दूष्यों की वृद्धि होती है। इसके विपरीत जिनसे दूष्यों का नाश होता है उन्हीं से पित्त की वृद्धि होती है। इसी कारण याप्य है। वायु के चार प्रमेह असाध्य हैं क्योंकि ये गंभीर धातुओं का नाश करते हैं। वायु की गति शीघ्र है अतः रोगी का शीघ्र नाश करते हैं।

धात्ववकर्णकादाशु कारित्वाच्च महात्मसिकत्वात्।
—आयुर्वेद विज्ञान सुश्रुत

इस तरह पित्तज प्रमेह की चिकित्सा में तिक्त और कषाय रस वाले द्रव्यों से ही चिकित्सा हो सकती है। किन्तु वातमेहों में इससे भी अधिक कठिनाई है। यथा मधुर तथा स्निग्ध द्रव्यों से वायु का शमन होता है पर मेद आदि दूष्यों की वृद्धि होती है। यदि तिक्त (कड़वे) तथा कषाय रस द्रव्यों का प्रयोग होता है तो वायु की वृद्धि होवेगी।' सुश्रुत के कथन से ज्ञात होता है कि मधुमेह का जन्मदाता मेद धातु है। 'मधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेद प्रभृतयोमेदोदोषजाः। सु०सू० २४/१२। परन्तु चरक संहिता के टीकाकार चक्रपाणिदत्त ने मधुमेह शब्द से सर्व प्रमेहों का ग्रहण किया है—'मधुमेह शब्दः सर्वप्रमेह मधुमेह विशेषे च वर्तते, यथा तृण शब्दः सर्वतृणे तृणविशेषे च वर्तते।

नामों में भिन्नता—चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट ने २० तरह के ही प्रमेह लिखे हैं किन्तु नामों में अन्तर है जैसे—सुश्रुत मे सुरामेह, पिष्टमेह, फेनमेह, लवणमेह हैं। इन चारों के स्थान पर चरक में सान्द्रमेह, शुक्रमेह, शीतमेह और लालामेह चार हैं। इनमें सुश्रुत के सुरामेह और चरक के सान्द्रमेह में समानता है। सुश्रुत के पिष्टमेह और चरक के शुक्रमेह में भी समानता है। सुश्रुत के लवणमेह और फेनमेह इन दोनों की चरक के लालामेह और शीतमेह में समानता नहीं है। मुझे सुश्रुत के लवणमेह के स्थान पर लालामेह उत्तम जचता है। इसमें लार सी टपकती है, पिच्छिल भी है अर्थात् चिपचिटाहट भी है। रोगी या तो वीर्य को प्रमेह समझता है या फिर इसको लवणमेह और फेनमेह का तो ज्ञान ही नहीं होता। कफजन्य दस प्रमेहों में इक्षुमेह और शीतमेह, इनमें काफी समानता है। ये दोनों मधुर हैं। पित्तप्रमेहों में भी सुश्रुत के अम्लमेह के स्थान पर चरक और वाग्भट्ट ने कालमेह लिखा है।

स्पष्टीकरण—

(१) उदकमेह—पुराने वृक्कशोथ से धमनी दाढ्य के कारण रक्तभार बढ़ जाने से, ग्रन्थिकवृक्क से और मस्तिष्कगत पिच्युटरी ग्रन्थि की विकृति से होता है। पिच्युटरी से होने वाले उदकमेह को डायबिटीज इन्सिपीडस कहते हैं। कफ के प्रमेहों में इक्षुमेह और शीतमेह दोनों में शर्करा जाती है। इसके भी वातकफज भेद चरक ने दो भेद माने हैं। धातुक्षय से वातजन्य और [illegible]र्पण से कफजन्य—

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं
मधूपमम् स्याद् द्विविधो विचारः।
क्षीणे दोषेष्वनिलात्मकः स्यात्
संतर्पणाद्वाकफ संभवः स्यात् ॥
—चरक प्रमेह चिकित्सा

(२) सिकतामेह में मूत्र के साथ छोटे-छोटे पथरी के कण निकलते हैं।

(३) शनैर्मेह में मूत्र मार्ग सिकता (बालू) से रुका रहता है। मूत्रेत्र युक्तः सिकता प्रमेहः।

(४) सान्द्रमेह में किसी पात्र में मूत्र को रखने से थोड़ी देर में गाढ़ा हो जाता है—

यस्य पर्युषितं मूत्रं सान्द्रीभवति भाजने।
(चरक प्रमेहाधिकार)

मूत्र में पूय या फेब्रिन उपस्थित होने से मूत्र गाढ़ा होता है। पूययुक्त मूत्र का वर्ण श्वेत और फेब्रिनयुक्त मूत्र का वर्ण किंचित् रक्तवर्ण होता है।—सुश्रुत टीका घाणेकर

(५) माञ्जिष्ठमेह और हारिद्रकमेह पाण्डु आदि रोगों में होते हैं।

(६) पित्तप्रमेह में कालमेह को घाणेकर जी ने Brown and black urines लिखा है। इसमें मूत्र का कृष्ण वर्ण होने के कारणों में एक पुराना कामला रोग भी है। —घाणेकर

(७) नीलमेह— इसको सुश्रुत टीकाकार घाणेकर जी ने इन्डिकन्यूरिया (Indicanuria) लिखा है। इसमें मूत्र में इन्डिक नाम का पदार्थ रहता है। आंत्र मे या आंत्रेतर शरीर के अन्य हिस्से में अलव्यूमिन के सड़ने से यह द्रव्य मूत्र में आ जाता है जैसे पुराना कब्ज, अतिसार प्रवाहिका, आंत्रशोथ, खांसी, राजयक्ष्मा की तृतीयावस्था आदि। नीलमेह में मूत्र थोड़ी देर बाद में नीला हो जाता है।

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥
—सु नि. ६/२६

यदि आरम्भ से ही प्रमेह की चिकित्सा न की जाये तो कुछ समय बाद ये सभी प्रमेह मधुमेह मे परिवर्तित हो जाते हैं और तब असाध्य बन जाते हैं। यह लेख असङ्गत है, क्योंकि प्रत्येक प्रमेह के निदान और संप्राप्ति भिन्न-भिन्न हैं। एक सज्जन विद्वान कहते हैं कि प्रमेह में मधुरता रहती है और शरीर भी प्रमेह मे मधुर रहता है। अतः सभी प्रमेह मधुमेह हैं। तब प्रश्न है तो क्या सभी प्रमेहों की चिकित्सा परित्याग करके मधुमेह की ही चिकित्सा करनी चाहिए। यह तो ऐसी बात है कि विशूचिका में वमन होता है अतः जहां भी वमन हो वही विशूचिका है। चरक संहिता में दृढबल ने एक बात बड़ी [illegible]ढिया कही है। यदि प्रमेह के पूर्वरूपों में हस्तपाद में [illegible]ाह आदि लक्षण न हों और मूत्र हारिद्र वर्ण या रक्त वर्ण [illegible]ो तो वह प्रमेह नहीं है। बल्कि पित्त तथा रक्त की [illegible]कृति है।

हारिद्र वर्णं स रुधिरं च मूत्रं-
विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्र येत्तं नवदेत् प्रमेहं
रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥
—चरक प्रमेह चि० स्थान

वात प्रमेहों की असाध्यता का स्पष्ट उल्लेख—

कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदामज्जा वसायुतः।
अधः प्रक्रमतेवायुस्तेनासाध्यास्तु वातजाः॥—सु०नि०६/२३

वातप्रमेहों का वास्तविक कारण यह है कि वायु समस्त शरीर को निचोड़ कर मेद मज्जा और वसा को वस्ति द्वारा शरीर से निकाल देता है। यहां पर अनुक्त ओज का भी ग्रहण करना चाहिए।

प्रमेहों के उपद्रव—

मक्षिकोपसर्पणमालस्यं मांसोपचयः प्रतिश्यायः शैथिल्यारोचक विपाकाः कफप्रसेकच्छर्दि निद्रा कास श्वासश्चेति श्लेष्मजानामुपद्रवाः। वृषणयोरवदेरणं वस्ति भेदो मेढ्रतोदो हृदिशूलमम्लीका ज्वरातिसारारोचकाश्च वमथुः परिधूमायनं दाहो मूर्च्छा पिपासा निद्रानाशः पांडु रोगः पीतविण्मूत्र नेत्रत्वं चेति पैत्तिकानाम्। हृद्ग्रहो लौल्यनिद्रा स्तंभः कम्पः शूलवद्ध पुरीषत्वं चेति वातजानाम्। एवमेतेविंशतिः प्रमेहाः व्याख्याताः। —सु. नि. ६/१४

प्रमेहों के उपद्रव—मक्खियों का शरीर या मूत्र पर बैठना, आलस्य, स्थूलता, प्रतिश्याय (जुकाम), शिथिलता, भोजन में अरुचि, अपचन, कफ का स्राव, वमन, निद्रा का अधिक आना खांसी और श्वास, ये कफज प्रमेह के उपद्रव हैं। अण्ड कोषों में फूटने की सी पीड़ा, हृदय में शूल, वस्ति मे फाड़ने जैसा दर्द, खट्टी डकार का आना, ज्वर, अतिसार, अरुचि, वमन, जलन के साथ डकार, दाह, मूर्च्छा, प्यास, निद्रानाश, पांडुरोग, मलमूत्र तथा नेत्रों का पीलापन, ये पित्त प्रमेह के लक्षण है। हृदय का जकड़ना, नींद का न आना, शरीर का अकड़ा सा रहना, कांपना, शूल और मलावरोध (दस्त साफ न होना), ये वातजन्य प्रमेहों के उपद्रव हैं।

वक्तव्य—जैसे क्षय रोग हरेक अङ्ग मे हो सकता है परन्तु होता है प्रायः फुफ्फुस में ही और अङ्गों में तो विरला ही होता है ऐसे ही प्रमेह भी कफजन्य ही होते हैं। दूसरा नंबर पैत्तिक का और मधुमेह को छोड़कर अन्य तीन वातजन्य तो बहुत ही कम होते हैं।

—श्री रघुवीरशरण शर्मा
वैद्य रत्न, आयुर्वेदाचार्य डी.एस.सी.ए.
डी—१५०, भजनपुरा, दिल्ली—५३

कवि० डा० गिरिधारीलाल मिश्र
(विशेष सम्पादक)

मूत्र की राशि निरन्तर बढ़ती हो, परन्तु मूत्र में न तो शर्करा आती हो और न ही एल्ब्युमिन आती हो, पर मूत्र का आपेक्षिक गुरुत्व कम हो तो उसे उदकमेह समझना चाहिए। बहुमूत्रता प्रमुख लक्षण होने के कारण इसे पौलीयूरिया भी कहते हैं।

द्रष्टव्य है—

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्।
श्लेष्मकोपान्नरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति॥ —चरक

अच्छं—स्वच्छ, बहु—बहुतसा, मात्रा में अधिक, दिन में १०–२० पाइन्ट तक, सितं – रङ्ग रहित या श्वेत वर्ण जलवत्, शीतं—ठण्डा, शीतल, निर्गन्धं—गन्धरहित, उदकोपमम् जल जैसा रङ्ग, श्लेष्मकोपान्नरो—कफ प्रकोप से ग्रसित व्यक्ति, मूत्रं उदकमेही प्रमेहति – मूत्र त्यागता है।

आचार्य सुश्रुत ने—तत्र श्वेतमवेदनमुदक सदृशमुदकमेही मेहति—श्वेतवेदना रहित जल के समान मूत्र त्यागता है—कहा है।

निदान—

अतः मूत्र की राशि के बढ़ने से रोगी बार-बार मूतता है और प्यास ज्यादा लगने से बार बार पानी पीता है तथा रोगी दिनानुदिन कृश व क्षीण होता जाता है। मूत्र का आपेक्षिक गुरुत्व कम हो जाता है–१००२ से १००५ तक रहता है। यदि रोग मृदु हो तो मूत्र की मात्रा तथा प्यास अधिक होना ही लक्षण होता है, परन्तु रोग की तीव्रावस्था में त्वचा की शुष्कता, कृशता, क्षुधाधिक्य, कभी मलबन्ध, कभी अतिसार आदि मधुमेह के लक्षण हो जाते हैं। इसीलिए इसे Diabetis Insipidus कहा गया है। वात प्रकोप के कारण कभी कभी वातिक लक्षण जैसे कि–स्वभाव में चिड़चिड़ापन, अनिद्रा, शिरःशूल, कमर [illegible] प्रत्यावर्तित क्रियायें कम होना, मांसपेशियों में पिपीलिका संचार (पिपीलिकोपसर्पणं अंगेषु) होता है।

निदान चातुर्य—

प्रारंभिक अवस्थामें इस रोग का भ्रम चिरकालीन इन्टरस्टीशियल वृक्कशोथ से हो जाता है तथा रोग की तीव्रावस्था में मधुमेह का भ्रम हो जाता है। परन्तु रोगी की बड़ी आयु, मूत्र में एलब्युमिन का नाममात्र होना, हृदय तथा रक्तवाहिनियों के लक्षणों का अभाव तथा मूत्र में शर्करा का अभाव इसका भेद कर देते हैं। जैसे—एमीलोयड वृक्क में एलब्युमिन आता है, मधमेह में मूत्र में शर्करा आती है तथा वृक्क रोगों जैसे हाइड्रोनेफ्रोसिस और पौलीसिस्टिक में अर्बुद का प्रतीत होना आदि लक्षण इसमें नहीं मिलते तथा मूत्र का आपेक्षिक गुरुत्व कम १००२ १००५ रहने से इसका निश्चित निदान हो जाता है।

रोग के कारण— यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। यह रोग प्रायः बचपन और मध्यम वय के प्रारम्भ में होता है। पीयूष ग्रन्थि के पश्चिम खण्ड (Posterior lobe of the pituitary) की विकृति के कारण उसका स्राव कम होना प्रमुख कारण है। मस्तिष्क पर आघात लगने, अर्बुद, सिफलिस और मस्तिष्कावरण शोथ में चोट लगने से ऐसा होता है।

विशेष-मधुमेह का सीधा सम्बन्ध क्लोमग्रंथि के स्राव से है जिसका उदकमेह से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसकी उत्पत्ति का मुख्य कारण पिच्युटरी के पश्चिम खण्ड के स्राव का कम होना है।

उदकमेह के भेद—

स्थायी और अस्थायी दो तरह का होता है—

(१) स्थायी उदकमेह—पुराने वृक्कशोथ से धमनी काठिन्य के कारण रक्तभार बढ़ जाने से ग्रन्थिकवृक्क (Cystic kidney) से और मस्तिष्कगत पिच्युटरी (Pituitary) की विकृति से होता है।

(२) अस्थायी उदकमेह—जल, चाय, कोका, कॉफी तथा अन्य शीतलपेय अधिक मात्रा में पीने से, हृदयशूल, अपस्मार, अपतन्त्रक अर्धावभेदक इत्यादि के आवेग के पश्चात् भय तथा मानसिक आघात या उत्तेजना से होता है।

द्रष्टव्य—इसका मृदुरूप कई वर्षो तक चलता रहता है पर तीव्रावस्था में—मस्तिष्क में अर्बुद होने पर इसकी वृद्धि शीघ्रता से होती है, थकान या तन्द्रा होकर जो पीछे निद्रा में बदल जाती है—मृत्यु हो जाती है। इसमें आक्षेप होते भी हैं और नही भी होते अथवा क्षय रोग या निमोनिया होने से मृत्यु होती है।

चिकित्सा—

जिन पदार्थों के खाने या पीने से मूत्र की मात्रा बढ़े उनको नहीं देना चाहिए जैसे चाय, काफी, कोको, शीतपेय (Coid drinks) तथा नमक। परन्तु जितना पानी रोगी सुगमता से पी सके कम नहीं करना चाहिए। पीयूष ग्रंथि (Pitnitary) के पश्चिम खण्ड का इन्जेक्शन देना चाहिए अथवा पीट्रसीनटेनेट का तैल बना इन्जेक्शन देना लाभदायक है—यह मूत्र संग्राहक है। अवटुग्रन्थि का स्राव देना भी लाभदायक है।

आयुर्वेद का सोमरोग—सोमरोग नाम से वर्णित रोग का उदकमेह से समन्वय कर सकते हैं—

प्रसन्ना विमला, शीता निर्गन्धा नीरजाः सिता।
स्रवन्ति चाति मात्रं ताः सा न शक्नोति दुर्बला॥

तथा सोम रोग के पुराना होने से मूत्रातिसार 'सोमरोगे चिरं जाते यदामूत्रमतिस्रवेत्' होता है एवं सोमरोग नाशक चिकित्सा से इस रोग में लाभ होता है—

(१) सुश्रुत का पारिजात कषाय—हारसिंगार की पत्तियों का क्वाथ अत्यन्त लाभदायक है।

(२) केले का उपयोग घी और चीनी के साथ प्रशस्त है।

(३) जामुन की गुठली के चूर्ण का प्रयोग भी लाभदायक है मूत्र की मात्रा कम होजाती है।

(४) गूलर का चूर्ण उचित अनुपान से उत्तम है।

(५) सामान्यतः सोमनाथ रस, सोमेश्वररस, तारकेश्वर रस, वसन्तकुसुमाकर, हेमनाथ रस, कस्तूरी भूषण, प्रमेह सेतु, पूर्णचन्द्र रस उत्तम योग हैं। चन्द्रप्रभावटी भी लाभदायक है। कदल्यादिघृत का अनुपान भी उत्तम है। प्रमेह-मिहिर तैल का सर्वाङ्ग अभ्यङ्ग करना चाहिए।

उदकमेह में उपयोगी आयुर्वेदीय इन्जेक्शन—गुडमार (प्रताप फार्मा) नाग सिन्दूर (बुन्देलखण्ड), शिलाजीत तथा वसन्तकुसुमाकर, (मिश्रा, बुन्देलखण्ड) इन्जेक्शन दें।

आधुनिक चिकित्सा—

१—पिटयूटरी (बूट्स कम्पनी) एक एम्पुल की सूई नित्य मांस में लगावें।

२—ट्राइनरजेक्स (Trinerjex) इन्जेक्शन का प्रयोग भी इसमें बड़ा लाभदायक पाया गया है। ५ इन्जेक्शनों का कोर्स है। पहले सप्ताह में तीन इन्जेशन तथा दूसरे सप्ताह में २ इन्जेक्शन देने चाहिये। कमजोरी के लिए भी अन्य औषधि देने की जरूरत नहीं।

३—निर्बलता दूर करने के लिए बीकोजाइम एक इन्जेक्शन २ सी. सी. लगाना चाहिए।

(४) जम्ब्वारिष्ट या जामूनासव व जाम्बोलन (Jombolan) की २-२ चम्मच जल मिलाकर दिन में २ वार भोजन के बाद देना चाहिये।

५—लिक्विड एक्ट्रेक्ट आफ इरगट की १० से २० बूंद एक औंस जल में मिलाकर दें।

पथ्य—जौ को कूटकर भूसी हटाकर त्रिफला क्वाथ में रात भर भिगोकर उसके बनाये हुए सत्तू बनाकर खिलाने से उदकमेही के लिए लाभप्रद हैं। डाभ (नारियल का पानी), परवल, गूलर, केले के फूल की सब्जी, करेला, कच्चा नारियल, अंकुरित चने और मेंथी शाक लाभदायक है। साठी चावल, सोवा तथा जौ के बने योग्य पदार्थों का प्रयोग उत्तम है।

अपथ्य—मद्य, मठ्ठा, खट्टे पदार्थ, कांजी, ईख रस तथा मांस पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। कालीमिर्च, मूली, लहसुन, पूड़ी-कचौड़ी, प्याज-आलू उड़द की दाल का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

उदकमेह में उपयोगी होमियोपैथिक दवाएं—

१—सिजिजियम जम्बोलिन Q
२—फास्फोरिक एसिड ६ या ३०
३—यूरेनियम नाइट्रिकम '६'
४—सनन्थिरस ६ या ३० शक्ति

उदकमेह में उपयोगी वायोकेमिक दवाएं—

१—कल्केरिया फास्फोरिकम ३० X
२—फेरम फास्फोरिकम ६ X
३—नेट्रम म्यूरियेटिकम १२ X

विशेष–सम्पादक

मूत्र में शर्करा होती है अतः शर्करायुक्त प्रमेह को ग्लायकोसूरिया (Glycosuria) कहते हैं। आयुर्वेद में शर्करायुक्त प्रमेह कफ और वात से पृथक्-पृथक् होते हैं। कफजन्य सन्तर्पण से और वातजन्य धातु क्षय से होता है यथा—

दृष्टवा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं
मधूपमं स्याद द्विविधो प्रकारः।
क्षीरेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात्
सन्तर्पणाद्वा कफसम्भवः स्यात्॥
(चरक प्रमेह चिकित्सा)

इस सन्तर्पण जन्य (कफज) इक्षुमेह को एलीमेन्टरी ग्लायकोसूरिया (Alimentary Glycosuria) कहते हैं। सन्तर्पण के अतिरिक्त अत्यधिक मानसिक और शारीरिक परिश्रम से, मस्तिष्कघात से, वृक्क की शर्करा बन्धन मर्यादा (Renal threshoid) के कम होने से होने वाले इक्षुमेह को Renal Glycosuria कहते हैं। चरकाचार्य ने इक्षुमेह के निम्न लक्षण दिये हैं—

अत्यर्थमधुरं शीतं ईषत्पिच्छिलमाविलम्।
काण्डेक्षु रस संङ्काशं श्लेष्मकोपात् प्रमेहति॥

अत्यन्त मीठा, थोड़ा चिपचिपा और गंदला, गन्ने के रस जैसा मूत्र श्लेष्मा के प्रकोप से इक्षुमेह का रोगी करता है।

वृक्कजनित मधुमेह (Renal Glycosuria)—आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार इक्षुमेह को वृक्कजनित मधुमेह रोग माना जाता है। साधारणतः १०० सी. सी. रक्त में जब तक शर्करा १७०-१८० मिलिग्राम से ऊपर न हो जाय वह वृक्कों में से मूत्र द्वारा बाहर नहीं निकलती। इसे वृक्कों की साधारण शर्करा क्षमता (Renal Thresh *hold*) कहते हैं परन्तु किसी किसी व्यक्ति में जन्म से ही वृक्कों की शर्करा-क्षमता कम होती है अर्थात रक्त में १००-१३० मि. ग्रा. प्रतिशतक शर्करा होने पर भी उस व्यक्ति के मूत्र में शर्करा आने लगती है। इसे वृक्कजनित मधुमेह (Renal Glycosuria) कहते हैं।

ग्लूकोज परीक्षण — प्रातः खाली पेट रक्त का एक नमूना लेकर उसमें शर्करा का परीक्षण किया जाता है फिर ५० ग्राम ग्लूकोज २०० सी. सी. जल मिलाकर पिला दी जाती है तथा आधे-आधे घण्टे बाद रक्त के ५ नमूने ले लिये जाते हैं जिन में से प्रत्येक में से शर्करा की परीक्षा की जाती है। साधारणः खाली पेट लिये गये रक्त में ग्लूकोज ८०-१२० मि. ग्रा. प्रतिशतक होता है। १ घण्टे बाद लिये गये रक्त में यह मात्रा १८० मि. ग्रा. प्रतिशतक हो जाती है और २॥ घण्टे बाद यह फिर नार्मल होजाती है। पर रोग की तीव्रावस्था में खाली पेट लिये गये नमूने में नार्मल नहीं होता तथा भोजन के बाद २४० मि. लि. प्रतशतक से ऊपर होजाती है और २॥ घण्टे बादभी २०० मि. लि. प्रतिशतक से ऊपर रहती है।

विशेष—जब मूत्र में थोड़ी शर्करा आती है पर रक्त में शर्करा का परिणाम साधारण मात्रा से अधिक न बढ़े तब Glycosuria समझा जाता है जैसे मधुमेह में कार्वोहाइट्रेट की मात्रा भोजन में बढ़ाने से शर्करा भी बढ़ती है पर इस रोग में भोजन में कार्वोहाईट्रेट की मात्रा बढ़ने से भी मूत्र में शर्करा का परिमाण नहीं बढ़ता।

मूत्र परीक्षण—मूत्र परीक्षण विधि से शर्करा परीक्षण करने से ०.१% (अत्यल्प) मिलती है।

चिकित्सा—

साधारण अवस्था में चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं रहती पथ्य पालन से ही रोगी स्वस्थ हो जाता है। नीम के पत्र या छाल का क्वाथ (सुश्रुत) या पाठा,

—शेषांश पृष्ठ १३९ पर देखें।

सान्द्र मेह

विशेष सम्पादक

आचार्य भाव मिश्रभाव प्रकाश में लिखते हैं—

'सान्द्री भवेत्पर्यु षितं सान्द्र मेहेन मेहति' तथा आचार्य चरक के शब्दों में—यस्य पर्यु षितं मूत्रं सान्द्री भवति भाजने अर्थात् मूत्र थोड़ी देर तक रख देने से व रात भर रखने से मूत्र गाढ़ा हो जाने को सान्द्रमेह कहते हैं। मूत्र में यह गाढ़ापन फास्फेट्स की उपस्थिति से होता है।

फास्फेट्स, साधारणतः पोटेशियम सोडियम के क्षारीय फास्फेट तथा कैल्सियम और मैगनीशियम के पार्थिव फास्फेट (Earthy Phosphates) के रूप में हमारे मूत्र से दिन भर में २॥ से ३॥ ग्राम की मात्रा में निकलते रहते हैं। इन्हीं के कारण मूत्र प्रायः गन्दला (Turbid) रहता है। जब ये लगातार मूत्र द्वारा निकलते रहें तथा मूत्र थोड़ी देर रहने पर निक्षिप्त हो जाय या मूत्र के प्रारम्भ व अन्त में अन्दर से ही मठे के रूप में अर्थात् पार्थिव फास्फेट के रूप में बाहर आये तब इसे सान्द्रमेह या फास्फेटमेह (Phosphaturia) कहते हैं।

मूत्र की क्षारीय प्रतिक्रिया में—सोडियम हाइड्रोजन फास्फेट, कैल्सियम हाइड्रोजन फास्फेट तथा मैगनेशियम हाइड्रोजन फास्फेट के रूप में, तथा मूत्र की अम्लीय प्रतिक्रिय, हाइड्रोजन फास्फेट तथा कैल्सियम हाइड्रोजन फास्फेट के रूप में होते हैं।

क्षारीय मूत्र—कैल्सियम हाइड्रोजन फास्फेट का श्वेत वर्ण दूधिया रंग का निक्षेप आया करता है। प्रायः रोगी जब मूत्र के प्रारम्भ व अन्त में इस दूधिया रङ्ग के निक्षेप को देखता है तो इसे वीर्य स्राव या मूत्र में पूय समझ कर व्यर्थ ही चिन्तित हो उठता है।

मूत्र परीक्षा—एक टेस्ट ट्यूब में ३/४ भाग मूत्र भर कर सुरादीप (Spirit lamp) पर गरम कीजिए, मूत्र में यदि सफेद रङ्ग का अवक्षेप उत्पन्न होता है तब मूत्र में २-४ बूंद ग्लेसियल एसिटिक एसिड (Glacial acetic acid) डालिये। अवक्षेप यदि पुनः मूत्र में घुल जाता है तब फास्फेट का द्योतक है।

सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) द्वारा अम्लीय मूत्र में कैल्सियम हाइड्रोजन फास्फेट के स्फटिक सितारों के आकार में तथा अमोनियम, मैगनेसियम के फास्फेट क्षारीय मूत्र में सूक्ष्म बिखरे हुए दाने के आकार में दिखते हैं।

कारण—(१) चिरकालीन अजीर्ण व सब्जियों के अधिक प्रयोग से शाकों और फलों का आर्गेनिक एसिड तो आक्सीजन में मिल जाता है तथा Bases मूत्र में आकर उसे क्षारीय कर देते हैं जिससे कैल्सियम फास्फेट नीचे बैठ जाते हैं और मूत्र में आते है।

(२) नाड़ी मण्डल के Lecithin and Nuclain के पाचन से भी फास्फेट की निकासी होती है। इसीलिए नाड़ी रोग-जैसे नाड़ी दौर्बल्य, मानसिक विषाद (Depression), उदासी, बेचैनी आदि रोगों में मूत्रगत फास्फेट की मात्रा बढ़ जाती है तथा उन रोगों की चिकित्सा ही इसकी भी चिकित्सा है।

(३) कृशता व जब शरीर का निर्माण (Metabolism) घटने लगे तथा जब शरीर में अम्ल का निर्माण दूषित हो तब फास्फेट अधिक मात्रा में मूत्र में आते हैं।

चिकित्सा—

कारण पर आश्रित है। सामान्यतः मूत्र को अम्ल रखना उत्तम है। इसके लिए अमोनियम क्लोराइड (नौसादर) या सोडियम एसिड फास्फेट देना चाहिए। भोजन में दूध, फल, अण्डे और मछली को छोड़ देना चाहिए तथा आलू व कैल्सियम जिसमें कम हो ऐसे भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए। मूत्र को अम्लीय बनाने वाली औषधियों से भी फास्फेट का आना बन्द हो जाता है।

(१) चन्द्र प्रभावटी—२-२ गोली दिन में २-३ बार हल्दी के स्वरस से देने से आशातीत लाभ होता है।

(२) बृहद् वंगेश्वर रस, सोमेश्वर रस, मेहवज्र का प्रयोग भी अत्यन्त लाभदायक है।

(३) श्वेत पर्पटी व नौसादर आदि के मूत्र प्रवर्तक योग तथा गोक्षुरादि गुग्गुल भी लाभदायक है।

(४) सप्तपर्ण कषाय (सुश्रुत) तथा हल्दी, दारुहल्दी, विडङ्ग, नागरमोथा (चरक) का क्वाथ दें।

(५) शिलाजीत के प्रयोग उत्तम लाभदायक हैं। शिलाजतु वटी व शिलाजीत, मण्डूर भस्म को मधु के अनुपान से देना लाभदायक है। रोगी को चिन्ता से मुक्त करना चाहिए। ★

सान्द्रप्रसाद मेह व सुरा मेह

(एसिटोन मेह)

(विशेष–सम्पादक)

चरक लिखते हैं—

यस्य संहन्यते मूत्रं किञ्चित्किञ्चित्प्रसीदति ।
सान्द्र प्रसादमेही तु तमाहुः श्लेष्मकोपतः ॥

श्लेष्मा के प्रकोप से होने वाला ऐसा प्रमेह जिसमें मूत्र कुछ गाढ़ा और कुछ पतला आता है। आचार्य सुश्रुत और वाग्भट्ट ने सान्द्रप्रसादमेह को ही 'सुरामेह' नाम से प्रतिपादित किया है। आचार्य सुश्रुत के शब्दों में - सुरा-सुरा तुल्यं मेहति–सुरामेही–सुरा (शराब) जैसा मूत्र विसर्जित करता है। आचार्य वाग्भट्ट ने इस ओर भी स्पष्ट लिखा है—'सुरामेही सुरातुल्यं उपर्यच्छमधोघनम्' कि सुरामेही का मूत्र यदि एक पात्र में करके रखा जाय तो ऊपर शराब जैसा स्वच्छ और पतला द्रव रहता है तथा नीचे गाढ़ा या घनभूत द्रव रहता है। अतः चरक की सान्द्र (गाढ़ा) और प्रसाद (पतला) दोनों भाग मूत्र में होने से सान्द्र प्रसादमेह ही, सुश्रुत वाग्भटानुसार सुरातुल्य गन्ध के कारण सुरामेह कहा गया है। अतः सुरामेह बहुधा सान्द्रमेह (Phosphaturia) ही होगा, पर उसका न तथा उसे सुरातुल्य गन्ध के विचार की दृष्टि से गन्ध का प्रमुख कारण मूत्र में पाया जाने वाला एसिटोन होने के कारण इसे Acetonuria कहा जाता है।

एसिटोन (Acetone)—यह स्नेह के अपूर्ण ओषजनीकरण के कारण मूत्र में पाया जाता है। निम्न विकारों में इसकी मूत्र में उपस्थिति द्रष्टव्य है—

(१) इक्षुमेह, (२) मूत्रविषमयता (Uraemia), (३) अर्धावभेदक, (४) क्लोरोफार्मविष, (५) प्रसुति सन्निपात तथा (६) शाकतत्व के सात्मीकरण में बाधाजनक विकार जैसे—आमाशयिक व्रण, आमाशय का कैंसर, अन्ननलिका संकोच, अन्त्रावरोध, शोथक्षय, विषमज्वर, उपदंश, गर्भावस्था का वमन, बालक का अतिसार और वमन।

एसिटोन परीक्षण—एक टेस्ट ट्यूब में ४ मिली० मूत्र लीजिये। इस मूत्र में अमोनियम सल्फेट (Ammonium sulphate) इतना मिलाइये कि वह मूत्र में और अधिक न घुल सके तथा टेस्ट ट्यूब में नीचे बैठने लगे। इसको संतृप्त विलयन (Saturated solution) कहते हैं। इस घोल में १ ग्रेन सोडियम नाइट्रोप्रूसाइड (Sodium Nitro-prusside) मिलाकर टेस्ट ट्यूब को खूब हिलाइये। अब इसमें २ मिली० लाइकर अमोनिया फोर्ट मिलाइये। मूत्र में एसिटोन रहने पर घोल का रङ्ग गहरा लाल Permangnate red) हो जायेगा।

कारण - भोजन में स्नेह पदार्थ घी, तैल आदि के ठीक से पचने से मूत्र में एसिटोन आता है। मधुमेह में यह अवस्था अवश्य मिलती है।

चिकित्सा—

आचार्य सुश्रुत ने इसमें नीम का कषाय व शाल्मली मूल (सेमल मूल) का कषाय देने का निर्देश देते हैं तथा चरकाचार्य ने कदंब, शाल, अर्जुन, अजवायन समभाग लेकर २ तोला द्रव्य का यथाविधि कषाय बना मधु के साथ देना लाभदायक बताया है।

(१) चन्द्रप्रभावटी, बसन्त कुसुमाकर रस, शिलाजित्वादि वटी आदि योग इस रोग की चिकित्सा में प्रशस्त हैं।

(२) एसिटोन के कारण ऊपर जिन रोगों का उल्लेख आया है उनकी यथोचित चिकित्सा करने से यह भी सामान्यावस्था में आ जाता है। एतदर्थ विस्तृत चिकित्सा का उल्लेख नही किया गया है। उदाहरणतः मधुमेह में यह सुरातुल्य गन्ध भी एक विशिष्ट लक्षण हैं। अतः मधुमेह में उपयोगी सभी औषध कल्प सुरामेह (Acetonuria) में भी स्वभावतः ही लाभदायक हैं।

※ पृष्ठ १२७ का शेषांश ※

विडंग, अर्जुन छाल, धमासा समभाग को २० ग्राम लेकर क्वाथ बनाकर पिलाना (योग रत्नाकर) तथा जयन्ती कषाय (सुश्रुत) का प्रयोग उत्तम है। करेले के रस का पान सुबह-शाम २-२ चम्मच तथा सब्जी भाजी में करेले का प्रयोग इस अवस्था में अत्यन्त लाभदायक है। (१) शिलाजित्वादि वटी २-२ गोली करेलें के रस से सप्ताह भर में ही रोग ठीक हो जाता है।

पिष्ट मेह या शुक्ल मेह

(विशेष-सम्पादक)

☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆☆

आचार्य भावमिश्र भावप्रकाश में लिखते हैं —

'संहृष्ट रोमा पिष्टेन पिष्टवद् बहुलं सितम्'

संहृष्ट रोमा (रोंगटे खड़े होना) पिष्टेन पिष्टवद् (पिष्ट तण्डुलवत्-चावल के धोवन के समान) बहुलं (गाढ़ा) सितं (सफेद) होता है अर्थात्—पिष्टमेह में मूत्र का वर्ण चावल के धोवन के समान सफेद तथा अधिक मात्रा में होता है और मूत्र त्याग करते समय रोमांच (रोंगटे खड़े होना) होता है। इस प्रमेह में जो रोमाञ्च होता है वह पिष्टमिश्र सफेद वर्ण मूत्र देखने का परिणाम मालूम होता है। आचार्य चरक ने इसे —

शुक्लं पिष्टनिभं मूत्रं अभीक्ष्णं य प्रमेहति।
पुरुषं कफ प्रकोपेन तमाहु शुक्लमेहिनम् ॥

कहकर शुक्ल (सफेद), पिष्टनिभं (पिसे हुए चावल की तरह सफेद) मूत्र मान कर शुक्लमेही तथा आचार्य सुश्रुत "पिष्टरस तुल्यं पिष्टमेही" कह कर पिष्ट रस के समान मानकर पिष्ट मेही माना है। इस प्रकार का सफेद मूत्र एल्व्यूमिन, पूय या काईल (Chyl) की उपस्थिति से होता है। मूत्र में काईल (Chyl अन्न रस) श्लीपद कृमि के कारण आता है। ये कृमि आन्त्रस्थ रसवाहिनियों में अवस्थान करके रस प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं जिससे मूत्रवहसंस्थान की रस वाहिनियां फूटती हैं तब रस मूत्र के साथ वाहर निकलता है। इसलिये इसको काईल्यूरिया (Chyluria) कहते हैं।

काइल (Chyl) मूत्र में चर्बी (Fat वसा) आने लगती है। इसको (Chyl) कहते हैं जिससे मूत्र दूधिया हो जाता है श्लीपद (Filaria) अस्थिभग्न, मृदु वृक्क शोथ आदि में इसकी उपस्थिति देखी जाती है।

काइल परीक्षण—टेस्ट ट्यूब में २ मि.लि. मूत्र डालिये इस मूत्र में २ मि. लि. ईथर (Ether) मिलाइये। काइल रहने पर चर्वी ईथर में घुल जायेगी तथा मूत्र जलवत् हो जायेगा और ईथर मूत्र में मिल जायेगा। पर यदि मूत्र की सफेदी काइल के कारण नहीं है तब सफेदी गायब न होगी और ईथर मूत्र में न मिलकर मूत्र के ऊपर पड़ा रहेगा।

कारण—

उष्ण प्रदेशों में काइल्यूरिया—फाईलेरिया सैम्युमिस के काल होता है जोकि थोरसिक प्रणाली को रोक देता है। शीत प्रदेशों में नई वृद्धि या ग्रन्थियों का बढना भी इसका कारण है, वृक्क और मूत्राशय की रसायनियों पर (Lymphatic Vessles) पीछे से पृष्ठ भाग पेर दवाव पड़ने के कारण इनकी विदीर्णता मूत्र में होजाती है। फाइलेरिया में रात्रि मे जो मूत्र आता है पूर्णतः श्वेत होता है। दिन में हुये मूत्र में रक्ताणु श्वेताणुओं के साथ इन कृमियो के भ्रूण भी मिलते हैं। आघात लगने से अस्थि-मज्जा होने से भी काईल्युरिया हो जाता है। इसमें मूत्र में एल्व्यूमिन, स्नेह फाईब्रीन भी होती है। ल्यूकोमिया के साथ यह कम मिलता है।

यह रोग कभी मन्द कभी तीव्र अवस्था में रहते हुए कई दिन तक चलता रह सकता है। रोग के लगातार रहने पर थोड़ा स्वास्थ्य बिगड़ता है तथा रोगी धीरे धीरे अपने में अतिशय निर्बलता और मानसिक निराशा अनुभव करता है।

चिकित्सा —

(१) पीने के पानी को उबाल कर ही पीना चाहिए तथा रोगी की शक्ति को बनाये रखने के लिये पोषक भोजन देना चाहिए। सान्द्रमेह और पिष्टमेह में लक्षण साम्यता तथा चिकित्सा की बहुत साम्यता है। (२) सुश्रुत ने हरिद्रा और दारुहरिद्रा कषाय तथा—(३) चरक ने दारु हल्दी, विडंग, कत्था और धव का क्वाथ पिलाने का निर्देश दिया है (४) मण्डूर भस्म मधु से ४ रत्ती की मात्रा में त्रिफला कषाय से पीना अदभुत लाभदायक बताया है। (५) बसन्त कुसुमाकर, प्रमेह चिन्तामणि, पूर्णचन्द्ररस महावंगेश्वर वृहद वंगेश्वर, चन्द्र प्रभावटी आदि का प्रयोग प्रशस्त है।

सिकता मेह

(विशेष–सम्पादक)
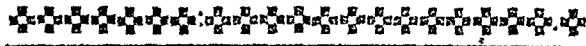
आचार्य सुश्रुत के शब्दों में—

"सरुजं सिकतानुविद्धं सिकतामेही"

अर्थात् मूत्र करते समय कष्ट हो तथा मूत्र में बालू जैसे कण आवें तो सिकतामेह कहते हैं।

चरकाचार्य ने लिखा है—

मूर्त्तान्मूत्रगतान्दोषानणून्मेहति यो नरः।
सिकतामेहिनं विद्यान्नरं तं श्लेष्मकोपतः ।।

अतः सिकता के रूप में उपस्थित दोषों के अणुओं को मूत्र मे सिकतामेही साक्षात् देखता है तथा मूत्र त्याग के समय भी कष्ट की अनुभूति होती है। (मूत्रपथ की अश्मरी जब पिस जाती है या जब अश्मरी का बड़ा रूप न बनकर छोटे-छोटे कणों के रूप में ही वह बनती है तो उसे अश्मरी न कह कर सिकतामेह कहा जाता है। अश्मरी मे प्रमुख भाग ओक्जेलेट्स का होने के कारण इसे आधुनिक वैज्ञानिकों की भाषा में ओक्जेलेटमेह (Oxaluria) कहा जाता है।

आक्जेलेट्स Oxalates)–साधारणतः रक्त के प्रति लिटर में २३.-७७. मि. ग्रा. ओक्जेलिक ऐसिड होता है। मूत्र में २४ घण्टे में २०-४७.५ मि लि. शुद्ध आक्जेलिक एसिड पाया जाता है परन्तु स्वस्थावस्था मे मूत्र के अन्दर इसके स्फटिक या क्रिस्टल कभी नही बनते। उपवास करने पर भी मूत्र में कुछ आक्जेलिक एसिड पाया जाता है। ओक्जेलेट का मूत्र में आना किसी लक्षण या रोग को सूचित नहीं करता वल्कि कईयों में कैलसियम आक्जेलेट के स्फटिक वर्षों तक मूत्र द्वारा आते रहते हुए भी कोई कष्ट नही होता परन्तु इससे अश्मरी का रूप तथा उसकी उपस्थिति का पता चल जाता है।

परीक्षण—ओक्जेलेट्स उद्रहरिकाम्ल मे घुलनशील तथा सिरकामूल में अघुलनशील है। कैलसियम के साथ मिलने से इसके तुम्बलाकृति या अष्टमुखी स्फटिक (Cal-oxalate) अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा मूत्र परीक्षण करने पर आसानी से पहचाने जा सकते हैं।

कारण—

पत्र शाक व फल जैसे गोभी, टमाटर, गाजर, पालक प्याज, सेव, सन्तरा, आदि व खांड स्टार्च, चाय, कॉफी स्नेह पदार्थ आदि तथा अम्लपदार्थो के अति सेवन से यकृत की कार्यहीनता के कारण आंतों में भली प्रकार जीर्ण न होनें से तथा वहां विदग्ध होकर आक्जेलिक एसिड की उत्पत्ति होती है।

लक्षण—

स्टार्च भोजनों को अजीर्ण से इसकी उत्पत्ति होकर यह रक्त में विलीन होकर रक्त द्वारा मूत्र में निकलता है और वहां कैल्सियम के साथ मिलने से इसके स्फटिक वृक्क में जमा होने से वृक्काश्मरी का निर्माण होने लगता है तथा मूत्राशय और मूत्रमार्ग में क्षोभ होने लगता है। मूत्र बार बार आता है। शरीर में कृशता, कटिशूल और शरीर सुस्त और थका हुआ सा लगता है। पैंक्रियास के रोग तथा वृक्क शोथ में मानसिक उदासी, आंतों में शर्करा के असामान्य निर्माण तथा तीव्र अजीर्ण से ये मूत्र मे आते हैं।

चिकित्सा—

जिन भोजनों से आक्जेलेट अधिक मात्रा मे हो तथा कार्बोहाईड्रेट की अधिकता से आंतों में विदग्धता उत्पन्न हो उन सब भोजनों को छोड देना चाहिए। उपरोक्त पत्र शाक कुछ फल, स्नेहो अण्डे आदि कार्बोहाइड्रेट खण्ड, स्टार्च भोजनों की मात्रा कम कर देनी चाहिए। इसको स्फटिक बनने से रोकने के लिये मैगनेसिया देना चाहिए। अश्मरी को न बनने देने के लिये सोडियम बाईकार्बोनेट तथा अमोनियम क्लोराईड (नौसादर) देकर मूत्र को तीव्र अम्ल रखना चाहिए जिससे इसके कण जमकर अश्मरी नहीं बना पायेंगे तथा मूत्र को अम्ल करने से मूत्राधिक्य होकर मूत्र के साथ इनका निर्गमन हो जायेगा। दूध का सेवन भी करना चाहिये ताकि दूध मे विद्यमान कैल्सियम से मिलकर इसका कैल्सियम ओक्जलेट बन जाये जो अविलेय होने से शरीर में विलीन होकर पुरीष द्वारा आंतो से निकल जाता है। जल अधिक पीना चाहिए जिससे इसके स्फटिक मूत्र मे बैठने नहीं पाते। प्रातः Mag Sulph १-२ ड्राम लेने से तथा पाचक औषधि सामुद्रादि चूर्ण, लवणभास्कर चूर्ण आदि के प्रयोग से मूत्र में इसके निकलने की आशंका नहीं रहती।

—शेषांश पृष्ठ १४५ पर देखें।

(विशेष–सम्पादक)

आचार्य चरक के शब्दों में—

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा मुहुर्मेहति यो नरः।
शुक्रमेहिमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥

शुक्र (वीर्य) के समान या शुक्र मिला बार बार मूत्र त्याग शुक्रमेह कहलाता है।

आचार्य श्रीकण्ठ ने शुक्रमेह में मूत्र को शुक्र जैसा श्वेत और स्निग्ध तथा शुक्र धातु मिला हुआ स्वीकार किया है। अतः सारा ही मूत्र या तो शुक्र जैसा होता है या उसमें शुक्र (वीर्य) मिला हुआ रहने से शुक्रमेह (Spermatorrhoe) कहा गया है।

कारण—अति सहवास, अश्लील कामोत्तेजक नग्न चित्र मय उपन्यास व सैक्स पत्रिकायें पढ़ना, मैथुन के विषय में चिन्तन करते रहना, अत्यधिक सिनेमा देखना व अन्य हस्त मैथुनादि कुटेवों के फलस्वरूप तथा अधिक घुड़ सवारी व अधिक साईकिल पर घूमना आदि कारणों से वीर्य पतला होकर मूत्र के साथ आता रहता है।

अग्निमान्द्य, कषायित, उदरकृमि, निद्रा का अभाव, सुजाक, उपदंश आदि रोग मानसिक चिन्ता, अवसाद आदि कारण ही सहायक रूप में माने जाते हैं। स्वप्नदोष भी इसीका रूप है।

परीक्षण—रोगी के मूत्र का रङ्ग वीर्यवत् देखकर ही आभास किया जा सकता है। मूत्र त्याग के पश्चात् रोगी को चक्कर आकर आंखों के सामने अंधेरा छा जाता है।

अक्षुणीक्षय यन्त्र—द्वारा मूत्र परीक्षण करने से मूत्र में शुक्राणु मिलते हैं। शुक्राणु का शिर का आकार सूक्ष्म अण्डाकार सा या लोभिया के आकार का होता है, लम्बी वाहु पर, जिसके द्वारा यह गति करता है, इसकी पूंछ रहती है इसकी लम्बाई १इन्च का ६००वां भाग होती है।

चिकित्सा—आचार्य सुश्रुत ने दूर्वा, शैवाल, पूति करंज, कसेरुक, केवटी मोथा, सेवार जलकुंभी कषाय का प्रयोग तथा चरकाचार्य ने देवदारु, मीठाकूठ, अगरु और लाल चन्दन का कषाय तथा योगरत्नाकरकार ने न्यग्रोधादि गण की औषधियां लिखी हैं।

विशेष—धातुक्षीणता व धातुदौर्बल्य की चिकित्सा करनी चाहिए। वसन्तकुसुमाकर रस, चन्द्रप्रभा वटी, वृहद वंगेश्वर, पूर्ण चन्द्र रस, शिलाजीत के योग, चरक कम्पनी की निओ (Neo tabs), हिमालय ड्रग की टेन्टेक्स (Tentex) इस रोग में लाभदायक है।

शीत मेह (GLYCOSURIA)

(विशेष–सम्पादक)

चरकाचार्य एवं वाग्भट्ट ने ही इसे स्वीकार किया है। सुश्रुताचार्य ने इसे नहीं दिया है—

अत्यर्थमधुरं शीतं मूत्रं मेहति यो भृशम्।
शीतमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥

अर्थात् शीतमेही (१) अत्यन्त मीठा और (२) ठण्डा तथा (३) वहुत सा मूत्र विसर्जन करता है। स्वभावतः मूत्र शरीर के रक्तताप के समान उष्ण होता है। पर जिन अवस्थाओं में Nitrogenous पदार्थों की

अमोनिया आदि की उत्पत्ति अधिक होती है तो मूत्र शीतल हो जाता है। संभवतः इसी अवस्था को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने इस अवस्था का वर्णन किया है। शीतमेह और इक्षुमेह दोनों का समन्वय आधुनिक वैज्ञानिक Glycosuria से देते हैं। दोनों में मधुरता का गुण समान होते हुए भी एक ठण्डा है और बार बार आता है तथा दूसरा न ठण्डा ही होता है और न बार बार ही आता है। यह कोई महत्वपूर्ण रोग नहीं है, पर इक्षुमेह तो वृक्क की साधारण शर्करा क्षमता घट जाने से होता है तथा शीतमेह में वृक्क की शर्करा क्षमता (Renal thresh hold) तो ज्यों कि त्यों रहती है, पर ग्लूकोज का शरीर में सात्मीकरण ठीक से नहीं होता। यह एक प्रकार से मधुमेह का प्रारंभिक स्वरूप ही है।

चिकित्सा—चरक ने इसकी चिकित्सा में दारुहल्दी, अग्निमन्थ, त्रिफला और पाठा का क्वाथ देने का निर्देश दिया है। पाठा एवं गोक्षुरु क्वाथ तथा पाठा, गोक्षुरु, मूर्वा का क्वाथ (योग रत्नाकर) मधु से पिलायें। दायक माना है।

विशेष—शिलाजित्वादि वटी का करेले के रस के साथ प्रयोग उत्तम है। इक्षुमेह में वर्णित औषधोपचार ही शीतमेह में भी उपयोगी है।

शनैर्मेह

(विशेष-सम्पादक)

यह प्रमेह सिकता (अश्मरीकण) के मूत्रमार्ग में कुछ अवरुद्ध होने कारण होता है। मूत्र Cal oxaletes के अवरुद्ध होने से ऐसा होना संभव हैं—'मूत्रेन युक्तः सिकता प्रमेही मन्देव मूत्रेण शनैः प्रमेहः' अतः इसे सिकतामेह (oxaluria) का ही एक भेद समझना चाहिए। आचार्य ने इसके लक्षणों में—'शनैः सकफं मृतसनं' अर्थात् शनैर्मेह का रोगी धीरे धीरे कफयुक्त और स्वच्छ मूत्र त्यागता है। आचार्य चरक भी—'मन्दे मन्दे अवेगं तु कृच्छ्रं यो मूत्रमेयच्छनैः, शनैर्मेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः' अर्थात् मन्द मन्द गति से बिना किसी वेग के, किन्तु कष्ट के साथ मूत्र त्याग को शनैर्मेह कहते हैं।

परीक्षण—सिकतामेहीवत् मूत्र परीक्षण करें।

चिकित्सा—आचार्य सुश्रुत ने खदिर क्वाथ तथा त्रिफला और गुडूची का कषाय तथा चरकाचार्य ने वच, उशीर, हरड़, गिलोय का क्वाथ का प्रयोग लाभप्रद बताया है। हमारे विचार से इसे सिकतामेह की ही प्राथमिक स्थिति मानकर तद्वत् चिकित्सा करनी चाहिये।

लालामेह

(विशेष-सम्पादक)

चरक के शब्दों में—

तन्तु बद्धमिवालालं पिच्छिलं य प्रमेहति।
आलालमेहिनं विद्यात् तं नरं श्लेष्मकोपतः॥

अर्थात् तार या सूत जैसे चिपचिपे तन्तुओं से युक्त मूत्र का उतरना आलालमेह का लक्षण कहा गया है। वाग्भट्ट 'लालातन्तुयुक्तं मूत्रं लालमेहे न पिच्छिलम्'

अर्थात् तार बंधने वाली लार जैसा मूत्र आता है। अधिक कामाशक्त पुरुष के मूत्र मार्ग से स्निग्ध और
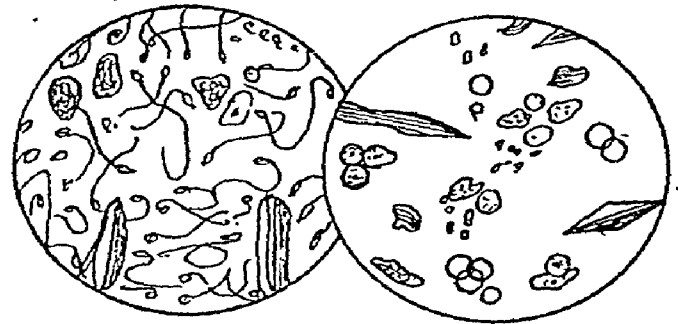
चित्र क्रमांक ४०— अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखे गये वीर्य जीवाणु (बायें) एवं पौरुष ग्रंथि स्राव (दायें)

पिच्छिल मूत्र के रूप में यकृत् दोष से शुक्रकीट ही शुक्र द्रव (Spermatid fluid prostatic or Seminal visical secretion) का स्राव स्रवित होता रहता है तथा जब रोग का रूप ले लेता है तो बिना कामासक्ति भी पौरुष ग्रन्थि और अन्य ग्रन्थियों का स्राव मूत्र मार्ग से मूत्र के साथ बहता रहता है।

विशेष—आचार्य सुश्रुत ने लालामेह का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु लवणमेह और फेनमेह के रूप में कफज मेह के दो अन्य भेद माने गये हैं।

चिकित्सा—चरक ने वासा हरीतकी, चित्रक छाल, सप्तपर्ण छाल क्वाथ मधु मिलाकर पीने का निर्देश दिया है। बकायन के बीज की मिंगी २ माशा मधु से चाटना भी लाभदायक है (योगरत्नाकर)।

लवण मेह

[विशेष–सम्पादक]

लवणमेह (Chlorideuria)—आचार्य सुश्रुत के अनुसार 'विशदं लवण तुल्यं लवणमेही' लवण के घोल के समान विशद (पिच्छिल का उलटा) मूत्र का होना व मूत्र में नमक (Chloride) की मात्रा अधिक आना लवणमेही का लक्षण है।

क्लोराइड परीक्षा—मूत्र को फिल्टर पेपर से छानकर (एलब्युमिन हो तो गरम करके) टेस्ट ट्यूव में आधी इंच मूत्र डालें। अब इसमें एक बूंद Nitric acid डालें। इसके बाद Silver Nitrate का घोल मूत्र की मात्रा के बराबर मिलावें। यदि क्लोराइड होगा तो दूधिया सा हो जावेगा अथवा क्लोराइड के रहने पर मूत्र बिलकुल साफ रहेगा।

सामान्यतः मूत्र से प्रतिदिन १२ से १५ ग्राम तक मूत्र द्वारा क्लोराइड का निस्सरण होत रहता है। आहार में लिये गये नमक के अनुसार इसकी मात्रा में परिवर्तन आता है। तीव्र आमवात, न्यूमोनियां, सत्तत ज्वर में इसकी मात्रा कम हो जाती है तथा शीत ज्वर, विषमज्वर आदि के शमन के बाद इसकी मात्रा बढ़ जाया करती है।

चिकित्सा—आचार्य सुश्रुत 'लवणमेहिनं पाठागुरु हरिद्रा कषायम्—पाठा, अगर, हरिद्रा का कषाय पीने का निर्देश दिया है।

फेन मेह

(विशेष-सम्पादक)

लवणमेह तथा फेनमेह का वर्णन केवल सुश्रुत संहिता में ही उपलब्ध होता है। फेनमेह का लक्षण लिखते हुए आचार्य सुश्रुत लिखते है—

स्तोकं स्तोकं (थोड़ा-थोड़ा) सफेनं (झागदार) फेनमेही मेहति-फेनमेही का रोगी मूत्र-त्याग करता है तथा उसमें वायु की प्रधानता रहती है। अतः मूत्र मार्ग से मूत्र के साथ या उसके बिना भी वायु निकलती रहती है इसलिये इसको वायुमेह या फेनमेह कहा गया है।

कारण—

(१) वस्ति का सम्बन्ध स्थूलान्त्र या मलाशय से होने के कारण अथवा वस्ति में वैसीलस कोलीकम्युनिस या यष्टिनामक जीवाणु के प्रविष्ट होने से मूत्र में वायु-उत्पन्न होकर फेन के साथ उसका त्याग होता है।

(२) कामला में भी मूत्र अधिक झागदार होता है तथा झाग देर तक रहता है।

(३) मूत्राशय के साथ मलाशय, गर्भाशय के कर्कट (Cancer) के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होने से या अष्ठीला, उण्डुकं की विद्रधि के कारण व मलाशयशोथ (Proctitis) के कारण व आघात अभिघात प्रसव आदि से उत्पन्न हुए वस्ति मलाशय नाड़ी व्रण (Fistula) के कारण मूत्राशय के साथ सम्बन्ध होने के कारण मूत्रमार्ग से वायु तथा कभी कभी वायु के साथ मल द्रव्य भी निकलते रहते हैं।

(४ मूत्राशय के साथ स्थूलान्त्र का सम्बन्ध होने में स्थूलान्त्र दण्डाणु (B. coli Communis) का महत्वपूर्ण स्थान है। यह दण्डाणु स्थूलान्त्र के समान मनुष्यों के आन्त्र में रहता है तथा उसी के समान मूत्राशय में पहुंच कर उपसर्ग करता है और वायुमेह उत्पन्न करता है।

(५) वायुमेह को उत्पन्न करने वालों में दूसरे महत्त्व के जीवाणु प्रकिण्व (Yeasts) होते हैं। ये अधिकतर शर्करा मेहियों में पाये जाते हैं। प्रकिण्व जन्य वायुमेह मे मूत्र मे न पूय कोशाएं पायी जाती है और न अन्य कोई जीवाणु रहते हैं और स्वतन्त्रतया वायु न निकल कर मूत्र के साथ छोटे-छोटे बुलबुलों के रूप में उत्सर्गित होता है।

लक्षण—

मूत्र त्याग के समय मूत्र में झाग अधिक होते हैं तथा मूत्र के साथ व मूत्र के विना भी मूत्रमार्ग से वायु का निस्सरण होता है। तथा कभी कभी मूत्र विष्ठासम दुर्गन्धित रहता है एवं रोग की उग्रावस्था में मूत्र मार्ग से मूत्र के साथ विष्ठा का भी निस्सरण होने लगता है। ऐसी स्थिति मलाशय या गर्भाशय के कैंसर में होती है।

चिकित्सा—

आचार्य सुश्रुत ने फेनमेही को त्रिफला, आरग्वध (अमलतास का गूदा) तथा मुनक्का का क्वाथ मधु मिला कर पीने का निर्देश दिया है। रोग के जो उपरोक्त कारण कहे गये हैं उन कारणों को दूर करना चाहिए। जिस रोग के कारण इसकी उत्पत्ति हुई है उस प्रमुख रोग को दूर करने से यह स्वतः ही ठीक हो जाता है।

मूत्र रोग चिकित्सा

क्षार मेह

[विशेष—सम्पादक]

क्षारमेह (Alkaline urine)—सुश्रुताचार्य लिखते हैं—"लुतक्षार प्रतिमं क्षारमेही" तथा चरकाचार्य के शब्दों में—

गन्धवर्ण रसस्पर्शैर्यथा क्षारस्तथाविधम् ।
पित्तकोपान्नरोमूत्रं क्षारमेही प्रमेहति ॥

अर्थात् क्षार मिले पानी का जो स्वरूप, गन्ध, रङ्ग और स्पर्श होता है, ठीक वैसा ही क्षारमेही के मूत्र का हो जाता है।

कारण—वस्ति में अधिक देर तक मूत्र को रोक कर रखने से या मूत्रमार्ग के संकोचन से अधिक देर वस्ति में मूत्र के रहने से तथा पौरुष ग्रन्थि वृद्धि (Enlarged Prostate) व फोस्फेंट की अधिकता (Phophaturia) या पुराने वस्तिशोथ (Cystitis) के कारण मूत्र क्षारीय हो जाता है।

क्षारीयता परीक्षण—लाल लिटमस पेपर (Red litmus Paper) मूत्र में डालने से नीला हो जाय तो मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय समझनी चाहिए।

चिकित्सा—

सुश्रुत ने त्रिफला कषाय पीने का निर्देश दिया है। चरक ने सभी पित्तज प्रमेहों में १० क्वाथ तथा वाग्भट्ट ने क्वाथ के ३ योग दिये हैं। चरक का - उशीर, लोध्र अर्जुन और चन्दन का कषाय मधु से देना लाभदायक है।

नील मेह

[विशेष—सम्पादक]

नील मेह (Indican uria)—आचार्य चरक लिखते हैं—

चाषपक्षनिभं मूत्रं अम्लं मेहति यो नरः ।
पित्तस्य परिकोपेण तं विद्यान्नीलमेहितम् ॥

चाषपक्षी के पंख के रङ्ग के समान नीला रंग का मूत्र नीलमेही को होता है। आचार्य सुश्रुत ने "सफेनमच्छ नीलं नीलमेही मेहति" लिखा है। सुश्रुत ने अम्ल होना स्वीकार नहीं किया बल्कि अलग से अम्लमेह माना है। आधुनिक वैज्ञानिक इसे Indicanuria कहते हैं—इसमें मूत्र में इण्डिकन नामक पदार्थ उपस्थित रहता है, आन्त्र में या आन्त्रेतर शरीर के अन्य हिस्से सड़ने से यह द्रव्य मूत्र में आता है।

लक्षण—

पुराना मलावरोध, आन्त्रावरोध, अतिसार, आन्त्रशोथ, फुफ्फुस शोथ, दुर्गन्ध युक्त खांसी तथा की तृतीय अवस्था में आन्त्र मूत्राशय सम्बन्धित वि के कारण मूत्र का रंग त्यागते समय प्राकृत और ही देर बाद नील हो जाता है व कभी कभी मूत्र त्याग समय भी नील होता है।

इण्डिकन की परीक्षा (Obermeyer's Test)—परीक्षण नली में १०० सी.सी. मूत्र तथा १० सी.सी. आबरमेयर द्रव्य मिलाकर उसको खूब मिलाकर उसमें २ सी.सी क्लोरोफार्म मिलावें। खूब मिल कर थोड़ी देर छोड़ देने से क्लोरोफार्म के स्तर नील वर्ण हो जायेंगे। नील वर्ण की गहराई से इण्डिकेन की मात्रा का अनुमान किया जाता है।

दूसरी विधि—एक से दो ट्यूब मूत्र २ सी. सी. में Hydrocloric Acid २ सी. सी. मिलावें। अब इसमें लाईकर कैल्सिम हाइपोफास्फेट बूंद बूंद कर के तब तक डालें जब तक कि मूत्र का रंग नीला न बन जाय। इसके बाद उसमें क्लोरोफार्म मिलाकर हिलाने से क्लोरोफार्म का रग बदल जायेगा।

चिकित्सा—

आचार्य चरक ने खस, नागर मोथा, आमला और हरड़ का कषाय मधु मिलाकर पिलाने का निर्देश दिया है। आचार्य सुश्रुत सालसारादिगण के द्रव्यों का कषाय अथवा अश्वत्थ (पीपल) की छाल का कषाय तथा आचार्य वाग्भट्ट ने लोध्राधादिगण के द्रव्यों का कषाय देने का निर्देश दिया है।

☆ पृष्ठ १४१ का शेषांश ☆

औषधियों में—मेह वज्र वटी, वृहदवंगेश्वर रस, चन्द्रप्रभावटी, शुक्रमातृका वटी, गोक्षुरादि गुग्गुल, श्वेतपर्पटी, यवक्षार आदि प्रयोग प्रशस्त हैं। निम्ब कषाय पान और चित्रक कषाय (सुश्रुत) पाठा-मूर्वा गोक्षुरु का क्वाथ (चरक) तथा दारुहल्दी, अरणी की छाल, त्रिफला, वच का कषाय मधु के साथ (योग रत्नाकर) उत्तम प्रयोग माने गये हैं।

कालमेह

[विशेष–सम्पादक]

मसीवर्णमजस्रं यो मूत्रमुष्णं प्रमेहति ।
पित्तस्य परिकोपेण गं विद्यात्तत्कामेहिनम् ॥ —चरक

आचार्य चरक इसे मूत्र काली स्याही के वर्ण वाला कहते हैं । इसको वाग्भट ने 'कालमेही मसीनिभम्' ।

अर्थात् कालमेही का मूत्र स्याही (काली) के समान लिखकर चरक के लिखे हुए कालमूत्रता, उष्णमूत्रता और अजस्रमूत्रता में से पहले के दो लक्षणों को स्वीकार किया है तथा आचार्य सुश्रुत ने कालमेह का वर्णन नहीं किया है । सुश्रुत में कालमेह के स्थान में अम्लमेह का वर्णन मिलता है । किन्तु दोनों में समानता नहीं है । आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार कालमेह को ब्राउन एन्ड ब्लेक यूरिन्स (Brown and black urines) कहते हैं । मूत्र का काला वर्ण निम्न कारणों से उत्पन्न हुआ माना जाता है—

(१) पुरानी कामला– इसमें मूत्र के भीतर विलिवर्डिन (Biliverdin) नामक रंजक द्रव्य उपस्थित होता है ।

(२) मूत्र में रक्त या रक्त के रंजक द्रव्यों की अधिक मात्रा में उपस्थिति ।

(३) मूत्र में इन्डिकम तथा इन्डोल के उच्च श्रेणी के अपद्रव की अधिक राशि में उपस्थिति ।

(४) मूत्र में मेलानिन (Malanin) नामक रंजक की उपस्थिति के कारण यह प्रमेह मेलान्यूरिया (Malanuria) कहलाता है और शरीर में मेलेनेटिक सार्कोमा (Malanotic sarcoma) एक प्रकार के घातक कैंसर होने से पैदा होता है ।

(५) मूत्र में होमोजेन्टिसिनिक एसिड (Haemogenticinic acid) की उपस्थिति से इसको अल्केप्टोन्यूरिया (Alkaptonuria) कहते हैं ।

(६) कार्बोलिक एसिड का प्रयोग व्रण विशोधन के लिए करने से उसका शोषण रक्त में होकर कालमेह उत्पन्न होते हैं । उसे कार्बोलूरिया (Carboluria) कहते हैं ।

(७) सलाल, स्यालिसासलेट, गैलिक एसिड तथा रिसोर्सिन इत्यादि पदार्थ के सेवन से भी कालमेह उत्पन्न होता है । इनमें कार्बोलूरिया, अल्केप्टोन्यूरिया और मेलेयूरिया में मूत्र त्यागने के थोड़ी देर के पश्चात् मूत्र काला होता है ।

चिकित्सा—

आचार्य चरक ने उशीर, मुस्ता, आमलक, अभया के कषाय को मधु मिलाकर पीने का तथा आचार्य वाग्भट ने असनादि गण के द्रव्यों के क्वाथों से इसकी चिकित्सा करने का निर्देश दिया है । मूलतः जिन रोगों में यह लक्षण (मूत्र का काला वर्ण) होता है उनकी मूल चिकित्सा करने पर भी यह दोष दूर हो जाता है ।

****

अम्लमेह

(Highly Acid Urine)

कवि० डा० गिरिधारीलाल मिश्र

****

आचार्य सुश्रुत ने ही इसका उल्लेख किया है– 'अम्ल रसगन्धमम्लमेही'–मूत्र में खट्टी गन्ध आना और रस में भी उसका खट्टा होना । चटपटे अम्ल पदार्थों के अधिक सेवन से, आहार में मांसजातीय पदार्थों की प्रधानता तथा अल्पाम्लक (Hypoacidity), मधुमेह, जीर्णज्वर, वृक्कशोथ तथा अनशन काल में अम्लता (Acidity) की वृद्धि होती है । प्राकृत मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है । अतः मूत्र में अम्लता होना सामान्य लक्षण है, पर अम्लता की मूत्रता में अतिशय वृद्धि (Highly acid urine) रोग माना जाता है ।

परीक्षण—मूत्र में नीला लिटमस पेपर डालने पर लाल हो जाय तो मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल समझनी चाहिए । अथवा उबले हुए मूत्र में सज्जिकाक्षार १ रत्ती डालने पर फेन आने पर मूत्र को अम्लीय समझें ।

चिकित्सा—

क्षारीय द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए । क्योंकि क्षारीयता अम्लतानाशक है । सुश्रुत ने न्यग्रोधादि गण कषाय से इसकी चिकित्सा करने का निर्देश दिया है ।

[विशेष–सम्पादक]

रक्तमेह का अर्थ है–मूत्र में रक्त की उपस्थिति। रक्त के गुणों में विस्रगन्ध, लवण रस का स्वाद तथा उष्णता मुख्यहै, जिनका उल्लेख करते हुए आचार्य चरक लिखते हैं—

विस्रं लवणमुष्णं च रक्तं मेहतियोनरः।
पित्तस्य परिकोपेण तं विद्याद्रक्तमेहिनम्॥

विस्रं (आमगन्धि), उष्णं (गरम) तथा लवणं (नमकीन) रक्त को जो मूत्र के साथ त्यागता है उसे रक्तमेही कहते हैं। आचार्य सुश्रुत 'शोणित प्रकाशं–शोणिमेही' अर्थात् मूत्र में रक्त का आना रक्तमेही कहलाता है।

शंका और समाधान—रक्तपित्त में भी मूत्र में रक्त आता है तथा रक्तमेह में भी मूत्र में रक्त आता है जैसा कि आचार्य डल्हण ने शङ्का प्रकट की है—

शोणित प्रकाशञ्च मूत्रं रक्तपित्तेऽपि भवति। ततः कोऽयं प्रमेह विषयः।

आचार्य चरक का समाधान—

हारिद्र वर्णं रुधिरं च मूत्रं
विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं
रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥
—चरक प्रमेह चिकित्सा

अर्थात् अधोग रक्तपित्त और रक्त प्रमेह में यही अन्तर है कि प्रमेह रोग के पूर्व उसके पूर्वरूप रोग में होंगे, किन्तु रक्तपित्त में इन प्रमेहजन्य पूर्व रूपों का अभाव रहेगा।

लक्षण—जब रोगी के मूत्र में रक्त आता हो तो परीक्षा से निश्चय करना चाहिये कि रक्त मूत्र करने से पहले आता है या मूत्र त्याग के पीछे आता हे अथवा रक्त मूत्र में पूर्णतः मिला हुआ आता है। ५ ५ अधिक रक्त आता हो तो साधारणतः नेत्रों से देखने से ह मालूम हो जाता है। मूत्र का रङ्ग रक्त के कारण धुं याला (Smoky) हो जाता है।

विशेष—स्त्रियों में मासिक ऋतुस्राव से इसमें न हो जाय, एतदर्थ उनका मूत्रशलाका (Catheter) से मूत्र निकालना चाहिए।

सापेक्ष निदान—हारिद्रमेह और रक्तमेह दोनों में रक्त की उपस्थिति होती है। अतः जब रक्त केवल रंज द्रव्य के रूप में उपस्थित होता है तब उसे हा र्द्र (Haemoglobinuria) कहते है। जिसमें [illegible] की उपस्थिति नहीं होती। पर जब मूत्र में [illegible] की उपस्थिति होती है तब रक्तमेह (Haematuria कहते हैं।

निदान साधन—सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से मूत्र की त छट की परीक्षा करके परीक्षण किया जा सकता है स्लाइड बनाकर देखने पर Pus cells स्पष्ट दीखेंगे।

मूत्र में रक्त परीक्षा—

(१) टेस्ट ट्यूब में ताजा मूत्र ३ इंची तक ल उसमें कास्टिक सोडा का घोल मिलाकर क्षारीय बना अब इसको उबालने पर मूत्र की निचली सतह में लाल रङ्ग और ऊपरी भाग हरा सा हो तो मूत्र रक्त है।

(२) टेस्ट ट्यूब में २ ग्रेन बेन्जिडीन (Benz dine powder) डालकर उसमें २ मिली० एसेटि एसिड (Acetic acid) तथा ३ सी.सी. हाइड्रोज पैरोक्साइड (Hydrogen peroxide) डालक खूब हिलाइये। अब उस घोल में ५ बूंद मूत्र मिलाइये, मूत्र का रङ्ग नीला हो जाने पर रक्त है।

(३) एक सोख्ते (Filter paper) पर थोड़ा सा बेन्जिडीन (Benzidine powder) रखकर उस पर थोड़ा बेरियम परौक्साइड रखकर इसके ऊपर एसिटिक एसिड (Acetic acid) १ बूंद डालिये। इसके ऊपर २ बूंद मूत्र डालिए। यदि रङ्ग नीला हो जाय तो मूत्र में रक्त है।

हेतुकी—

रक्त मूत्र पथ के किसी भी भाग के अभिघात अर्बुद, या अश्मरी के कारण आ सकता है—

१. वृक्क—तीव्र वृक्क शोथ, वृक्कार्बुद, वृक्काश्मरी, यक्ष्मा, रोधगलितांश [Infarct]।

२. गवीनी—अश्मरी, अर्बुद [अंकुरार्बुद]।

३. मूत्राशय—मूत्राशय शोथ, अश्मरी, अर्बुद, विपुटी, यक्ष्मा, बिल्हाजिया रोग।

४. मूत्रमार्ग—अश्मरी, विदरण और अंकुरार्बुद।

५. पुरस्थ—पौरुषग्रन्थि की वृद्धि एवं पौरुषग्रन्थि का कैंसर।

रक्तस्राव का संस्थान निर्धारण—मूत्रपथ के पूर्णतः अन्वेषण के पश्चात् ही स्थान निर्धारित करना संभव है।

चित्र सं०—४१

इस तरह से मूत्र प्रसेक नलिका पर आघात लगने से विदर होकर मूत्र में रक्त आने लगता है।

आघात लगने के इतिवृत्त से कारण स्पष्ट हो जाता है। शूल जो मूत्रपथ में अश्मरी की उपस्थिति के कारण होता है, रक्तमेह के साथ होता है, वेदनाहीन रक्तमेह वृक्क या मूत्राशय के अर्बुद से उत्पन्न होता है।

[१] यदि रक्त सुर्ख रङ्ग का हो तथा मुख्यतः मूत्र करने के पहले आता हो, तब वह संभवतः मूत्रमार्ग व पौरुष ग्रन्थि से आता है।

[२] मूत्रमार्ग में किसी प्रकार का अर्बुद व स्त्रियों में मूत्रमार्ग में मांसवृद्धि (मांसांकुर) में रक्त आता है।

अवयव सम्बन्धी रक्तस्राव के मुख्य कारण—

(१) तीव्र मूत्राशय शोथ—इसके प्रारंभ में रक्तस्राव प्रायः कम होता है।
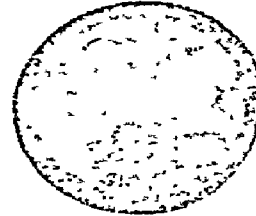
मूत्राशय में अनेक अश्मरियां

चित्र सं०—४२

(२) मूत्राशय में शर्करा या अश्मरी—मूत्राशय में अश्मरी होने पर श्रम करने से रक्तस्राव अधिक होता है, मूत्रस्राव के पीछे अधिक होता है तथा इन्द्रियाग्र भाग में दर्द होता है।

(३) मूत्राशय का अर्बुद—विशेषतः पैपीलोमेटा में
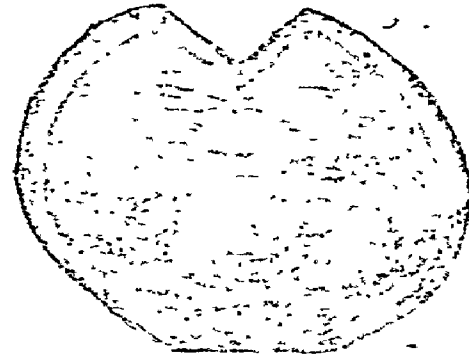
मूत्राशय क अर्बुद

चित्र सं०—४३

रक्तस्राव होता है जो मात्रा में अधिक होता है। कैंसिरस अर्बुद में रक्तस्राव बीच बीच में कभी कम या अधिक रक्तस्राव होता रहता है। अर्बुद का फैलना, बढ़ना, शोथ या रक्त संचय का बढ़ना रक्तमेह को उत्पन्न कर देता है।

(४) पुरस्थ वृद्धि—पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि भी रक्तमेह को उत्पन्न करती है। यह या तो रक्तसंचय से होती है अथवा बढ़ी हुई सिरा के फटने से होती है।

(५) अन्य कारण—क्षय रोग, मूत्राशय के रोग, शरीर के अभावज रोग जैसे स्कर्वी; परप्युरा और शीस्टोसमो, हीमेरोबिया आदि कारण भी रक्तमेह में मिलते हैं।

वृक्क से रक्तस्राव के कारण—

(६) शोथ—वृक्कशोथ रोग के बढ़ने पर मूत्र में रक्तस्राव आता है अथवा रक्तचाप वृद्धि के कारण नासा से भी

रक्तस्राव होसकता है। वृक्क के क्षयरोग, वस्ति शोथ (Pyelitis) आदि कारणों से मूत्र में रक्त आता है।

(७) रक्त वृद्धि—मृदु रूप में रक्त वृद्धि होने पर मूत्र में एलब्युमिन आती है। किन्तु अतिशय रक्तवृद्धि होने से मूत्र में रक्त आने लगता है। वृक्क शिराओं में थ्राम्बोसिस होने से तीव्र रक्त वृद्धि हो जाती है। यह मुख्यतः स्ट्रैप्टोकोकल संक्रमण के कारण होती है। जो रोगी ठीक प्रकार सवारी नहीं करता उसमें भी सहसा रक्तवृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार उर्वस्थि के भग्न में प्रायः चलने के दूसरे दिन रक्तवृद्धि हो जाती है जिसमें मूत्र में रक्तस्राव और त्रिकशूल होती है जो कुछ दिनों विस्तर पर विश्राम करने से शान्त हो जाती है।

(८) वृक्क का नीचे आना—सम्भवतः वृक्क में रक्त संचय होने से वृक्क तथा उसकी वाहिनियां भी यदि नीचे उतर आवें तो मूत्र में रक्तस्राव होने लगता है।

(९) वृक्क की अश्मरी और शर्करा—विशेषतः वृक्क शूल और मूत्र में रक्त आने का कारण ओक्जलेट्स की अश्मरी होती है।

(१०) वृक्क की वृद्धि—वृक्क की वस्ति की नई वृद्धि [पैपीलोमा, परनेफोमा] अथवा वृक्क के कैंसर के कारण मूत्र में रक्त प्रायः विना दर्द के आता है।

(११) वृक्काघात—वृक्क पर आघात लगने से, पीठ के भार गिरने से वृक्क विदीर्ण हो जाता है जिससे मूत्र में रक्त आता है।

(१२) औषधियों के सेवन से रक्तस्राव—विशेषतः सैलीसिलेट, फिनोल तथा इससे बनी वस्तुओं-सल्फापीरेडीन, सल्फाथाइजोल, हैक्जेमीन, कैन्थरीडीस, तारपीन तैल इनको खाने से भी मूत्र में रक्त आ जाता है।

(१३) अज्ञात हेतुक रक्तमेह [Essential haematuria)—बिना किसी ज्ञात कारण के वृक्क से होने वाले रक्तस्राव के लिए इस शब्द को प्रयोग किया जाता है। रक्तस्राव अधिक या आवर्ती हो सकता है। प्रायः एक छोटा वाहिकार्बुद (Angioma) या अंकुरार्बुद होता है।

अन्वेषण चिकित्सा से पूर्व पूर्णतः मूत्रपथ परीक्षण अनिवार्य है। प्रथम सिस्टोस्कोपी द्वारा रक्तस्राव का स्थान ज्ञात करना चाहिए। पूर्ण मूत्र परीक्षा हेतु मूत्रपथ के साधारण एक्सरे चित्र भी आवश्यक हैं।

चिकित्सा—

आचार्य सुश्रुत और वाग्भट ने गुडूची, तेंदू के फल की गुठली, गम्भारी और खजूर के फलों का कषाय मधु मिलाकर देने का निर्देश दिया है। सोंठ, अर्जुन, शिरीष छाल, छोटी इलायची और नील कमल का कषाय भी उपयोगी बताया गया है। लाल चन्दन, मधुयष्टि, मुनक्का से सिद्ध क्षीर का प्रयोग उत्तम है। वृक्काश्मरी, अभिघात क्षय आदि विविध कारणों से रक्तस्राव की अवस्था उत्पन्न होती है। अतः रोगानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

[१] सिद्धामृत योग—श्वेत स्फटिका ३० ग्राम, स्वर्णगैरिक १० ग्राम को तवे पर या छोटी लोहे की कड़ाही में भून लें। फिटकरी का जलीयांश जल जाने • खरल में डालकर खूब घोटकर शीशी में भर कर रखें ४ से ८ रत्ती तक की मात्रा में पानी से दें।

[२] सिद्धामृत मिश्रण—सिद्धामृत रस ४ रत्ती बोलपर्पटी २ रत्ती, प्रवाल पिष्टी २ रत्ती, कहरवा ५०८ १ रत्ती, मोती पिष्टी १ रत्ती, लाक्षा चूर्ण आधा माशा १ मात्रा। दूर्वा स्वरस+मधु के अनुपान से दें। रो की अवस्थानुसार २-२ घण्टे बाद भी दे सकते हैं। रक्त मेह, रक्तप्रदर, रक्तार्श, नासागत रक्तस्राव को पहली ह मात्रा बन्द करने में अमोघ है। बहुपरीक्षित स्वानुभू सफल प्रयोग है।

[३] बोलबद्ध रस (वृ०नि०र०]—२-२ गोली व पानी से देना लाभदायक है।

[४] चन्द्रकला रस (सि०यो०सं०)—२—२ गो ठण्डे पानी से एवं/या दाडिमावलेह से दें।

[५] उशीरासव—४—४ चम्मच दवा बराबर से भोजन के बाद लाभदायक है।

एलोपैथिक औषधियां—(१) कैल्सियम सैण्डोज १ विटामिन सी ५०० मि.ग्रा.–१० सी.सी. (शिरान्तर्गत) देना चाहिए। कई रोगियों पर हमारा अनुभूत है

( ) कैल्सियम लैक्टेट की २० ग्रेन की पुड़िया ३ घण्टे बाद जल से देना भी लाभदायक है। आयुर्वेद प्रवाल, मुक्ता, अकीक आदि कैल्सियम योगों की तरह ये सफल योग हैं।

आचार्य चरक के शब्दों में—

मञ्जिष्ठोदकसंकाशं भृशं विस्रं प्रमेहति ।
पित्तस्य परिकोपात्तं विद्यान्माञ्जिष्ठमेहितम् ॥

अर्थात मजीठ के काढ़े जैसे रंग का अत्यन्त विस्र (आम) गन्ध वाले मूत्र को मञ्जिष्ठमेह बतलाया है। रक्तमेह और मञ्जिष्ठमेह में यही अन्तर है कि जहां रक्तमेह में उष्ण, विस्र, लवण रस वाला रक्त ही मूत्र में उतरता है वहां मंजिष्ठमेह में मूत्र के साथ कुछ रक्त की बूंदें भी घुली हुई आती हैं जिससे यह न विशेष उष्ण होता है और न लवणयुक्त, आचार्य डल्हण ने रक्तमेह और मंजिष्ठमेह को रक्तपित्त के समान माना है पर रक्तपित्त में प्रमेह के पूर्वरूप लक्षणों का अभाव रहता है। मूत्र का इस प्रकार का पीतवर्ण. मूत्र में पित्त की उपस्थिति व मूत्र में यूरोबिलीन (Urobilin) की अधिकता से इसे यूरोबाईलीन्यूरिया (Urobilinuria) कहते हैं।

यूरोबाइलीन (Urobilin)—स्वस्थ मूत्र में इसका अभाव रहता है परन्तु यकृत की अयोग्यता में या हीमोलिटी रक्त न्यूनता में अधिक मात्रा मेंआते हैं, जिससे मूत्र चमकता पीला या भूरा हो जाता है। यूरोबाइलीनोजन के कुछ देर पड़े रहने से यह उत्पन्न हो जाता है। जब रोग की विकृतावस्था में यूरोबाईलोजन अधिक मात्रा में मूत्र में आता है तब उसके साथ यूरोबाईलीन भी जाते हैं।

यूरोबाईलीन परीक्षा—एक टेस्ट ट्यूब में १८ मि.ली मूत्र लीजिये। इसमें २ मि.लि. कैल्सियम क्लोराइड का घोल मिलाकर मूत्र को फिल्टर पेपर से छान लीजिये। इस प्रकार बिलीरुबिन (Bilirubin) अलग होजाता है। अब छने हुए मूत्र में लूगल की आयोडीन ५-६ बूंद मिलाइये। फिर जिंक क्लोराइड का संतृप्त घोल १० मि. लि. मिलाकर दो घण्टे टेस्ट ट्यूब को रख दीजिये। मूत्र में यदि यूरोबाईलीन होगा तब मूत्र में हरे रंग की आभा (Greenish Fluoriscence) दिखलाई देगी।

लक्षण—

मूत्र का मजीठ के काढे के समान रंग होना व मूत्र में यूरोबाईलीन व बिलीरुबिन पाया जाना, कामला, पांडुरोग, यकृद्दाल्युदर युक्त दुष्टि प्रमेह की ओर संकेत करते हैं। विषम ज्वर व कुछ दिनों विषम ज्वर के ठहर जाने से पांडु रोग होकर भी ऐसा हो जाता है, कामला सम्बन्धित निदान के लिए उपरोक्त मूत्र परीक्षा की जाती है।

चिकित्सा—

आचार्य सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने इसकी चिकित्सा मजीठ और चन्दन के क्वाथ से बतलाई है। चरक लोध्र नेत्रवाला दारुहरिद्रा धाय फूल का कषाय लेना बताते हैं। पंचतृण क्वाथ व कुशावलेह का प्रयोग भी उत्तम है। यवोदक व बकरी का दूध पीने को दें। प्रवालपिष्टि,मुक्तापिष्टि जहरमोहरा पिष्टि को गुडहल के शर्बत व मधु से दें।

सुश्रुत के शब्दों में—"सदाहं हरिद्राभं हरिद्रामेही"

अर्थात्–दाहयुक्त हल्दी के समान पीला मूत्र उतरने को हारिद्रमेह कहते हैं। आचार्य वाग्भट्ट ने कुटकं रूपहं हरिद्रायुक्तमिव" लिखकर पीलापन, और कटुरसता को स्वीकार किया है। अतः रोगी दाह का अनुभव करता हुआ पीला पेशाब करता है। यह पीलापन मूत्र में बिलीरुबिन तथा हीमोग्लोबिन के कारण होने से इसे Haemoglobinuria कहते हैं।

हीमोग्लोबीन-परीक्षण—रक्तमेह में जो विधि मूत्र में रक्त परीक्षा की दी है वही इसकी भी है।

हीमोग्लोबीन का मूत्र में आना–मलेरिया की उग्रावस्था में, मलेरिया में क्युनीन की बड़ी मात्रा देने से हीमोलिटिक पांडुता तीव्र मूर्च्छा तथा तीव्र संक्रामक रोगों में आता है।

चिकित्सा—

आरग्वध (अमलतास) कषाय (सुश्रुत), मोया, हरड़ पुष्करमूल. श्वेत कुटजा छाल का क्वाथ (चरक) देने का विधान है। मंजिष्ठमेह के सभी प्रयोग इसमें भी देते हैं।

विशेष :- आचार्य चरक के "रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः सूत्र के अनुसार हरिद्रमेह, मञ्जिष्ठमेह कालमेह तथा रक्तमेह वास्तव में रक्तपित्त या रक्तमेह के ही विविध प्रकार व विभिन्न अवस्थाओं के विविध स्वरूप हैं।

वसा मेह [विशेष–सम्पादक]

★★★★★★★★★★★★★★★★★

आचार्य सुश्रुत ने "वसा प्रकाशं वसामेही" लिखा है तथा आचार्य चरक के शब्दों में—

वसामिश्रं वसाभं च मुहुर्मेहति यो नरः।
वसामेहमाहुस्तं असाध्यं वातकोपतः॥

अर्थात् वसा (चर्बी) के रंग का या चर्बी जैसा बार बार मूत्र त्याग वसामेह कहलाता है। मूत्र में पूय, एल्ब्यूमिन तथा चर्बी की उपस्थिति इसमें होती है। वसामेह-चर्बी युक्त पदार्थ अधिक मात्रा में खाने से मधुमेह, वृक्क के चिरकारी शोथ और पूयमय वृक्क (Pyo-nephrosis) में होता है। पिष्टमेह में भी मूत्र में वसा रहती है। इसे वसामेह या लालायूरिया (Lipuria) कहते हैं।

चिकित्सा—

आचार्य सुश्रुत ने अरणी और शीसम के क्वाथ को प्रयोग करना बताया है।

विशेष मूत्र में पूय, एल्ब्यूमिन, वसा आदि के लक्षणों को देखकर तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

मज्जा मेह [विशेष–सम्पादक]

※※※※※※※※※※※※※※※※※

मज्जामेह—चरक के शब्दो में—

मज्जानं सहमूत्रेण मुहुर्मेहति यो नरः।
मज्जामेहिनमाहुस्तं असाध्यं वातकोपतः॥

जो बार बार मूत्र के साथ मज्जा को विसर्जित करता है वही मज्जामेही है। मज्जा मिला या मज्जा जैसा मूत्र होना वसामेह का ही प्रकार है। आचार्य चरक और वाग्भट ने मज्जामेह तथा आचार्य सुश्रुत ने सर्पिमेह संज्ञा दी है। उसमें वसा के साथ रक्त का भी मिश्रण पाया जाता है। ऐसी अवस्था वृक्कविद्रधि, पुराना पूयमेह तथा मूत्र संस्थान के यक्ष्मा में मिलती है।

चिकित्सा—

आचार्य सुश्रुत—"सर्पिर्मेहिनं कुष्ठ कुटजपाठा हिंगु कटुरोहिणी कल्क गुरुची, चित्रक कषायेण पाययेत्"—कूठ, कुटज छाल, पाठा, हींग और कुटकी के कल्क को गिलोय और चित्रक के क्वाथ से देने से सर्पिमेह व मज्जामेह ठीक होता है। आचार्य चरक—त्रिफला, मूर्वा की जड़, सहिजन की छाल, नीम की छाल, मुनक्का और सोमल की जड़ की छाल का कषाय बनाकर मधु से देने का निर्देश देते हैं।

हस्ति मेह [विशेष–सम्पादक]

❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖

हस्तीमत्त इवाजस्रं मूत्रं क्षरति यो भृशम्।
हस्तिमेहिनमाहुस्तं असाध्यं वातकोपतः॥
तथा आचार्य वाग्भट—
सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति।

अर्थात्—लसीका सहित मधु रस युक्त बिना वेग के ही पागल हाथी जिस तरह धूआधार पेशाब करता है वैसे ही हस्तिमेही करता है। आधुनिक वैज्ञानिक इसे मधुमेह का ही लक्षण (Polyuria–बहुमूत्रता व Dibetes insipidus) उदकमेह ही मानते हैं तथा कुछ विद्वानों के मत से यह एक प्रकार का मिथ्या मूत्रकृच्छ्र (False incontinuence of Urine) है जो सुषुम्ना स्थित मूत्रकेन्द्र के आघात तथा ग्रन्थि की वृद्धि के कारण पाया जाता है।

लक्षण—यह रोग युवकों में होता है। मूत्र की मात्रा दिन भर में ७-८ लिटर से भी ज्यादा हो जाती है तथा उसकी आपेक्षिक गुरुता १.००६ के लगभग होती है। मूत्र के अधिक आने से पिपासा अधिक बढ़ जाती है, स्वेद नष्ट, त्वचा शुष्क तथा मल विबन्ध रहता है। मधुमेह तथा जीर्ण वृक्क रोग से इसका भेद करना चाहिए जो सुगम है।

चिकित्सा—

तिन्दुक, कपित्थ, शिरीष, पलाश, पाठा, मूर्वा, धमासा का कषाय मधु मिश्रित करके पिलाना चाहिए। हाथी, घोड़ा, सूअर, गधा, और ऊँट की हड्डी का क्षार (हड्डी की भस्म) का प्रयोग उत्तम बतलाया गया है।

विशेष—उदकमेहवत् ही इसकी चिकित्सा करनी चाहिए अतः इसे उदकमेह में ही विस्तार से देखें। ★

कालमेह

कवि. बी.एस. प्रेमी एम.आई. एम.एस.
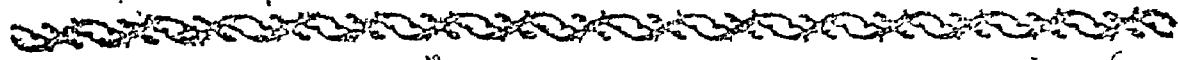
धन्वन्तरि के कृपालु एवं सहृदय पाठकों की सेवा में यहां एलव्युमिन मेह पर अपने अनुभूत विचारों के तहत कुछ प्रस्तुत करने पर प्रयास कर रहा हूं। क्योंकि प्रस्तुत प्रमेह के रोगियों पर आयुर्वेद में सूत्र एवं सिद्धान्त रूप में जो कुछ कहा गया है तदनुसार वर्तमान युग में क्रियात्मक रूप में नहीं हो. पा रहा है। आज के अधिकांश विद्वान् यही निर्णय नहीं कर पा रहे हैं कि प्रस्तुत एलव्युमिनमेह है क्या ? क्योंकि सुश्रुतानुयायी धन्वन्तरि सम्प्रदाय के आधुनिक आयुर्वेदिक चिकित्सक इसे स्वीकार नहीं करते। चरक संहिता में जिस लालामेह का वर्णन विद्यमान है वह सुश्रुत संहिता में नहीं है। आचार्य सुश्रुत ने उसके स्थान पर लवणमेह का निरूपण किया किन्तु चरक के लालामेह और सुश्रुत लवणमेह का वस्तुतः परस्पर कोई भी सामंजस्य है ही नहीं। यदि सुश्रुत के आधार पर लवणमेही की तलाश की जाय तो प्रायः निराशा ही हाथ लगेगी। किन्तु एलव्युमिनमेही अथवा लालामेही रोगी प्रायः पर्याप्त मिलते रहते हैं। लालामेही के जो लक्षण आदि चरक प्रभृति महर्षियों ने कहे हैं,लगभग वे सभी कुछ अन्तर के साथ इस एलव्युमिनमेह अर्थात् एलव्युमिनूरिया में मिल जाते हैं। अतः इस सामञ्जस्य के आधार पर आयुर्वेद का लालामेह ही आज का एलव्युमिनमेह हो सकता है। आधुनिक आयुर्वेदिक कई विद्वानों ने लालामेह को ही एलव्युमिनमेह स्वीकार किया है। चूंकि आयुर्वेद और वर्तमान चिकित्सा विज्ञान के अपने दृष्टिकोण में भिन्नता है अतः लालामेह और एलव्युमिनमेह में भी तदनुसार कुछ भिन्नता के साथ उसको स्वीकार भी किया है। देश, काल, प्रकृति तथा देश सात्म्य काल और काल सात्म्य एवं चरकोक्त सात्म्य के अनुसार उस पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से आयुर्वेद में पर्याप्त अवकाश है।

आयुर्वेद में एलव्युमिनमेह—इसमें संदेह नहीं कि आज वैज्ञानिक साधनों एवं अनुसंधानों ने रोग, रोग की उत्पत्ति, रोग के भेद, लक्षण, सम्प्राप्ति एवं प्रकारान्तर की जो सन्देहरहित जानकारी दी है, वह स्वयं में एक अभूतपूर्व स्वच्छ स्पष्टीकरण है। किन्तु आयुर्वेद ने जो सिद्धान्त, प्रक्रिया तथा प्रयोगात्मक निर्णय दिये हैं वे मील का पत्थर सिद्ध हुए। यह बात अर्वाचीन डाक्टरों एवं पाश्चात्य विज्ञानवेत्ताओं ने भी स्वीकारी है। निःसंदेह आयुर्वेद तत्व वेत्ता महर्षियों ने लाखों वर्ष पूर्व एलव्युमिन को जांच लिया था। फलतः जो लक्षण आदि उन्होंने दिये हैं वे आज के चिकित्सा विज्ञानियों के कथन के मुताबिक शतप्रतिशत नहीं हैं तो कम भी नहीं हैं। जैसे—चरक के अनुसार जिस मूत्र में पिच्छिलता, तन्तुयुक्तता तथा लालारस समानता निश्चित रूप से विद्यमान हो, वह मूत्र उस प्रमेही का ही है जिसे एलव्युमिनमेह होता है। क्योंकि आधुनिक मत से जिस मूत्र में स्निग्धता, पिच्छिलतायुक्त तत्व पाये जाते हैं वे तत्व इस बात का प्रबल पुष्ट प्रमाण हैं कि उस मूत्र में एलव्युमिन स्पष्ट विद्यमान है और जब एलव्युमिन का होना सिद्ध हो गया तो निःसन्देह वह मूत्र एलव्युमिनयूरिया ही कहला सकता है, अन्य कुछ नहीं। चरक संहिता इसे लालामेह कहती है। दोनों के संकेत एवं लक्षण समान लक्ष्य के हैं।

तीसरा सिद्धान्त—आयुर्वेदीय एवं आधुनिक चिकित्सा सिद्धान्तवादियों ने स्वीकारा है कि एलव्युमिनमेही अथवा लालामेही को जब पाण्डु रोग अथवा रक्ताल्पता का आक्रमण होता है तो उसके मूत्र में एलव्युमिन पाया जाता है। यकृत् वृद्धियों के रोगियों में तथा लालामेही की यकृत् वृद्धि में मूत्र में एलव्युमिन अवश्य रहता है। हृदय के रोगों से ग्रस्त रोगी भी एलव्युमिन से युक्त मूत्र त्याग करते हैं। यह बात अनेक बार मूत्र परीक्षण से

स्पष्ट सिद्ध हो चुकी है। गर्भिणी नारियों के मूत्र में भी यह पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि लालामेह में एलब्युमिन का विद्यमान रहना दोनों ही चिकित्सातत्व वेत्ताओं ने स्वीकारा है। यहां तक भी माना जा चुका है— कि यदि मूत्र में एलब्यूमिन अधिक मात्रा में क्षरित हो जाये तो शरीर में शोथ उत्पन्न हो सकता है। यूं तो वृक्क की भी ऐसी कई अवस्थाएं पाई जाती हैं जिनमें एलब्यूमिन क्षरित होता है तो भी यह स्थिति रोगानुसार स्पष्ट करनी ही होती है। एलब्यूमिन मेह में भी ऐसी स्थिति में लक्षणान्तर आजाने पर रोग ज्ञान के प्रति व्यामोह हो जाता है, किन्तु एलब्यूमिन मेह में अन्य लक्षणों के साथ बहुमूत्रता एक स्पष्ट एवं अनिवार्य लक्षण है जो इसको वृक्क की विभिन्न स्थितियों से पृथक करता है।

सम्प्राप्ति एवं लक्षण—

आयुर्वेदिक सिद्धान्त के अनुसार स्वकीय कारणों से दूषित एवं कुपित श्लेष्मा, वस्ति अर्थात् वृक्क, गवीनी और मूत्राशय को दूषित रूप में आक्रान्त करके शरीरस्थ मेद-मांस और क्लेद अथवा जलीयांश को दुष्प्रभाव से प्रभावित करके एलब्यूमिनमेह को जन्म देता है। इस प्रकार से यह भी स्पष्ट होता है कि यह प्रमेह कफज है। फलतः इस से पीड़ित रोगी में अपचन, अरुचि और आलस्य पाया जाता है। यदाकदा वमन भी हो जाता है। रोगी को निद्रा भी अधिक आती है और प्रतिश्याय, तथा कास से भी युक्त देखा जा सकता है। मांसोपचय भी प्रायः हो जाता है। इस रोगी के शरीर पर अथवा मूत्र पर कभी-कभी मक्खियां भी उपसर्पण कर जाती हैं। रोगी प्रायः थोड़े से श्रम से भी घबड़ाने लगता है। मन उचाट रहता है। बहुमूत्र की शिकायत तो बनी ही रहती है। कई प्रकार के उपद्रव प्रायः बने ही रहते हैं। काम शक्ति का पूर्णतया ह्रास हो जाता है, मानसिक रूप से हर समय पर्याप्त दुर्बलता एवं निराशा का वातावरण बनाये रखता है। मूत्र सदा ही गंदला रहता है तथा रक्त की उपस्थिति होने से मूत्र का रङ्ग गहरा भूरा होता है। एलब्यूमिन की मात्रा प्रायः अधिक रहती है। यदि मूत्र को पकाया जाए तो वह पककर ठोस पदार्थ बन जाता है।

एलब्यूमिन प्रमेह के विशेष लक्षण—

(क) यह रोग जब अधिक बढ़ जाता है अथवा पुराना पड़ जाता है अथवा एलब्यूमिन अधिक क्षरित हो जाती है तब रोगी की दशा विशेष रूप से बिगड़ जाती है। रोगी के शरीर पर शोथ हो जाता है, विशेषकर मुख शोथ अधिक पाया जाता है। पांडुता अथवा रक्ताल्पता होती है। त्वचा का वर्ण पीत अथवा धूसराभ हो जाता है। हृदय में दुर्बलता, हृदय में अवसाद, बिना परिश्रम के थकावट प्रायः रहती है। अनेक बार हाई ब्लडप्रेसर भी पाया गया है।

(ख) आधुनिक चिकित्सा शास्त्रियों ने इस रोग में निम्नलिखित बातें भी विशेष रूप से निर्णीत की हैं—

१—तीव्र वृक्क शोथ।

२—मृदु वृक्क शोथ।

३—जीर्णवृक्क शोथ।

प्रस्तुत एलब्यूमिन रोग में वृक्क की इन तीनों ही दशाओं का क्रमशः फलित होना भी पाया जाता है। और किसी एक स्थिति का भी उद्भव हो सकता है।

चिकित्सा सूत्र—

(क) सर्व प्रथम यह देखना चाहिये कि उक्त रोगी का बलाबल क्या है? रोगी की शारीरिक स्थिति कैसी है? इत्यादि। यदि रोगी स्थूल एवं पूर्ण बलवान हो तो वमन विरेचन के द्वारा संशोधन करके शमन चिकित्सा आरम्भ कर दें। रोगी स्थूल तो हो किन्तु साथ में वह दुर्बल भी हो तो दोष एवं दूष्य की स्थिति के अनुसार शोधन कर्म को उचित प्रकार से करें तथा उचित मात्रा में संतर्पण क्रिया भी करें। यदि रोगी कृश हो और साथ में दुर्बल भी हो तो वहां पर दोष एवं दूष्यों की चाहे जो स्थिति क्यों न हो वहां संशोधन हर्गिज न करा जाये अपितु बृंहण चिकित्सा ही आरम्भ की जाये। यदि रोगी कृश हो किन्तु साथ में बलवान भी तो उसको प्रथम जरूरी संशोधन कराकर संतर्पण चिकित्सा प्रारम्भ कर दें।

(ख) चूंकि एलब्यूमिन यूरिया को आयुर्वेदीय मत से कफज प्रमेह ही माना गया है अतः उचित अवसर एवं समय पर लंघन, वमन, विरेचन आदि चिकित्सा विधाओं के द्वारा इसका समूल उन्मूलन केलिए उपक्रम किया जाये।

(ग) कभी कभी यह प्रमेह किन्हीं कारणों से जीर्ण हो जाने पर वातोल्वण भी हो जाता है, अतः उस समय वातोल्वण कफज एलब्युमिन प्रमेह में कफ नाशक प्रक्रिया प्रमुख रूप से की जानी चाहिए। एतदर्थ त्रिफला, पाठा, देवदारु आदि कफवातहर द्रव्यों का यथाशक्य रूप में प्रयोग करें।

(घ) चूंकि एलब्यूमिन प्रमेह में बढ़ा हुआ जलीयांश-मेह, एवं कफ ही रोग का प्रमुख मूल कारण होता है—अतः दोष, द्रव्य, ऋतु, बल-काल आदि की विवेचना के साथ उक्त रोग की सारी स्थिति पर पूर्ण विचार करके उचित ठहरने पर यदि अपतर्पण चिकित्सा की जाये तो निश्चय ही लाभ होता है।

(ङ) सर्व प्रथम एलब्यूमिन् की उपस्थिति सिद्ध हो जाये तो तत्काल रोगी पर नियंत्रण लागू कर देना चाहिए। नमक लालमिर्च, तेल, खटाई, दही, उड़द की दाल, मिठाई आदि कफकारक द्रव्यों का परहेज पूरी शक्ति से किया जाए। दिवास्वाप, रात्रि जागरण, मैथुन आदि का सर्वथा त्याग किया जाए।

एलब्यूमिन प्रमेह को समूल नष्ट करने के लिए कुछ सफल प्रयोग—

(क) त्रिफला, गिलोय, यशद भस्म, शिलाजतु वंग भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म, नाग भस्म, वृ०वंगेश्वर, अभ्रक भस्म आदि का प्रयोग किया जाए।

(ख) निम्न द्रव्यों का यथायोग्य प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। जैसे—गोखरू, जामुन, आम की गुठली, तुलसी, नीम गिलोय, मधु, दारुहल्दी, हल्दी, विजयसार, मंजीठ सतावर, अर्जुन, सारिवा, लोध्र, आमलक, कीच कीकर का गोंद, फली आदि भल्लातक, इत्यादि।

(ग)—निम्न प्रकार से सर्वांगीण चिकित्सा की जानी चाहिए—

प्रातः काल तथा सायंकाल दो समय—मधुमेहान्तक रस २ रत्ती, पुनर्नवामण्डूर ४ रत्ती, सतगिलोय ४ रत्ती; १० रत्ती की मात्रा अनुपान या सहपान के लिए-पुनर्नवाष्टक क्वाथ का सेवन आवश्यक है।

दोपहर को—चन्दनासव और पुनर्नवारिष्ट दोनों को एक तोला मिलाकर दुगुना पानी मिलाकर साथ में एक चन्द्रप्रभावटी की गोली सेवन करें।

रात्रि को—भोजन आदि कुछ खाकर शयन से एक घंटा पूर्व अजमोदादि चूर्ण दो ग्राम की मात्रा में गरम पानी से सेवन करें।

कुछ विशेष प्रयोग—

एलब्यूमिन प्रमेह को नष्ट करने के लिए निम्न सिद्ध योगों का सेवन पूर्ण सफल सिद्ध हुआ है—

१ लोहासव, २. पुनर्नवासव, ३. चन्दनादि क्वाथ, ४. हरीतक्यादिक्वाथ, ५ त्रिफला क्वाथ, ६. अमलतास क्वाथ, ७. शिवागुटिका, ८. मोहमुद्गर रस, ९ सर्वेश्वररस,

महा प्रमेहान्तक रस—यह रस एलब्यूमिन प्रमेह की खास दवा है। साथ ही मधुमेह, बहुमूत्र, स्वप्नदोष, किन्हीं कारणों से आई हुई भयानक नपुंसकता, श्वेत प्रदर कामशक्ति का अभाव, शारीरिक दुर्बलता आदि का समूल विनाश करता है। शत प्रतिशत सफल योग है।

सेवन-विधि—इसकी एक एक गोली प्रातःसायं और रात्रि को शिलाजतु मिश्रित दूध के साथ लेने से मन चाहा लाभ अवश्य होता है।

योग निर्माण विधि—१. सुवर्ण भस्म ३ ग्राम, २. वैकान्त भस्म ३ ग्राम, ३. हीरक भस्म आधा ग्राम, ४ शिलाजतु ४ ग्राम, ५. अभ्रक भस्म ४ ग्राम, ६. लोह-भस्म ४ ग्राम, ७. मोतीपिष्टी २ ग्राम, ८. पुनर्नवामंडूर ४ ग्राम, ९. त्रिवंग भस्म २ ग्राम, १०. रजत भस्म। कुल योग ३०॥ ग्राम।

विधि उक्त सम्पूर्ण द्रव्यों को खरल में डालकर के सूखा ही घोट कर एक रूप करलें। फिर पलाश (ढाक) के बीजों का तेल चौगुना डालकर दृढ़ मर्दन करें। दो दिन तक घोटने के पश्चात् उसमें नीचे लिखे द्रव्यों का सूक्ष्मचूर्ण मिलाकर घोटें—

१. केशर १ ग्रा०, २. छोटी इलायची १ ग्रा०, ३. लौंग १ ग्रा०, ४. छोटी पीपल २ ग्रा०, ५. सोंठ २ ग्रा०, ६. वंशलोचन ४ ग्रा०, ७. जायफल २ ग्रा०, ८. जावित्री २ ग्रा०, ९. आमाहल्दी ६ ग्रा०, १०. ब्राह्मी स्वरस २०० ५० ग्राम। उक्त द्रव्यों को मिलाकर घोटते घोटते गोली बनाने के योग्य हो जाने पर ४-४ रत्ती की गोलियां बनालें और छाया में सुखा लें। बस योग तैयार है। यह प्रयोग इतना सफल है कि विगत चौदह वर्षों में किसीरोगी का निराशाजनक उत्तर प्राप्त नहीं हुआ है।

—कवि श्री वी. एस. प्रेमी एम.ए.एम.एस.,
ए.एम.एस. तिब्बिया कालेज,
करोल बाग, नई दिल्ली-५
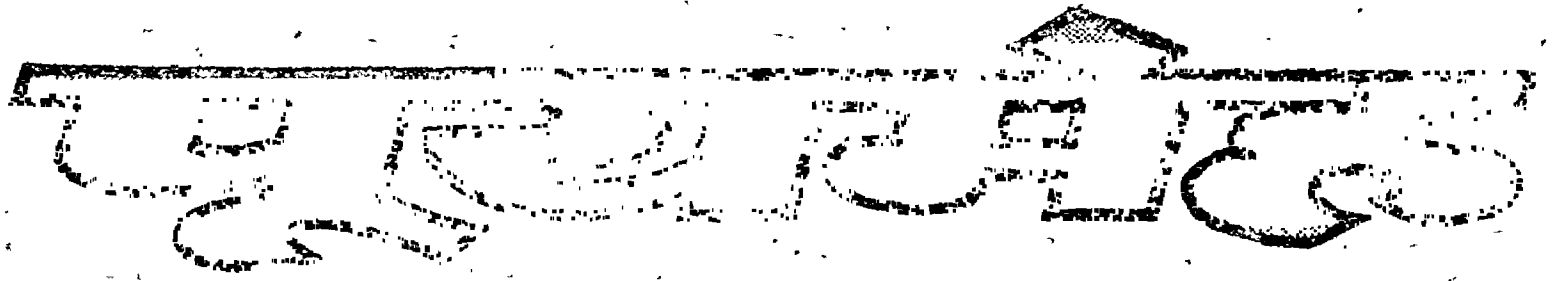
कवि० श्री रघुवीरशरण शर्मा वैद्य रत्न, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद वृहस्पति (डी०एस०सी०ए०),
भजनपुरा डी-१५०, दिल्ली-५३

पूयमेह संक्रामक और भयंकर रोग है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है। अर्वाचीन के आयुर्वेद विज्ञान नामक ग्रंथ में इसको औपसर्गिक मेह, व्रणमेह और आगन्तुकमेह नाम से लिखा है। यूनानी वैद्यक में इसका नाम सुजाक और अंग्रेजी में इस को गनोरिया कहते हैं। इस रोग का जनक गोनोकोकस नाम का जीवाणु है। इसी के नाम पर इस रोग का नाम गनोरिया होगया है। इस जीवाणु को सर्व प्रथम १८७६ ई० में नीसर नाम के जापानी विद्वान ने जाना था। तत्पश्चात् बूम नाम के विद्वान ने इस जीवाणु का इस रोग से विशेष सम्बन्ध बताया था। यह जीवाणु वृत्ताकार होता है, जोड़े में रहता है। निश्चल है, ग्राम निगोटिव है, स्पोर नहीं बनाता, पैरासाइट (परोपजीवी है)। इसका संचयकाल २ दिन से ८ दिन तक का है और पूयमेही स्त्री पुरुष के समागम के समय स्त्री की योनि और पुरुषों के शिश्न में प्रविष्ट होता है। प्रविष्ट होने के बाद ही तत्काल पूयमेह नहीं होता वल्कि सञ्चय काल में दो दिन से आठ दिन तक का समय लग जाता है। किन्तु आयुर्वेद विज्ञान के लेखकों ने आठ दिन के स्थान पर सात दिन लिखे हैं—

आरम्य सङ्गमनिशां संख्यया या च सप्तमी।
एतद्व्यवहिते काले प्रायशो जायते गदः ॥

—आयुर्वेद विज्ञान।

प्रथमावस्था—पुरुषों के मूत्र मार्ग में शोथ, शिश्न में शोथ, मुष्क में शोथ, वस्ति में शोथ, और वीर्याशय में शोथ होता है। शिश्न कण्डू, शिश्न में भारापन और तीव्र असह्य वेदना होती है। शिश्न का वार-बार उद्रेक होता है। मूत्रकृच्छ्र मूत्राघात मूत्रावरोध मूत्र का वर्णलाल, मूत्र के साथ रक्त का आना, अथवा मूत्र प्रणाली में क्षत होने के कारण केवल रक्त ही आना। आरम्भ में पूय (मवाद) पतला और चमकीला आता है, साथ में ज्वरादि लक्षण भी होते हैं। यह अवस्था बड़ी ही भयंकर तथा कष्टप्रद होती है। रोगी वेहद वेचैन रहता है। भयंकर वेदना के कारण छटपटाता रहता है। वेदना इतनी असह्य होती है कि नींद भी नहीं आती। कुछ काल बाद मवाद गाढ़ा और पीला हो जाता है।

स्त्रियों के लक्षण—स्त्रियों की योनि में शोथ, मूत्र मार्ग गर्भाशय भगोष्ठ, डिम्ब प्रणाली और उदर कला में शोथ, (सूजन) हो जाता है। यदि स्त्री गर्भवती हो तो गर्भस्राव और गर्भपात भी हो जाता है। कुछ काल बाद जीवाणु रक्त में प्रवेश करते हैं, तब सन्धियों (जोड़ों) में शोथ स्नायु शोथ हृदय में शोथ जीवाणु मयावस्था करते हैं।

पूय का दुष्प्रभाव और उपद्रव—यदि किसी प्रकार यह पूय नेत्रों में लग जाय तो इसके विष से नेत्राभिष्यन्द हो जाता है और कभी कभी अन्धापन भी हो जाता है। इस पूय से यदि नासिका से स्पर्श हो जाय तो नासिका में शोथ हो जाता है। गुदा में लगने से गुदा में शोथ हो जाता है। पूय से पीड़ित स्त्री बच्चा जनती है तो उसके शिशु को जन्म जात नेत्राभिष्यन्द (आंखों का दुखना) हो जाता है और कभी कभी अन्धा भी हो जाता है। कारण यह है कि स्त्री की योनि में पूय (मवाद) लिप्त रहता है। इसी मार्ग से शिशु जन्म होता है, यदि प्रसव से पूर्व ही स्त्री की योनि को निम्बपत्र (नीम की पत्ती) के क्वाथ अथवा वोरिक एसिड को पानी में डालकर प्रक्षालन (धोना) कर दिया जाय तो फिर नवजात शिशु के नेत्राभिष्यन्द और अन्धा-

—शेषांश पृष्ठ १६२ पर देखें।

पूयमेह

डा० विजयकुमार वार्ष्णेय बी०ए०एम०एस०
कटरा बाजार, सहावर-टाऊन (एटा) उ०प्र०

डा० वीरेन्द्रकुमार सिंह बी०ए०एम०एस०
रेलवे रोड, कासगंज (एटा) उ० प्र०

कारण—

गोनोकोकस (Gonococcus) जीवाणु के मूत्र मार्ग में प्रवेश कर जाने के ४ से १० दिन के अन्दर श्लेष्मल-कला में शोथ हो जाता है जिससे वह रक्ताभ होकर सूख जाती है। यह रोग सम्भोग द्वारा होता है।

विकृति विज्ञान—इसका जीवाणु सम्भोग के द्वारा जननांगों में प्रवेश करके वहां की श्लैष्मिक कला में प्रदाह कर देता है। उसमें पूयोत्पत्ति हो जाती है। रोग धीरे धीरे पीछे की ओर मूत्र मार्ग में, वहां से पौरुष प्रन्थि, ततः शुक्राशय और अण्डकोष में फैलता जाता है और वहां कभी कभी शोथ तथा कभी कभी विद्रधि उत्पन्न कर देता है। स्त्रियों में योनि से गर्भाशय ग्रीवा तथा वहां से गर्भाशय और फिर डिम्ब प्रणाली से डिम्ब ग्रन्थि में शोथ उत्पन्न करके रुग्णा की मृत्यु का कारण बन जाता है।

पुरुषों में संक्रमण मूत्र मार्ग से मूत्राशय, वहां से मूत्र प्रणाली और मूत्र प्रणाली से वृक्कों में जाकर वहां शोथ पैदा कर सकता है। यह रोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर होता जाता है परन्तु कभी कभी इसके जीवाणु रक्त द्वारा सन्धियों में जाकर सन्धिशोथ उत्पन्न कर देते हैं और अतिविरल अवस्था में गति करते हुए Septicaemia उत्पन्न करके रोगी की मृत्यु का कारण बन सकते हैं।

लक्षण—

एकाएक मूत्र त्याग में जलन होने लगती है तथा मूत्र मार्ग से स्राव निकलता है। स्त्रियों में योनि से स्राव निकलता है। किसी पूयमेह रोगी स्त्री या पुरुष से संसर्ग होने के २ से ६ दिन बाद यह लक्षण उत्पन्न होते हैं। मूत्र मार्ग से पूयमय स्राव होता है। स्त्री की योनि से भी स्राव होता है। वंक्षण की लसीका ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं। यहां से संक्रमण मूत्राशय एवं वृक्क गवीनी की ओर साथ ही साथ वीर्य नली एवं ग्रन्थियों तक पहुँच सकता है। स्त्रियों में गर्भाशय, डिम्बप्रणाली, डिंब ग्रन्थि एवं उदरावरण कला तक फैल सकता है। पीव आने के समय शिश्नाग्र रक्ताभ शोथयुक्त होता है। पीव पहले पतला फिर बाद में गाढ़ा और पीताभ हो जाता है। तीव्रावस्था में ज्वर भी हो जाता है। मूत्र मार्ग की श्लैष्मिक कला बहुत सूज जाती है, वहां पर व्रण बन जाते हैं। यहां से रक्त एवं पस आता है, मूत्र त्यागते समय अत्यन्त पीड़ा होती है। जब शोथ के कारण मूत्र मार्ग बन्द हो जाय तो मूत्रावरोध हो जाता है।

उपद्रव—

(१) मूत्रप्रसेकनलिका संकोच (२) शिश्नाग्र-शोथ
(३) शुक्राशय शोथ (४) उपाण्डु शोथ
(५) मूत्राशय शोथ (६) वृक्क शोथ

स्त्रियों में—(१) डिम्बप्रणाली शोथ
(२) डिंबाशय सह डिंबप्रणाली शोथ
(३) उदरावरण कला शोथ

स्त्री पुरुष दोनों में—(१) पूयमेहजनित नेत्राभिष्यन्द
(२) पूयमेहजनित सन्धिशोथ

निदान विनिश्चय—स्राव में पूयमेह जीवाणु का मिलना पूयमेह का निश्चयात्मक लक्षण है।

चिकित्सा—

१. प्रोकेन पैंसीलिन ६ लाख यूनिट मांसान्तर्गत प्रतिदिन एक सप्ताह तक दें।

—शेषांश पृष्ठ १६२ पर देखें।
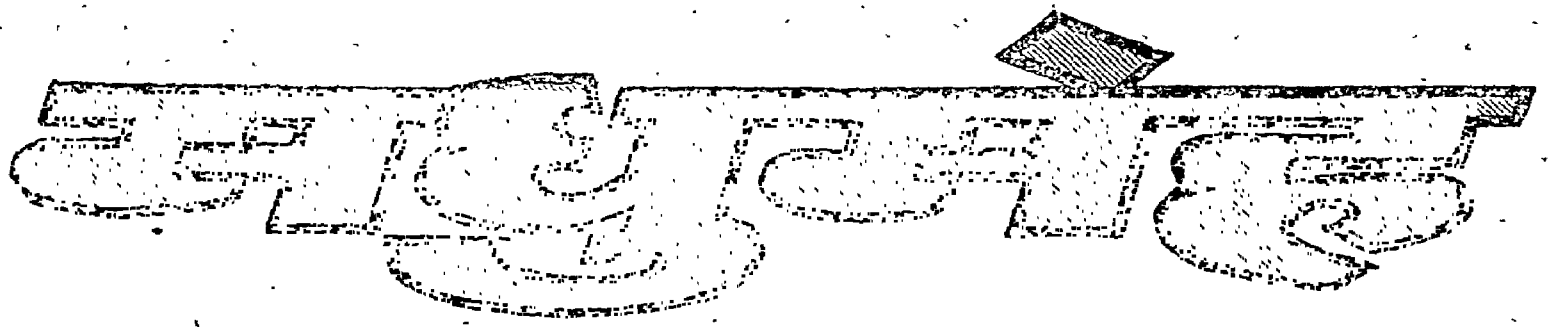
कवि० श्री डा० गिरिधारीलाल मिश्र ए० एम० बी० एस०
अधीक्षक—केदारमल मेमोरियल आयुर्वेदिक धर्मार्थ हास्टीटल, तेजपुर (असम)

मधुमेह आहार चयापचय (Metabolism) सम्बन्धी चिरकारी विकृति (Chronic disorder) का परिणाम है। भोजन की पाचन क्रिया द्वारा श्वेतसार (कार्वोहाइड्रेट्स) जब ग्लूकोज बन कर रक्त में रक्त शर्करा की वृद्धि करता है तभी इन्सुलिन की कमी के कारण शर्करा पाचन न होकर मूत्रमार्ग द्वारा बहिर्गमन होता रहता है। मूत्र में ग्लूकोज आने को ग्लूकोजमेह (Glycosuria) कहते हैं। वस्तुतः इसी लक्षण के कारण इसका नाम मधुमेह पड़ा है।

मधुमेह की दो अवस्था हैं—

(१) पहली अवस्था में—मूत्र में शर्करा का बाहुल्य (Diabetis Malites) होता है।

(२) दूसरी अवस्था में—शर्करा की मात्रा अल्प किंतु प्रचुर मात्रा में मूत्र का निक्षेप (Diabetes insipidus) होकर शरीर खोखला हो जाता है।

हम प्रतिदिन शारीरिक शक्ति प्राप्ति के लिए आहार के रूप में अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों का प्रयोग करते हैं जिनमें कार्वोहाइड्रेट, प्रोटीन, स्नेह, विटामिन्स, जल व खनिज, लवण आदि द्रव्य हैं। इसमें कार्वोहाइड्रेट जातीय पदार्थों के पाचन से तीन प्रकार की शर्करा ग्लूकोज, गैलक्टोज तथा फ्रूक्टोज निर्मित होती है जिनमें ग्लूकोज का परिमाण सबसे अधिक रहता है जिसका अग्न्याशय में पाचन होकर शरीर को ऊर्जा एवं शक्ति की प्राप्ति होती है पर शर्कराजातीय (कार्वोहाइड्रेट) तथा स्नेह पदार्थों के अधिक सेवन से अग्न्याशय को अधिक श्रम करना पड़ता है फलतः अग्न्याशय (Pencreas) में इन्सुलिन उत्पादन करने वाली कोशिकायें अर्थात् लैंगरहेंस की द्वीपिकाओं की वीटा कोशिकाए (Betacells of is lets of Langerhans) का ह्रास होने लगता है। जिससे इन्सुलिन निर्माण कम होने लगता है तथा इन्सुलिन की कमी के कारण रक्त शर्करा का पाचन नहीं हो पाता। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में वृक्क यथाशक्ति रक्त की अतिरिक्त शर्करा को निकालने का प्रयत्न करता है फिर भी रक्त में शर्करा का परिमाण स्वभाविक मात्रा (७०-१२० मि लि प्रतिशत) की अपेक्षा अधिक रहने लगता है तथा अग्न्याशय की वीटा सैल भी स्वयं को उत्तेजित कर इन्सुलीन अधिक बनाकर शर्करा नियन्त्रण का प्रयास करती है किन्तु अधिक श्रम से उनकी मृत्यु (Atrophy) होने लगती है तथा रक्तगत शर्करा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि मूत्र में आने लगती है। अतः रक्त शर्करा वृद्धि से रोगी के शरीर में 'माधुर्य' इतना बढ़ जाता है कि उसके शरीर पर मक्खियां बैठने लगती हैं। उसको अपना मुंह मीठा, श्वास की गन्ध भी मीठी और मधुर मूत्र का उत्सर्ग करता है।

आयुर्वेद मनीषियों का एतद्विषयक ज्ञान गम्भीर था। २० प्रकार के प्रमेहों के लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन उपलब्ध है। उन्हें मूत्र में शर्करा आती है इतना ही ज्ञान न था अपितु प्रमुख लक्षणों तथा प्रारम्भिक लक्षणों में—(१) बहुमूत्रता (मूत्रागाविलंभूरिय भवति) तथा (२) मूत्र की स्वच्छता (शुक्लता त्र मूत्रे) (३) तथा आपेक्षिक गुरुत्व १०३० से १०५० तक वाला (४) अति पिपासा, शुष्क जिह्वा (पिपासा तालु कण्ठ शोथ) कण्डू अङ्गमर्द, सन्धि वेदना, मूर्च्छा सन्यास के लक्षणों का भी अध्ययन किया था। प्रमेह की उचित चिकित्सा न करने पर मधुमेह में बदल जाता है तथा मधुमेह की उचित चिकित्सा न करने पर

प्रमेह पिडिकाएं निकल आती हैं जो सात प्रकार की बताई गई हैं तथा रोग के उपद्रव में दुष्ट व्रण (Carbancle) मूर्च्छा, सन्यास के लक्षण होकर अन्त में रोगी यमराज का प्रिय बन जाता है अतः आयुर्वेद में मधुमेह के कारण लक्षण चिकित्साक्रम, पथ्यापथ्य साध्यासाध्यता का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

प्राचीन उद्धरण—मधुमेही रोगियों के प्राचीन उद्धरणों में सर्व प्रथम स्थान सर्वदेव पूज्य, विघ्न विनाशक भगवान् गणेश जी को प्राप्त है जो उनकी ही सुप्रसिद्ध स्तुति के आद्य चरण में मङ्गलाचरित है—

गजाननं भूत गणादि सेवितम्,
कपित्थ जम्बूफल चारु भक्षणम्।

संक्षिप्त व्याख्या—गजाननं-भगवान् शिव ने क्रोधावेश में गणेश जी का मस्तक त्रिशूल से काट डाला था फिर 'हाथी का सिर लगाया' जिससे गजानन नाम की सार्थकता के साथ प्राचीन काल की सर्जरी की उत्कृष्टता भी प्रमाणित है।

भूतगणादि सेवितम्—कैलाश के समीप भूत स्थान, वर्तमान नाम "भूटान" है जहां भूत जाति का निवास था तथा भूतगणों के अधिपति होने के कारण गणेश, गणपति गणादि सेवितम्—भूतगणों द्वारा सेवित थे।

कपित्थं जम्बूफल चारु भक्षणम्—गणेश जी की मोदक प्रियता, ईख रस पान, तथा गुड़ के अति सेवन के फल स्वरूप उनकी पूजा में प्रसाद का प्रतीक (गुड़ के मोदक भोग लगता है) गुड़ और मोदक ही है अतः श्लोक का द्वितीय चरण कपित्थ जम्बू फल चारु भक्षणम् कपित्थ और जामुन (जो मधुमेह की उत्कृष्ट औषधि है) को इच्छानुसार खाने उक्त विशेषण तथा उनकी पूजा में अर्पित नैवेद्य (गुड़ और मोदक) उन्हें मधुमेही होने की ओर इङ्गित करते हैं तो उनके शरीर की स्थूलता (पग खम्बा सा उदर पुष्ट है देख चन्द्रमा हांसि करे) तथा महाभारत को एक ही गति से लेखन कार्य—लेखकत्व जहां सन्देह की पुष्टि करते हैं वहां ऋद्धि सिद्धि जैसी दो पत्नियों के होते हुये भी निःसन्तानत्व मधुमेहज नपुंसकता का द्योतक है।

मधुमेह रोग के कारण—

(१) आनुवंशिता—यह रोग वंशपरम्परागत भी होता है। माता को होने से उसकी सन्तानों को भी हो सकता है पर कोई निश्चित नियम नहीं है। इसमें अनेक अपवाद भी मिलते हैं।

(क) सामान्यतः आनुवंसिक मधुमेह अल्पायु में शुरू होता है तथा तीव्रगति से बढ़ता है तथा धीरे-धीरे कष्ट साध्य व घातक रूप धारण कर लेता है।

(ख) जुड़वां भाईयों में यदि एक को मधुमेह होता है तो दूसरे को भी प्रायः हो जाता है।

(२) आयु—यह रोग ३० से ४० वर्ष की आयु में प्रारम्भ होने लगता है तथा रोग का ध्यान न दिया जावे तो ५० वर्ष की आयु तक में व्यक्ति को अच्छी तरह से आक्रांत कर लेता है। आनुवंशिक मधुमेह अल्पायु में शुरू होकर तीव्रता से बढ़ता है जबकि विपरीत आहार विहारादि दोषों से संबद्ध मधुमेह ५०-६० वर्ष की उम्र में ही सौम्यगति से बढ़ता है तथा आहार विहार पर नियन्त्रण होने से सुसाध्य होता है।

(३) लिंग—पहले अनुमानतः मधुमेह रोगियों में पुरुषों की संख्या २५ % तथा स्त्रियों की २० % थी पर अब स्त्रियां पहले की बजाय कम परिश्रमी हैं। आजकल अति आहार, श्रम का अभाव, असाध्य और वैभवयुक्त सुविधा सम्पन्न आधुनिक जीवन के कारण स्त्रियों में भी यह रोग पहिले की अपेक्षा अधिक फैल रहा है।

(४) व्यवसायिक—प्रायः वैभवयुक्त, आलस्यमय जीवन व्यतीत करने वालों में तथा श्रम व व्यायाम व शारीरिक श्रम न करने वाले लोगों में विशेषतः मधुमेह पाया जाता है। दुकानदार, अध्यापक, वकील, उच्च अफीसर व बैठक का कार्य अधिक करने वाले तथा जिनको मानसिक श्रम तो करना पड़ता है पर शारीरिक श्रम न करना पड़ता हो, उनको पहले स्थूलता आती है फिर मधुमेह हो जाता है। इसके विपरीत कठिन परिश्रम करने वाले मजदूरों, किसानों, पुलिस-सैनिकों आदि में यह रोग प्रायः नहीं होता है।

(५) आहार—प्रचुर मात्रा में श्वेतसारीय खाद्य पदार्थों का प्रयोग इसका मुख्य कारण है। चावल, गेहूं, ज्वार, आलू, शकरकन्द, सूरण आदि का अधिक प्रयोग, स्नेहयुक्त डालडा आदि के बने मिष्ठान के अति सेवन से मधुमेह होता है।

(६) देश—आज विश्व के विकासशील देश अमेरिका,

इंग्लैण्ड, जापान, यूरोप, चीन आदि राष्ट्रों के नागरिक इस रोग से विशेष आक्रान्त हैं। बताते हैं वहां के ९०% वृद्ध लोग इस रोग से आक्रान्त हैं। भारत में अधिक चावल खाने वाले लोगों में यह रोग अधिक है। आसाम-बंगाल, बिहार में यह रोग अन्य प्रांतों की अपेक्षा अधिक है। कारण यहां के लोगों का मछली और भात प्रमुख भोजन है तथा दोनों ही मधुमेह के प्रमुख कारण हैं। शाकाहारियों की अपेक्षा मांसाहारियों में इस रोग का उपद्रव अधिक तीव्र घातक होता है। चीनी की अपेक्षा गुड़ खाने वालों में यह रोग कम होता है। कारण गुड़ में क्षारीय लवण रहते हैं विटामिनों की न्यूनता से भी मधुमेह होता है।

(७) स्थूलता एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए जिसका कि शरीर भार ६०-६५ किलो हो उसे २००० से २२५० कैलोरी का भोजन पर्याप्त है पर शरीर की आवश्यकता से अधिक कैलोरी वाला भोजन निरन्तर चिरकाल से लेते रहने पर कार्बोहाइड्रेट के अधिक मात्रा में लेते रहने से उसका अंश वसा में परिवर्तित होकर वसामय प्रदेशों में बैठ जाता है जिससे शरीर में स्थूलता आ जाती है जो इस रोग का प्रमुख कारण बन जाती है।

(८) अग्न्याशय अभिघात—अग्न्याशय (Pancrease) में कोई संक्रमण हो जाने से अग्न्याशय रस (Insulin) का पर्याप्त उत्पादन न हो तो कार्बोहाइड्रेट्स का पाचन न होने से मधुमेह का हो जाना स्पष्ट कारण है। शल्य-कर्म, दुर्घटना व कैंसर आदि में अग्न्याशय का अधिकांश भाग काटकर निकाल दिया जाता है तथा Insuln उत्पादक कोशिकायें नष्ट हो जाती हैं जिससे मधुमेह हो जाता है। अग्न्याशय में क्रमशः तन्तु वृद्धि (Fibrosis) जैसा कि हीमो क्रोमेटोसिस में व उपदंश की तृतीयावस्था में होता है तथा क्रमशः रक्त आगमन में रुकावट होना जैसाकि धमनी काठिन्य होने पर विशेषतः पैंक्रियास धमनी में होता है।

(९) अधिवृक्क स्राव की अधिकता—अधिवृक्क ग्रन्थि के हारमोन की अधिकता होने पर यकृत में ग्लूकोज का अधिक निर्माण होने लगता है। परिणामतः रक्त में इसकी मात्रा बढ़ जाती है जिससे मधुमेह हो जाता है।

(१०) अवटुकास्राव की अधिकता—अवटुहारमोन की अधिकता से सभी कोशिकाओं की क्रियाशीलता बढ़ जाती है तथा इन्सुलिन की पूर्ति न होने पर रक्त में ग्लूकोज की मात्रा अधिक हो जाती है जिससे मधुमेह हो जाता है।

(११) पीयूषिकास्राव की अधिकता—अग्रपीयूषिका के अन्तःस्राव की अधिकता से भी मधुमेह हो जाता है।

(१२) मनः स्थिति—मानसिक क्लेश, भय, चिन्ता अशान्ति इत्यादि मानसिक अवस्थाओं, अधिवृक्क (Adrenal) गलग्रन्थि (Thyroid) आदि ग्रन्थियों में क्षोभ उत्पन्न होने से क्षणिक मूत्रशर्करा वृद्धि होकर भी अस्थायी मधुमेह होजाता है जो मन शान्त होने पर ठीक होजाता है अन्यथा स्थायी रूप ले लेता है।

लक्षण—

रोग का आरंभ इतने अज्ञात रूप से होता है कि बहुत समय तक तो इसका पता ही नहीं चलता कारण मूत्र में थोड़ी सी शर्करा रहने पर सहसा पता चलना कठिन है। रोग बढ़ने पर निम्न लक्षण होते हैं—

(१) बहुमूत्रता—रोगी को सर्वप्रथम बहुमूत्र की शिकायत होती है। दिन रात में बार बार तथा मात्रा में अधिक २४ घण्टे में २-३ लिटर या इससे भी अधिक मूत्र आता है तथा रोग वृद्धि के अनुसार मूत्र की मात्रा में भी वृद्धि होती जाती है। रक्त में तथा Glomeruli से छने मूत्र में बढ़ी हुई शर्करा को निकालने के लिए शरीर में जल को तथा वृक्कों में से मूत्र को शरीर से अधिक मात्रा में निकालना पड़ता है। परिणामतः बार बार मूत्र का उत्सर्ग होता रहता है।

(२) तृषाधिक्य—मूत्र के अधिक उत्सर्ग से उसके साथ पोटाशियम, कैल्सियम तथा बाई कार्बोनेट भी अधिक निकलते हैं तथा शरीर में जल की कमी होने से अधिक प्यास लगना भी स्वाभाविक है, क्योंकि रोगी पानी पी पीकर निकले हुए जल की पूर्ति करता है। अतः रोगी जहां बार बार मूत्र त्याग करता है वहां बार बार पानी पीता रहता है। विशेषतः भोजन के १-२ घण्टे पश्चात् तक पिपासाधिक्य रहता है, क्योंकि उस समय रक्त शर्करा की मात्रा में काफी वृद्धि होती है। रोग के अधिक बढ़ जाने पर जीभ की रूक्षता भी बढ़ जाती है जिससे प्यास बराबर लगी रहती है।

(३) क्षुधाधिक्य—शरीर में से शर्करा के अधिक

मात्रा में निकल जाने, ग्लूकोज का सदुपयोग न होने के कारण रोगी जो कुछ खाता है उसका अधिकांश भाग शरीर में प्रयोग हुये विना ही वाहर निकल जाता है जिससे बहुत भूख लगती है तथा प्रचुर मात्रा में आहार करने पर भी इन्सुलिन के अभाव में अधिकांश पोषक तत्वों का पाचन न होने से शर्करा के रूप में मूत्र मार्ग से निकल कर अपव्यय होने से शक्ति या उष्णता के अभाव में दुर्बलता के कारण रोगी को हमेशा भूख लगी रहती है।

(४) दुर्बलता—अधिक आहार लेने पर भी मूत्र द्वारा शर्करा का अधिक उत्सर्ग होने के कारण कार्वोहाइड्रेट का चयापचय नहीं होता तथा शरीर को कार्बोज न मिलने के कारण अशक्ति बढ़ जाती है। शरीर में से शर्करा और जल जैसे मूल्यवान द्रव्यों से शरीर से अधिक मात्रा में निकलते रहने से धातुओं पर अनेक दुष्प्रभाव पड़ते हैं जिससे रोगी स्वल्प श्रम करने से ही थक जाता है।

(५) त्वचा की रूक्षता तथा निर्जलीभवन—शरीर में जल के अधिक निकल जाने से जलहीनता के कारण त्वचा में रूक्षता तथा कठोरता आ जाती है। त्वचा में से शुष्कता तथा उसका पोषण भलीभांति न होने से प्रमेह पिण्डिकाएं निकल आती हैं जो घातक रूप लेने पर कारवंकल (Carbuncle) हो जाता है तथा मामूली सी चोट लगने पर भी शीघ्र ही पक जाती हैं तथा जल्दी अच्छी नहीं होती।

(६) कब्ज निर्जलीभवन के कारण कोष्ठबद्धता प्रायः बनी रहती है, क्योंकि आंतों की श्लैष्मकला में शुष्कता आ जाती है जिससे कब्ज बनी रहती है।

(७) गुह्याङ्ग कण्डू—मूत्रगत शर्करा के मूत्र स्थान पर लगे रहने से यहां Monilia alsicans की वृद्धि होकर स्त्रियों में भगकण्डू तथा पुरुषों में शिश्नमुण्ड शोथ (Balanitis) का लक्षण पाया जाता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह लक्षण विशेषतः पाया जाता है।

(८) जंघानाड़ी शोथ—पेशियों में कृशता और निर्वलता आ जाने के कारण जंघा में नाड़ी शोथ का लक्षण भी रहता है जिससे रागों में दर्द रहता है। विशेषतः रात को पांव में दर्द, दाह, सुप्ति की प्रतीति होती है। पिण्डलियों में स्तम्भ, शूल तथा निर्वलता और अशक्ति ये लक्षण होते हैं जिससे विटामिन्स आदि से कोई लाभ नहीं होता।

(९) परावर्तन की विकृति—रक्त में ग्लूकोज के स्तर के एकाएक घटने बढ़ने से आंख के लैंस के परावर्त सूचकाओं (Refractive Indices) में अन्तर पड़ता रहता है। फलस्वरूप रोगी को कभी दूर की और कभी नजदीक की वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देने से चश्मा बदलते रहना पड़ता है।

(१०) मूत्र के आपेक्षिक गुरुत्व में वृद्धि—मधुमेह रोगी का मूत्र सामान्यतः स्वाभाविक मूत्र की अपेक्षा गाढ़ा एवं भारी होता है। स्वस्थ मनुष्य के मूत्र का आपेक्षिक गुरुत्व-१००५ से १०३० तक होता है लेकिन इस रोग में बढ़ कर १०५० तक भी हो जाता है। मूत्र शर्करा मात्रा के अनुपात में उसके आपेक्षिक गुरुत्व की वृद्धि हो जाती है।

(११) मधुरता—मधुमेह में मधुरता प्रमुख लक्षण बन जाता है। मूत्र में मधुरता व मधु गन्ध के साथ रोगी को अपने मुंह का स्वाद भी मीठा लगता रहता है।

निदान चातुर्य—

मधुमेह रोग का आरंभ इतने अज्ञात रूप में होता है कि प्रारंभिक अवस्था में पता चलना कठिन होता है। अतः चिकित्सक के पास रोगी अधिक पिपासा (५०%) अतिक्षुधा (३५%), अति अशक्ति (४०%) घटते हुये भार (५०%), कृशता (५०%), त्वचा पर पीडिकायें (१५%), स्त्रियों में भगकण्डू (२०%), हाथ पांवों में शीतलता उष्णता (२०%), रक्तचाप वृद्धि (२०%), टांगों में दर्द (२०) आदि रोगों की शिकायत ले कर आवे तो चिकित्सक को मधुमेह का सन्देह करना चाहिए तथा मूत्र परीक्षा द्वारा रोग निर्णय कर उचित चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिये। यह एक ऐसा रोग है जिसके बारे में कोई भी रोगी स्पष्ट रूप से इस रोग को लेकर नहीं आता बल्कि अन्य रोगों से इस रोग का पता चलता है।

मधुमेह के उपद्रव—

[१] कारवंकल—मधुमेही को कारवंकल व्रण साधारणतया मांसल भाग जंघा—नितम्ब व पीठ पर होता है। यह व्रण बड़ा घातक होता है। वैसे मधुमेही रोगी को मामूली चोट लगने पर छोटा सा घाव भी तीव्र गति से बढ़ता है तथा औषधोपचार से भी शीघ्र ठीक नहीं होता है। आयुर्वेद में यह प्रमेह पिड़िका के अन्तर्गत है तथा इस लेख में

चिकित्सा क्रम में लिखित 'श्लेष्ठादि वटी' कार्बकल फोड़े में आशातीत सफल अनुभूत योग है।

[२] कोथ (गैंग्रीन)–रक्त वाहिनियों के अपविकास (Degeneration) के कारण होता है जिसमें त्वचा के ज्ञान तन्तु में दोष उत्पन्न होकर संज्ञा शून्यता आकर त्वचा पर धब्बे बनकर अन्त में वहां सड़ान पैदा हो जाती है। अक्सर वृद्ध मधुमेहियों की पैरों की अंगुलियो मे यह विकार मिलता है।

[३] मधुमेहज नाड़ी रोग—नाड़ी शूल इस रोग का प्रारम्भिक उपद्रव है, जंघाओं की वात नाड़ियों में दर्द, दाह, सुसुप्ति की प्रतीति होती है। पिंडलियों में स्तम्भशूल (Cramps) तथा जंघा और पैरों में अशक्ति के लक्षण होते हैं। चेष्टावाही नाड़ियों में विकृति आने पर ध्वज भंग (Impotency), मूत्राशय की विकृति, मधुमेह, प्रवाहिका आदि उपद्रव होते है जो मधुमेह ठीक होने पर ठीक होते हैं।

[४] मधुमेहज वृक्क विकृति (Diabetic Nephropathy)–वृक्कों के पोषण में कमी आजाती है तथा मंदगति से वृक्कपात होता है और बढता चला जाता है। मूत्रमें एलब्यूमिन आती है शोप व रक्त भार बढ जाता है। इसमें मूत्रल औषधियां चन्द्रप्रभावटी, श्वेतपर्पटी, गोक्षुरादि गुग्गुल हितकर हैं।

[५] मधुमेहज दृष्टिदोष–मधुमेही की दृष्टि क्रमशः मंद हो तो मोतियाबिन्द होता है। तथा प्रारम्भ में ही चिकित्सा करने से ठीक हो जाता है।

[६] धमनी काठिन्य (Atherosclerosis)—मधुमेही के द्वारा अधिकांश जलीयांस निकल जाने से सूक्ष्म धमनियों के मृदु अवयवों में स्थूलता आ जाने से, धमनी काठिन्य रोग हो जाता है तथा ५०% व्यक्तियों की मृत्यु हृदय-मस्तिष्क धमनियों के काठिन्य से हृदयाघात होकर होती है।

[७] मधुमेही मूर्च्छा (Diabetic Coma)—मधुमेह रोग का सबसे घातक उपद्रव है। रक्त में शर्करा की वृद्धि के कारण बहुमूत्रता से शरीर मे जल की कमी हो जाती है तथा वसा, घी, तैल का सही पाचन न होने से रक्त मे अम्लीय प्रतिक्रिया जो एसिटोन (Acetone) के रूप में मिलती है और श्वसन क्रिया बढ़ जाती है तथा मस्तिष्क की क्रियाएं घट जाती है जिससे पहले निद्रा और फिर मूर्च्छा होती है।

रोग निदान—मधुमेह, रोग के उपरोक्त वर्णित कारणों से इस रोग का सन्देह हो जाने पर निश्चय निदान के लिए तथा रोग की बढ़ी हुई स्थिति एवं चिकित्साक्रम निधारण करने के लिए रोगी का मूत्र और रक्त मे शर्करा की उपस्थिति का परीक्षण करना चाहिए। लेख विस्तार भय से यहाँ मूत्र परीक्षा की विधियां नही दी जा रही है पाठकों को इसी विशयक के प्रथम खण्ड में मूत्र परीक्षा प्रकरण में देखना चाहिए।

मधुमेह चिकित्सा सिद्धान्त—

मधुमेह आहार चयापचय विकृति का परिणाम है अतः "संक्षेपतः क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्" चिकित्सा-सिद्धान्तानुसार औषधि व्यवस्था से विकृतियों को दूर करना तथा पथ्यमय आहार से विकृतियों की सम्भावनाओं को दूर करना ये दोनों साथ-साथ होने पर ही रोग पर विजय प्राप्त की जा सकती है। मधुमेह के रोगी दो प्रकार के माने गये हैं–आचार्य चरक के शब्दों में—

स्थूल प्रमेही बलवान्तिहेके कृशस्यैक परि दुर्बलश्च।
सबृंहणं तन्त्र कृशश्च कार्य संशोधनं दोष बलाधिकस्य॥
—चरक

अर्थात् मधुमेही रोगी दो प्रकार के होते हैं—

१. स्थूल व बलवान्। २. कृश व दुर्बल।

चिकित्सा सूत्र—

(१) स्थूल व बलवान के लिए—संशोधन व शमन चिकित्सा।

(२) कृशकाय व दुर्बल के लिए- संतर्पण एवं बृंहण चिकित्सा।

मधुमेह पर सफल प्रयोग—

१–वसन्तकुसुमाकर रस १ गोली (२ रत्ती), अमृता-सत्व ४ रत्ती, जामुन बीज चूर्ण, गुड़मार चूर्ण तथा अश्वत्थ (पीपल छाल) चूर्ण प्रत्येक ८-८ रत्ती १ मात्रा अनुपान हरिद्रा स्वरस से चाटकर ऊपर से दूध पीवे। १ सप्ताह में नियन्त्रण। ४० दिन पर्याप्त।

२–श्लेष्ठादि वटी (प्रमेह पिडिका पर अनुभूत योग)–त्रिफला ८० ग्राम, शुद्ध गन्धक ४० ग्राम कपूर, हल्दी, गुडमार, नीमछाल, गुग्गुल, आंवला, बंग भस्म २०-२०

ग्राम लेकर गुड़मार पत्र स्वरस, गूलर पत्र स्वरस (व छाल के क्वाथ की) की ७-७ भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियां बनावे। मात्रा ४ से ८ रत्ती दिन में २ बार गुड़ क्वाथ से देने पर मधुमेह तथा तज्जन्य प्रमेह की पिडिका नाशक सफल प्रयोग है।

३—चन्द्रप्रभावटी का प्रयोग करेले स्वरस के साथ। ४—शिलाजित्वादि वटी। ५—तथा मधुमेहारि योग एवं ६—जम्बुकाद्यरिष्ट लौहासव फलाशपुष्पासव तीनों को सम-भाग मिलाकर ४-४ चम्मच बराबर पानी से भोजनोत्तर सेवन मधुमेह नाशक एवं शक्तिवर्धक है।

पृष्ठ १५५ का शेषांश

होने की संभावना नहीं रहती। पुरुषों में नपुंसकता और स्त्रियों में वन्ध्यापन और दोनों में आमवात (गठिया) की उत्पत्ति का पूयमेह प्रबल कारण है। इसका उल्लेख आयुर्वेद विज्ञान में भी है—

आमवातादि रोगा धा ज्ञेयास्तेपास्तेपामुपदवाः।
— आयुर्वेद विज्ञान

सूचना—रोग पुराना होने पर मूत्र मार्ग कठोर और संकुचित हो जाता है। इस कारण मूत्र त्याग के समय कष्ट प्राय. बना ही रहता है। कभी मूत्रावरोध भी होजाता है। मूत्र मार्ग कठोर या सख्त होने के कारण शिश्न में कुछ टेढ़ापन भी हो जाता है।

पुनरावर्तन – पूयमेह पुनरावर्तनशील रोग है। यह एक बार चले जाने के बाद भी महीनों और वर्षों बाद तक भी फिरफिर कर आक्रमण करता रहता है।

वक्तव्य—गोनोकोकस नाम का जीवाणु गर्भस्राव और गर्भपात कराता है यह जानकर हमको सुश्रुत के एक लेख की याद आगई। उसमें लिखा है कि—

कृमि वाताभिघातैस्तुतदेवोपद्रुतं फलम्।
पतत्य कालोपि यथा तथास्माद्गर्भविच्युतिः॥
— सु० नि० ८।१०

जैसे कृमि (कीड़ा) वात आंधी अभिघात डंडा पत्थर आदि से बिना पका फल अकाल में गिर जाता है वैसे ही कृमि जीवाणु वात विकार अभिघात चोट आदि कारणों से अकाल में गर्भ भी गिर जाता है।

सूचना—ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी गर्भस्राव और और गर्भपात करने वाले जीवाणुओं का वर्णन देखिए 'लेखक का संक्रामक रोग-प्रथम भाग पृष्ठ ५८ से ६२ तक।'

पृष्ठ १५६ का शेषांश

२. स्ट्रेप्टोमाइसिन १ ग्राम प्रतिदिन दें।
३ मूत्र प्रसेक नलिका, योनि प्रदेश या शिश्नाग्र को पोटासियम परमैंगनेट के १: १००० विलयन से धोवें।
४. फिटकरी के पानी से धोवें।
५. साथ में मूत्र प्रवर्तक औषधि दें जैसेकि लैसिम्स आदि

पूयमेह में शीतगुण मूत्रल औषधियों के प्रयोग से जब मूत्र खुलकर अधिक मात्रा में आता है तब यह जीवाणु बाहर निकल मूत्र मार्ग का शोथ शांत हो जाता है।

आयुर्वेद चिकित्सा—

(१) गोखरू २ तोला, हजरुल्यहूद २ तोला, इलायची छोटी १ तोला, शीतलचीनी १ तोला, यवक्षार ६ माशा, शोरा कलमी ३ माशा सबको मिलाकर २ माशे की मात्रा में बराबर मिश्री के साथ दिन में ३-४ बार दूध की लस्सी के साथ देने से विशेष लाभ होता है।

(२) सतत्रिरोजा, शीतलचीनी, इलायची, श्वेत राल, बंशलोचन सबको २-२ तोला, प्रवाल भस्म १ तोला मिलाकर ३ माशे की मात्रा में बराबर मिश्री के साथ दूध की लस्सी से दिन मे २-३ बार २-३ सप्ताह तक दें।

पृष्ठ १७९ का शेषांश

उपस्थित लक्षण	चिकित्सा पूर्व काल आतुर सं.	चिकित्सा उपरांत आतुर सं.	प्रतिशत लाभ
५. मधुरास्यता	४	४	३०.७
६. आविल मूत्रता	६	३	२३.७
७. हस्तपाद दाह	४	४	३०.७
८. बुभुक्षाधिक्य	५	५	३८.५
९. स्वेदाधिक्य	२	२	१५.४
१०. चर्मरोग	१	१	७.७
११. नपुंसकता	५	४	३०.७
१२. संधिशूल	२	२	१५.४

उपरोक्त आधार से कहा जा सकता है कि मधुमेह में अभ्रक सत्व भस्म का प्रयोग प्रभावात्मक है। आतुरों को लाभ हुआ। यह एक परीक्षणात्मक अध्ययन था। यदि इसे सुचारु रूपेण विधिवत् किया जावे तो और भी सफलता मिल सकती है। अनुसंधानकर्त्ता इस पर ध्यान देकर प्रयत्न करे और अच्छे परिणाम प्राप्त करें तो आयुर्वेद की महान सेवा होगी।

वैद्य कवि० वेदप्रकाश गुप्त वैद्य वाचस्पति, आयुर्वेदाचार्य, बी० आई० एम० एस०

कुछ वर्ष पूर्व विज्ञान भवन में विश्व के सिद्ध हस्त चिकित्सक—वैज्ञानिक मधुमेह रोग की सफल शतप्रतिशत चिकित्सा की खोज करने के लिए इकट्ठे हुए थे। पांच दिन की गोष्ठी का परिणाम यह निकला कि इस रोग का कारण ही किसी को ज्ञात नहीं हुआ। वैज्ञानिकों के समक्ष प्रश्न था—

१—रोग का कारण क्या है ?

२—किस विधि से रोग रोका जा सकता है ?

३—मधुमेह के दीर्घकालीन उपद्रवों से किस प्रकार रोगी की रक्षा की जा सकती है ?

४—रोग होने पर क्या चिकित्सा सम्भव हो सकती है जिस से रोगी को स्वस्थ किया जा सके। पुनः रोग होने की सम्भावना न हो।

प्रोफेसर वासियोकोवा सोवियत वैज्ञानिक एवं चिकित्सक ने रूस में हो रहे मधुमेह अनुसंधान के कार्य का विश्लेषण करते हुए अपने शोध पत्र में लिखा था कि मधुमेह रोग की स्थाई चिकित्सा अभी तक नहीं मिली। खाने की औषधि क्लप्रोमईड (Chlopropamide) और इन्सुलीन (Insulin) इंजेकशन के अनेक योगों का परीक्षण किया। इन सभी औषधियों का प्रभाव मानव शरीर में १२ घण्टे से अधिक नहीं रहता। औषधियों के कुप्रभाव का अनुभव किया। इसके द्वारा मानव शरीर में औषधि की मात्रा अधिक होजाने पर मूर्च्छा-स्वेदाधिक्य-कम्पन-अधिक भूख-अधिक-तृषा-मानसिक चिन्ता-अस्थिरता शीतपित्त जी मिचलाना-शिरः शूल-वमन-आनाह त्वक कण्डु आदि लक्षण हो जाते हैं।

इसी प्रकार अन्य शोध पत्रों में कहा गया था विश्व-स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.) के प्रवक्ता डा० एच. आर. वेनरमैन ने कहा कि चायना (चीन) अफरीका सेंट्रल अमेरिका के वैज्ञानिकों ने दावा किया है कि उनके देश में मधुमेह को नियंत्रित करने की वनस्पतियां विद्यमान हैं। विश्व स्वास्थ्य उनके इस दावे का वैज्ञानिक परीक्षण करेगा तभी उसे सही समझेगा, स्वीकार करेगा। जितने भी शोध पत्र गोष्ठी में पढ़े गए सभी में यही शोध परिणाम था कि वर्तमान में जितनी भी एलोपैथी औषधियां बनी हैं वह सभी मानव शरीर में विकार पैदा करती हैं।

डा० प्रो. के. जी. ऐम. एलबर्दी ने अपने लेख में लिखा था कि ५० वर्ष पूर्व इन्सुलिन के आविष्कार होने से मधुमेह रोगियों की आयु में वृद्धि तो हुई परन्तु इसके भयङ्कर परिणामों से अभी तक मुक्ति नहीं मिल सकी।

उपद्रव–विकार–प्रभाव—

शर्करा के अभाव से—

(१) आंख—दृष्टिमन्द, अन्धापन

(२) वृक्क—वृक्क शोथ

(३) धमनियों-शिराओं के विकारों के कारण हृदरोग, टांगों और बाजुओं में शून्यता

मानसिक चिन्ताओं, दुर्बलता और हृदय स्पन्दन गति में दुर्बलता

शर्करा-अभाव से उत्पन्न उपद्रवों से बचने के लिए अनुसन्धान का परिणाम—

मधुमेह अनुसन्धान केन्द्रों में शर्करा के अभाव से उत्पन्न विकारों को रोकने के लिए परीक्षण किए, उन परीक्षणों के आधार पर कहा है कि शर्करा तथा अन्य पदार्थ जो शर्करा रहित है उनके प्रयोग से शारीरिक शक्ति

का ह्रास होता है। जिसके कारण रोगी का शारीरिक बल और मानसिक उत्साह दोनों का ह्रास होने से रोगी दैनिक कार्य करने में भी असमर्थ हो जाता है। इसलिए रोगी की शारीरिक शक्ति का रक्षण करने के लिए पाचन शक्ति की रक्षा करते हुए वनस्पतियों, फलों और खाद्य अन्न का सेवन करें। खाद्य अन्न तथा वनस्पतियों में किंचित मात्रा में शर्करा होती है जो वनस्पतियों में विद्यमान तत्वों के साथ मिश्रित होने से शरीर में शीघ्र ही सात्मीकरण हो जाता है। किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंच पाती। यदि वनस्पति से शर्करा निकाल कर प्रयोग की जाये तो उनसे पाचन शक्ति के विकृत होकर हानि पहुँचने की संभावना रहती है। चिकित्सकों ने रोगियों में ऐसी धारणा बिठायी है कि शर्करा वाले पदार्थों का सेवन न करें। गोली खाओ शर्करा पचाओ अन्यथा मृत्यु का डर खटखटाओ। जो आधुनिक चिकित्सक प्राकृतिक फलों में विद्यमान शर्करा को भी रोगी को हानिकारक समझते हैं उनके रोगी दुर्बलता, शिथिलता, मांसपेशियों की शक्ति का ह्रास, दृष्टि दुर्बलता, मुख का तेजहीन, रूप लावण्य क्षीण हो जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए मद्रास में डायबटीज रिसर्च सेंटर में अनेक परीक्षणों के पश्चात निश्चय किया कि मधुमेही रोगी के स्वास्थ्य के लिए निशास्ता ६०%, पनीर (High protien) २०% कम स्नेहयुक्त पदार्थ २०% देना आवश्यक है। सोवियत संघ और अमेरिका में गाय के घी के प्रयोग की छूट दे दी है, बल्कि सोवियत संघ ने घोड़ी के दूध, दही, मक्खन, घी के प्रयोग करने का रोगियों को परामर्श दिया है। आयुर्वेद के चरक और सुश्रुत ग्रन्थों में से आल इण्डिया इन्स्टीट्यूट आफ मैडीकल साईंसेज दिल्ली में मधुमेह अनुसन्धान केन्द्र ने सुश्रुत में वर्णित कारणों को वैज्ञानिक कारण ही बताया। उनकी सभी शङ्काओं का समाधान भी होता हुआ प्रतीत होता देखा।

रोग का कारण—

मधुमेह शब्द ही रहस्यमयी है। मधु का निर्माण जैसे मधु मक्खी पुष्पों के सार भाग मधुरता को लेती है अर्थात् पुष्प रस को लेकर मधु मक्खी मधु का निर्माण करती है उसी प्रकार से हमारे शरीर की धात्वग्नि धातुओं का निर्माण करते हुये सार भाग ओज बनाती है। ओज धातु मधु के समान होता है, यही आचार्यों का मत है। मधु में माधुर्य, कषाय रस और रूक्षता होती है जो वात प्रकोप का द्योतक है। मधुमेही रोग रूक्ष और कषाय लक्षण होने से उसे वातिक प्रमेह कहा जाता है। मधुरता ओज का लक्षण है। अतः ओज क्षय भी इसी कारण होता है। ओज क्षय के कारण स्फूर्ति और शक्ति क्षीण हो जाती है।

'चरक निदान—'ओजः पुनर्मधुर स्वभावं तद् रौक्ष्याद् वायुः कषायत्वेनाभि संसृज्य मूत्राशयाऽभिवहन मधुमेहं करोति' कफ मेद आदि के द्वारा आवरण वातप्रकोपक व्याधि है। अतः जो मानव मधुर रस, गुरु पदार्थ (तले हुये पदार्थ अधिक स्नेहयुक्त आहार) नवीन अन्नपान (नवीन अन्न श्लेष्मोत्पादक होते हैं), दिन में सोना (श्लेष्मोत्पादक), व्यायाम नहीं करना (शारीरिक परिश्रम बिलकुल नहीं करना), मल-मूत्र वेगों का रोकना आदि कारणों से कफ, पित्त, मांस मेद बढ़ जाते हैं। इन कारणों से पाचन शक्ति नष्ट हो जाती है। जब भोजन का पाक नहीं होता तब शरीर धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है और रसादि धातुओं का निर्माण नहीं होता।

सुश्रुत में इसका कारण—दिन में बिना निद्रा, आलस्य से लेटे रहना, ग्रीष्मकाल में अधिक मात्रा में शर्बत, आइसक्रीम, कोल्ड ड्रिंक के साथ दूध से बने हुये पदार्थ बर्फी, रबड़ी, कलाकन्द, रसगुल्ले आदि स्निग्ध और मधुर रस युक्त पदार्थों का निरन्तर सेवन करने वाले मानव को प्रमेह रोग हो जाता है जो कुछ काल के पश्चात इसी आहार-विहार के कारणों से मधुमेह हो जाता है। आयुर्वेद में मधुरता वाले मूत्रवर्ग में इक्षुमेह और मधुमेह हैं।

इक्षुमेह और मधुमेह में भेद—

इक्षुमेह	मधुमेह
मूत्र लक्षण	
मूत्र अधिक मधुर, स्निग्ध, इक्षुरस समान होता है।	मूत्र मधु के समान मधुर, कषाय रूक्ष पाण्डु या मधु वर्ण का होता है।
लक्षणों के अनुसार कफ दोषजन्य है।	लक्षणों के अनुसार वातज दोषजन्य है।

इक्षुमेह	मधुमेह
परीक्षण	
रसायनशाला परीक्षण में शर्करा मिलेगी।	रासायनिक परीक्षण फैलिंग सेल्युशन या अन्य कोई परीक्षण से शर्करा मिलेगी।
वाग्भट में मूत्रगत माधुर्य और रक्तगत माधुर्य होना आवश्यक।	
आयुर्वेदीय परीक्षण	
इक्षुमेह दीर्घकालीन नहीं है–पथ्य करने से दूर हो जाता है	मूत्रगत माधुर्य में चींटियां मूत्र स्थान पर आती हैं। रक्तगत माधुर्य में मक्खियां त्वचा पर बैठती हैं।

आयुर्वेद में मधुमेही रोगी दो प्रकार के हैं जिनकी चिकित्सा भी दो प्रकार की है। आधुनिक चिकित्सक दोनों प्रकार के रोगियों की चिकित्सा में कोई भेद नहीं करते—

भेद—मधुमेही रोगी १--स्थूल २–कृश

स्थूल रोगी के रोग का कारण स्नेहयुक्त मधुर आहार आदि। कृष रोग का कारण धातुक्षय।

रोग रोकने की विधि —

स्थूल काय रोगी—जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो उनको छोड़कर सुपाच्य क्षुधावर्धक आहार करने से पुनः रोग नहीं होता।

कृश काय धातुक्षयजन्य मधुमेही रोगी वातनाशक, ओजवर्द्धक, वलवर्द्धक आहार लेते रहने से उसे पुनः रोग नहीं होता।

मधुमेही रोगी के लिये आहार एवं खाद्य पदार्थ—

(१) साग-सब्जी—मेंथी, करेला, ककोड़ा, आंवला, जामुन, हरिद्रा. निम्ब, पटोल, सुपारी, विभीतक, विल्व, मंजीठ, यव, हरीतकी, पातगोभी, पालक, टमाटर, शलगम, सीताफल, टिण्डा, लौकी, कच्चा केला, मूली, तोरई, बथुआ, पेठा, गेहूं, दूध, गाय का घी।

(२) दालें—मूंग, मसूर, कुलथी, चने, मटर, अरहर

(३) फल—मुसम्मी, सन्तरा, जामुन, तरबूज, पपीता, ककड़ी, सेव अनार।

(४) खुश्क फल (मेवा)—काजू, अंजीर, अखरोट, वादाम।

चिकित्सा क्रम (स्थूल रोगी का)—

(१) कालाजीरा और काले तिल समान भाग लेकर चूर्ण बनालें। मात्रा १ छोटा चम्मच दूध से। काले तिल के अभाव में सफेद जीरा कम लाभ करता है परन्तु प्रयोग कर सकते हैं।

(२) विल्व पत्र ५ से ७ तक कालीमरिच के ३-४ दाने दोनों को चवाकर खालें।

(३) विबन्ध वाले रोगी रात्रि को त्रिफला चूर्ण गर्म जल से शीतकाल में ताजे जल से ग्रीष्म ऋतु में लें।

(४) रात्रि को विजयसार की लकड़ी को भिगो दें, प्रातः उसे निकाल कर दिन भर तृषा लगने पर उसे ही पीता रहे।

(५) प्रातः भ्रमण करे, निम्ब के ४-५ कोंपल पत्र चवाकर उसका रस लें।

(६) दुर्बलता प्रतीत होने पर स्थूल एवं कृश शरीर वाले चन्द्रप्रभावटी २ गोली प्रातः, २ गोली शाम सेवन करे। अनुपान—दूध।

कृश शरीर वाले रोगी—

(१) शिलाजीत ४ रत्ती--प्रातः दूध से, ४ रत्ती शाम दूध से।

यकृत विकार के कारण लोध्रासव ६ छोटे चम्मच बराबर का जल मिलाकर।

धातुक्षीण के कारण मधुमेही रोगी

प्रातः और सायं मधु से लेकर दूध पीवे।

वसन्त कुसुमाकर रस १ रत्ती [१२५ मिली० ग्राम]

मुक्ताशुक्ति भस्म ३ रत्ती-[३७५ मिली० ग्राम]

विहार—मानसिक शान्ति

आहार—रसदार फल

रात्रि च्यवनप्राश अवलेह १ बड़ा चम्मच लें।

सामान्य अवस्था में पुनः रोग से बचने के लिए—

आंवला भोजन के पश्चात् लें।

गुडूची, आंवला, बिल्व पत्र, निम्ब पत्र का स्वरस, क्वाथ या शाक सरसों के तेल में पकाकर सेवन करें। उदर विकार की अवस्था में आरोग्यवर्द्धिनी वटी रात्रि को २ गोली जल से लें या प्रातः १ चम्मच हरिद्रा चूर्ण दूध से सेवन करें।

स्वानुभूत स्वकल्पित प्रयोग—

शिलाजीतारि रस—त्रकीक भस्म १२५ ग्राम, वङ्ग भस्म हरतालमारित १२५ मि ग्राम, प्रवाल पिष्टी १२५ मि. ग्राम, स्वर्णमाक्षिक १२५ मि. ग्राम, अभ्रक भस्म (सहस्रपुटी) या डाबर का नागार्जुनाभ्र रस १२५ मि.ग्रा., शिलाजीत २५० मि. ग्राम - कुल मात्रा १ ग्राम के लगभग मधु से प्रातः सायं देने से स्थूल एवं कृश रोगियों को बल मिलता है। अग्निवर्द्धक यकृत के विकारों में भी लाभ करता है।

मधु पिडिकायें—महामंजिष्ठादि काढ़ा (प्रवाही) ५ छोटे चम्मच, बिल्वपत्र स्वरस ५ छोटे चम्मच में मिलाकर दिन में दो बार १ ग्राम शिलाजित्वादि रस से दें। रात्रि को २ गोली आरोग्यवर्द्धिनी वटी जल से दें।

शिवागुटिका (चक्रदत्त - रसायनधिकार)—२ गोली दो बार कारवेल्लक (करेला) रस से।

गुरिका मूत्र शर्करा, रक्त शर्करा को कम करता है, दुर्बलता को दूर कर ओज धातु बढ़ाता है, दीपन पाचन है।

अन्य अनुसन्धान केन्द्रों के परीक्षित प्रयोग—

जामनगर, अहमदाबाद, गुजरात—

सप्त रङ्गादि वटी—मात्रा—२-२ या ३-३ या ४-४ टिकिया रोगी के बल कोष्ठ और मूत्र शर्करा के अनुपात को ध्यान में रखकर दें। लाभ करता है।

रक्त शर्करा—मूत्र शर्करा, जीर्ण हो या नवीन

ओजवर्द्धक—यकृत, अग्न्याशय, रक्त और मांसपेशियों पर एक साथ प्रभाव करता है।

राज० आयु० चिकि० उदयपुर (राज०)—

मधुमेह कैपसूल—भोजन के पश्चात ५-५ ग्राम मैंथी चूर्ण के साथ प्रातः सायं। जीर्ण दुर्बल ओजक्षीण रोगियों को शिवागुटिका भी कैप्सूल के साथ देते हैं।

जामनगर केन्द्रीय अनुसन्धान केन्द्र—

(१) मामज्जक घन सत्व—मात्रा १ से चार गोली चार जल से। रोग के बल के अनुसार अर्थात रक्त में ४ प्रतिशत शर्करा होने पर ४ गोली तक देते हैं। प्रतिक्रिया—अतिसार आदि उपद्रव हो जाने की अवस्था में बन्द कर देते हैं।

(२) सप्तरङ्गी घन सत्व—मात्रा १ से ३ गोली २ बार जल से दें। यकृत पर विशेष प्रभाव-मूत्र एवं रक्त शर्करा दोनों कम करता है।

(३) कारवेल्लक चूर्ण—मात्रा १ ग्राम दो बार जल से खाली पेट रक्त मूत्र शर्करा कम करता है।

विशेष—कोलेस्ट्रौल की वृद्धि को सामान्य करता है, आमदोष का पाचन होता है।

(४) बीजक (विजयसार) बुरादा का क्वाथ, मात्रा २॥ तोला। रक्त शर्करा पर विशेष लाभ करता है। स्थूल रोगियों की स्थूलता भी कम होती है।

(५) गुड़मार बूटी—मात्रा ३ माशा दो बार जल से दें। मूत्रातिसार कम करके रक्त व मूत्र शर्करा को भी कम करता है।

(६) मेंथी चूर्ण ३ माशा ३ बार जल से—वातदोष मेदधातु को नियन्त्रित करके रक्त शर्करा को दूर करता है। बलवर्द्धक है। श्वेत प्रदर में योनि प्रक्षालन के लिए भी इसी क्वाथ का प्रयोग करते हैं।

(७) उदुम्बर चूर्ण—मात्रा ३ माशा ३ बार जल से वायुनाशक, पाचक, रक्तशोधक, रोपण है। रक्त शर्करा कम करता है।

(८) जामुन गुठली चूर्ण ३ माशा २ बार जल से। रूक्ष मूत्रग्राही, कफ पित्त दाह, रक्त शर्करा नाशक है।

(९) निम्ब—मात्रा ५ कोमल पत्ते—कृमि विषनाशक हैं।

(१०) राजस्थान में उत्पन्न घास के बीज—मूत्र और रक्त शर्करा को बिल्कुल दूर करता है।

नोट—यह घास ऊँट के उदर विकार में राजस्थान वाले प्रयोग करते हैं। इस घास के बीज का प्रयोग पूना (महाराष्ट्र) में अनुसन्धान केन्द्र द्वारा किया जा रहा है।

— कवि० वैद्य वेदप्रकाश गुप्त वैद्य वाचस्पति
आयुर्वेदाचार्य, बी.आई.एम.एस.
६ ई–कृष्णानगर, दिल्ली।

अभ्रक सत्व भस्म का मधुमेह पर प्रभावात्मक प्रयोग

वैद्य वाचस्पति डा० गणनाथ बी० द्विवेदी वैद्यरत्न, बी० फार्म., एम० डी० (आयुर्वेद)

प्रमेह मूत्र रोगों के अन्तर्गत आने वाली व्याधि है तथा मधुमेह वातज प्रमेह की व्याधियों में से एक है। मधुमेह वर्तमान युग की भयङ्कर व्याधि है और सुरसा राक्षसी के मुख की भांति बढ़ती ही जाती है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन उपलब्ध है। आचार्य चरक ने 'प्रायः मधित्व मेहति' करके इस व्याधि को स्पष्ट प्रगट किया है। मधुमेह पर आयुर्वेद में काफी लिखा जा चुका है। अतः उसको पुनः लिखना पिष्ट पेषण ही होगा। अतः इस व्याधि को सारांश में लिखना ही इस लेख में योग्य प्रतीत होगा। जिस व्याधि में आतुर प्रायः मधु के समान बारंबार मूत्र त्याग करता है उसे मधुमेह कहा जा सकता है। प्रायः सभी प्रमेह योग्य उपचार न करने पर मधुमेह में परिवर्तित हो जाते हैं।

आचार्य सुश्रुत इसे प्रथक व्याधि मानते हैं जिसमें मूत्र में, रक्त में शर्करा का अंश आने लगता है। स्वतन्त्र रोग मानते हुए आचार्य सुश्रुत ने इसकी प्रथक चिकित्सा लिखी है। वह उसे मातृज पितृज प्रदत्त रोग मानते हैं। इसकी चिकित्सा कृच्छ्रसाध्य है।

मधुमेह दो कारणों से उत्पन्न होता है। एक धातु क्षय के कारण वायु के प्रकोप से होता है। दूसरा शरीर के स्रोतों के अवरोध के कारण।

व्याधि में, मूत्र में, रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। चिकित्सा न करने पर शरीर की धमनी में दृढ़ता आ जाती है। हृदय रोग हो जाता है। आतुर को अतितृषा, अतिक्षुधा लगती है। आतुर बारंबार मूत्र का त्याग करता है। आहार के अधिकांश भाग से वृक्क शर्करा को छानकर बाहर निकाल देता है। मूत्र में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। कभी कभी रक्त में भी अधिक हो जाती है। अन्य लक्षणों में नेत्र ज्योति में कमी, संधियों में शूल, रक्तचाप में वृद्धि, कभी कभी अति तीव्रता होने पर मूर्च्छा, संन्यास तथा अन्त में मृत्यु भी संभावित होती हैं।

मधुमेह के लक्षणों के सारांश को लिखें तो (१) तृषाधिक्य, (२) अतिसार, (३) ज्वर, (४) दाह, (५) दौर्बल्य, (६) अग्निमांद्य, (७) उदावर्त, (८) कंप, (९) नपुंसकता (१०) पीडिका प्रमेह, (११) हृद्ग्रह, (१२) शूल, (१३) अनिद्रा, (१४) शरीर क्षय आदि होते हैं।

मधुमेह के उपद्रव—प्रमेह पिडिका, कारवंकल आदि सप्तभेद पिडिकायें, अन्धता, अङ्गवैकृति।

इस विश्व व्यापी महाव्याधि जो निरन्तर अपनी प्रगति पर है के वंशानुगत होने के कारण अकारण निर्दोष शिशु भी इससे ग्रसित होते हैं। इसके नाश के उपाय सर्वत्र हो रहे हैं। विश्व की अनेकों चिकित्सा पद्धतियां इसके रोकथाम हेतु प्रयत्नशील हैं। आयुर्वेद में भी इसकी चिकित्सा वर्णित है। अनेक स्थानों पर अनुसन्धान हो रहे हैं। आतुरों पर अनेक औषधियों का प्रयोग हो रहा है, आयुर्वेदीय औषधियों में रसौषधियों का प्रयोग भी इस व्याधि के नाशार्थ होता है। अनेक योग हैं।

मुझे अपने स्नातकोत्तर अध्ययन काल में अभ्रक सत्व भस्म का मधुमेह के रोगियों पर प्रयोग करने का सुअवसर मिला। मैंने स्वयं शास्त्रोक्त विधि से अभ्रक सत्व भस्म निर्माण कर मधुमेहियों पर प्रयोग किया जो प्रायः सफल रहा। अभी भी उसमे आगे अनुसन्धानात्मक प्रयोग आवश्यक है। मेरी प्रयोग विधि का वर्णन संक्षेप में अधोलिखित है।

अभ्रक सत्व भस्म का मधुमेह पर प्रयोग विवरण—

अभ्रक सत्व का विवरण लौहसिद्धि तथा देहसिद्धि हेतु अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। यथा रसार्णव, रसपद्धति, रस हृदयप्तंय, आयुर्वेद प्रकाश, ऋद्धि खण्ड, वादि खण्ड, रसेन्द्रपुराण, रस तरंगिणी, रसरत्न समुच्चय, रसेन्द्र चिन्तामणि, रस रत्नाकर, रसकामधेनु, इन ग्रन्थों में से अभ्रक सत्व पातन, सत्व शोधन, सत्व भस्मीकरण भस्म आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रयोगार्थ रसतरंगिणी में निर्दिष्ट विधि सरल होने के कारण उसीके अनुसार अभ्रक सत्वपातन, सत्वशोधन, विशेष शोधन, सत्वमारण, भस्म अमृतिकरण आदि किया।

अभ्रक सत्वपातन—

रसतरंगिणी तरंग १० के श्लोक ९१ के अनुसार—

पादांशं सौभाग्यरजः समेतंपिष्टं
मूसल्या स्वरसेन सार्द्रम् ।
कोष्ठया निधायाभ्रक मत्र गाढत्वा-
ध्मापितं भुञ्चरी सत्वमच्छम् ॥

इसके अनुसार कृष्णाभ्रक लेकर उसके भार से आधा श्वेत मूसली स्वरस तथा उससे आधा टंकण चूर्ण लिया गया। कृष्णाभ्रक का चूर्ण करके उसमें योग्य प्रमाण में टंकण मिलाकर लौह खरल में मर्दन किया गया। उसके बाद मूसली स्वरस में मर्दन करके उसकी चक्रिका बनाकर सुखाया गया। शुष्क होने पर मूषा में रखकर तीव्राग्नि में प्रतप्त कर अभ्रक सत्व गोल, सूच्याकार, अनियमित आकार में मूषा के तल भाग से प्राप्त किया। अवशिष्ट किट्ट में से चुम्बक द्वारा लौह अंश एकत्र कर पुनः मूषा में डाल तीव्राग्नि पर प्रतप्त कर संपूर्ण सत्व प्राप्त किया गया।

अभ्रक सत्व शोधन—आधार रसतरङ्गिणी १०/११३ के अनुसार

त्रिफला सलिल'''त्रिफला सलिलदेषु
निर्वापिणात् शुद्धिस्य। —र त. १०/११३

अभ्रक सत्व कठिन था अतः उसे मृदु करने हेतु तथा शरीरोपयोगी बनाने हेतु शोधन आवश्यक होता है। अतः शास्त्रोक्त विधि अनुसार अभ्रक सत्व को तीव्राग्नि पर प्रतप्त करके उसे त्रिफला क्वाथ में निर्वापित किया गया। यह क्रिया सात बार की गयी।

त्रिफला क्वाथ त्रिदोषघ्न है दीपन, पाचन है। मधुमेह की उत्पत्ति में विकृति उदर विकार भी कारण है तथा मधुमेह त्रिदोषघ्न व्याधि भी मानी गयी है। दूसरे दृष्टिकोण से विचार करें तो त्रिफला क्वाथ में लौह कणों का विघटन होता है। सत्व मृदु होने में सहायक होता है।

विशेष शोधन शुद्ध अभ्रक सत्व के विशेष शोधन [illegible]गन है जो रस तरङ्गिणी के अनुसार त. १० के [illegible]४–१०६ के अनुसार किया गया। प्रथम अभ्रक सत्व को तीव्राग्नि में प्रतप्त रक्तवर्ण के होने तक किया गया। उस प्रतप्त अभ्रक सत्व को कांजी में निर्वाणित किया गया। यह प्रक्रिया तब तक चालू रही जब तक अभ्रक सत्व में भृंगुत्व नहीं आता। ७०-८० बार में वह भृंगु होने लगता है। उसको लौह के दण्ड (इमाम दस्ते की मूसली) के द्वारा कूटा गया। इसी भांति अभ्रक सत्व को पुनः प्रतप्त करके शुद्ध गोघृत में भूना गया। यह प्रक्रिया ३ बार की गई। आंवले के स्वरस में ३ बार मर्दन किया गया। पुनर्नवा स्वरस की ३ भावना दी गयी। इसी भांति वासा स्वरस की ३ भावना दी गयी। अन्त में ३ भावना कांजी की दी गयी।

अभ्रकसत्व मारण—

विशोधितं व्योमसत्वं तदर्द्धं सूतगन्धकम् ।
निक्षिप्तं मर्द्दोत्सत्व, काचकूपी गतं ततः ॥
—र.त. १०/१०८

इस विधि के अनुसार शु० अभ्रक सत्व के अर्धांश कज्जली पारद+गन्धक समभाग लेकर उसके एक रूप होने तक मर्दन किया। एक रूप होने पर त्रिफला क्वाथ की भावना देकर शुष्क होने तक मर्दन किया गया। उसके बाद कूपीपक्व विधि अनुसार कूपी बनाकर उसमें रस विधिवत् पाक किया गया। ४८ घण्टे के पाक के बाद स्वांग शीत होने पर कूपी तोड़कर अभ्रक सत्व भस्म तलस्थ रूप में प्राप्त की गयी। उसका वर्ण कृष्ण था।

अपुनर्भव परीक्षा—तैयार अभ्रक सत्वभस्म की अपुनर्भव परीक्षा भी रस तरंगिणी व २/५९ के अनुसार की गयी। समित्र पंचकध्मातं·········तसीरितम् ।

एक मूसा में मित्रपंचक डाल कर उसमें योग्य मात्रा में सत्व भस्म डाल कर २०० डि.से उष्णतापमान पर दो घण्टे रखा गया। स्वांग शीतल होने पर भस्म के मान वर्ण, संगठन आदि में परिवर्तन नहीं हुआ अतः भस्म योग्य सिद्ध हुई।

अमृतीकरण—

भस्म को शरीरोपयोगी बनाने तथा सात्मीकरण हेतु प्रक्रिया भी रस तरङ्गिणी त. १०/७९ के अनुसार दी गई।

मृताभ्रसवितं ··· ··· ··· ··· योजयेत् ।

सत्व भस्म के समभाग गोघृत लेकर कढ़ाई में डाल कर नीचे अग्नि दी गयी। कछ काल में उस पात्र स्थित द्रव

अग्नि प्रज्वलित होगयी हो और स्वमेव शांत हो गयी तो पात्र स्थित भस्म को एकत्र कर उस पर विधान रखकर तीव्र अग्नि दो घण्टे दी गई। स्वांग शीत होने पर वस्त्रपूत कर सुरक्षित संग्रह किया गया।

– अभ्रक सत्व भस्म वंग वर्ण—कृष्णाभ रक्त, स्पर्श-स्निग्ध रस-मधुर, कपाय, गंध–लोह गन्धी था।

अभ्रक सत्व भस्म का प्रयोग मधुमेही पर निम्नांकित विधि अनुसार किया गया–रस शास्त्रीय ग्रंथों में सत्व को भस्म से १० गुना गुणकारी कहा है यथा व्योम्नो दशांगुणं सत्वं। (रसार्णव)। अभ्रक सत्व को रसराज सुन्दर में रोग नाशक सिद्ध भेषज कहा है। अभ्रक भस्म तथा अभ्रक सत्व भस्म का प्रयोग प्रमेह नाशक मधुमेह नाशक कहा है। अतः इसका प्रयोग मधुमेह के आतुरों पर किया गया।

इस हेतु १३ आतुरों का चयन किया गया जिन में १ बालक, २ युवक, ७ प्रौढ़, ३ वृद्ध। व्यवसाय के अनुसार श्रमिक २, व्यापारी २, अधिकारी वर्ग ३, शिक्षक १, लिपिक २, बालक १, अवकाश प्राप्त सैनिक १ था।

इन आतुरों में ११ उपद्रव रहित थे। दो आतुरों में मुख शोथ, संशोथ, अधितदौर्बल्य, मूत्र में शर्करा की अति मात्रा तथा एसीटोन की मात्रा भी उपस्थित थी।

प्रयोग से पूर्व आतुरों का लाक्षणिक विवरण

उपस्थित लक्षण	आतुर संख्या	प्रतिशत
१. बहुमूत्रता	१३	१००.०
२. दौर्बल्य	४	३०.८
३. पिपासाधिक्य	५	३८.५
४. मुखशोप	३	२३.६
५. मधुरास्यता	४	३०.८
६. आविल मूत्रता	७	४६.२
७. हस्तपाद दाह	४	३८.७
८. अति क्षुधा	५	३८.५
९. स्वेदाधिक्य	२	१५.४
१०. संधिशूल	२	१५.४
११. चर्मरोग	१	२०.०
१२. नपुंसकता	५	३८.५

आतुरों पर औषधि प्रयोग काल १५ दिन से ६२ दिन तक रहा।

प्रयोग मात्रा – आधी रत्ती प्रातः सायं एक मात्रा सामान्य रूपेण कुल आतुरों में वलावल व्याधिवल अनुसार २ रत्ती प्रतिदिन।

सहपान—शुद्ध गोघृत, चाय का एक चम्मच।

अनुपान—गिलोय स्वरस निम्व स्वरस आवश्यकतानुसार।

अपथ्य—उष्ण, तीक्ष्ण, गरिष्ठ भोजन, दिवास्वप्न। कफ वर्धक आहार, नमक आदि।

आतुरों का दैनिक पथ्यादि क्रम प्रातः जलपान शर्करा रहित दूध दलिया। मध्याह्न—रोटी, दाल सब्जी, सायं रात्रि–रोटी, दाल; सब्जी।

दाल में–मूंग, कुलथी, चना, पुराना (साठी), अन्न पुराना। चने जौ का सत्तू।

शाक में—करेला, चने के पत्ते साग, ताजे आंवले की चटनी।

फल में–पपीता, जामुन, खीरा ककड़ी, नींबूके साथ दें।

रात्रि में—विरेचन हेतु आवश्यकतानुसार त्रिफला चूर्ण नमक के स्थान पर सेंधव का प्रयोग किया गया।

प्रयोगोपरान्त लक्षणिक लाभ पाया गया। ४ आतुरों में मूत्रगत शर्करा औषधि सेवन के उपरांत सामान्य पायी गयी। कुछ आतुरों जिनमें रक्त शर्करा थी वह भी सामान्य पायी गयी। आतुर जो बालक था जिसे वंशानुगत व्याधि थी और वह पथ्यापथ्य से नहीं रह सका अतः उस पर कोई विशेष लाभ नहीं पाया गया।

प्रयोगोपरांत लक्षणिक लाभ सूची —

उपस्थितलक्षण	चिकित्सा पूर्व काल आतुर सं.	चिकित्सा उपरांत आतुर सं०	प्रतिशत लाभ
१. बहुमूत्रता	१३	१०	७६.९
२. दौर्बल्य	४	४	३०.७
३. पिपासाधिक्य	५	५	३८.५
४. मुख शोष	३	३	२३.७

—शेषांश पृष्ठ १६२ पर देखें।

मधुमेह की पूर्ण सफल चिकित्सा

कवि. बी. एस. प्रेमी एम. आई. एस. एस.

अग्निस्थायी पारद के अनुसन्धानकर्त्ता कविराज श्री बी० एस० प्रेमी रसशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान हैं। 'धन्वन्तरि-चिकित्सा विशेषांक' के २ भागों का आपने सफल सम्पादन किया है। आपकी प्राणवन्त लेखनी का चमत्कार प्रस्तुत विशेषांक में—'एलब्युमिनिमेहः लालामेह तथा मधुमेह लेखों के रूप में प्रस्तुत है।

—विशेष सम्पादक।

सर्व प्रथम मधुमेह से पीड़ित रोगी के मूत्र एवं मल की परीक्षा कर लेनी चाहिए, जिससे चीनी की मात्रा का सही ज्ञान हो सके। तदनन्तर रोगी के आहार-विहार पर रोग एवं दोष विरोधी व्यवस्था-पत्र देना चाहिए। आराम से बैठना, सोना, दही दूध सभी प्रकार के मांस नवीन अन्नों से बने हुए सभी प्रकार के खाद्य-पदार्थ तथा मुख्य रूप से गुड़, शक्कर, आदि सभी मधुर पदार्थ सर्वथा बन्द कर देने चाहिए। मैथुन भी त्याज्य है। सभी प्रकार के कफकारक, पदार्थ निश्चित रूप से बन्द कर देने चाहिए। रूक्षण एवं अपतर्पण विधान परमावश्यक है। मधुमेह की बढ़ी हुई स्थिति में रोगी का बलाबल देखकर कफ नाशक औषधि एवं द्रव्यों का प्रयोग किया जाना चाहिए। दोष, दूष्य एवं रोग की स्थिति को समझकर आवश्यकतानुसार स्नेहन, बृंहण और शमन चिकित्सा की जाती है। वसंतकुसुमाकर रस, शिलाजतु, वृहद वंगेश्वर, स्वर्ण माक्षिक भस्म, प्रवाल भस्म, वंग भस्म, यशद भस्म, नाग भस्म, त्रिफला चूर्ण, जामुन की गुठली का चूर्ण आदि। गिलोय, आमलक स्वरस, हरिद्रा चूर्ण, स्वरस आदि का प्रयोग किया जाता है। शिलाजतु को शालसारादिगण की औषधियों से पांच बार भावना देकर सेवन करना चाहिए।

शिलाजतु कल्प—मधुमेही को यदि शिलाजतु का कल्प विधान कराया जाए तो निस्सन्देह पूर्णरूपेण स्थायी रूप से मधुमेह ठीक होजाता है। ४ रत्ती शिलाजतु, १ रत्ती नाग भस्म मिलाकर फीके गौ-दुग्ध के साथ सेवन कराना आरंभ करें। प्रतिदिन ४-४ रत्ती शिलाजतु की मात्रा बढ़ाते चलें, एक मास तक ऐसा करें। तत्पश्चात महीने के अन्त में जो मात्रा होती है, वही अर्थात १५ माशा की मात्रा अब आगे प्रतिदिन देते चलें। ऐसा पूरे दस मास तक सेवन करावें। तत्पश्चात इसको घटाना प्रारम्भ करें। जिस प्रकार ४ रत्ती से बढ़ाना प्रारम्भ किया था ठीक उसी अनुपात से घटाना भी प्रारम्भ करें। जब घटाते-घटाते एक माशा पर पहुंच जावें, तो फिर यही मात्रा स्थिर निश्चित मान कर दस दिन तक लगातार देते रहें। अन्त में बिल्कुल बन्द कर दें। यह विधान मधुमेह का स्थायी रूप से विनाश कर देता है और रोगी दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। इस कल्प में नाग भस्म का प्रथम दिन जो मान है वही सदा रहता है, उसको बढ़ाया नहीं जाता। क्योंकि अधिक नाग भस्म का सेवन हानि करता है। इस अवधि में रोगी को पीने के लिए पानी जामुन की ताजीछाल कूट कर शीतल जल में डाल दें। बस इसी पानी को पीने के लिए देना चाहिए। इस अवधि में मधुर रस, गरिष्ठ खाद्य पदार्थ तथा स्रोतोरोधी पदार्थों का सेवन सर्वथा वर्जित है। धुवां, धूल, धूप क्रोध आदि से भी बचना चाहिए। यह कल्प योग्य-अनुभवी चिकित्सक की देखरेख में ही किया जाना चाहिए।

मधुमेह में उपयोगी योग आवश्यकतानुसार मधुमेह में विभिन्न प्रयोग लाभदायक रहते हैं। यथा—गुड़मार चूर्ण, हरिद्राचूर्ण. शिवागुटिका, स्वर्णमाक्षिक भस्म, आम्र चूर्ण तथा स्वरस, यशद भस्म, मेघनाद रस, वंगाष्टक चन्द्र प्रभावटी, अर्जुन क्वाथ न्यग्रोधादि चूर्ण, विजयसार का जल, वायविडंग आदि। मधुमेह की शास्त्रों में मुख्य औषधि वसन्तकुसुमाकर रस है।

मधुमेहान्तक रस—शिलाजतुसत्व ५ तोला, त्रिवंग-

भस्म २॥ तोला, लोहभस्म हजारपुटी २॥ तोला, स्वर्णभस्म ७ माशा, स्वर्णमाक्षिक भस्म ३ तोला, हल्दी ६ तोला, बहेड़ा गिरी ४ तोला, जामुन गुठली ५ तोला, गुडमार चूर्ण ५ तोला करेले का छिलका ताजा ५ तोला।

विधि—पहले काष्टिक द्रव्यों को घोट कर एक रूप करलें, फिर सभी भस्में डालकर खूब मर्दन करें। फिर ५० तोला ताजा करेला का स्वरस डालकर खूब घुटाई करें। गोली बनने योग्य होने पर ३० तोला आमलक स्वरस ताजा डालकर खूब रगड़ा करें। गोली बनने योग्य हो जाने पर हरिद्रा क्वाथ डालकर खूब घुटाई करें। अन्त में ४-४ रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा लें। प्रतिदिन प्रातः, सायं और रात्रि को सोते समय एक एक गोली करेला के पानी के साथ अथवा जामुन के रस या पानी के साथ, या आंवले के रस के साथ अथवा फीके गोदुग्ध के साथ सेवन करनी चाहिए। १२० दिन तक सेवन करने से स्थायी लाभ हो जाता है। पूर्णसफल है।

मधुमेह नाशक अन्य सफल प्रयोग—

(१) मधुमेहारि नं. १—शुद्ध पारद १ तो, शुद्ध गंधक १ तोला, लोहभस्म शतपुटी ६ माशा, अभ्रक भस्म शतपुटी ६ माशा, नाग भस्म ४ माशा सुवर्णभस्म ५ माशा, मोतीपिष्टी ९ माशा, हीरक भस्म ४ माशा। पूर्णयोग—४ तोला ६ माशा।

निर्माण-विधि—गंधक और पारद की अतिश्लक्ष्ण कज्जली तैयार करें। फिर अन्य द्रव्यों को उसमें डालकर १२ घंटे तक शनैः शनैः शुष्क ही रगड़ाई करें। फिर १८-तोला ताजा शतावरी का स्वरस डालकर भावना देवें। गोलियां बनाने योग्य होजाने पर दो दो रत्ती की गोलियां बना कर छाया में सुखालें। १-१ गोली प्रातः सायं, और रात्रि को फीके गोदुग्ध के साथ सेवन करे।

विशेष-निर्देश—इस रस के सेवन काल में खटाई, मधुर पदार्थ तथा मोटापा बढ़ाने वाले पदार्थ सर्वथा त्याज्य हैं। एक मास तक सेवन करने के पश्चात् आलू चावल तथा मधुर फलों का प्रयोग सप्ताह में केवल दो बार कर सकते हैं। तीन मास तक सेवन करने के बाद विशेष रूप से चीनी आदि अति मधुर पदार्थ को त्यागकर सब कुछ खा सकते हैं किन्तु सप्ताह में एक दिन का उपवास करना नितान्त आवश्यक है। कुल चार मास पर्यन्त सेवन करने से स्थाई लाभ होता है।

(२) मधुमेहारि नं. २—वङ्गभस्म, कांतलोहभस्म, १-१ तो., पारद भस्म ६माशा, मोती पिष्टी ६माशा, सुवर्ण भस्म ६ माशा, दालचीनी चूर्ण, छोटी इलायची चूर्ण, नागकेशर तीनों १-१ तोला। पूर्ण योग—७ तोला ६ माशा।

निर्माण-विधि—सभी द्रव्यों को खरल में डालकर एक घण्टा तक सूखा ही रगड़ें। फिर १५ तोला घी कुवाँर का गूदा डालकर बढ़िया घुटाई करें। गोली बनने योग्य हो जाने पर १-१ माशा की गोलियां बना लें तथा सुखा कर रख लें।

सेवन विधि—१-१ गोली प्रातः सायं ताजा पानी से खावें। भोजन में फीका दूध और चावल के अतिरिक्त सभी वर्जित हैं एक सौ बीस दिन पर्यंत सेवन करने से असाध्य से भी असाध्य मधुमेह समूल नष्ट होता है। इसके अतिरिक्त बहुमूत्र शुक्र-क्षय स्वप्नदोष तथा प्रमेह भी नष्ट होजाता है।

(३) मधुमेहान्तक रस—शुद्ध पारद २ तोला, शुद्ध गन्धक ४ तोला, शतपुटी लोहभस्म, शतपुटी अभ्रक भस्म, सुवर्णमाक्षिक भस्म प्रत्येक १-१ तो.। पूर्ण योग १० तो.।

निर्माण विधि—सर्वप्रथम पारद और गन्धक की उत्तम कज्जली बना लें, फिर अन्य द्रव्यों को भी मिला दें। भांगरा ताजा के बीस तोला स्वरस की पहली भावना देवें। दूसरी भावना बीस तोले हुलहुल के ताजे स्वरस की देवें। तीसरी भावना ताजा ब्राह्मी के स्वरस की देकर एक गोला बना लें और इसको धूप में सुखाकर सम्पुट में बन्द करके क्रमशः सात बार कपरौटी करें। प्रत्येक के सूख जाने पर अगली कपरौटी की जाये। अन्त में २ सेर उपलों की आंच में पका लेवें। पूर्ण शीतल होने पर निकालें और पीसकर शीशी में रख लें। मात्रा ३ रत्ती की है, प्रातः तथा सायं एवं रात्रि को सोते समय पानी से खावें। यह रस चार मास में पूर्ण एवं स्थायी लाभ करता है। किन्तु इसके सेवन काल में समस्त परहेजों के साथ साथ दिन का सोना और रात्रि को जागना तथा भ्रमण, नशे आदि सर्वथा वर्जित है, अन्यथा लाभ नहीं होगा।

(४) मधुमेह गजकेशरी—सुवर्ण भस्म ४ माशा, रजत भस्म ५ माशा, वङ्ग भस्म ६ माशा, नाग भस्म ७ माशा, पारद भस्म ८ माशा, हिंगुल भस्म ९ माशा। पूर्ण योग ३ तोले ३ माशा।

निर्माण विधि—सभी द्रव्यों को खरल में डालकर थोड़ी देर सूखा ही मर्दन करके १२ तोले ताजा आंवला रस में १ माशा हल्दी मिलाकर खरल में पड़े द्रव्यों के साथ मिश्रित कर खूब मर्दन करें। गोली बनाकर सुखाकर रख लें। गोली ३ रत्ती की होनी चाहिये। यह रस प्रातः सायं और रात्रि को १-१ गोली आंवले के ताजे रस २ तोला में १ चम्मच शहद मिलाकर उसके साथ सेवन करें। आंवले के रस के अभाव में आंवले का शीत कषाय लिया जा सकता है। उपद्रवों से युक्त पुराने मधुमेह पर यह रस अधिक सफल है। चार मास तक सेवन करने से स्थायी लाभ हो जाता है।

(५) मधुमेह रिपु स्वर्ण भस्म, रजत भस्म, अभ्रक भस्म, पारद भस्म प्रत्येक २-२ माशा, कान्तलोह भस्म, ताम्र भस्म, मोती पिष्टी, नाग भस्म, शंख भस्म प्रत्येक ४-४ माशा, वंग भस्म, शुद्ध गन्धक ६-६ माशे। पूर्ण योग ३ तोले ४ माशे।

निर्माण विधि—सभी द्रव्यों को खरल के हवाले करके १३ तोले चित्रक का ताजा स्वरस अथवा २६ तोले चित्रक का क्वाथ डालकर खूब दृढ़ मर्दन करें। अन्त में चार चार रत्ती की गोलियां बनालें। १-१ गोली प्रातः सायं फीके गोदुग्ध के साथ सेवन करने से चार मास में पैतृक मधुमेह स्थायी रूप से नष्ट होता है और इसके अतिरिक्त सभी प्रकार के उपद्रव युक्त मधुमेह, मधुमेह की पिडिकायें, बहुमूत्र, पाण्डु रोग, रक्त की कमी, क्षय, श्वास, कास, मोतियाबिन्दु, हाथ पैरों का दाह रोग तथा अन्य सभी प्रकार के प्रमेह शत प्रतिशत नष्ट हो जाते हैं, अचूक है। अति मैथुनजन्य अपुंसकता पर यह रस रामबाण है।

(६) मधुमेह संहारी—पारद, सुवर्ण एवं रजतभस्म, शतपुटी लौहभस्म, ताम्र भस्म रक्तवर्ण, नागभस्म रक्तवर्ण, वैक्रान्त भस्म, अभ्रक भस्म शतपुटी, शुद्ध मनःशिला, शुद्ध गन्धक प्रत्येक ३-३ ग्राम। पूर्ण योग—३० ग्राम।

निर्माण विधि—प्रथम सभी द्रव्यों को खरल में डाल कर एकरूप कर लें। फिर थोड़े अर्थात् २५ ग्राम त्रिफला क्वाथ की उत्तम भावना देकर १-१ ग्राम की गोलियां बनाकर छाया में सुखाकर शराव सम्पुट में बन्द करके ५ सेर उपलों की अग्नि देवें। स्वतः शीतल होने पर निकाल कर पुनः खरल में घोटें और फिर चन्दन का पानी दुगुना डालकर खूब घुटाई करके १-१ ग्राम की गोलियां बनाकर छाया में सुखाकर शराव सम्पुट में बन्द करके ५ सेर उपलों की अग्नि देवें। अन्त में पुनः खरल में घोटकर १५ ग्राम त्रिफला जल, १५ ग्राम खस का पानी, १५ ग्राम चन्दन का पानी मिलाकर घोटकर ३-३ रत्ती की गोलियां बनाकर सुखाकर रख लें।

सेवन विधि—१-१ गोली प्रातः सायं शुद्ध मधु के साथ मिलाकर खावें। उपद्रवों के साथ यदि रोग अधिक बढ़ा हुआ हो, तो १ गोली दोपहर बाद सेवन करें। शाम वाली गोली रात को सोते समय ही सेवन करें। चार मास पर्यन्त इस रस का सेवन करना श्रेयस्कर होता है। इक्षुमेह, उदकमेह, शुक्रमेह, क्षयजन्य प्रमेह, भयङ्कर श्वास रोग, शिरोदाह, शुक्र की कमी, स्वप्नदोष, शारीरिक दुर्बलता, बहुमूत्र, रात्रिमूत्र, अङ्गों में आई हुई अशक्तता, रक्त की कमी, पाचन शक्ति का अभाव, पुराना कब्ज, पुरानी खांसी, अम्ल पित्त, रक्त पित्त, आधाशीशी का दर्द, नया मोतिया बिन्दु, श्वेत प्रदर और दोनों ही प्रकार की बवासीर को निश्चय ही समूल नष्ट करता है। यदि मस्तिष्क का कार्य करने वाला व्यक्ति इसकी १ मात्रा चन्दन या खस के शर्बत के साथ लेवें, तो आठ घण्टे तक दिमाग में तरोताजगी और दिल में हर्ष बना रहता है। परन्तु ऐसे लोगों को बीड़ी, सिगरेट आदि नहीं पीनी चाहिए अन्यथा लाभ न होगा।

(६) पारद भस्म निर्माण विधि—शुद्ध पारद और शुद्ध नौसादर दोनों को घोटकर डमरू यन्त्र में उड़ायें। जब पारद का उड़ना ठहर जावे, उसको खरल में डालकर उससे दुगुना शीतल दूध डालकर घोटें। जब पारद चांदी की भांति चमकने लगे, तो निकाल कर धो ले और गोली बना लें। फिर उस गोली को आधा सेर शुद्ध सैन्धव लवण में दबाकर सम्पुट कर दें। यदि पारद १ तोला हो तो ५ सेर उपलों की आंच देवें। स्वांग शीतल होने पर गोली को निकाल कर पीसकर रख लें। अति श्वेत स्निग्ध यह भस्म होती है। यदि पारद १ तोला से अधिक हो तो नमक १ सेर लगेगा और उपले १० सेर लगेंगे।

—कवि० श्री वी० एस० प्रेमी एम.ए.एम एस.
ए २/८ तिब्बिया कालेज,
करोल बाग, नई दिल्ली-५

मधुमेह

डा शिवपूजन सिंह कुशवाह एम. ए., साहित्यालंकार, कानपुर ।

पर्याय—(संस्कृत) मधुमेह, क्षौद्रमेह, (आंग्ल) डायबीटीज मेलिट्स (Diabetes Mellitus) ।

सामान्य लक्षण—मूत्र का अधिक मात्रा में आना, मूत्र का गंदला आना ।

बहुमूत्रता (Polyuria)—सामान्यतः मनुष्य २४ घंटे में ५० औंस मूत्र त्यागता है जिसमें ३७ औंस दिन में और १३ औंस रात्रि में । यह औसत मात्रा है अतः इस प्राकृत मात्रा से मूत्र का अधिक त्याग बहुमूत्रता मानी जायेगी । यह अवस्था कई कारणों से हो सकती है । वात संस्थान की विकृति, घबड़ाहट, शीताधिक्य, अधिक जल का सेवन शर्बत चाय, काफी, मद्य आदि मूत्रल पेयों का सेवन तथा पोषण ग्रंथि का विकार (Diabetes Insipidus), मधुमेह, जीर्ण-वृक्क संन्यास, मूत्र शर्करा जैसे-इक्षुमेह शीतमेह आदि में भी मूत्राधिक्य हो जाता है ।

इस रोग में मूत्र का स्वाद मीठा होता है । इस रोग में मूत्र इतना मीठा होता है कि उसे कुत्ते चाटने लगते हैं । इस रोग में मूत्र पर चीटियां लगने लगती हैं ।

अन्य लक्षण—अधिक भूख, घोर तृष्णा, दांतों पर मैल जमना, रोगी का गला और तालु सदा सूखे रहते हैं । इसका कारण अधिक प्यास है, केश अधिक बढ़ना, विबन्ध रहना, हांपना, शिर में भारीपन, जीभ रूखी एवं लाल, शरीर पहले चिकना फिर रूक्ष रहना, निर्बलता बढ़ना, घृत आदि स्नेह से रोग बढ़ना ।

तीव्रावस्था में—मूर्च्छा, संन्यास, तन्द्रा, मृत्यु ।

उपद्रव—अतिसार, शोथ, नपुंसकता, वृक्कशोथ, राजयक्ष्मा, संन्यास, मृत्यु ।

कुछ डाक्टरों का विचार है कि यह रोग मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं को अधिक होता है क्योंकि हिन्दू लोग ज्यादातर स्टार्ची भोजन ही करते हैं । यहूदी लोगों को भी यह रोग अधिक होता है, क्योंकि धनी होने के कारण उनका भोजन भी सदोष होता है । यह रोग प्रायः अधेड़ उम्र के पश्चात् होता है । बचपन में बहुत कम होता है । भारतवर्ष में नवयुवकों को भी यह रोग बहुत कम होता है। परन्तु यूरोप आदि में अधिक लोगों को होता है । यह तीव्र मधुमेह होता । पुरुषों की अपेक्षा यह रोग स्त्रियों को कम होता है । परन्तु गर्भावस्था में स्त्रियों को प्रायः मधुमेह हो जाता है । मधुमेह के रोगी के सिर में दर्द होता है और शरीर में सुस्ती रहती है । किसी २ के शरीर में कभी यहां कभी वहां दर्द होता रहता है ।

मधुमेह का रोगी मधुमेह से नहीं मरता । ऐसे रोगियों की मृत्यु प्रायः प्रमेह-पीड़िका (कारबकल), क्षयरोग, दस्त की बीमारी के कारण होती है । मधुमेह में मोतियाबिंद प्रायः हो सकता है। इस रोग में कान की झिल्ली प्रायः सूख जाती है जिसके कारण बहरापन हो जाता है तथा दांतों में दर्द हुआ करता है ।

आयुर्वेदिक चिकित्सा

१. सर्वोत्तम औषधि शिलाजतु (शिलाजीत) है । कृष्णवर्ण, भारी, स्निग्ध, रेती आदि रहित गोमूत्र गंधवाला हो वह उत्तम है । इस शिलाजीत को शालसारादिगण से भावना देकर वमनादि से शरीर का शोधन करके प्रातःकाल पीवें । [सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थानम् अ० १३ श्लोक १० से १६ तक]

२. मधुसूदन वटी ३ ग्रा., शु. शिलाजीत २ ग्रा., यह १ मात्रा है । नीम छाल तथा गुड़मारबूटी का क्वाथ ८० ग्राम से मध्याह्न में लें ।

३. चन्द्रप्रभा वटी, हल्दी का चूर्ण, आंवले का रस व शहद से खाने से मूत्र में चीनी जाना बन्द हो जाती है ।

४. गुड़मार नामक बूटी ३ माशे की मात्रा में खाने से मूत्र में शक्कर जाना बन्द हो जाती है ।

५. न्यग्रोधादि चूर्ण मधुमेह की उत्तम औषधि है ।

६. वंग भस्म १ रत्ती, शिलाजीत ३ रत्ती, स्वर्णमाक्षिक

भस्म १ रत्ती, मोती की सीप की भस्म २ रत्ती, जामुन की गुठली का चूर्ण ३ माशे इन सबको शहद के साथ चाटने से लाभ होता है।

७. ६ माशे जामुन की गुठली का चूर्ण शहद के साथ चाटने से मूत्र में चीनी जाना बन्द हो जाता है।

८. हेमनाथ रस (सुवर्ण युक्त) (वैद्यनाथ, डावर आदि) बहुमूत्र में शीघ्र लाभ करता है।

९. मधुमेहारि (वैद्यनाथ) गुड़मार बूटी के साथ अन्य गुणकारी औषधियों तथा स्वर्ण भस्म मिलाकर करेला के स्वरस में तैयार किया जाता है। यथानाम तथा गुण औषधि है। मधुमेहारि २ ग्रेन+न्यग्रोधादि चूर्ण ८ग्रा. यह १ मात्रा है। विजयसार के क्वाथ के साथ सायं ५ बजे लें। (न्यग्रोधादि चूर्ण बनाने की विधि आगे पृष्ठ १७८ पर देखें)

इस चूर्ण की मात्रा ६ माशे की है। शहद के साथ चाटकर त्रिफला का क्वाथ पीवें। ३०-४० दिन सेवन करने से बीसों प्रकार के प्रमेह, प्रमेह पिड़िकायें नष्ट होती हैं।

१०. वसन्त कुसुमाकररस १ माशे सत गिलोय ३ माशे गुड़मार चूर्ण २ माशे, इनको मिलाकर ८ माशे कर लें। बिल्वपत्र स्वरस २तो. १ मात्रा मिला प्रातःसायं सेवन करें।

११. स्वर्ण भस्म १ तो., वंगभस्म ३ तो., चांदी भस्म २ तो., शीशा भस्म ३ तो., मूंगे की भस्म ४ तो., मोती भस्म ४ तो., अभ्रक भस्म ४ तो., कांतलोह भस्म ३ तो., अम्बर भस्म १ तो। सभी औषधियों को लेकर गोदुग्ध, गन्ने का रस, अडूसे का रस, लाक्षा रस, सुगन्धवाला का क्वाथ केले की जड़ का रस, श्वेत कमल के पुष्प का रस, मालती पुष्प स्वरस इन दसों औषधियों की ७-७ भावनायें कस्तूरी ३ माशा डालकर मिला और सुखाकर टिकिया बनालें। मधु व घृत के साथ १ रत्ती से २ रत्ती तक सेवन करें। यह बहुमूत्र व मधुमेह की रामवाण औषधि है।

१२. मकरध्वज १रत्ती तथा काली जामुन के बीज का चूर्ण १माशे शहद के साथ सेवन करने से मूत्र में चीनी जाना कम होता है। काले जामुन का फल इस योग में लाभप्रद है।

१३. तिल १ या २ तोले बराबर गुड़ मिलकर खाने से मूत्रमेह में लाभ होता है। तिलों में मूत्र कम करने की अद्भुत शक्ति है।

१४. छुहारे सूखे अच्छे लेकर उनके टुकड़े करके गुठली निकाल दें। ३-४ टुकड़े लेकर मुख में चूसने का अभ्यास रक्खें। दिन रात में ८-१० बार चूसते रहिए।

१५. हरी गिलोय का रस ४० ग्रा शहद ६ ग्रा. पाषाणभेद ६ ग्रा. तीनों को मिला पीने से मधुमेह दूर होता है।

१६. जामुन की गुठली, १२ ग्रा., अहिफेन १ ग्रा., दोनों को जल के साथ घोटकर ३२ गोलियां बनालें और छाया में सुखाकर शीशी में भर लें। १-२ गोली प्रातः सायं जल के साथ सेवन करें।

१७. गुड़मार शीतलचीनी (कबाबचीनी) असगंध और शंखाहुली प्रत्येक समभाग लेकर कूट पीसकर चूर्ण बनालें। प्रातः सायं ३-३ ग्रा. ताजे जल के साथ लें।

१८. गुड़मार १ तो., जामुन बीज १ तो., कालीमिर्च ३ माशे, चूर्ण कर ३ माशे जल के साथ सेवन करें।

१९. सेमर मूसली चूर्ण ६ माशे, मधु ६ माशे, चन्द्रप्रभावटी (भैषज्यरत्नावली) १ माशे प्रातः सायं लें।

२०. पांच बेल (बिल्व) के पत्तों को मुख में चबाकर ५ मिनट दिन में दो बार चूसें। गूलर की तरकारी खायें।

२१. बिदारीकन्द का चूर्ण २ ग्रा., शतावरी चूर्ण १ ग्रा., केला पका एक, इन्हें खाकर ऊपर से दूध पी लें। दो दिन में बहुमूत्र ठीक हो जायेगा।

२२. ताजा करेले का रस निकालकर ५ ग्रा. प्रतिदिन पीने से मधुमेह दूर होता है।

२३. रात को २५ ग्रा. चने दूध में भिगो दें। प्रातः उठकर चबा-चबाकर (देर लगाकर) खायें।

२४ कैथ के फल के गूदे को छाया में सुखा लो और कूटकर बारीक चूर्ण बना लो। इस चूर्ण को ६ माशे तक नित्य प्रातः सायं प्रयोग करें।

२५. मेंथी के दाने ५० ग्रा. लेकर रात्रि में चीनी मिट्टी के पात्र में पानी डालकर रख दें और प्रातः उस मेंथी को हाथ से मसलकर उसका पानी पीवें।

२६. बहुमूत्र में मेंथीके पत्तों का रस १पाव तक पीवें।

पेटेण्ट आयुर्वेदिक इन्जेक्शन—

१. शिलाजीत (बुन्देलखंड आयुर्वेदिक, झांसी, सिद्धि फार्मेसी, ललितपुर। जी. ए. मिश्रा, झांसी)-१ से २ एम० एल० मांसपेशी।

२. प्रमेह केशरी (जी० ए० मिश्रा, झांसी)—मांसपेशी में लगावें।

३. गुड़मार (प्रताप फार्मा, देहरादून)—२ मि० लि० दिन में एक या दो बार मासपेशी में लगावें।

मधुमेह के लिए होम्योपैथिक चिकित्सा—

सिजिवियम जम्बोलिन Q, २×—यह मधुमेह की सर्वोत्तम औषधि है। यह जामुन से बनती है।

अन्य औषधियां—क्रियोजूट ३०, ऐसिड एसेटिकम ३०, टेरिविन्थना ३, हेलोनियस Q, सिकेलि ३, सेफलेण्ड्रा इंडिका Q, आर्निका ३०, कैन्थरिस ३, एलफाल्फा Q, ऐसिडफास २×, ३, इग्नेशिया ३, लक्षणानुसार दें।

बायोकैमिक चिकित्सा—

कैलीम्यूर ३×, कल्केरिया फास ३×, फेरमफास ६×, नेट्रमसल्फ २००, नेट्रमफास लक्षणानुसार दें।

मधुमेह में प्रयोग होने वाली पेटेण्ट गोलियां—

१. टौलवुटामिण्डन (इण्डन) टेवलेट—४-८ टेबलेट प्रतिदिन और बाद में २ टिकिया प्रतिदिन।

२. टौलवुटामाइड (बोम्बे टेवलेट)—पहले ४ से ८ गोलियां प्रतिदिन दें, बाद में २-२ गोली दें।

३. टोलरिविजन (हिमालय)—२-२ गोली दिन में ३ बार दें।

४. रिविजन (हिमालय) २-२ गोली दिन में ३ बार।

५. इनवेनोल (होचस्ट)—पहले दिन ५-८, दूसरे दिन ३-४, तृतीय दिन २-३, चतुर्थ दिन तथा बाद में १ टिकिया प्रातः सायं भोजन के बाद थोड़े पानी या दुग्ध के साथ।

६. रेस्टिनान (होचस्ट)-२-२ टिकिया दिन में ३ बार

७. डायबिनस (ड्यूनेक्स फाइजर)—१०० मिग्रा. को ४-६ गोलियां २-३ दिन दें। जलपान के बाद १ गोली दें।

८. यूनिटोलबिड (यूनीकेम)—मुखमार्ग से व्यवहार करने के लिए ५ ग्रा. की टिकिया।

९. यूनी-माइक्लीन—बिना चीनी मधुमेह के रोगियों में मीठा स्वाद लाने के लिए (सैक्लेमेट सोडियम+सेक्रीन)।

१०. टौल्बुटामाइड (झंडु) १/२ ग्रा., टौल्बुटामाइड की गोली। मुख मार्ग से दें।

११. त्रिवंगशिला (झंडु)—मुखमार्ग से दें।

१२. डाइवेसुलीन (कलकत्ता कैमीकल)—प्रथम दिन ५ से ८ गोली, दूसरे दिन ३-४, तृतीय दिन २ और बाद में १/२ से १ गोली दें।

१३. सैक्लेसैक (कालकत्ता केमिकल)—विधिपत्रानुसार।

१४. अल्कामाइड (अलेम्बिक)—विधिपत्रानुसार दें।

१५. अल्कामाइड बी (अलेम्बिक) ,,

१६. डायोरिन (ओपिल फार्मा) विधिपत्रानुसार

१७. डायविटामाइड (स्टैम्पिड कं.)—विधिपत्रानुसार

१८. डी. डाइवेटिज (इंडियन ड्रग)—विधिपत्रानुसार दें

१९. एमुराल (अलेम्बिक)—मधुमेह में खाद्यपेय मीठा करने के लिए है।

२०. डायबिमाइड (इंडियन हेल्थ कलकत्ता)—३-४ टिकिया प्रतिदिन दें।

२१. डाइबिनोल (बंगाल केमिकल)—१० टिकिया प्रतिदिन सेवन करें।

२२. पान मिलिटस ग्लोब्यूल्स (कोण्टीनेण्टल)—प्रारम्भ में ४ दें, बाद में १-२ भोजन के बाद दें।

२३. आरट्रोसिन (नोल)—१ से २ गोली मूत्रगत शर्करा के अनुसार दें।

२४. नैडिसान (नोल)—१-२ गोली रोगानुसार दें।

२५. फिनोबिनोल (बंगाल कैमिकल)—१-२ गोली दें। हानिरहित टेवलेट हैं।

२६. डी. बी आई. (यू. एस. वी.—५० से १०० मि.-ग्रा. नित्य देते हैं।

२७. पैक्रिपैटिन (ऐंग्लोफ्रेन्च)—८-१२ गोली नित्य दें

२८. इम्प्रूमिल (थेराप्युटिक)—विधिपत्रानुसार दें।

२९. एग्नेवसा (डेज)-चीनी के स्थान पर २ टिकियां दें

मधुमेह में प्रयोग होने वाले एलोपैथिक-पेटेण्ट इंजेक्शन बूट्स कम्पनी—

१. इन्सुलीन (साधारण)—४० व ८० यूनिट प्रति सी.सी. की शक्तियों में यह ५ व १० सी.सी. की वायलों में मिलता है। इसका प्रभाव शीघ्र होता है।

२. इन्सुलीन, ग्लोबिनजिङ्क—यह ४० व ८० यूनिट प्रति सी. सी. की शक्तियों में और ५ सी.सी के वायलों में मिलता है। इसका प्रभाव धीरे २ होता है।

३. इन्सुलीन, प्रोटामिनज़िंक—४० यूनिट प्रति सी.सी की शक्ति में ५ व १० सी.सी. वायल में।

४. इन्सुलीन जिंक सस्पेंशन—४० यूनिट प्रति सी.सी. की शक्ति में यह १० शीशी के वायल में मिलता है।

५. आइसोफेन या एन. पी. एच. इन्सुलीन—४० यूनिट प्रति सी.सी की शक्ति में १० सी. सी. के वायल में मिलता है।

※

मधुमेह एवं शुक्र-दौर्बल्य पर अमोघ...

प्रमदेभांकुश रस

कवि. बृजबिहारीलाल मिश्र

यह लेख दो वर्ष पूर्व धन्वन्तरि के जरा व्याधि चिकित्सांक में प्रकाशित हुआ था। इसको पढ़ने के पश्चात अनेक पाठकों के पत्र हमें इस रस को बनाकर भेजने के आग्रह सहित प्राप्त हुए थे जिनसे प्रभावित एवं उत्साहित होकर हमने इसे बनाना प्रारम्भ किया। यद्यपि इसमें उल्लिखित सम्पूर्ण गुण तो इस रस में देखने में नहीं आये लेकिन आजकल के इस युग में यह सर्वाधिक गुणप्रद योग है। इसे प्रयोग करने के पश्चात् अनेकों प्रशंसापत्र भी हमें प्राप्त हुए हैं। इस योग की निर्माण विधि में अप्राप्य द्रव्य अवश्य छोड़ दिये गये यथा पारद में उपबुंध (चित्रक) के तेल की भावना लगाना, सम्पूर्ण योग में गोदुग्ध (शंकायुक्त होने के कारण) तथा गोधापदी एवं मुर्गी के अण्डा की भावना देना। इसके अतिरिक्त इस रस की सेवन विधि में गोली को कपूर मिलाकर सेवन करने का उल्लेख है। इसके स्थान पर अन्त में हमने सम्पूर्ण योग में ही कपूर मिला दिया जिससे प्रयोगकर्ता को कठिनाई न रहे तथा सुन्दरता की दृष्टि से गोलियों पर स्वर्ण वंग का आवरण चढ़ा दिया है। साथ ही स्वर्णवंग सभी प्रकार के धातु रोगों की सुप्रसिद्ध उत्तम औषधि भी है। इस परिवर्तन से इस रस की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

हमने यह अनुभव किया है कि यह प्रमदेभांकुश रस खुश्की अधिक करता है तथा उसका निवारण इसके सेवन काल में दुग्ध का अधिक प्रयोग करके किया जा सकता है। इस रस की सेवन विधि में लिखा है कि इसके सेवन काल में यदि प्रयोगकर्ता के पास यदि स्त्री न हो तो उसका वीर्य नेत्रों से निकलता है तथा उसे अन्धा बना देता है। यह वर्णन हमें अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। हो सकता है कि इसके सेवनकाल में प्रयोगकर्ता उत्तेजना अधिक होने पर उसे सहन न कर पाये और अगम्या से ही संभोग कर बैठे। यह भी तो समाज में प्रचलित उक्तियों के अनुसार एक प्रकार का अन्धापन ही है। तथा इसी कारण से इसका सेवन स्त्री के पास न होने पर वर्जित किया गया हो। मधुमेह रोगियों को इस रस के साथ न्यग्रोधादि चूर्ण का भी सेवन अवश्य कराना चाहिए जिससे उसे उपयुक्त लाभ मिल सके।

आशा है कि इस लेख से पाठक लाभान्वित होंगे इसी आशा के साथ धन्वन्तरि में इसे पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। जो सज्जन इस "प्रमदेभांकुश रस" को मंगाना चाहें वह 'निर्मल आयुर्वेद संस्थान, कृष्णा नगर, मथुरा-४" को आदेश पत्र भेजकर मंगा सकते हैं।

—सम्पादक-'धन्वन्तरि'

शुद्ध या हिंगुलोत्थ पारे को एक महीने तक धतूरे के तेल में फिर १० दिन तक उपबुंध (चित्रक) के तेल में इस प्रकार पाक करें कि २४ घण्टे में कुल ४ तोले ही तेल जले। इस पारद का आठवां भाग कंटकवेधी सोने के पत्र तथा पारद के समान मात्रा में शुद्ध गन्धक डालकर इतना घोटें कि अच्छी कज्जली बन जावे। इस कज्जली को सूखी ७ कपरौटी की हुई शीशी में रख वालुका यन्त्र में १२ प्रहर की आंच दें। इतनी अग्नि कि गन्धक उड़ जावे तथा शीशी की गर्दन पर सिन्दूर कल्प एकत्रित हो जावे। स्वांग शीतल होने पर निकाल लें।

इस सिन्दूर को तीन दिन तक पोस्त के छिलके के क्वाथ में मर्दन करें। फिर तीन दिन विजया के क्वाथ में, फिर एक दिन जायफल के तेल में मर्दन करें। फिर ताल मखाने के बीजों के क्वाथ में एक दिन मर्दन करके विदारीकन्द के रस में घोट गोला बनालें।

इस गोले को भूमि में दो अंगुल मिट्टी से दबा दें। इसके ऊपर दो अरने कण्डे रख आग दे दें जिससे उक्त गोले का मृदु स्वेदन हो जावे। जब सब ठण्डा हो जाय तब उस गोले को निकाल पोंछ कर इसमे दो भाग अभ्रक भस्म, वैक्रान्त भस्म, चमेली के फूल और लवंग डालकर घोटें। नाग भस्म ३ भाग रजत भस्म, कान्त लौह भस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म, शुद्ध वत्सनाभ, केशर, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र तथा वंग भस्म २-२ भाग, अफीम और स्वर्ण भस्म १/२-१/२ भाग डालकर मर्दन करें। फिर तीन घण्टे तक शंख पुष्पी के फूलों के स्वरस में घोटें। इस प्रकार मर्दित रस में ३-३ भावनायें विदारी कन्द, त्रिफला, वासा, पान, बला (खरैंटी), सेमर का मूसला, कौंच की जड़, गौदुग्ध, गोधापदी (गोह का पैर), केले की जड़, सोया, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, अजवायन, गोखरू, मुण्डी, यष्टी मधु (मुलेठी), हस्तिकर्ण पलाश (न मिलने पर साधारण पलाश) के स्वरस, लज्जालु एवं मुर्गी के अण्डा की ३-३ भावना दें। फिर उसका गोला बना लें। इस गोले को कपड़े में बांध कर दोलायन्त्र जिसमें खसखस या पोस्त के छिलके का काढ़ा भरा हो, लटकादें। दिन भर स्वेदन करें, फिर समुद्र सोख के तेल की दो भावनायें दें, फिर धतूरे के बीज के तेल की, विजया के बीजों और जायफल के तेल की २-२ भावना देकर गोला बना लें। इसे कपड़े में बांध भूधर यन्त्र मे रख पूर्ववत् २ कण्डों की आग देकर पकायें। स्वांग शीतल होने पर निकाल लें। इस गोले को अब खस, अगर और कस्तूरी के जल केवड़ा, हारसिंगार और कमल के फूलों के रस की १-१ भावना दें और घोट सुखाकर रख ले।

इस रस की दो वल्लकी (६ रत्ती) मात्रा है। इसे १॥ रत्ती कर्पूर, लौंग, मिश्री और मधु के साथ सेवन करें। ऊपर से दूध पियें। खट्टी चीजें न खावें।

यह प्रमदेभांकुश रस त्रिदोषनाशक है। यह स्त्रियों के गर्व को चूर कर देता है, वशीकरण करता और बहुत अधिक स्तम्भन करता है। यह पुरुषों के मेढ़ को बराबर उत्थित रखता है। वह शीघ्र गिरता नहीं तथा स्त्रियों को और समीप ला देता है। यदि किसी नवोढ़ा से एक बार सम्भोग हो जाये तो वह निश्चला आजन्म दासी हो हो जाती है। अनेक प्रकार से सम्भोग करने पर भी तेज और बल बिल्कुल नष्ट नहीं होता।

यदि इसका सेवन कर्त्ता स्त्री सम्भोग न करे तो उसका वीर्य नेत्रों से निकलता और उसे अन्धा कर देता है (पर अभी तक इसका दुष्प्रभाव किसी को दृष्टिगोचर नहीं हुआ)। इस रस को सेवन करने वाले व्यक्ति के अंगों में शिथिलता नही आती। कमर में टूटने जैसी पीड़ा नहीं होती एवं बुढ़ापे में कमर नही झुकती। उसकी कान्ति स्वर्ण जैसी आभा वाली हो जाती है। उसके १८ प्रकार के प्रमेहों का नाश हो जाता है। नष्ट वीर्य पुरुष भी इसके सेवन से स्त्री सम्भोग में समर्थ होता है। नपुंसक भी घोड़े के समान मैथुन कर्म में समर्थ हो जाता है।

यदि इस रस को कोई स्त्री ले तो वह कुमारी तुल्य शरीर वाली होती है, उसे एक जवान व्यक्ति भी पूर्ण तृप्ति देने मे समर्थ नही होता। इसके सेवन से महिलाओं के गर्भाशय के वात कफजन्य रोग दूर हो जाते हैं।

उपर्बुध चित्रक नहीं भल्लातक है—

उपर्बुध शब्द का अर्थ टीकाकार ने चित्रक किया है और पारद को दस दिन तक उक्त तेल मे पकाने का विधान किया है (दशाऽहानि तैले तथोपर्बुधस्य)। किन्तु चित्रक को अग्नि पर्यायवाची मात्र होने से उपर्बुध का अर्थ कर देना दो दृष्टियों से उचित नही प्रतीत होता। एक तो चित्रक में बीजाभाव होने से तेल ही नहीं निकलता। चित्रक मूल क्वाथ से यदि तैल बना भी लिया जाय तो चित्रक की वाजीकरण औषधियों में गणना नही है। संस्कारित पारद को पुनः चित्रक तैल से संस्कार की भी आवश्यकता नही। इसके विपरीत भल्लातक को जिसका एक नाम अग्निका भी है। उपर्बुध (अग्नि) का अर्थ माना जाय तो समस्या का समाधान हो जाता है, क्योंकि भल्लातक मे पर्याप्त तैल निकलता है तथा अत्यन्त शुक्रवर्धक रसायन है। वृन्द का कथन है—

तैलं भल्लातकानान्तु पिबेन्मासं यथाबलम्।
सर्वोपद्रवनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं दृढ़ः॥

अर्थात् कोई व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुरूप यदि भल्लातक तैल का एक मास सेवन करे तो वह सम्पूर्ण व्याधियों से मुक्त हो, दृढ़ एवं शतंजीवी होता है। वाजीकरणाधिकार मे शोढ्ल की उक्ति प्रसिद्ध ही है—

भल्लातकंश्च चतुर्भिश्च गोदुग्धस्याढकं श्रुतम्।
पीतं करोति वृषतां सुजीर्णस्यापि देहिनः॥

महर्षि चरक के मतानुसार भल्लातक कफज, शुक्रदोष को नष्ट करता है। शुक्रल होने से ही भल्लातक मेधा-पुष्यवर्द्धक भी कहा गया है। अतः पारद को चित्रक में नहीं भल्लातक तैल में पकाने से उसमें भल्लातक के गुणों का समावेश होता है।

गोधांघ्रि गोदुग्ध नहीं मूसली है—

इसी प्रकार गोधांघ्रि शब्द का अर्थ टीकाकार ने गोदुग्ध किस आधार पर किया है, यह कुछ समझ में नहीं आता है। वैसे संस्कृत में गोधा नाम गोह (एक नेवले की आकृति का जीव विशेष) का है और अंघ्रि का शाब्दिक अर्थ पैर है। इसी आधार पर कुछ वैद्यों का मत है कि इसमें गोह का पैर डालना चाहिए जो कि उपयुक्त नहीं है। वास्तव में गोधापदी (गोह के पैर की आकृति की) एक जड़ी विशेष होती है जिसे संस्कृत मे मूसली पर्याय से भी जाना जाता है। राजनिघण्टु ने मूसली के निम्न पर्यायवाची नामो का उल्लेख किया है—

मूसली तालमूली च सुवहा ताल पत्रिका।
गोधापदी हेमपुष्पी भूताली दीर्घकन्द्रिका॥

अतः संस्कृत मे गोधांघ्रि और गोधापदीं समानार्थक शब्द है। गोधापदी मूसली को कहते हैं जोकि अत्यन्त धातुवर्द्धक, वृष्य एवं रसायन मानी गई है। श्याम और श्वेत भेद से वह दो प्रकार की होती है। श्यामा मूसली को रसायनी कहा गया है। वृ० नि० रत्नाकर में उसके गुणों का निर्देश निम्न रूप से किया गया है—

मूसली मधुरा वृष्या धातुवृद्धिकरी गुरुः।
तिक्ता पुष्टिवलकरी पिच्छिलापा श्लेष्मला मता॥
रसायनी शीतला च पित्त दाहहरी मता।
कृष्णाधिक गुणा प्रोक्ता श्वेता चाल्पगुणा मता॥

इसके अनुसार श्यामा मूसली को रसायन एवं बाजीकरण प्रयोग में लेना चाहिए। यहाँ 'गोधांघ्रि' से तात्पर्य श्यामा मूसली से है, गोदुग्ध से नहीं।

लज्जालु एवं मुर्गी के अण्डे की भावना गलत है—

इस रस के मूल संस्कृत पाठ में लज्जालु एवं मुर्गी के अण्डे की भावना का वर्णन नहीं है किन्तु हिन्दी टीका में उपर्युक्त पदार्थों की भावना का निर्देश गलत है।

प्रमदेभांकुश रस और मधुमेह—

यह निर्विवाद सिद्ध है कि किसी प्रकार से वीर्यक्षय हो जाना ही सभी प्रकार के प्रमेहों का मूलभूत कारण है और उनका समय पर यथेष्ठ उपचार न करना उन्हें मधुमेह के रूप में परिणत करना है। अतः वीर्यवर्द्धक औषधियां चाहे वह काष्ठौषधि हों या रसादिक अवश्य लेनी चाहिये। आधुनिक मतानुसार इन्सूलिन की कमी होने पर यह रोग होता है अतः इन्सूलिन का सूचीवेध इसमें दिया जाता है जिससे रोग समूल नष्ट तो नहीं होता केवल किञ्चित काल के लिये दवा रहता है। हमारे आयुर्वेद में भी चरकाचार्य ने वीर्यक्षय होने पर नक्रमद मृगमदादि का सेवन कराने का विधान किया है। इससे चमत्कृत लाभ भी होता है। इसी दृष्टिकोण से रस चिकित्सकों ने शिव वीर्य पारद की भूरि भूरि प्रशंसा की है। सुसंस्कृत पारद के सेवन से मनुष्य रोगमुक्त हो सकता है, भोगी हो सकता है और इस असार-संसार से मुक्त भी हो सकता है।

मधुमेही के लिये प्रमदेभांकुश का अनुपान—यद्यपि यह रस वाजीकरण अधिकार का है तथापि न्यग्रोधादि चूर्ण के साथ इस रस का सेवन कराने से मूत्र शर्करा एवं रक्तगत शर्करा दोनों में यथेष्ठ लाभ होता देखा गया है। इस रस की शास्त्रीय मात्रा ६ रत्ती की लिखी है किन्तु मधुमेही को ३ रत्ती प्रातः, ३ रत्ती सायं, ३ ग्राम न्यग्रोधादि चूर्ण के साथ गोदुग्ध से सेवन करने से अच्छा लाभ होता है। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ क्लीव पुरुषों को शीतकाल में यह रस ६ रत्ती तक भी दिया गया है और आशातीत लाभ हुआ है।

न्यग्रोधादि चूर्ण के घटक—वड़, गूलर, पीपल की छाल, स्योनाक, अमलतास, विजयसार, आम, कैथ, जामुन, चिरौंजी, अर्जुन, धव, मेढ़ासिंगी, दन्ती, चीता, अरहर, करंज, त्रिफला, इन्द्रजव और शुद्ध भिलावा, ये सब समान भाग लेकर वस्त्रपूत चूर्ण बनावें। तीन तीन माशा प्रातः सायं लेकर ऊपर से त्रिफला का क्वाथ पीने से अकेले यह चूर्ण ही सभी प्रकार के प्रमेह, प्रमेह पिड़िका, मूत्रकृच्छ आदि रोग अच्छा कर मूत्र शुद्ध लाता है। प्रमदेभांकुश के मिल जाने से इसमें अचिन्त्य शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

—कवि० श्री ब्रजविहारी मिश्र वैद्य एम.ए. (द्वय) आयु.रत्न
मन्त्री-प्रादेशिक आयुर्वेद सम्मेलन, उ० प्र०
पो० बिन्दकी (फतेहपुर) उ.प्र.

मधुमेह पर अमोघास्त्र—

शिवागुटिकेति रसायन युक्त गिरिशेन गणपतये शिव-क्रदनविनिर्गता यात्माम्नाम्ना तस्मच्छिवा गुटिका ।

—चक्रदत्त रसायनाधिकार १६०

गणेशजी के मधुमेह रोग नाशार्थ शिवजी द्वारा आविष्कृत शिवागुटिका एक शिलाजीत प्रधान योग है जिसका हम विगत ६ वर्षों से मधुमेह रोगियों पर सफलतापूर्वक प्रयोग कर रहे हैं। निर्माण-विधि सहित प्रस्तुत है—

सन्दर्भ ग्रन्थ—चक्रदत्त रसायनाधिकार १६७-१७०

घटक—शुद्ध शिलाजीत (सूर्यतापी या अग्नितापी ६४० ग्राम ।

भावना द्रव्य—त्रिफला, दशमूल, गुडूची, वला, पटोलपञ्चाग, मधुयष्टि, गोमूत्र और गोदुग्ध—

क्वाथ द्रव्य—काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा विदारीकन्द, क्षीरविदारी, शतावरी, द्राक्षा, ऋद्धि-वृद्धि, ऋषभक, जटांमासी, मुण्डी, सफेद जीरा, स्याहजीरा, शालपर्णी, पृश्नपर्णी, रास्ना, पुष्करमूल, चित्रक, दन्ती, गजपिप्पली, इन्द्र जौ, चव्य, नागरमोथा कुटकी काकड़ासिगी पाठा २८ द्रव्य ४०-४० ग्राम २८×४०=कुल ११२० ग्राम ।

मिश्रणार्थ द्रव्य—सौंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, काकड़ासिंगी, आवला ५ द्रव्यों का चूर्ण ८०-८० ग्राम, विदारी कन्द ६० ग्रा०, तालीसपत्र चूर्ण १६० ग्रा०, मिश्री चूर्ण ६४० ग्रा०, घी १६० ग्रा०, शहद ३२० ग्रा०, तिलतैल ८० मि. लि., वंशलोचन, दालचीनी नागकेशर, तेजपात, छोटी इलायची प्रत्येक २०-२० ग्राम ।

निर्माण प्रक्रिया—शिवागुटिका का मूल उपादन सूर्यतापी शिलाजीत है अतः इसकी शुद्धता पर योग की गुणकारिता आधारित है अतः शिलाजीत का शोधन स्वयं को ही शास्त्रीय विधान से करना चाहिए। एतदर्थ यहां शिलाजीत शोधन विधि प्रस्तुत है—सूर्यतापी शिलाजीत ग्रीष्म ऋतु में सुविधाजनक निर्माणीय है अतः इस प्रयोग को ग्रीष्मऋतु में बनाने का विधान है पर आवश्यकतानुसार किसी भी ऋतु में सूर्यतापी व अग्नितापी शिलाजीत से बनाया जा सकता है। हमने दोनों ही प्रकार शोधन कर निर्माण किया है—

सूर्यतापी शिलाजीत—शिलाजीत के १ किलो पत्थर का जौकुट चूरा करावें। ५०० ग्राम त्रिफला को ४० लिटर पानी में क्वाथ बनावें तथा चतुर्थांश १० लि. पानी बच जाने पर क्वाथ को छानकर उसमें १ किलो शिलाजीत पत्थर का जौकुट चूरा मिलाकर २४ घंटे तक भिगो दें। फिर चूल्हे पर चढ़ा कर २-३ उफान आने तक उबालें तथा अच्छी तरह घोलकर चूल्हे से नीचे उतार कर रखलें। शीतल होने पर जल नितर जाय तव ऊपर से साफ नितरे हुए शिलाजीत जल को छान लें तथा कड़ाही या कलईदार टोपिया में डालकर ऊपर से पतले वस्त्र से बांधकर रोज सूर्य की तेज धूप में रखें तथा दूसरे दिन सुबह दूध की तरह ऊपर आये हुए शिलाजीत को कलछी से अलग कर अलग वर्तन में सुखा लें। इस तरह जब तक शिलाजीत की मलाई आवें उसे उतारते रहें और सुखाते रहें। यही सूर्यतापी शिलाजीत है।

अग्नितापी शिलाजीत— शीतकाल व वर्षाऋतु में सूर्य तापी शिलाजीत सूर्य की तेज धूप के अभाव में बनाना कठिन रहता है अतः अग्नितापी विधि से शुद्ध करना चाहिए। शिलाजीत पत्थर के १ किलो चूरे को त्रिफला के (५०० ग्राम त्रिफला को ४० लिटर पानी में क्वाथ बना कर १० लिटर पानी बचाकर क्वाथ छानकर) क्वाथ में मिलाकर २४ घण्टे भिगो कर फिर २-३ उफान दिलाकर उपरोक्त विधि से नितार कर इस नितरे हुए शिलाजीत जल को कढ़ाही में औटाने से रबड़ी जैसा गाढ़ा हो जाय तब कड़ाही को चूल्हे से नीचे उतार ले तथा ठण्डा होने दें। इस प्रकार १ किलो शिलाजीत पत्थर में ७०० ग्राम शुद्ध शिलाजीत बनता है।

निर्माण—शुद्ध शिलाजीत ६४० ग्राम।

भावना—उपरोक्त भावना द्रव्यों की ३-३ भावना देनी चाहिए। भावना द्रव्यों में जिनका स्वरस मिले उनका स्वरस ही लेना चाहिए। अन्यथा भावना द्रव्य को ६४० ग्राम लेकर चतुर्गुण जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर, क्वाथ को छानकर ३-३ बार ३-३ दिन त्रिफला, दशमूल, गुरुची, वला, पटोल पंचाङ्ग, मधुयष्टी, गोमूत्र की भावना देकर फिर गो दुग्ध की १ भावना १ दिन दें।

क्वाथ द्रव्य भावना—उपरोक्त क्वाथ द्रव्य २८ हैं जिनकी मात्रा ४०-४० ग्राम है तथा उनसे ७ दिन ७ भावनाएं दी जाती हैं अतः २८×४ =१११२० ÷ ७=१६० ग्राम अर्थात क्वाथ द्रव्यों को जौकुट कर मिलाकर उसके १६० ग्राम में १४० मि.लि. पानी में क्वाथ पकाकर १६० मिलि क्वाथ शेष रखकर छानकर उसकी १ भावना १ दिन दें। इस प्रकार ७ भावना ७ दिन तक दें।

मिश्रणार्थ द्रव्य—मिश्रणार्थ द्रव्यों को उनके वजन के अनुसार मिलाकर खरल में भली भांति घुटाई करें तथा गोली बनाने योग्य होने पर १-१ माशा की गोलियां बना कर सुखा लें। फिर कांच भांड में चमेली के फूल विछाकर उस पर गोलियों की परत (बीच-बीच में चमेली के फूल रखकर) लगाकर शीशी में सुरक्षित रखें। शिलाजीत पूर्णतः नहीं सूखता अतः ये गोलियां कुछ गीली सी चिपकी हुई रहती हैं पर इनमें इतनी चिकनाहट होती है कि आसानी से अलग अलग हो जाती हैं।

उपयोग—मधुमेह में आधा-आधा ग्राम की २-२ गोलियां प्रातः सायं करेले के स्वरस व दूध अनुपान से दें। १ सप्ताह में मूत्र शर्करा तथा रक्त शर्करा का नियन्त्रण हो जाता है तथा ७ सप्ताह तक इस का प्रयोग करना पर्याप्त है। आवश्यकतानुसार अधिक दिन भी दे सकते हैं।

मधुमेहज नपुंसकता में—शिवागुटिका को स्वर्णवंग में रगड़ने से स्वर्ण वंग स्वर्णगोल्ड जैसी सुनहरी हो जाती है। २-२ गोलियां सुवह शाम दूध से लेना नपुंसकता नाशक है।

मधुमेह और शिलाजीत—मधुमेह की शिलाजीत चमत्कारी महौषधि मानी जाती है। आचार्य वाग्भट्ट के शब्दों में—

मधुमेहत्वमापन्नो भिषग्भिः परिवर्जितः।
शिलाजतु तुलामन्यात् प्रमेहति पुनर्नवः॥

अर्थात् वैद्यों द्वारा परित्याग असाध्य समझा हुआ मधुमेह रोगी भी यदि उचित मात्रा में नियमानुसार एक तुला (४०० तोला) शिलाजीत का सेवन कर ले तो वह निश्चय ही मधुमेह रोग से मुक्त होकर नवजीवन प्राप्त कर सकता है और यह कथन शिवागुटिका के प्रयोग से अक्षरशः सत्य सिद्ध है। यह शिलाजीत प्रधान योग है जिसमें दीपन पाचन वृंहण द्रव्यों का मिश्रण है जो मधुमेह, अति स्थूलता तथा नपुंसकता के लिए सर्वोत्तम उपादान हैं। योग की प्रशंसा में तो इसे सर्व रोग नाशक परम अद्भुत रसायन, वल कारक, वृष्य, कान्तिकर, यशकर, सन्तानकर, मेधा, स्मृति वर्द्धक मुनिगण द्वारा भक्षणीय वताया है तथा शिलाजीत के साथ जिन जीवनीयगणों से निर्मित हुआ है मधुमेही में इन्सुलिन (Insulin) की पूर्ति करते हुए स्थूलता का शोषण करते हुए वृंहण, पौरुष प्रदाता योग है। सुकुमार व्यक्तियों और कामी पुरुषों के लिए भी समान रूप में हितकारी निरापद योग है।

हम विगत ६ वर्षों से मधुमेह रोगियों पर सफलता पूर्वक प्रयोग कर रहे हैं तथा चिकित्सकों द्वारा परित्यक्त तथा जीवन से निराश रोगी भी जीवनदान प्राप्त कर रहे हैं।

विशेष—शरीर का हल्का शोधन व त्रिफला चूर्ण से सामान्य विरेचन लेकर ही इसका प्रयोग शुरू करना चाहिए। रसायन गुण लाभार्थ दीर्घकाल तक प्रयोग करना चाहिए।

निषेध—कुलथी का प्रयोग विल्कुल न करें क्योंकि कुलथी अश्मभेदक होने के कारण शिलाजीत सेवियों के लिये हानिकर है। विदाही, गुरु भोजन, तेज धूप अतिव्यायाम, मन उद्विग्न होना आदि से वचना चाहिए। ★

वसन्तकुसुमाकर रस

वैद्य श्री जगदम्बा प्रसाद श्रीवास्तव, अरौल (कानपुर) उ० प्र० ।

घटक	वैद्य सहचर	र.सा.सं.	र.र.स.
१. स्वर्ण भस्म	१ तो.	२ तो.	२ तो.
२. रजत भस्म	२ तो.	२ तो.	×
३. वङ्ग भस्म	३ तो.	३ तो.	३ तो.
४. शीशा भस्म	३ तो.	३ तो.	×
५. कान्तलौह भस्म	३ तो.	३ तो.	३ तो.
६. अभ्रक भस्म	४ तो.	४ तो.	२ तो.
७. प्रवाल पिष्टी	४ तो.	४ तो.	४ तो.
८. मुक्तापिष्टी	४ तो.	४ तो.	४ तो.
९. अम्बर	१ तो.	×	×
१०. कस्तूरी	३ मा.	३ मा.	३ मा.
११. रससिंदूर	×	×	×

भावना द्रव्य और उनकी ७-७ भावना—१. गोदुग्ध, २. गन्ने का रस, ३ अडूसे का रस, ४. लाक्षारस, ५. सुगन्धवाला का क्वाथ, ६. केले के जड़ की रस, ७. श्वेत कमल पुष्प रस, ८ मालती पुष्प रस, ९. श्वेत चन्दन क्वाथ, १०. हरिद्रा स्वरस। —वैद्य सहचर

१-८ पूर्वोक्त, ९-केले के फूल का रस, १०-कस्तूरी की भावना-र.सा.सं.।

१-३, ५-७ पूर्वोक्त, ३-हरिद्रा स्वरस, ८-छोटे खस, १०-बड़े उशीर, ११-कस्तूरी—र.र.स।

विवेचन—र. सा. सं. में 'चन्द्र' शब्द है जिससे आनन्दी टीकाकार रजत ग्रहण करते 'रजत हेमनी द्वय' यो. र. 'अहि' से नाग भस्म और कान्तक से कान्त लौह भस्म, उदीच्य से बाला या नेत्रबाला का क्वाथ, मालती से जाती (यो र—जातिः श्वेतः सुगन्धि पुष्पा प्रायः श्रावण मासतः पुष्पति)। शा.सं. में रजत, नाग और अम्बर नहीं है। र. र. स में अम्बर, नाग और रजत नहीं है। हीरक युक्त योग में हीरक के कारण निर्माण कठिन एवं बहुमूल्य है। स्वर्ण की मात्रा वै. सं. के अतिरिक्त सभी में दूनी है इस तरह सभी का मूल्य बढ़ जाता है किसी में केसर जल की भी भावना है। केसर कामोत्तेजक है जिसकी आवश्यकता मधुमेह में प्रतीत नहीं होती। मधुमेही के हृदयावसाद में आवश्यकता पड़ सकती है और तब हीरक और कस्तूरी जल की भावना भी उचित है। वैद्य सहचर में स्वर्ण की मात्रा आधी है। रजत, नाग और अम्बर भी है इसलिए अन्यों के अनुपात में मूल्य कम हो गया है। कस्तूरी भी ३ माशे की मात्रा खोल दी गई है अन्यों में मात्रा का उल्लेख नहीं। अतः अनेक प्रकार से विचार करने पर हम वै.स. के प्रयोग क अनुमोदन करते हैं। यह लेखक का अनेक बार का अनुभूत है। वै. स. ७७ अप्रैल के संस्करण में भावना के ८ ही द्रव्य लिखे हैं। २ द्रव्य आचार्य जी से पूछे जा सकते हैं। आचार्य जी ने मूंगा भस्म और मोती भस्म लिखा है हम दोनों की पिष्टी मिलाते हैं। यह भी उनसे पूछा जा सकता है। वै.स. का वसन्त कुसुमाकर का प्रयोग शंका रहित, निर्माण में सरल और अनुभूत भी है। गुण वर्धन के लिये बेलपत्र स्वरस, करेला स्वरस, गुड़मार स्वरस, पलास स्वरस, सप्तरंगी स्वरस में से कुछ की या किसी एक की भावना बढ़ाई जा सकती है। यह प्रयोग रोग निवारण करता है तब अन्य प्रयोग पर विचार कर ही निर्माण करें। आगे हम आचार्य जी के शब्दों में कुछ पंक्तियां दे रहे हैं—

रोगानुसार अनुपान योजना

१. प्रमेह—हल्दी स्वरस ६ माशे + छाल सेमल मूल चूर्ण १ माशा, मधु ३ माशे।

२. अम्लपित्त—स्वर्ण माक्षिक भस्म २ रत्ती, निम्बु स्वरस ६० बूंद + मिश्री २ माशे।

३ अम्लपित्त—चन्दन का धासा १ मा. २ मा मिश्री।

४. अम्लपित्त—वासा स्वरस २ माशे + मधु २ माशे + मिश्री २ माशे।

५. रक्तपित्त—अम्लपित्त के समान।

६. अशक्ति, अपुष्टि—चातुर्जात चूर्ण २ माशे + मधु २ माशे, दूध २५० ग्राम।

७. छर्दि-वुद्धिभ्रंश—शंखपुष्पी स्वरस १ तोले, मधु २ माशे।

८. व्यवाय, शोष, शुक्रहानि—घृत ३ माशा, मधु २ माशा, मिश्री २ माशा।

९. बहुमूत्र-मधुमेह—गूलर फल स्वरस १ तोले, या जम्बू बीज चूर्ण २ माशा या गुड़मार चूर्ण ३ माशा।

१०. वाजीकरणार्थ—केशर चूर्ण २ रत्ती + त्रिवंग भस्म २ रत्ती + मधु २ माशा, दूध २५० ग्राम।

११. श्वास—सोमकल्प ३ रत्ती + मधु १ माशा।

१२. क्षय—स्वर्ण वसन्त मालती १/२ रत्ती + रुदंती फल चूर्ण २ रत्ती + गुग्गुल शुद्ध २ रत्ती + मधु २ माशे।

१३. (अ) प्रमेह—ताल मखाना चूर्ण १ माशा, जायफल चूर्ण २ रत्ती + मिश्री २ माशा।

(ब) प्रमेह—हल्दी चूर्ण २ रत्ती + आंवला चूर्ण ४ रत्ती

१४ मधुमेह आदि—मधु कवच + वसन्त कुसुमाकर रस १ रत्ती, गिलोय सत्त्व २ रत्ती, गुड़मार चूर्ण २ रत्ती, करेला बीज चूर्ण २ रत्ती। सबको खरल कर १ कवच में, ऐसे १ कवच प्रातः तथा १ सायं दें।

१५. प्रदर-नारी मधुमेह—इसके अनुयोग के रूप में चरक बम्बई का फीमेलसैक्स दें या ल्यूकोल कैपसूल (निर्मल आयु०संस्थान) का दें। स्थानीय प्रक्षालन भी करें, पिचु भी धारण करें।

वसन्त कुसुमाकर रस की २-३ मात्रायें गुड़मार के अनुपान से दी गई। केवल ७ रोगियों पर प्रयोग किया गया। ये रोगी ५-६-७ वर्षों से इन्स्यूलिन लेते थे, न लेने पर मूर्च्छा हो जाती थी। इन रोगियों पर प्रयोग करने से लाभ हुआ, इन्सलिन यू लेना बन्द हो गया। धीरे धीरे रोगी अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ गये।

योग मिश्रण—१. वसन्त कुसुमाकर १ माशा, २ गिलोयसत्व ३ माशा, ३. गुड़मार चूर्ण २ माशा, मिश्रित मात्रायें आठ। अनुपान—विल्वपत्र स्वरस २ तोले, आम के कोमल लाल पत्तों का स्वरस २ तोले मिलाकर सेवन करना चाहिए। समय—प्रातः सायं।

लाभ—इससे भयङ्कर से भयङ्कर मधुमेह जिसमें इन्स्यूलिन इत्यादि के इन्जेक्शन से लाभ नहीं होता। वहां पर उक्त मिश्रण मूत्र की मात्रा को कम कर शर्करा का आना रोक देता है तथा शक्ति बढ़ाकर रोगी को स्वस्थ कर देता है।

मधुमेही के प्रधान प्रधान लक्षण—

प्रथम—१. मूत्र में शर्करा की प्राप्ति १-२ प्रतिशत।
२. मूत्र राशि में वृद्धि।
३. मूत्र का आविलत्व।
४. अल्प प्यास।
५. दुर्बलता।

द्वितीय—१. मूत्राधिक्य। २. तृषा।
३. मूत्र में शर्करा १-४%
४. दुर्बलता। ५. कण्डू।
६. सर्वाङ्ग-मर्द, सन्धि वेदना।
७. भोजन-आकांक्षा तीव्र।

तृतीय—१. शर्करा ४-८% २. तृषा।
३. क्षुधा। ४. मांस दौर्बल्य।
५. कान्तिहीनता, दृष्टिहीनता।
६. सन्धि, जानु कटि-वेदना। ७. मूर्च्छा।

मधुमेह की योगासनों द्वारा चिकित्सा

योगाचार्य विष्णुकुमार आर्य

राजवैद्य कविराज पंडित हरिवल्लभ मन्नूलाल सिलाकारी शास्त्री जी आयुर्वेद के उद्भट् विद्वान् हैं, वृद्धावस्था में भी आप मां भारती की सेवा में तल्लीन हैं। आप समाजसेवी कर्मठ व्यक्ति हैं। स्थानीय संस्थाओं के संरक्षक एवं अध्यक्ष हैं। यह लेख आपने ही भिजवाया है। लेख उत्तम, पठनीय एवं अनुकरणीय है। आशा है कि पाठक इससे लाभान्वित होंगे। —गिरिधारीलाल मिश्र (विशेष सम्पादक-'धन्वन्तरि')

यदि मधुमेह के रोगी योग चिकित्सा का अनुकरण करें तो निश्चित मधुमेह रोग से शीघ्र मुक्ति हो जावेगी।

योग चिकित्सा—

१. प्रातः सूर्य उदय के पूर्व उठना।

२. ऊषापान, तांबे के वर्तन में रखा हुआ पानी पीना।

३. शौच आदि से निवृत होकर,

४. आसन करना व प्राणायाम करना। योग के किसी अनुभवी योगी गुरु के मार्गदर्शन में योग करना, सीखना

मधुमेह रोग निवारण आसन व क्रियायें -

[१] लघु शंख प्रक्षालन ६ गिलास पानी से १५ दिन प्रातः

[२] कुन्जल क्रिय (वमन धोती)

[३] जल नेती।

[४] (१) पवन मुक्तासन समूह (२) शशांकासन (३) सुप्त बज्रासन (४) योग मुद्रा (५) पश्चिमोत्तानासन (६) उत्तानपादासन (७) सर्वांगासन (८) हलासन (९) मत्यसासन (मत्स्यासन) (१०) मकरासन (११) भुजंगासन (१२) धनुरासन (१३) मयूरासन (१४) शीर्षासन (१५) शवासन।

आसन आसानी से आराम से करना, जल्दी-जल्दी नहीं करना। हाईब्लडप्रेसर वाले व्यक्ति सावधानी से योग के अनुभवी गुरु के निर्देशन में हल्के आसन करें।

[५] प्राणायाम-(१) उड्डयान बन्ध (२) अग्निसार क्रिया (३) न्योली का भी अभ्यास करें (४) अनुलोम विलोम प्राणायाम (५) भ्रामरी प्राणायाम (६) ध्यान अजपाजाप (७) योग निद्रा। इस क्रम से आसन प्राणायाम आदि क्रियाओं के अभ्यास से शीघ्र मधुमेह रोग ठीक होता है। भोजन का विशेष ध्यान रखें—

वर्जित — आलू, चावल, चीनी, गरिष्ठ पदार्थ, मीठा, अन्डे, मदिरा आदि।

सेवनीय आहार—दूध, मठा, दही, जब, चना की रोटी, दलिया सब्जी लौकी, तुरोई, परवल, मैंथी, करेला आदि सुपाच्य। साथ ही अपने शरीर में अनेक प्रकार की शक्तियां हैं किंतु अज्ञान के कारण उनका उपयोग नहीं हो पाता. यदि जीवन को योगमय जीवन बनाले तो शारीरिक सुख, मानसिक शांति आध्यात्मिक उन्नति शीघ्र हो सकेगी।

१ शंख प्रक्षालन — इसके करने से छोटी आंत एवं बड़ी आंत के अन्दर जो मल भरा एवं चिपका रहता है उसे साफ करती है। तथा पेनक्रियाज पर प्रभाव डालता है।

२. कुन्जल क्रिया—इसके करने से पित्ताशय की सफाई होगी। अल्सर के रोगियों को विशेष लाभदायक है।

३. जल नेती के करने से सयन समय सिर दर्द. जुकाम, नेत्र रोग, चक्कर आना, तनाव रहना, अनिद्रा आदि रोगों में विशेष लाभ होता है।

४. आसन पवन मुक्तासन इस आसन समूह के करने से सम्पूर्ण शरीर का हल्का व्यायाम हो जाता है। इसके करने से अन्य आसन करने की क्षमता बढ़ती है। इस आसन को सभी आयु के व्यक्ति अभ्यास के लिये कर सकते हैं।

५. भ्रामरी प्राणायाम—शारीरिक, मानसिक; तनाव को दूर करने में पूर्ण समर्थ है। सिर दर्द में एवं हाई ब्लडप्रेशर में विशेष लाभ होता है।

६ ध्यान एवं अजपाजाव—ध्यान से शरीर एवं मन के सभी प्रकार के रोग दूर होते हैं। ध्यान एक उच्च साधना है। इस साधना से मनुष्य के अन्दर अनेक प्रकार की शक्तियां जाग्रत होती हैं। मनुष्य ध्यान के द्वारा सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

७. योग निद्रा—इस क्रिया से मनुष्य अपने अन्दर चेतना को जाग्रत करता है। तथा मनको विकारों से दूर कर आत्म शक्ति बढ़ती है।

नोट—उपरोक्त सभी क्रियायें किसी योग्य गुरू के मार्ग दर्शन में सीखने से ही लाभ होगा। अन्यथा गलत करने से हानि भी हो सकती है।

[१] वज्रासन

विधि—आसन पर सामने की ओर पैर फैलाकर वैठ जायें। वांया पैर घुटने पर मोड़कर जङ्घा के पास ले जायें। ऐसा करने से पैर थोड़ा उठ जायगा। बाएं हाथ से उसे उठाकर वाएं नितम्ब के नीचे ले जाइए। घुटना जमीन पर
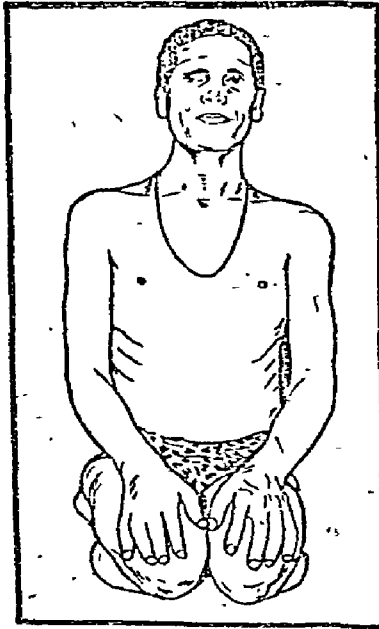
चित्र सं.—४४

आ जायगा। एड़ी शरीर से सटी होगी। पीछे पैर का पंजा ऊपर की ओर जायगा। इसी तरह दूसरे पैर की भी स्थिति बनाइए। दोनों घुटने आपस में सटे रहेंगे, पैर के तलवे अलग-अलग रहेंगे। अब दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर वैठ जाईए यही बज्रासन है। इस आसन पर वैठे हुए मत्स्यासन की भांति होजाने को सुप्त वज्रासन कहते हैं।

भोजन के बाद तुरन्त वज्रासन करने से पाचन संस्थान ठीक रहते हैं। आमाशय, गर्भाशय के रक्त विकारों को ठीक करता है।

सुप्त वज्रासन—कब्ज को दूर करता है। शरीर और मस्तिष्क में रक्त संचार समान रखने के लिये यह उपयुक्त
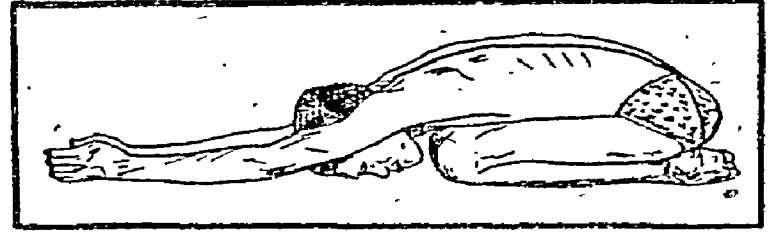
चित्र सं.—४५

आसन है। श्वास, अस्थमा एवं लो ब्लडप्रेसर में भी लाभदायक है।

[२] शशांकासन

यह आसन वज्रासन में किया जाता है। इस आसन के अभ्यास से क्रोध चिड़चिड़ापन दूर होता है, मनोविकार
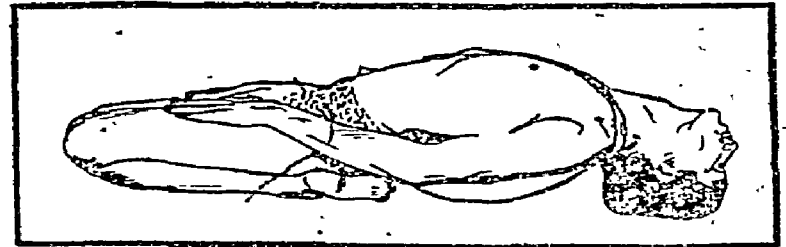
चित्र सं.—४६

अनिद्रा, चिन्ता, तनाव, अशान्ति रोग को दूर करता है। इस आसन में मुद्रा एवं प्राणायाम भी किया जाता है।

[३] पश्चिमोत्तानासन आसन

विधि—आसन पर चित्त लेट जाइये। हाथों को सिर के पीछे ले जाइए। अब बिना सहारा लिए या झटका
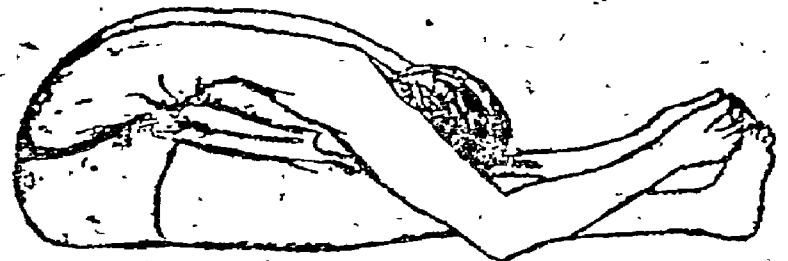
चित्र सं.—४७

ये धीरे-धीरे धीरे धड़ को उठाइये। साथ ही हाथों को भी उठाते हुए पैरों पर झुक जाइये। माथा घुटनों से लगा दीजिये। हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़ लीजिये। ध्यान रहे कि आगे झुकते समय घुटने जमीन से उठने न पायें। इस अवस्था में यथासम्भव २-४ सेकेण्ड रहिए, फिर अंगूठे को छोड़कर पूर्ववत् चित्त लेट जाइए। ऐसा धीरे-धीरे करना चाहिए। आगे झुकते समय सांस निकालना, तथा पीछे झुकते समय खींचना चाहिए। ऐसा तीन चार बार कीजिए। (देखिये चित्र ४७)

पेट की बढ़ी चर्वी को कम करता है। कमर, पीठ मस्तिष्क की ग्रन्थियों को बलवान बनाता है तथा इस आसन का सीधा प्रभाव पैन्क्रियाज पर पड़ता है। इससे मधुमेह दूर होता है।

[४] योग मुद्रा

उदार विकार को दूर करना, रीढ़ को मजबूत बनाना, चेहरे की कान्ति बढ़ाना, अस्थमा एवं लो ब्लड
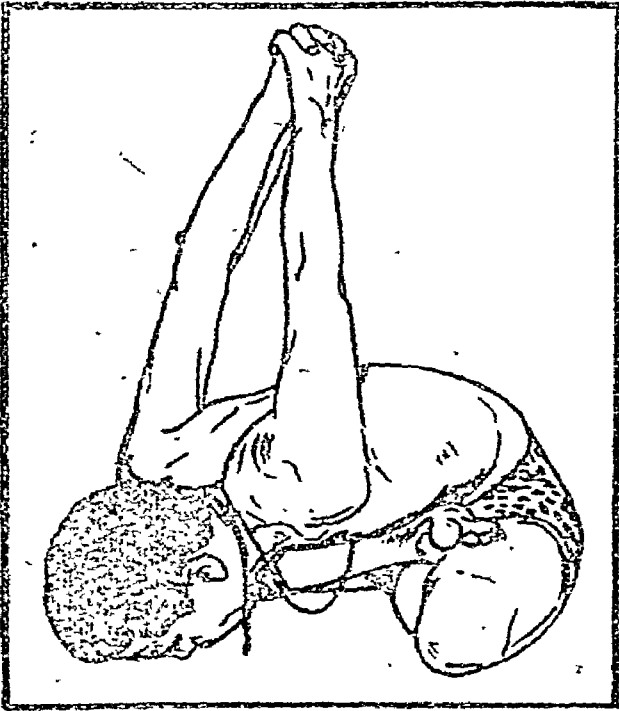
चित्र सं० ४८—योग मुद्रा

प्रेसर में लाभदायक। इस योग मुद्रा से मणि पूरक चक्र प्रभावित होता है। (हाई ब्लड प्रेसर में नहीं करें)

[५] उत्तानपादासन
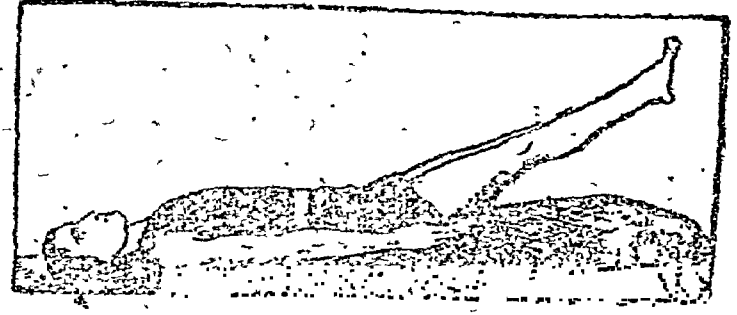
चित्र सं० ४९—उत्तानपादासन

पेद, कमर, सीना, मुख, नेत्र आदि रोग दूर करता है।

[६] सर्वांगासन

विधि—स्वच्छ बिस्तरे पर पीठ के बल लेट जाइये। हाथ बगल में रहें और पैर सीधे। बदन को ढीला छोड़ दें। अब दोनों पैरों को धीरे-धीरे ऊपर उठाइये। जब पैर
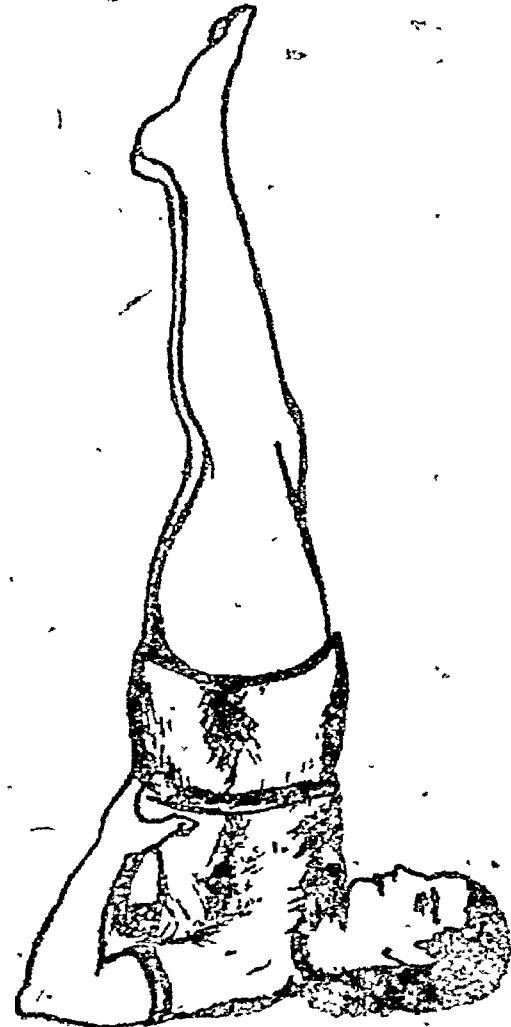
चित्र सं०—५०

सर्वाङ्गासन

जमीन से ३० का कोण बनाने लगें तब वहां पर पांच सेकिन्ड के लिये रुकिये। अब पैरों को फिर उठाइये और जब ६० का कोण बनने लगें तब फिर ५ सेकिन्ड के लिये रुकिये। इसी प्रकार जब ९० का कोण पैर बनाने लगें तो फिर ५ सेकिन्ड के लिये रुकिये। अब पैरों को बिलकुल सीधा रखते हुए सिर की ओर उन्हें लाइए, यहां तक कि वे १२० का कोण बनाने लगें। इस अवस्था में पैरों को ऊपर की ओर ले जायें जहां तक सम्भव हो पैर और धड़ दोनों को एक सीध में रखें और धड़ को दोनों हाथों से सहारा दें। यही सर्वांगासन है। अब आप उसी क्रम से उन जगहों पर रुकते हुए वापस जायें और अपनी पूर्वावस्था में हो जायें। चित्र नं. ५० देखिए।

सर्वाङ्गासन के बाद उतनी ही देर तक शवासन करके शरीर को आराम देना चाहिये जितनी देर तक सर्वांगासन किया गया है।

सर्वांगासन को पहिले दिन आधा मिनट से आरम्भ करके और प्रत्येक सप्ताह आधा-आधा मिनट बढ़ाते हुये धीरे-धीरे ६ से १२ मिनट तक किया जा सकता है।

आसनों में श्रेष्ठ आसन है। मासिक धर्म, ब्रह्मचर्य, मधुमेह, हाइड्रोसिल, हर्निया, दमा में लाभदायक है। इससे शरीर का समुचित विकास होता है। मानसिक रोग दूर होते हैं तथा इस आसन से पैन्क्रियाज एवं थाइ-राइड ग्रन्थि पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

[७] हलासन

विधि—आसन पर पीठ के बल लेट जाइये। दोनों हाथ बगल में होंगे। अब सर्वांगासन की तरह दोनों पैरों को साथ-साथ और सीधा रखते हुये ऊपर की ओर ३०, ६०, १०० और १२० के कोणों पर रोकते हुये उठाइये यहां तक कि पैर के पन्जे जमीन को छूने लगें। तत्पश्चात् पैरों को थोड़ा और आगे बढ़ाइये। ऐसा करने से कमर का भाग ठीक सिर के ऊपर आ जायगा। अन्तिम अवस्था में दोनों हाथ सिर के ऊपर होंगे और उंगलियां मिली होंगी, तथा ठुड्डी कण्ठ के गढ़े में अच्छी तरह जम जायेगी। पूर्वावस्था में आने के लिए पहले हाथों को सिर से हटाकर सीधे जमीन पर लाना चाहिए और पैरों को जिस प्रकार धीरे धीरे रोकते हुए लाया गया था उसी प्रकार वापस ले जाना चाहिए।
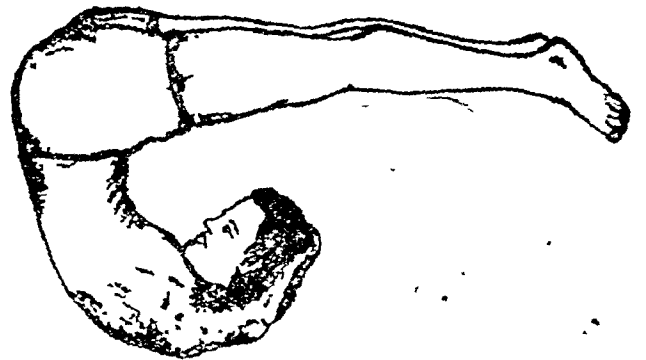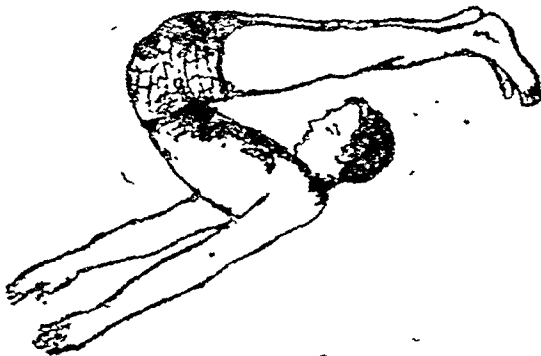
आरम्भ में इस आसन को उतना ही करना चा जितना आसानी से किया जा सके। जबरदस्ती भूल से भी नहीं करनी चाहिये। (चित्र देखिये) यकृत और प्लीहा की बढ़ी हुई अवस्था में यह आसन नहीं करना चाहिये।

लाभ – शरीर की सभी नाड़ियां और अङ्ग प्रत्यङ्ग सबल बनते हैं। पीठ और पेट की पेशियां मजबूत होती हैं। कब्ज दूर होता है। यकृत और प्लीहा के सभी रोग चले जाते हैं।

इस आसन के अभ्यास से पैन्क्रियाज, थाइरायड, पैरा थाइरायड ग्रन्थि पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इसलिये इस आसन को चीनी मार आसन भी कहते हैं। मधुमेह के लिए श्रेष्ठ आसन है। बवासीर, मोटापा, साईटिका में लाभदायक है।

चित्र सं० ५१, ५२—हलासन की दो विधियां

[८] मत्स्यासन

विधि—आसन पर पैरों को फैलाकर बैठ जाइये। दोनों हाथ जमीन पर बगल में रहें फिर दोनों पैरों को मोड़कर पद्मासन लगाइये। दोनों जांघे जमीन से सटे रहेंगे। अब कोहनियों को पीछे की ओर जमीन पर बगल में लाइये और शरीर को पीछे की ओर झुकाइये। भार कोहनी पर होगा। ऐसा करने से सारा धड़ जमीन पर आ जायगा, हाथ पर वजन देकर सिर को पीठ की तरफ
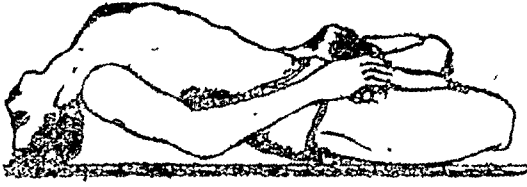
चित्र सं० ५३—मत्स्यासन

जितना पीछे ले जा सकें ले जाइये। अब समूचे धड़ का बोझ सिर पर होगा। अब दोनों हाथों से पैरों के अंगूठों को पकड़िये। कोहनी जमीन पर ही रखें। यह मत्स्यासन है। देखिये चित्र। पूर्वावस्था में आने के लिए धड़ का भार कोहनी पर देकर उठ जायें और धीरे से सीधे बैठ जाइये।

यह आसन सर्वांगासन का पूरक है इसलिये सर्वांगासन करने के बाद इसे जरूर करना चाहिये। ऐसा करने से पूरा पूरा लाभ होता है। पर जितनी देर तक सर्वांगासन किया जाय, उसका चौथाई समय ही इस आसन के करने में देना चाहिये। इस आसन से मनुष्य जल पर मछली की तरह तैरता रह सकता है।

ईसीनोफीलिया, दमा, श्वास, उदर विकारों को ठीक करता है। मेरुदण्ड को बलवान बनाता है।

[९] मकरासन

साईटका, स्लिपडिस्क में लाभप्रद।
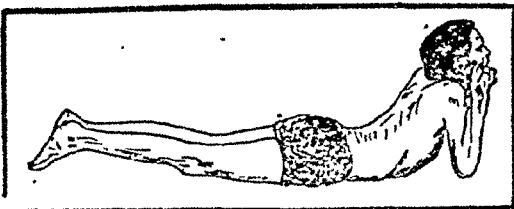
चित्र सं० ५४

[१०] भुजंगासन

विधि—पैर फैलाकर मुंह के बल पट लेट जाइये। शरीर ढीला छोड़ दीजिये। टांगें सटी हों और तलवे बाहर की तरफ दिखाई देते हों। घुटने और जांघें जमीन से भी सटी हों। हाथ कुहनी तक धड़ से सटा हो और हथेलियां कन्धों के नीचे जमीन से लगी हुई हों। अब
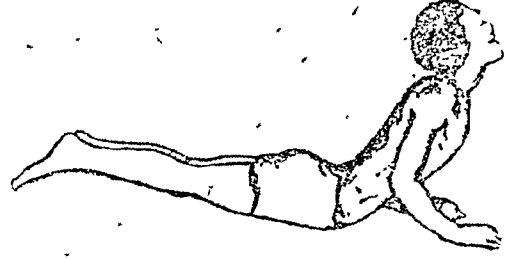
चित्र ५५-भुजङ्गासन

ठुड्डी को उठाते हुये सिर को पीछे ले जाइये। ठुड्डी को इस तरह उठाइये कि उसका और नाक का सिरा दोनों जमीन को छूते हुए ऊपर उठें। सिर को काफी दूर पीछे ले जाने के बाद उसे उसी अवस्था में रखते हुये पीठ की मॉसपेशियों को सिकोड़ते हुये सीने को ऊपर उठाइये। उस वक्त नाभि तक का भाग जमीन से लगा रहेगा और धड़ का शेष भाग हथेलियों के सहारे जमीन पर रहकर पीछे भी तना रहेगा। कुछ क्षणों तक सिर और पीठ को पीछे की ओर तनी हुई अवस्था में रखने के बाद रीढ़ को नीचे लाइये। पहले कमर के नीचे, फिर कमर और अन्त में गर्दन की मांसपेशियों को धीरे-धीरे झुकाते हुये पूर्व की पट अवस्था में आ जाइये। आसन करते समय सांस की गति स्वाभाविक रखनी चाहिये। इस आसन को ५ सेकिन्ड से १ मिनट या अधिक से अधिक ३ मिनट तक कर सकते हैं। तीन बार भी यह आसन किया जा सकता है। इस आसन को सर्पासन भी कह सकते हैं। चित्र ५५ देखिये।

मासिक धर्म, कब्ज, दमा, साईटिका, गुर्दो, हृदय को लाभकारी।

[११] धनुरासन

विधि—भुजंग और शलभासन के योग से धनुरासन बनता है। पेट के बल आसन पर लेट जाइये, पैरों को
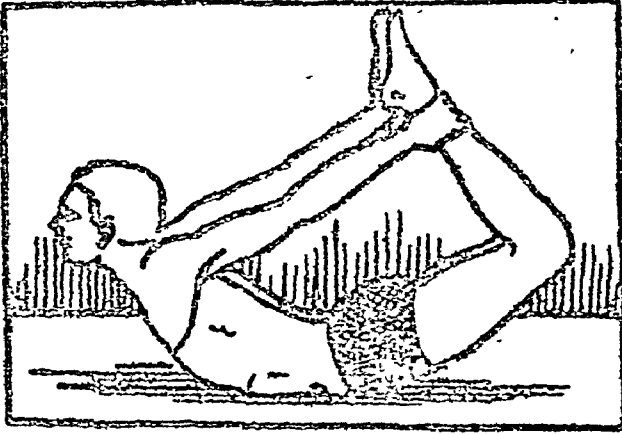
चित्र ५६—धनुरासन

घुटनों से मोड़ लें। फिर दायें-बायें वाले पैरों को टखनों से क्रमशः दांयें और बायें हाथ से पकड़ लें। अब धीरे-धीरे छाती को निकालते हुये, सिर को ऊपर उठायें। हाथों को ऊपर की तरफ उठाते हुये पैरों को तान दें। आगे और पीछे शरीर को तानकर इस प्रकार बनाइये कि सारे शरीर का भार कमर और पेट पर आ जाय और शेष शरीर जमीन से उठा रहे। इस स्थिति में ५ सेकिन्ड से १ मिनट तक रहना चाहिए। लगातार तीन बार यह आसन किया जा सकता है।

भुजा, सीना, मेरुदन्ड को बलशाली बनाता है। पाचन क्रिया को ठीक करता है।

[१२] मयूरासन

विधि—आसन पर घुटने के बल लेट जाइये। दोनों बाहों को मिलाइये और हथेलियों को मजबूती से जमीन पर रखिये। उंगलियों का रुख पैरों की तरफ रहे। सारे शरीर को बाहुओं और आमाशय को कुहनियों से लगाइये। अब पैरों को धीरे-धीरे पीछे की तरफ फैलाकर अंगूठों को जमीन पर टेकिये। सांस खींचकर दोनों पावों को एक साथ पृथ्वी से ऊपर उठाने की कोशिश कीजिये।
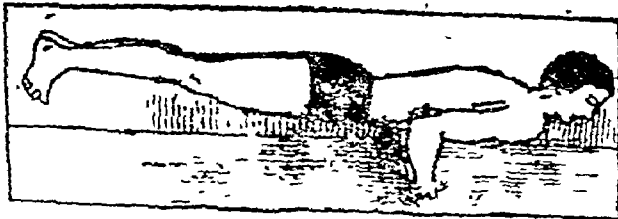
चित्र ५७—मयूरासन

सिर और पैर एक सतह में रहने चाहिये और शरीर पृथ्वी के समानान्तर। इस अवस्था में ५ सेकिन्ड तक रहने के बाद अंगूठों को पृथ्वी से लगाकर सांस बाहर निकाल दीजिये।

यह आसन कठिन आसन है। युवावर्ग के लिये विशेष लाभकारी है। सम्पूर्ण शरीर को बलशाली बनाता है। मधुमेह रोगियों को रामवाण आसन है।

[१३] शीर्षासन

विधि—किसी दीवार के पास जमीन पर दो फ़ीट लम्बी और २ फीट चौड़ी कम्बल आदि की मुलायम गद्दी
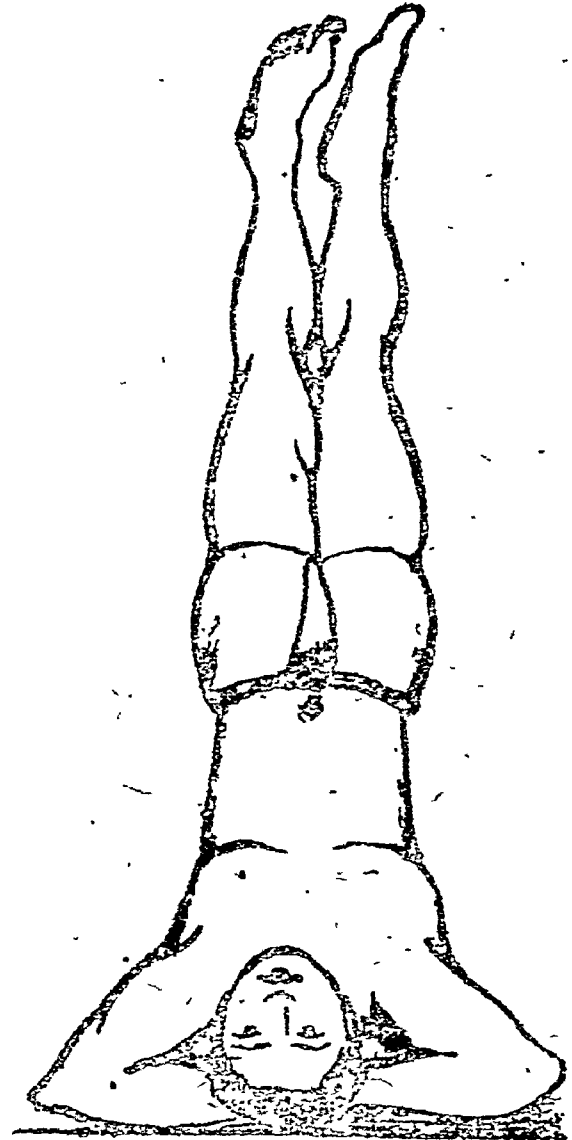
चित्र ५८—शीर्षासन

बिछावें। मोटे कपड़े की पांच सात तह की हुई गद्दी भी ठीक रहेगी। अब हाथों को कोहनियों तक अर्थात् बांह का अगला भाग गद्दी पर रखे और घुटने जमीन पर टेक जायें सामने दीवार होगी। अब एक हाथ की उंगलियां दूसरे हाथ की उंगलियों में फसाकर दोनों हथेलियो को बांध लें और आगे को सिर झुकाकर उसे गद्दी पर इस तरह ले आयें कि सिर का पिछला भाग हथेलियों मे आ जाय। तत्पश्चात् सिर के बल शरीर का बोझ डालकर धड़ को ऊपर उठावें। धीरे-धीरे टांगों को ऊपर ले जायें यहां तक कि शरीर सीधा तन जाय और ऊपर से नीचे तक एक-सरल रेखा सी बन जाय। ऐसा करने में दीवार की सहा-यता ली जा सकती है। अन्त मे धीरे-धीरे टांगों को नीचे ले आकर पहली स्थिति में आ जाये फिर थोडी देर के लिए एकदम सीधे खड़े रहें। तत्पश्चात् जितनी देर तक शीर्षा-सन किया है उससे कुछ अधिक देर तक (परन्तु आधा घंटा से अधिक नही) शवासन करें।

यह सभी आसनों का राजा आसन है। इसके करने से स्मरण शक्ति बढ़ती है। नाड़ी संस्थान और रक्त संचार को सन्तुलित रखना एवं मनोबल बढ़ाना, मन के सभी भय को दूर करना।

[१४] शवासन

विधि—आसन पर चित्त लेट जाइये। टांगों को एक दूसरे से मिलाकर सीधे फैलाइये। एड़ियां मिली रहे और
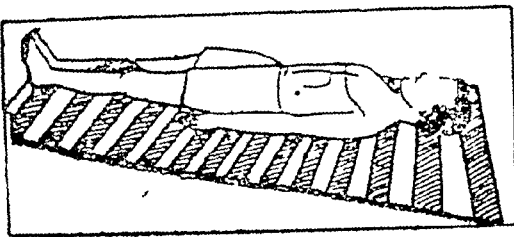
चित्र ५९—शवासन

पंजे खुले रहें। हाथ जमीन पर धड़ से सटे रहे। आंखें बन्द या अधखुली रखिये। अब सिर से पैर तक की सारी मांसपेशियों और स्नायुओं को एकदम ढीला छोड़कर शव समान बन जाइये। सांस स्वभावतः चलती रहेगी।

आसनो के बाद सब आसन अवश्य करना, इससे रक्त संचार एवं श्वास गति को सामान्य होता है। यह कभी भी किया जा सकता है। इसके करने से शरीर और मन के सभी अंगों का तनाव कम हो जाता है। जब तनाव कम हो जाता है तो भय, अशान्ति, चिन्ता दूर होती है। इससे शरीर और मन की थकावट दूर करके व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है।

[१५] प्राणायाम
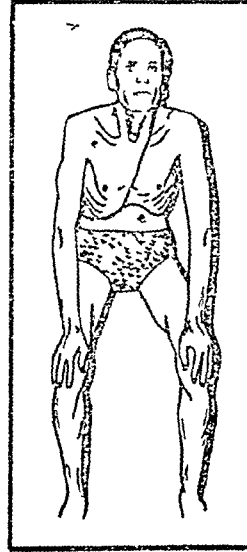
चित्र ६०—प्राणायाम
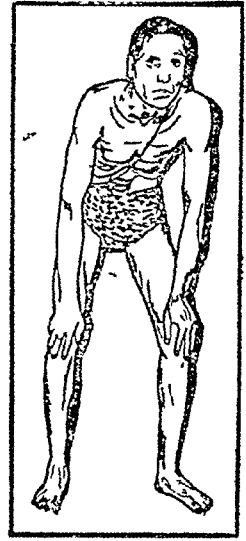
चित्र ६१—न्योली

१. उड्डियान बन्ध—उदर के अवयवों को ठीक करता है। जठराग्नि को प्रज्वलित कर जीवन शक्ति को उदर निचले भाग को सिर की ओर ऊर्ध्व मुखी करता है।

[१६] अग्निसार

२. इस क्रिया के करने से पेट में जो विजातीय पदार्थ होते हैं, वह अग्निसार मे जल जाते हैं।

[१७] न्योली

यह क्रिया बड़ी कठिन एवं दीर्घ अभ्यास से आती है। इसके करने से बड़ी आंत छोटी आंत लीवर किडनी आदि पेट से सम्बन्धित सभी बीमारी ठीक होती हैं।

[१८] अनुलोम विराम

प्राणायाम से रक्तशोधन होता है, फेफड़े मजबूत होते हैं। हृदय मस्तिष्क मे शुद्ध रक्त भेजता है, अनिद्रा श्वास, मानसिक रोगों में लाभ करता है।

❖ ✲ ❖

गोक्षुरादि गुग्गुल
का
मूत्रज व्याधियों में प्रयोग

डा. चैतन्यस्वरूप दाधीच बी.एस-सी., बी.एड., आयुर्वेदरत्न,
एम.एस-सी.(ए), डी.एस-सी.(ए), 'पाण्डुरोग विशेषज्ञ'
श्री मारुती चिकित्सालय, कोटा (राजस्थान)

सन्दर्भ—शार्ङ्गधर संहिता (खण्ड २, अ० ६), प्रकरण—मूत्रज व्याधियां

निर्माण घटक—

घटक द्रव्य	नव्य तोल	रस	गुण	वीर्य	विपाक	प्रभाव
गोक्षुर	११२० ग्रा.	मधुर	गुरु, स्निग्ध	शीत	मधुर	वात पित्त शामक, मूत्रल, बल्य
शुद्ध गुग्गुल	२८० ग्रा.	कटु, तिक्त कषाय, मधुर	अतिलघु विशद, तीक्ष्ण, सर	उष्ण	कटु	त्रिदोषशामक, विशेष रूप से वात कफ हर, योगवाही।
शुण्ठी	४० ग्रा.	कटु	लघु, दीपन	उष्ण	मधुर	कफ वातनाशक
कालीमिर्च	,,	कटु	लघु, तीक्ष्ण	उष्ण	कटु	कफवातनाशक, मूत्रल
पिप्पली	,,	कटु	लघु, तीक्ष्ण	अनुष्ण	मधुर	वातकफनाशक, दीपन, पाचन, मूत्रल। योगवाही
हरीतकी	,,	मधुर, अम्ल कटु, तिक्त, कषाय	लघु, रूक्ष, सर	उष्ण	मधुर	त्रिदोषनाशक, अनुलोमन
बहेड़ा	,,	कषाय	लघु, रूक्ष	उष्ण	मधुर	कफपित्तनाशक
आंवला	,,	कटु, तिक्त, कषाय, मधुर, अम्ल	लघु, रूक्ष	शीत	मधुर	त्रिदोषनाशक, मूत्रल, दाहनाशक
मुस्तक	,,	कटु, तिक्त, कषाय	लघु, रूक्ष	शीत	कटु	कफपित्तनाशक, मूत्रल

निर्माण प्रक्रिया—सर्वप्रथम गोक्षुर का ६ गुने पानी में क्वाथ विधि से क्वाथ करें। आधा जल शेष रहने पर उतार लें। फिर छानकर पुनः क्वाथ करें। आधा पानी शेष रहने पर शुद्ध किया गुग्गुल उपर्युक्त प्रमाण में मिलाकर पकावें। जब गुड़पाक सम गाढ़ा हो जावे, तब अन्य सब उपरोक्त घटक उपर्युक्त प्रमाण में लेकर कूट, पीस महीन चूर्ण बना उपर्युक्त गुग्गुल की चाशनी में मिलालें, तदनन्तर २५० मि. ग्रा. (२-२ रत्ती) की गोलियां बनालें।

रोगोपयोग—

हन्यात् प्रमेहं कृच्छ्रं च प्रदरं मूत्राघातकम्।
वातास्त्रं वातरोगांश्चशुक्रदोषं तथाऽश्मरीन्॥—७/८८

मूत्रज व्याधियों में गोक्षुरादि गुग्गुल के प्रयोगकी वैज्ञानिक पुष्टि—

इस योग का प्रथम एवं प्रमुख घटक गोक्षुर है जो मूत्र संस्थानगत व्याधियों पर कार्य करने वाली अति प्रचलित वनौषधि है। गोक्षुर स्वतन्त्र अथवा अनुपान अथवा

के रूप में मूत्रकृच्छ, मूत्राघात, शोथ, सुजाक, अश्मरी, क्रमेह आदि मूत्र संस्थानगत रोगों पर प्रयुक्त किया ाता है। यह प्रभाव में उत्तम बस्ति शोधक एवं मूत्रल । चरक संहिता में दस मूत्र विरेचक औषधियों में ोक्षुर की प्रधानता सर्वतोपादेयता एवं सर्व सुलभता पष्ट परिलक्षित होती है। सभी प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में भी गोक्षुर का वर्णन मूत्र संस्थानगत व्याधियों यथा मूत्राघात मूत्रकृच्छ, अश्मरी आदि के प्रबलतम शत्रु के रूप में मिलता है। जैसे—

घृतं श्वदंष्ट्रा स्वरसेन सिद्धं।
क्षीरेण चौषाष्ट गुणेन पेयम् ।। —च०सं०

त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिक संयुतम्।
अविक्षीरेण सप्ताहम् पीतश्मरी पातनम् ।। —सु०सं०

गोक्षुरः शीतलः स्वादुर्बलकृत बस्ति शोधनः।
मधुरो दीपनो वृष्योः पुष्टिदः चाश्मरी हरः ।।
प्रमेह श्वास कासार्श कृच्छ हृद्रोग वातनुत् ।।
—भा० प्र०

इसी प्रकार—

पापन के अरि राम जिमि अन्धकार के भानु।
मूत्रकृच्छ तव जगत में अरि गोक्षुर हि मानु ।।

इसी प्रकार शोढ़ल, राजनिघण्टु आदि में गोक्षुर का वर्णन मूत्राघात एवं तत्सम्बन्धी रोगों पर अव्यर्थ बताया गया है जो लेखक के चिकित्सा सम्बन्धी प्रत्यक्ष प्रमाणों एवं अनुभवों द्वारा स्पष्ट है।

प्रसिद्ध वनस्पति विशेषज्ञ कर्नल चौपड़ा और के. एल. दे के मतानुसार यह मूत्र सम्बन्धी रोग तथा सुजाक, पथरी, नपुंसकता, अनैच्छिक वीर्य स्राव, सन्धिवात पर बहुत उपयोगी माना गया है। रस, गुण, वीर्य विपाक ऊपर सूची में स्पष्टतः निर्देशित किये गये हैं।

द्वितीय घटक गुग्गुल है जो रस में मधुर होने के कारण वात को तथा तिक्त होने के कारण कफ को नष्ट करता है। किन्तु कषाय गुणयुक्त होने के कारण तथा सारक होने से पित्तघ्न भी है। अर्थात् गुण दृष्ट्या यह त्रिदोषघ्न है। गुग्गुल की सर्वाधिक विशेषता इसमें विशद, सर तथा आशुकारी गुण के कारण होती है। शरीर में क्लेद रूप में संचित जो कफ एवं वायु दोष होते हैं उनका छेदन करके सर गुण के कारण अनुलोमन करता है। इसकी गति बहुत सूक्ष्म अर्थात् शीघ्र प्रसरणशील
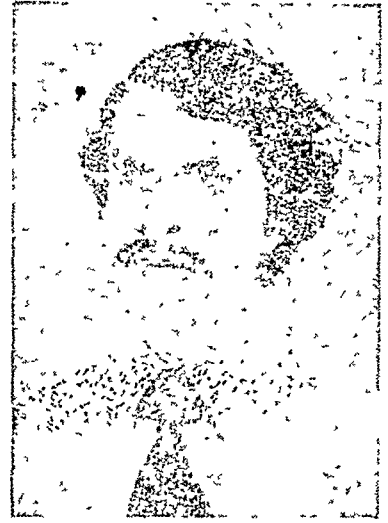
होती है और इसके अणुओं में विकासी गुण होता है। अतः इसके सेवन से शीघ्र व्याधि शान्त होती है। यह योगवाही होने के कारण मुख्य औषधि की क्रियाशक्ति को बढ़ाकर अपना कार्य करता है। गुग्गुल के योगवाही, आशुकारी विकासी होने के कारण उसके साथ में जो दूसरी औषधियों का योग होता है वे भी साहचर्य बल से शीघ्र ही शरीर के गूढ़ अङ्गों में पहुँचकर शोधन रोपण कार्य करती हैं। जिन वानस्पतिक द्रव्यों में सूक्ष्म प्रसरणशील गति नहीं होती वे भी गुग्गुल की सहायता से आशु एवं पूर्ण रूपेण कार्यक्षम होती हैं। अतः स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहां गुग्गुल गोक्षुर के गुणों को धारण करते हुये तथा अपने निज मुख्य गुणधर्म द्वारा उपरोक्त व्याधियों का शमन करने में महत्वपूर्ण कार्य करती है। अश्मरी, सुजाक पर इसका प्रयोग सर्वप्रसिद्ध है।

तृतीय घटक त्रिकुटा (सोंठ, मिर्च, पीपल) है। मुख्य रूप से अतिदीपक, कफ, प्रमेहनाशक व मूत्रल है। इसमे कालीमिर्च प्रभाव में प्रभावी होने के कारण तथा तीक्ष्णतावश इसका उत्तेजक प्रभाव आन्त्र एवं मूत्र संस्थान की श्लेष्मल कला पर पड़ता है जिससे मूत्र की मात्रा बढ जाती है तथा आमाशयिक रस की वृद्धि होने से पाचन क्रिया सुधरती है तथा वायु का शमन व अनुलोमन होता है। अतः मूत्रकृच्छ, मूत्राघात प्रमेहनाशक है। पीपल योगवाही होने के कारण सहयोगी औषधियों का गुण धारण करती हुई निजी धर्मवश मूत्र विकार नाशक है।

चतुर्थ घटक त्रिफला (हरीतकी, बहेड़ा, आंवला) है

जो पित्त तथा कफनाशक एवं प्रमेहहर है। इसमें हरीतकी एवं आमलकी विशेष रूप से अपने निजी गुण धर्म वश मूत्र संस्थान पर कार्यकारी वनौषधियां हैं।

पंचम घटक मुस्तक है जो रस में कटु, तिक्त, कषाय है। गुण में लघु, रूक्ष होने व वीर्य में शीत तथा प्रभाव में कफ पित्तनाशक तथा मूत्रजनन गुणों से युक्त है

उपरोक्त गुण दृष्ट्या विवेचन से स्पष्ट परिलक्षित हैं कि गोक्षुरादि गुग्गुल योग का मूत्र संस्थानगत रोगियों पर प्रयोग अन्वर्थ है जो हमारे निजी चिकित्सकीय अनुभव से भी स्पष्ट है—

गोक्षुरादि गुग्गुल के मूत्रज व्याधियों पर
अनुभवजन्य गुणधर्म—

(१) मूत्रकृच्छ—"मूत्रकृच्छ्र सद्यः कृच्छामूत्रभेद-वस्तिरोधकृत॥ अर्थात् वह रोग जिसमें रुग्ण कष्टपूर्वक मूत्र विसर्जन करता तथा वस्तिरोध होता है। यह विकार मूत्रमार्ग का है। इसमें मूत्रोत्पत्ति तो होती है परन्तु गवीनी, मूत्राशय, पौरुष ग्रन्थि या मूत्र प्रसेक नलिका में जीर्ण व्रण, व्रण शोथ या मूत्र प्रसेक नलिका का संकोच आदि इन्द्रिय विकृति रूप कारणों में से कोई भी एक होने पर मूत्र दाहयुक्त पीला, लाल और दुर्गन्धयुक्त आता है, कभी कभी अश्मरी, सिकता या शर्करा हेतु से मूत्रोत्सर्ग में कष्ट होता है, आदि पर गोक्षुरादि गुग्गुल को चन्दनासव या गोक्षुर कषाय में यवक्षार मिलाकर उसके साथ देना अप्रतिम लाभदायक होता है।

(२) मूत्राघात—मूत्राघात में कितने ही प्रकार के समान इन्द्रियजन्य विकृति के हेतु होते हैं, परन्तु मुख्यतः इस विकार में मूत्रोत्पत्ति कम होती है। वृक्क की भिन्न भिन्न कारणों से होने वाली विकृति ही मूत्राघात का हेतु और इस विकृति का परिणाम समस्त शरीर पर होकर मूत्राघात के कष्टसाध्य प्रकार उत्पन्न होते हैं। इन सबके मूत्र में अवस्थित वस्तु स्थिति यह है कि मूत्र मात्रा में कम उत्पन्न होता और मूत्र द्वारा शरीर में बाहर जाने वाला क्षार और विष शरीर में ही रह जाता है। इस परिस्थिति पर गोक्षुरादि गुग्गुल का उत्तम उपयोग होता है। यह मूत्रल होने से इसका असर मूत्र पिण्डों पर होकर मूत्र पिण्ड के दाह, शोथ आदि विकार कम हो जाते हैं और व्याधि शीघ्र शमन हो जाती है।

विशेष अनुभव—गोक्षुरादि गुग्गुल ४ रत्ती + श्वेत पर्पटी २ रत्ती, गोक्षुरयुक्त तृण पंचमूल कषाय से देना साथ ही भोजनोत्तर चन्दनासव की व्यवस्था विशेष फलप्रद सिद्ध हुई है।

(३) मूत्राशय की अश्मरी—तरुणोभेषजैः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति। अर्थात्—अश्मरी रोग नया होने पर औषधि से ठीक हो जाता है। परन्तु जीर्ण होने पर शस्त्रकर्म करना ही इष्ट है। नवीन रोग में, मूत्राशय में अश्मरी की (शर्करा और सिकता) उपस्थिति होने पर मानसिक अस्वस्थता, सन्धि-सन्धि में पीड़ा, अपान वायु की शुद्धि न होने पर उदर में अफरा आना, कम्प आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। उस पर वह गोक्षुरादि गुग्गुल, गोक्षुरादि कषाय और दशमूलारिष्ट के साथ दिन में ३ समय देते रहने और भोजन के प्रारम्भ में हिंग्वाष्टक चूर्ण सेवन कराने से छोटे-छोटे पत्थर और रेती निकल कर रोग दूर हो जाता है अथवा तृण पञ्चमूल कषाय या यवक्षार युक्त कुलथी क्वाथ के साथ गोक्षुरादि गुग्गुल का उपयोग लाभदायक सिद्ध होता है।

(४) पूयमेह—सुजाक (पूयमेह) जिसमें मूत्र के साथ पूय जाता है, मूत्र त्याग के समय असह्य जलन व पीड़ा होती है, लिंग पर शोथ आ जाता है एवं खुजली जलती है आदि लक्षणों के प्रारम्भ होते ही गोक्षुरादि गुग्गुल की दो-दो गोली दिन में तीन बार चन्दनासव के साथ देने से तीन या चार दिन में ही सत्वर लाभ हो जाता है। ऐसा लेखक का अनुभव है एवं रोग बढ़ भी नहीं पाता। जीर्णावस्था में पथ्यपालनसह दीर्घकाल तक सेवन कराने पर लाभ अवश्य होता है। गोक्षुरादि गुग्गुल सुजाक के विष को नष्ट करने में विशेष व्यवहृत होती है। बहुत से सुजाक के रोगियों को वायु विकार भी होता है, उस अवस्था में यह विशेष लाभदायक सिद्ध हो जाती है।

(५) शुक्रमेह या ऐलबुमिनमेह—अन्न रस का पूर्ण परिपाक न होने पर जीर्ण आमदोष के संचय के कारण अधिक शर्करा, द्विदल अन्न एवं पिष्टमय पदार्थों के अति सेवन से शरीर में क्लेद बहुलता होने पर प्रमेह की उत्पत्ति हो जाती है। अधिक समय तक प्रमेह रहने के कारण बहुत से रोगियों के शरीर में दर्द रहने लगता है या बहुत अधिक हड़कल व मानसिक संताप होता है। ऐसी अवस्था में तथा विशेषतः वातज प्रमेह में इसका प्रयोग विशेष

—शेषांश पृष्ठ १९६ पर देखें।

वैद्य वेदप्रकाश गुप्त आयुर्वेद जगत के जाने माने चिकित्सक एवं पत्रकार हैं। आयुर्वेद विकास के स्वास्थ्य प्रश्नोत्तरी के माध्यम से आपकी चिकित्सा व्यवस्था से भारत के कोने-कोने से निराश रोगी आयुर्वेद चिकित्सा से लाभान्वित होते रहते हैं। अखिल भारतीय आयुर्वेद पत्रकार संघ के प्रधान मन्त्री व संयोजक रहे हैं तथा आयुर्वेद समाचार सेवा के सम्पादक हैं। आपने बड़े रोचक ढङ्ग से 'आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की मधुमेह रोग पर असफलता, पर प्रकाश डालते हुये अपने अनुभूत योगों से युक्त अनुभवात्मक लेख प्रेषित किया है जिसके लिये धन्यवाद के पात्र हैं। —विशेष सम्पादक 'धन्वन्तरि'

स्त्रियों में सन्तानोत्पादक अंगों से सम्बन्धित मूत्रोत्पादक संस्थान में पाये जाने वाले रोगों और उनके उपचार—

(१) मूत्र का रुक-रुककर आना मूत्रावरोध—

१. इसमें मूत्राशय में मूत्र भरा हुआ रहता है, परन्तु बूंद बूंद और थोड़ा थोड़ा निकलता है, ऐसी अवस्था में मूत्राश्मरी का अनुमान सहज में लगाया जाता है। परन्तु स्त्रियों में गर्भाशय जो मूत्राशय के ऊपर होता है उसमें अर्बुद-गर्भाशय में रक्त संचय आदि विकारों में मूत्राशय या मूत्रमार्ग पर दवाव पड़ने से मूत्राशय की ग्रीवा दब जाती है। गर्भावस्था में भी मूत्राशय पर दवाव पड़ने से होता है।

२. मूत्रनलिका में मांसज पिड़िका—विद्रधि, अश्मरी और मूत्रमार्ग का संकीर्ण होना।

३. शस्त्रकर्म—मूत्रनलिका में शल्यकर्म के पश्चात।

४. वातनाड़ी—मानसिक अभ्यास, शोक, क्रोध, भय, योपापस्मार (हिस्टेरिया)।

उपचार—मूत्रावरोध उत्पन्न होने पर रबर की नलिका (कैथीटर) को मूत्रमार्ग मे प्रविष्ट करके मूत्रवस्ति से तुरन्त निकाले। उसके पश्चात् रोग के कारणों के अनुसार चिकित्सा करें। मानसिक विकारों में निद्रा लाने वाली ओषधियों का प्रयोग करके चिकित्सा करें।

(२) मूत्रकृच्छ (Disuria), मूत्र त्याग करने में वेदना

मूत्र त्याग करते समय तीव्र शूल होना रोग का ल है। अनेक रोगों में पूयमेह (सुजाक), अश्मरी (पथरी कृमि, मूत्र ग्रन्थि का प्रदाह, गर्भाशय की विकृति, वृ रोग, आंत्र विकारों में भी होता है।

रोग निदान एवं चिकित्सा के विचार से दो प्रका का है—

१. मूत्र प्रवृत्ति में कष्ट—मूत्र प्रवृत्ति के विचार ही वेदना

२. मूत्र प्रवृत्ति के समय वेदना—मूत्र नलिका से म् त्याग के साथ साथ वेदना होती है।

मूत्र प्रवृत्ति के विचार से ही वेदना का कारण मूत्र शय अर्बुद या मूत्राश्मरी है।

मूत्र प्रवृत्ति के समय वेदना के कारण मूत्र मार्ग नलि में शोथ या व्रण है। मूत्राशय शोथ, आलर्व क्षय चिकि करवाने पर जब उत्पन्न हो जाये जैसे रेडियम थैरा चिकित्सा।

प्रथम बार नवयुवतियों में पुरुष समागम से इन्द्री आघात द्वारा जिसे हनीमून सिस्टाइटिस कहते हैं।

भगशोथ—मूत्र नलिका में मांसज पिड़िका होने भी मूत्र प्रवृत्ति मे वेदना होती है।

रोग के कारणों का विचार करते हुये चिकित्सा करें

वृक्क विकार में मूत्रकृच्छ के समय वमन और अतिसार की प्रवृत्ति होती है। यह वेदना वृक्कों से उठकर वस्ति या जननेन्द्रिय तक जाती है। इसमें गोक्षुर गुग्गुल के साथ यवक्षार मिलाकर उष्ण जल से दें। उष्णवात पूयमेह (मूत्रनलिका व्रण) में चन्दन का तैल चीनी में १० बूंद डालकर दें। ऊपर से शीतल जल पिलायें।

अनुभूत– मूत्राश्मरी (वस्ति में) चनक क्षार, मूली क्षार, यवक्षार, श्वेत पर्पटी समान भाग लेकर रुग्णा की आयु बल को देखते हुये १ माशा से ३ माशा तक शर्वत बजूरी अथवा दूध में चार गुना जल मिलाकर दिन में ३ बार दें।

मैथुन से उत्पन्न हुये मूत्रकृच्छ में चन्द्रप्रभावटी आयु, बल के अनुसार १ से २ गोली गोक्षुर क्वाथ से। व्रण का शोधन करके रोपण औषधि देने से ही लाभ होता है। वृक्काश्मरी में संगयहूद या हजरतजहूर या बेर पत्थर को पीसकर गोक्षुर क्वाथ से दें।

३) मूत्राघात—

पौरुष ग्रन्थि के शोथ के कारण मूत्र वस्ति में संचित होता रहता है। मूत्र नलिका पर दबाव पड़ने से मूत्र बाहर नहीं आता। पेड़ू में मूत्र भरने से तीव्र वेदना होने लगती है।

उपचार—नमक न दें।

शुद्ध शिलाजीत ४ रत्ती मधु से देकर दशमूल क्वाथ तोला तक पिलायें। चन्दनासव ७ चम्मच भोजन के पश्चात जल मिलाकर दें। कर्पूर को पीसकर मूत्रमार्ग में डालने से मूत्र निकलने लगता है। गोक्षुर क्वाथ एक सौ मिली० मधु मिलाकर दो बार दिन में दें।

४) मूत्र प्रवृत्ति की अधिकता तथा शय्या मूत्र—

मूत्र कम मात्रा में बार बार आता है। प्राकृतावस्था में गर्भावस्था के आरम्भ और अन्तिम काल में स्वाभाविक है।

(५) मूत्र प्रवृत्ति वेग को रोकने में असमर्थता, मूत्र स्वयम् ही प्रवृत्त होता है। उसके कारण—

१. मूत्र संस्थान के अङ्गों की विकृति और सुषुम्ना काण्ड के रोगों में होती है।

२. बालिकाओं-बालकों में सूत्र—कृमियों के कारण प्रत्यावर्तित क्रिया के कारण रात्रि में निद्रा के समय अनिच्छा से स्वप्न में हो जाता है।

३. योनि भ्रंश की स्थिति में ऐसा अधिक होता है।

४. प्रसवोत्तर—प्रसव के तुरन्त पश्चात या कुछ काल के पश्चात होता है।

५. मूत्राशय शोथ या क्षोभ—मूत्र त्याग करने की इच्छा जब स्त्री को होती है तो मूत्राशय की केन्द्रीय नाड़ी संस्थान का नियन्त्रण हट जाता है। मूत्रमार्ग संकोच करने वाली मांसपेशियों की क्रिया आरम्भ होती है। मूत्राशय शोथ या क्षोभ में यह क्रिया बहुत तीव्र गति से होने लगती है जिससे किसी भी प्रकार से रोकने पर भी मूत्र निकलने लग जाता है।

६. बहुत देर तक मूत्र त्यागने की इच्छा (वेगधारण) करने से भी मूत्र नहीं रुकता अर्थात मूत्र रोकने में असमर्थता हो जाती है।

उपचार—जिस रोग के कारण मूत्र प्रवृत्ति की अधिकता होती है, उसकी चिकित्सा करें।

विशेष—अधिक घृत, अम्लरस, नया धान (चावल-गेहूं), मधुर पेय-अजीर्ण (भूख नहीं होने पर भी) भोजन करना। चाय कॉफी हानिकारक हैं।

शंख पुष्पी, जटामांसी, ब्राह्मी, वच के क्वाथ से चन्द्र प्रभा वटी भी लाभ करती है। बला तैल की उत्तरवस्ति दें। सुपारी पाक प्रातः सायम् दूध से दें।

(६) मूत्रनलिका मांसज पिड़िका—

मूत्रमार्ग के स्त्री के बाह्य छिद्र पर श्लैष्मिक कला से आवृत रक्तवर्ण की पीड़िका होती है। इसके कारण वेदना मूत्रमार्ग में होती है। मूत्रकृच्छ और मूत्राघात एक या दोनों समय होते रहते हैं। योनिमार्ग से रक्तस्राव, मूत्रावरोध मैथुन में असह्य पीड़ा-लक्षण होते हैं।

उपचार—शल्य क्रिया द्वारा पिड़िका को निकाल दें। उसके पश्चात शोधन-रोपण क्रिया करें।

सोमरोग-जलप्रदर—

वास्तव में चरकोक्त परिभाषा के अनुसार प्रदर इसे नहीं कह सकते।

रजः प्रदीर्यते यस्मात् प्रदरस्तेन कथ्यते।

लक्षण-(१) मूत्रमार्ग की विकृति।

(२) जलीय स्राव-यह स्राव स्वच्छ, शीतल और

—शेषांश पृष्ठ १६६ पर देखें।

चन्द्रप्रभा वटी

डा० श्री तारा शङ्कर वैद्य आयुर्वेदाचार्य डी०एस्‌-सी० ए०(सीलोन)

बरास कपूर, बालबच या मीठा बच, नागर मोथा, चिरायता, नीम के पेड़ पर की गुरुच, देवदारू का बुरादा, हल्दी, अतीस, दारू हल्दी, पीपरामूल, चित्ता, धनियां (नैपाली धनियां या तुम्बुरु), हर्रा, बहेरा, आमला, चव्य विड़ङ्ग, गजपीपर, सोंठ लाल (काली), पीपर वड़ी, स्वर्ण माक्षिकभस्म, यवक्षार, सज्जीखार, सैंधानमक, सौञ्चर या काला नमक, विड् नमक प्रत्येक ४-४ ग्राम। निशोथ, जमालगोटा की जड़, तेजपत्ता, दालचीनी, इलायची बड़ी, वंशलोचन प्रत्येक १६-१६ ग्राम। लोह भस्म (कांत लौह भस्म) ३२ ग्राम, मिश्री (तालमिश्री, अभाव में बड़े-बड़े कणों वाली चमकदार श्वेत मिश्री) ६४ ग्राम, शिलाजतु (शुद्ध सूर्यतापी) १२८ ग्राम, शुद्ध गुग्गुलु १२८ ग्राम।

निर्माण प्रक्रिया—

वंशलोचन को अत्यन्त महीन पीसकर कपड़छन करलें। हर्र, बहेड़ा, आंवला को महीन चूर्ण का काढा (इसकी पिट्ठी फेकें नहीं) बनाकर उसमें पेहले मिश्री घोल लें। थोड़े घोल में कपूर महीन घोटकर पूरे घोल में मिला दें। तत्पश्चात् शिलाजीत चूर्ण और गुग्गुल भलीभांति घोल कर एकरस करलें। यदि शिलाजीत और गुग्गुल गीले हों तो उसी प्रकार घोल लें। गुरुच का पानी में बनाया हुआ स्वरस भी इसी में डाल दें। तीनों नमक भी इसी में भली भांति घोल दें। तत्पश्चात् इस घोल में स्वर्ण माक्षिक भस्म, लौह भस्म तथा वंशलोचन चूर्ण एवं शेष चीजों का महीन कपड़छन चूर्ण और उक्त त्रिफला की पिट्ठी भलीभांति मिला लें। घोल कम पड़ने पर यथोचित जल मिलाकर खूब घुटाई करें। घुटाई करने में कुछ कठिनाई हो या कठिनाई न हो तो भी शुद्ध घृत तनिक तनिक मात्र (चिकनाई आने पर या भलीभांति कूटे जाने योग्य मात्रा) में डालकर गुग्गुलु के योगों की भांति खूब कुटाई करें। मृदु श्लक्षण सुन्दर गोली बनाने योग्य द्रव्य तैयार होजाने पर चार-चार रत्ती (१/४ ग्राम) की सुन्दर गोली बना खूब सुखाकर सुरक्षित रख लें। याद रखें घी केवल गोली बनाने या सुविधापूर्वक कुटाई करने के लिए यथासम्भव कम से कम डालिये। अधिक छोड़ने पर गोली बनाने एवं सूखने में कठिनाई होगी।

शास्त्रीय दृष्टि से प्रभाव—

प्रमेह मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी, विबन्ध, आनाह, शूल, मूत्रसंस्थान की ग्रंथि और अर्बुद, अण्डवृद्धि, पांडु, कामला, हलीमक, अन्त्रवृद्धि, कटिशूल, श्वास-कास, विचर्चिका कुष्ठ, अर्श, खुजली, प्लीहावृद्धि, भगन्दर, दन्तरोग, नेत्ररोग, आर्तवदोष शुक्रदोष मन्दाग्नि, अरुचि एवं दुष्ट वात पित्त कफ को नष्ट करती है। सर्व रोग प्रणाशिनी है। बल्य, वृष्य और रसायन है।

अनुपान रोगानुसार अनुपान दें। सामान्य अनुपान मधु या जल है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण अथवा अनुभव सात गुणधर्म—

मूत्र संस्थान एवं प्रजनन संस्थान के रोगों का सम्बन्ध मस्तिष्क सहित वात संस्थान से भी है। चन्द्रप्रभावटी के घटक+कपूर+स्वर्ण माक्षिक, लोह शिलाजीत और गुग्गुलु तीनों संस्थानों पर उत्तम कार्य करते हैं। परिणामतः यह वटी प्रमेह एवं मूत्रकृच्छ्र जैसे परस्पर विरोधी रोगों पर काम करती है। क्योंकि यह वातनाड़ियों पर प्रभाव डालकर उक्त संस्थाओं की गति विधि को नियन्त्रित

एवं सन्तुलित करती है। उन्हें बलवान भी बनाती है। वसन्त कुसुमाकर रस जैसी बहुमूल्य औषधि के अभाव में यह अर्थाभाव से ग्रस्त रोगी का अच्छा सम्बल है। इसमें स्वास्थ्य और शक्ति दोनों समाहित हैं। मैं स्वयं व्यक्तिगत रूप से व्यवहार करता हूं। पर एक बार में ४-६ वटिका जल से ही निगलवाता हूं। प्रातः सायं ऐसा करता हूं। वृद्धावस्था के लिए उत्तम रसायन है। थकावट, सुस्ती आदि को भी दूर करती है। याद रखें यह मूत्र संस्थान और प्रजनन संस्थान पर अधिक काम करती है। प्रमेह से दुष्ट रक्त प्रमेह पिडिका या मधुमेह युक्त व्रण पर भी काम करती है। परम्परा या संयोग से भले ही अन्य संस्थानों पर काम करे वह उल्लेखनीय नहीं है। शरीर रचना से उत्पन्न दोषों पर यह प्रभावकारी नहीं है। वात कफज रोगों पर विशेष प्रभावकारी है। संसर्गज रोगों पर लाभ नहीं करती है। इसके साथ अन्य औषधि का मिश्रण आवश्यक है। गुण वृद्धि के लिए तत्तद् रोग नाशक अविपरीत गुण वाली औषधियों का योग हो सकता है। समगुण वाली कोई अन्य औषधि नहीं है।

नोट—आशु लाभकारी नहीं है। इसके प्रयोग से निश्चय ही स्थायी लाभ होता है। पूर्वापर अन्य औषधि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं। मलशुद्धि का भी ध्यान रखना चाहिये। कोष्ठबद्धता की स्थिति में रोग में कम लाभ करती है। यद्यपि यह उसमें भी कुछ लाभ करती है। यह विशेष शामक और अनुलोमन है। इसमें स्निग्ध गुण विशेष है। हमने तीन चार सौ रोगियों पर प्रयोग किया है अच्छा पाया है। ग्रीष्म ऋतु में बहुत कम व्यवहार करता हूं। शीत देश काल और वात प्रकृति के लिये हितकर है। पित्त प्रकृति और नये औपसर्गिक रोगों के लिये हानिकारक है क्योंकि उष्ण है। मूत्रातिसार और पिण्डकोद्वेष्टन एवं अङ्गमर्द में विशेष हितकारी है। ★

शेषांश पृष्ठ १६२ का

विशेष लाभप्रद होता है। शुक्रदोष जैसा कि शुक्रस्राव, मूत्र में शुक्र जाना अर्थात् शुक्रमेह अथवा एल्ब्युमिन जाना आदि पर यह प्रभावशाली है। इन रोगों के साथ ऐसे रोगी जो साथ में पेशाब में जलन की शिकायत लेकर आते हैं। ऐसे रोगियों को हम गोक्षुरादि गुग्गुल चन्दनासव के अन्य तत्सम्बन्धी औषधि के साथ लेने की सलाह देते हैं जिससे मूत्र जलन तो समाप्त होती ही है साथ ही धातुगत ऊष्मा शांत होकर मूत्र रोगशमन में सहायता मिलती है।

(६) शिश्नमुण्ड शोथ—सुजाक या गर्म पदार्थों के अति सेवन से उत्पन्न ऊष्मा या अन्य कारणों से शिश्न मुण्ड पर शोथ (Balanitis) हो जाता है, ऐसी अवस्था में हम गोक्षुरादि गुग्गुल के सेवन से लाभ प्राप्त करते हैं।

गोक्षुरादि के अन्य रोग सम्बन्धी प्रयोग यथा प्रदर, वातरोग, वातरक्त आदि पर प्रयोग का वर्णन यहां अप्रासंगिक होगा। अतः नहीं किया गया है। ★

★ शेषांश पृष्ठ १६४ का ★

साधारण शूल रहित होता है। मूत्रवह स्रोत रोग है। बहुमूत्र रोग की संज्ञा भी दी जा सकती है।

निदान स्त्रीणामति प्रसंगेन शोकाच्चापि श्रमादपि अतिसारक योगाद्वा गरयोगात्तथैव च।

आपः सर्वे शरीरस्थाः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च।
तस्मास्ताः प्रच्युताः स्थानान्मूत्रमार्गं व्रजन्ति हि॥
—भावप्रकाश

विशेष—शरीरस्थ उदकवह स्रोतस का अन्त मूत्रमार्ग है जो मूत्रातिसार भी कहलाता है।

सोमरोगे चिरं जाते यदि (मूत्रमतिस्रवेन) मूत्रातिसारं तं प्राहुर्बलविध्वंसनं परम्। —भावप्रकाश

उपचार—सोमनाथ रस २५० मि० ग्राम (भैषज्य रत्नावली बहुमूत्र), गुडूची सत्व १ ग्राम—कुल १ मात्रा, ऐसी ३ मात्रायें एक दिन में मधु से, रात्रि में चन्द्रप्रभा-वटी दो गोली मधु से चाटकर शतावरी सिद्ध दुग्ध पीवें।

या तार्केश्वर रस २५० मि०ग्रा., गुडूची सत्व १ ग्राम, यह १ मात्रा ऐसी ३ मात्रा मधु से।

प्रातःकाल आहार में खाली पेट च्यवनप्राश एक बड़ा चम्मच लें।

दुर्बलता तथा धातुक्षीणता की अवस्था—वसन्त कुसुमाकर रस १ गोली, हरताल मारित वंग भस्म १२५ मि. ग्राम, अभ्रक भस्म सहस्र पुटी (नागार्जुनाभ्र डाबर) १२५ मि. ग्राम, १ मात्रा मधु से प्रातः और सायं, प्यास लगने पर मधुयष्ठी चूसें।

पथ्य—जौ, कुल्थी, मूंग, चना, अरहर, करेला, लहसुन, जामुन, खजूर।

अपथ्य—चिन्ता, शोक, भय, अधिक परिश्रम। ★

मूत्ररोगचिकित्सा

वृक्क-रोग

(तृतीय खण्ड)

वैद्यराज श्रीनिवास शर्मा आयुर्वेद जगत के ख्यातनामा विद्वान् हैं। आप गोरखपुर के धान्वन्तरीय आयुर्वेद महाविद्यालय के प्राचार्य तथा धान्वन्तरीय धर्मार्थ चिकित्सालय के चिकित्साधिकारी हैं। आपके विद्वत्तापूर्ण लेख आयुर्वेदीय पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते है। सहज स्नेहवश आपने वृक्क तथा मूत्र रोगों की व्यावहारिक चिकित्सा शीर्षक लेख प्रेषित कर अनुगृहीत किया है।

—गिरिधारीलाल मिश्र (विशेष-सम्पादक)

मानव के पूरे शरीर में शक्ति प्रदान करने वाले, पोषण देने वाले, धातु के निर्माण में सहयोग करने वाले द्वितीय धातु 'रक्त' का महत्वपूर्ण स्थान है। वही रक्त जब मूत्रवह संस्थान के सम्पर्क में आता है तब अपना दूषित भाग 'वृक्कों' के माध्यम से छनवाकर शुद्ध हो जाता है। नर एवं नारी दोनों के शरीर में मूत्रवह संस्थान की दृष्टि से कुल चार अवयव होते हैं—

(१) वृक्क—२ (२) मूत्रवहा या गवीनी—२
(३) मूत्राशय या वस्ति—१ (४) मूत्रप्रसेक—१

आचार्य सुश्रुत ने इन अवयवों को नामकरण के साथ
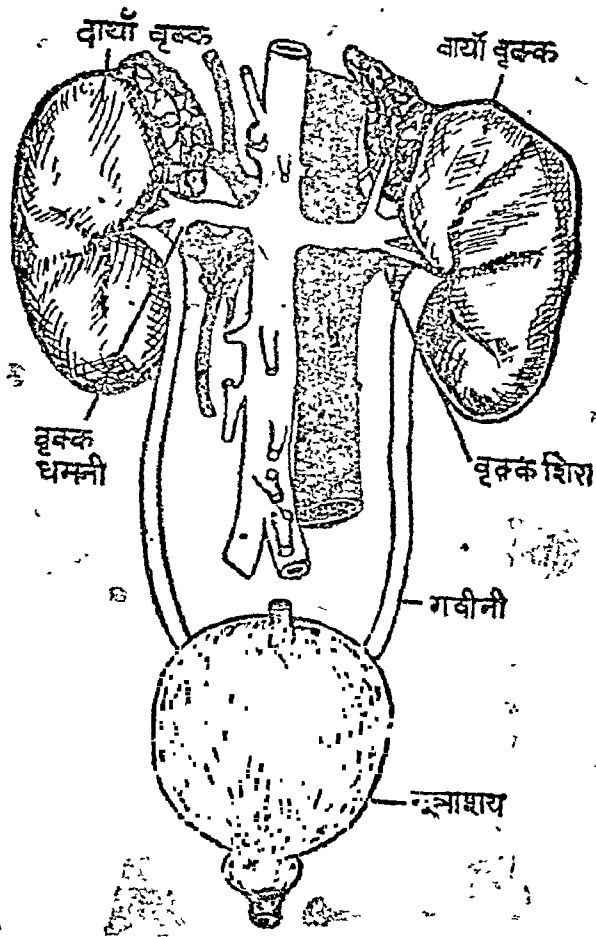
चित्र सं०—६२

स्वीकार किया है। यथा—

(१) मूत्रवहे द्वे [शारीर–६]

(२) अल्प मांस शोणितोभ्यन्तरतः।
कट्यां मूत्राशयो वस्तिर्नाम [शारीर–६]

(३) मूत्रप्रसेकोनाम मूत्रं येन वस्ति मुखाश्रयेण-स्रोतसाशरति। [चिकित्सा–७ डल्हण]

वृक्क शारीर—

शरीर की उदरगुहा में बैंगनी रङ्ग की बड़ी शिम्बी—सेम बीज के आकार प्रकार की दो रचनायें होती हैं। उरो-गुहा बनाने वाली ११–१२ वीं पर्शुकाओं के सामने कटि-प्रदेश में रहने वाली इन रचनाओं को ही वृक्क कहा जाता है। इनकी औसत लम्बाई लगभग चार इन्च तथा भार साढ़े चार औंस होता है। इनके सामने उदर्याकला होती है। ये वृक्क संचित्र कोष से आवृत्त रहते हैं। ये वृक्क मूत्रवाहक संस्थान के सर्वप्रथम एवं प्रधान अवयव होते हैं। दाहिना वृक्क बायें से कुछ नीचे असमानान्तर पर स्थित रहता है। क्योंकि यह यकृत के बड़े क्षेत्र की समाप्ति पर ही स्थान पाता है। आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि—

वृक्कौ मांसपिण्डद्वयम्। एकोवामपार्श्वस्थितः।
द्वितीयो दक्षिण पार्श्वस्थितः। —सु०नि० ६

वृक्क की आन्तरिक रचना—

(१) वृक्क वस्तु (Matter)
(२) वृक्क द्वार (Hilum)
(३) वृक्कालिन्द (Pelvis)
(४) वृक्क कोष (Renal capsule)

चित्र सं० ६३—वृक्क की आन्तरिक रचना

वृक्क वस्तु—

दो प्रकार का होता है।

(१) बहिर्वस्तु (Cartical matter)—इसीसे बाह्याकार एवं सीमा का निर्माण होता है।

(२) अन्तर्वस्तु (Medullary matte)—यह भीतर की ओर रेखाओं से अङ्कित होता है। साथ ही वृक्कद्वार

की ओर मुख किये हुये शिखिरकाओं (पिरामिड) से जुड़ा रहता है। शिखिरकाओं के मूलभाग स्थूल तथा बहिर्वस्तु से जुड़े रहते हैं और इनके अग्र भाग 'पुष्पमुकलाकार' वृक्कालिन्द भाग में प्रसारित रहते हैं।

वृक्क द्वार—

यह वृक्क की आन्तरिक सीमा में रहने वाला एक 'गड्ढा' खात होता है जहां 'गवीनी का सिर मिलता है।

वृक्कालिन्द—

यह गवीनी का फैला हुआ शिरोभाग है जो कि वृक्क द्वार में स्थित रहता है। यह आलिन्द वृक्ककोष नामक स्थूल कला से ढका रहता है। इस आलिन्द में मुकुलाकारी अग्रभागों वाली १०-१२ वृक्क शिखरिकाओं से संचित मूत्र बिन्दु बिन्दु करके एकत्र हो जाता है।

वृक्क कोष—

यह दोनों वृक्कों के चारों ओर लगा रहता हुआ स्थूल कलामय आवरण होता है। यहीं की कला वृक्क द्वार के चारों ओर पहुंचकर आलिन्द का परिसर भाग बनाती है। यही नहीं तो वहीं से पीछे मुड़कर गवीनी के शिरोभाग को ढक लेती है।

वृक्क की सूक्ष्म रचना—

वृक्क की सूक्ष्म रचना आश्चर्यचकित करने वाली होती है। वृक्क की परिधि को बनाने वाली बहिर्वस्तु स्वतः
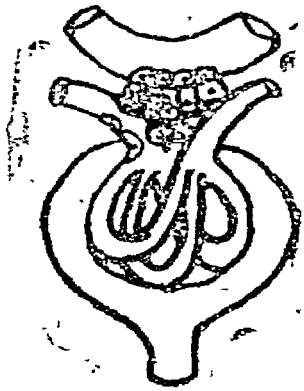
चित्र सं०—६४
मूत्रोत्सिका
(ग्लोमैरूलस)

मूत्र निर्माणक, सूक्ष्म, गोलाकार तथा जालकमय मशीनों से बना हुआ होता है। इनसे निरन्तर मूत्र की जलराशि चूती रहती है। इसीलिए इन्हें मूत्रोत्सिका (Glomuruls) कहते हैं। वहां पर व्याप्त सूक्ष्म शिराओं और धमनियों के बीच ये उत्सिकायें फूल के गुच्छों के समान होती हैं। प्रत्येक उत्सिका में गुच्छमुखं वाली एक-एक धमनी प्रवेश करती है और गोलाकार गुच्छे में बदल जाती है। प्रत्येक गुच्छे को कलामय कोष ढक लेता है। इसे उत्सिका पुटक कहते हैं। इसी पुटक में धीरे धीरे सूक्ष्म बिन्दुओं के रूप में रक्त के छनने के कारण अलग हुआ जलीय भाग एकत्रित होता रहता है उसे ही मूत्र कहते हैं।

ऐसा मूत्र पुटिकाओं से निकले हुये मूत्रवहस्रोत के द्वारा वृक्क के भीतर जाकर संग्रहीत होता है।

मूत्रवहस्रोत छोटी आंत के समान फैले होते हैं और सर्प की तरह कुण्डल के आकार में गति करते हुये केन्द्र की ओर बढ़ते दीखते हैं।

प्रत्येक स्रोत—

(१) आद्य कुण्डिलका भाग (First convoluted tubule)

(२) पाशभाग (Henle's loop)

(३) अन्त्य कुण्डलिका भाग (Second convoluted tubule)

(४) ऋजु भाग (Straight tubule) के नाम से चार भागों में विभक्त रहता है।

एक दूसरे के समानान्तर स्थित ऋजु स्रोतों से वृक्क शिखिरकाओं का निर्माण होता है। इन स्रोतों को आंतों की तरह फैले रहने के कारण आंत्र स्रोत (Uriniferus of convoluted tubules) भी कहते हैं।

—वैद्य श्रीनिवास शर्मा
साहित्यायुर्वेदपुराणेतिहासाचार्य एम० ए०,
संस्कृत–प्राचीन इतिहास, हिन्दी–साहित्यरत्न,
हिन्दी–दर्शन, ए०बी०एम०एस०, एम०वाई०एन०सी०,
विद्यामार्तण्ड, साहित्य वाचस्पति,
प्राचार्य–धान्वन्तरीय आयुर्वेद महाविद्यालय, गोरखपुर,
संचालक–भारतीय योग प्राकृतिक चिकित्सा विद्यापीठ,
गोरखपुर, संरक्षक सदस्य–अखिल भारतीय आयुर्वेद
महासम्मेलन, नयी दिल्ली।

वृक्कामय-निदान—

वृक्कयोः शीतसंयोगात् प्रायोरोगः प्रवर्तते ।
दीर्घ ज्वरे विसूच्यां च मसूर्यामामवात के ॥
तथोपसर्ग रूपेण दृश्यते स्वयमामयः ॥१॥

(१) वृक्क पर अत्यन्त शीत लगने, वर्षा में भीगना व अति शीतल जल में निरन्तर स्नान, अति व्यायाम या
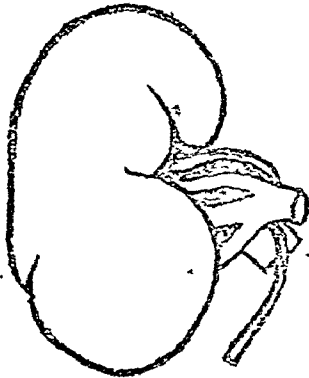
चित्र सं० —६५

अतिश्रम के बाद तुरन्त शीतल जल से स्नान अल्प मात्रा में जलपान प्रायः वृक्क रोग के कारण हैं । जीर्ण ज्वर, विसूचिका, मसूरिका, आमवात में भी वृक्क रोग उपद्रव रूप में हो जाते हैं ।

(२) मूत्र रक्त से उत्पन्न होने के कारण तथा रक्त का सम्पूर्ण शरीर से सम्बन्ध होने के कारण शरीर के प्रत्येक रोग मूत्र पर भी कुछ न कुछ प्रभाव किये बिना नहीं रहते तथा इस दृष्टि से मूत्र रोगों के कारणों में शरीर के सम्पूर्ण रोगों का समवेश हो सकता है किन्तु जिनका परिणाम मूत्र पर ही विशेष रूप से होता है उन्हें ही मूत्र रोग के अन्तर्गत लेते हैं ।

(३) गर्भावस्था में भयङ्कर रोग से ग्रसित होने पर उसका प्रभाव वृक्क पर होता है और गर्भस्थ शिशु के वृक्क भी उससे प्रभावित होने पर जन्मजात वृक्क विकृतियां हो सकती हैं ।

(४) कभी साधारण स्वास्थ्य वैषम्य या कभी पौष्टिक आहार की न्यूनता के कारण गर्भस्थ शिशु के वृक्क निर्बल और कृशकाय होते हैं तथा जन्मोत्तर भी वह पूर्ण स्वस्थ नहीं बन पाते ।

(५) शिशु के गर्भशय्या से भूलोक पर आने पर तात्कालिक शिशुचर्या में असावधानी व अज्ञानवश शिशु को शीत प्रकोपक अवस्थाओं से रहित न रखने पर तथा शैशवकाल में निमोनियां, तीव्र रोमान्तिका आदि से ग्रस्त होने पर वृक्क अपना स्वास्थ्य पूर्ण या अपूर्ण रूप से खो बैठते हैं भले ही ऐसे कारण तुरन्त प्रभावोत्पादक न हों परन्तु वृक्क विकृति या उनके कार्य शैथिल्य के रूप में बीज सूक्ष्म रूप में अवस्थित हो जाता है तथा समवायि कारण मिलने पर उग्ररूप ले सकते हैं ।

(६) कुलज और सहज दोष—निम्न मूत्र रोगों में इन दोषों का प्राधान्य रहता है—मधुमेह, वृक्क, शर्करामेह, उदकमेह तथा शैशवीय वृक्क अम्लोत्कर्ष (Infantile renal acidosis) आदि ।

(७) आहार दोष—अनेक मूत्र विकार आहार के अतियोग या हीन योग से होते हैं—जैसे मधुमेह, शुक्लिमेह मधुमेह, शौक्तमेह, भास्वीय मेह आदि ।

(८) यकृत के विकार—यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis) तीव्रपीत यकृत्क्षय ।

(९) पचन संस्थान के विकार—अतिसार प्रवाहिका विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर, कब्ज, अजीर्ण, अग्निमांद्य आंत्रिक ज्वर, आन्त्रघात जठर कैंसर आदि ।

(१०) उपसर्ग—अनेक उपसर्गों का मूत्र पर प्रभाव

पड़ता है जिनमें निम्न महत्व के हैं—आन्त्रिक ज्वर, लोहित ज्वर, फुफ्फुस पाक (न्यूमोनियां), फिरङ्ग, राजयक्ष्मा, विषम ज्वर, श्लीपद, पूययुक्त मस्तिष्कावरण शोथ, पीत-ज्वर, रोहिणी, पूयमेह, वातमेह, यक्ष्मा दण्डाणु, गुह्य गोलाणु, दण्डाणु, स्त्री पुंषक शोणित वासी कृमि आदि।

(११) अन्त: स्रावी ग्रन्थिदोष—शरीर की अनेक अन्त: स्रावी ग्रन्थियों की अल्पकार्यता या अतिकार्यता मूत्र विकार उत्पन्न करती है जैसे पोपनिका, अग्न्याशय, अधिवृक्क अवटुका ग्रंथि इत्यादि के कारण मधुमेह, उदकमेह, तनुमूत्र-मेह आदि।

(१२) रक्तविकार—रक्ताम्लता, श्वेतमयता (Leukaemia), शोणांशन (Hemolysis), वृक्क की अधिरक्तता या अल्परक्तता, अन्तःशल्यता (Embolism) आभ्यन्तरीय रक्तस्राव व कामला की वैषिक एवं शोणांशिक अवस्थाएं।

(१३) विष और रसायन—पारद, तारपीन तेल, सीसा, संखिया व उसके योग, क्विनीन, शुल्वौषधियों, कार्वोलिक एसिड आदि।

(१४) अर्बुद और कोष्ठ (Tumers and Cysts)—मूत्रसंस्थान के अर्बुद मूत्र रोग उत्पन्न करते हैं। अघातक अर्बुदों में मूत्राशय का अंकुरार्बुद (Papilloma) महत्व का है—इससे शोणितमेह उत्पन्न होता है। इतर अर्बुदों में कालकार्बुद महत्व का है इससे कालमेह उत्पन्न होता है। बहुकोष्ठीय वृक्क Polycystic d'sease) से उदक-मेह उत्पन्न होता है।

(१५) मस्तिष्क संस्थान के विकार—चिन्ता, क्रोध, भय, उन्माद, अपस्मार, विषमयता, मस्तिष्काघात, मस्तिष्क के अर्बुद आदि विकारों में मूत्र विकृतियां हो जाती हैं।

वृक्कामय पूर्वरूप—

निद्राहानिरग्निमान्द्यं शोफोऽक्ष्यास्यपदेषु च।
नाड़ीवेगवती स्तब्धा चोष्णा त्वग्रौक्ष्यमेव च॥
प्राग्रूपं लक्षयेद्वैद्यो वृक्क रोगातुरस्य वै॥

अनिद्रा, अग्निमांद्य, नेत्र, मुख एवं पांवों पर शोथ, नाड़ी की गति में तीव्रता, काठिन्य एवं उष्णस्पर्श, त्वचा की रूक्षता ये वृक्क रोगी के पूर्वरूप हैं।

वृक्क की स्थिति—

वृक्कौ स्थूलौ कौमलौ च मानतौ द्विगुणौ तथा।
तयो शिराश्चोन्ननास्तु नाडिकासु द्रवोच्चयः॥
कलायाः मूत्रधारिण्या क्षरणं चोपजायेते॥

रुग्णावस्था में दोनों वृक्क पूर्वापेक्षा मोटे, भार में दुगुने एवं मृदु हो जाते हैं। उनकी शिरायें रक्त संचय से फूल जाती है, नाडियों में द्रव भर जाता है और मूत्र धारिणी-कला तन्तु अथवा अणु रूप में क्षरित होने लगती है। यद्यपि आयुर्वेद में वृक्क रोगों के अन्तर्गत वृक्कशोथ, वृक्क-पाक आदि नामकरणानुसार वर्णन नहीं है पर उपरोक्त वर्णन वृक्कशोथ के लक्षणों की ओर स्पष्ट संकेत है। अत: यह निर्विवाद सत्य है कि आयुर्वेद में वृक्कद्वय के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान उपलब्ध है पर है वह आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार आयुर्वेद की अपनी शैली में। 'प्रकर्षेण मेहति इति प्रमेह' प्रमेह के इस व्यापक अर्थ में दुष्टि एव तदज्जन्य प्रमेहो-त्पादक कारण, दोष, दूष्य, सम्प्राप्ति, लक्षण, उपद्रव आदि का समावेश आधुनिक वृक्क रोगों के अवयवीय प्रथक प्रथक नामधेय रोगों में पूर्णरूपेण घटित होता है। वृक्क रोगों के ज्ञान के लिए क्ष-किरण तथा मूत्र परीक्षण विधि की सहायता परमावश्यक है। विज्ञान किसी की बपौती नहीं है आधुनिक साधनों का इस प्रकार आधुनिक चिकित्सक भर-पूर प्रयोग करते हैं उसी तरह वैद्यों को भी प्रयोग कर लाभान्वित होना चाहिये।

वृक्क रोग के लक्षण—

ज्वराङ्गभेदः शोफश्च शिरः शूलं वमिस्तथा।
रक्तह्रासात्पांडुवर्णमास्यं वह्नेश्च मन्दता॥
स्वेदामास्त्वचि रौक्ष्यं नाड़ी वेगवती तथा।
वृक्कस्थाने तथा कट्यां पीड़ा स्पर्शसहा भवेत॥
मूत्रं सपीडमुष्णञ्च स्वल्पं स्वल्पं मुहुर्मुहुः।
जायते मूत्ररोधश्च क्वचित्स्रवति विन्दुशः॥
वृक्कयोरश्मरीयोगात् कदाचित्स्वयमेवहि।
मूत्रं शोणितयुक्तं स्यात्ततः कृष्णंस्रवेद्गदी॥
शैत्यं च हस्तपादयो ओजसोऽतिप्रवर्तनम्।
मूत्रकाले ध्वजाग्रे वै किंचिद्दाहाश्च लक्ष्यते॥
वृक्कयो कार्य शैथिल्याद्यकृत्प्लीहहृदां तथा।
विकारो दृश्यते घोर स्वस्वसंवेद्य लक्षणं:॥
श्रुतिनादोऽक्षिदोषश्च मूर्च्छा अङ्गो ध्वजस्य च।
शिरोग्रीवांसपीडा स्यादेवमन्यश्च लक्षयेत्॥

वृक्क रोग के सामूहिक लक्षण—आयुर्वेदोक्त लक्षणों में वृक्करोग के प्रायः सभी भेदों का समावेश हो जाता है—ज्वर, सम्पूर्ण अङ्गों में वेदना, शोथ, शिरःशूल, वमन,

रक्ताल्पता, पांडुता, अग्निमांद्य, स्वेदाभाव, त्वचा की रूक्षता, नाड़ी वेगवती तथा तीक्ष्ण, कमर में वृक्क स्थान पर स्पर्शासह पीड़ा मूत्र का बार बार थोड़ा-थोड़ा करके पीड़ायुक्त एवं गर्म आना, कहीं-कहीं मूत्ररोध तथाच कहीं कहीं विन्दु विन्दु आना, वृक्कों में अश्मरी के कारण व वहां की शिराओं के रक्त में फूली हुई होने के कारण स्वयं ही रक्त के स्रुत होजाने से मूत्र का रक्त मिश्रित होना, रक्त के कारण मूत्र का कृष्ण वर्ण होना, हाथ पैर की शीतता, मूत्र के साथ ओज का स्राव, मूत्र काल में मूत्रेन्द्रिय के अग्रभाग में दाह, वृक्कों के अपने कार्य में शिथिल होने के कारण यकृत्प्लीहा के घोर विकार होजाते हैं जोकि अपने अपने लक्षणों से जाने जाते हैं। कानों में शब्द होना, आंखों में विकृति, मूर्च्छा, ध्वजभंग, सिर गर्दन एवं अंतप्रदेश में पीड़ा तथा क्षुधानाश, अतिपिपासा, मल बन्ध आदि लक्षण होते हैं।

भैषज्यरत्नावलीकार ने आयुर्वेद की अपनी पुरानी शैली के अनुसार रोगों में होने वाले लक्षण समूहों को एक ही स्थान पर एक ही साथ स्थान दिया है। उपर्युक्त लक्षण युगपत रूप में एक ही रोगी में नहीं होते पर वृक्कीय रोगों में होते अवश्य हैं बल्कि उपरोक्त लक्षणों में आधुनिक सभी नामधेय वृक्क रोगों का समावेश किया जा सकता है। आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने मूत्रविकार प्रमेह अश्मरी वृक्क रोग के अलग अलग प्रकरणानुसार उत्पत्ति सम्प्राप्ति साध्यासाध्य, जीर्ण, याप्य, तीव्र व विकृतियां एवं तज्जन्य लक्षणों का विस्तृत विवेचन किया है जिससे रोग निदान में सबल सहायता मिलती है। अतः आगे के प्रकरणों में आधुनिक मतानुसार वृक्क रोगों के विभिन्न भेदों पर सविस्तार वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

वृक्क रोग के उपद्रव—

> फुफ्फुसे भित्तशोयश्चोरस्तोयोदकोदरः ।
> कासो मूत्रविषस्यापि रक्ते संगमनं पुनः ॥
> मूर्च्छा वृक्कामये त्वेते जायन्ते च ह्युपद्रवा ॥

दीर्घकालीन वृक्क शोथ पाक आदि के कारण न्यूमोनियां, प्लूरिसी जलोदर, कास एवं मूत्रीयविषों के रक्त में सम्मिश्रण से मूर्च्छा आदि उपद्रवों की उत्पत्ति होती है।

वृक्करोग चिकित्सा सूत्र—

वृक्क रोग साधारण तीव्र (Acute) और जीर्ण (Chronic) से द्विधा विभक्त है। साधारण अवस्था में रोगी अपने स्वास्थ्य में दैनिक कष्टों के कारण परेशान अवश्य रहता है पर अपना दैनिककार्य येन केन प्रकारेण चलता रहता है पर द्वितीयावस्था का आक्रमण होने पर रोगी शैय्याश्रित होने को विवश हो जाता है। अतः रोग की साधारण एवं तीव्र व जीर्ण अवस्थानुसार चिकित्सा क्रम निर्दिष्ट है—

साधारण-चिकित्सा क्रम—

> विरेचनं स्वेदनं च वाष्पस्वेदनमेव वा ।
> मूत्र प्रवर्तकं यत्स्वाद्वा शोणितशोधनम् ॥
> पोषणं यच्च धातूनां यच्च वह्नो प्रदीपनम् ।
> अन्नपानौषधं हृद्यं वृक्करोगेषु योजयेत ॥

(१) विरेचन—वृक्क रोगी को प्रायः कोष्ठबद्धता, मन्दाग्नि, अरुचि रहती है अतः विरेचन से प्रतिदिन मलोत्सर्ग होना चाहिए जिससे रक्तशोधन में विशेष सहायता मिलती है। विरेचनार्थ शिवाक्षार पाचन चूर्ण को मकोय अर्क अथवा अमलतास के क्वाथ से देना चाहिए। २-४ मात्रा से ही स्वभाविक मल त्याग होने लगता है तथा आम का निष्कासन हो जाता है। विरेचन द्वारा कोष्ठ की शुद्धि हो जाने पर उदर क्रिया को स्वभाविक रखने व कोष्ठबद्धता मन्दाग्नि अरुचि को दूर करने के लिए हिंग्वाष्टक, अविपत्तिकर चूर्ण, अग्नितुण्डी, शूलवज्रिणी, महाशंखवटी, आरोग्यवर्धिनी का उपयोग करना चाहिए।

जयपाल तथा स्नुहीक्षीरादि निर्मित, नारायण रस इच्छाभेदी रस आदि कदापि न दें।

(२) स्वेदन—जब तक वृक्क में शोथ रहे तब तक रोगी को श्रम और शीत से बचाना चाहिए। त्वचा को गर्म रखना चाहिए। त्वचा को गर्म रखने से रक्तवाहिनियां फैल जाती हैं अतः त्वचा पर स्वेदन देना चाहिए। इससे संकटापन्न रोगी को तुरन्त लाभ मिलता है। गर्म कमरे में, गर्म कपड़ों में तथा गर्म जल स्पंज करने से या आसपास गर्म बोतलों को रख कर स्वेदन देने से मूत्र की मात्रा बढ जाती है शोथ शान्त होकर रोग के लक्षण शान्त हो जाते हैं। शोथाधिक्य में सर्वाङ्ग स्वेद देने के लिए गर्म जल से भिगोये हुए खादी के मोटे कपडे से रोगी के मुंह को छोडकर चारों ओर ढंक कर ऊपर से दो मोटे कम्बलों से शरीर को ढक दें। थोड़े ही समय में पर्याप्त पसीना आकर रोग के उपद्रव कष्टों में आराम मिलता है।

(३) मूत्र प्रवर्तन—मूत्रप्रवर्तन वृक्क रोगी के लिए

जीवन दाता है पर मूत्रोत्पादन तथा निःसरण की स्वभाक्रिया वृक्क शोथ में ह्रास होने पर ही सम्भव है। क्रमिक मूत्रनिःसरण औषधियां—गोक्षुरादि गुग्गुल, श्वेत पर्पटी पंच तृण कषाय लाभप्रद हैं। पुनर्नवा तथा अमलतास के प्रयोग भी हितकर हैं। मूत्रल औषधियां अत्युग्र होने पर मूत्रोत्पादन तो होता है पर मूत्र प्रणालियों पर इसीका दुष्प्रभाव होने से मूत्रोत्सर्ग में असमर्थता रहती है अतः भयङ्कर हानिप्रद हैं। पारदयुक्त मूत्रल औषधियों को प्रयोग भी न करें—

रसो विवर्द्धयेद व्याधि मतस्तं नेह योगयेत्—अर्थात् पारद के योग इस रोग को बढ़ाते हैं अतः उनका प्रयोग न करें। आधुनिक युग की लैसिक्स(Lasix) उत्तम मूत्रल औषधि है।

(४) रक्त शोधन—मूत्र की उचित मात्रा का निस्सरण न होने से उसके द्वारा निकलने वाले विषैले पदार्थ रक्तश्रित होकर मूत्र विषमयता उत्पन्न कर देते हैं। रक्तशोधनार्थ आरग्वध (अमलतास) तथा पुनर्नवा एवं मकोय का महत्वपूर्ण स्थान है। ये मूत्रल तथा रक्तशोधक हैं अतः इनके उपादानों का प्रयोग करना चाहिए। पुनर्नवा मण्डूर और आरोग्यवर्धिनी उत्तम योग है।

विशिष्ट चिकित्साक्रम —

जलोकालोवुश्रृंगैर्वाशिराया मोक्षणेन वा।
रक्तं विनिर्हरेत प्राज्ञो विविच्युत बलाबलम् ॥

(५) रक्तमोक्षण वृक्करोग के प्रवृद्ध उपद्रवों व तात्कालिक तीव्र कष्ट निवारणार्थ रक्तमोक्षण अचूक उपाय है। जोंक, तुम्बी, श्रृंग अथवा शिरोमोक्षण द्वारा रोगी का बलाबल देखकर रक्त निर्हरण करना चाहिए। चिकित्सक के लिए कृतकर्मा होना आवश्यक है। यूरीमिया के लक्षणों की वृद्धि हो जाने से अन्नप्रणाली में क्षत होकर रक्तातिसार भी हो सकता है तथा नासिका से भी नकसीर फूट पड़ती है तथा इन लक्षणों की तत्काल शान्ति के लिए शिरोमोक्षण करना चाहिए तथा शिरोमोक्षण का अभ्यास न हो तो कूर्पर मध्य शिरा से सिरिंज द्वारा भी रक्ताकर्षण साध्य होता है। तीव्र लक्षण कम होने पर औषधियों द्वारा रक्त शोधन करना चाहिए।

(६) औषधोपचार—धातु पोषक, अग्निप्रदीपक, हृद्य अन्नपान एवं औषधि का प्रयोग करना चाहिए। प्रारम्भिक अवस्था में रोगी का मलमूत्र विसर्जन स्वभाविक होता रहे एतदर्थ अग्निप्रदीक अनुलोमक औषधि प्रयोग के साथ-साथ पौष्टिक आहार तथा व्यायाम पर्याप्त है। नियमित रूप से मलोत्सर्ग होता रहे एतदर्थ शिवाक्षार पाचन चूर्ण का प्रयोग कराते रहना चाहिए।

प्रयोग पञ्चक-चिकित्सा-व्यवस्था क्रम—

(१) सर्वतोभद्र वटी (भैषज्य रत्नावली)—स्वर्ण भस्म, रजत भस्म, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, शिलाजीत, गन्धक, स्वर्ण माक्षिक इन्हें वरुणक्वाथ से घोट कर २-२ रत्ती की वटी बनावें। प्रातः ८ बजे २ रत्ती मधु से चाटकर ऊपर से गुरुच्यादि अर्क पीवें।

(२) चन्द्रकला रस (योगरत्नाकर मूत्र रोगाधिकारोक्त)—११ बजे ४ रत्ती गुरुच्यादि अर्क से।

(३) प्रभाकर वटी (भैषज्य रत्नावली)—२ रत्ती ४ बजे दूध या गुरुच्यादि अर्क से।

(४) माहेश्वर वटी (भैषज्य रत्नावली)—वृक्कायमाधिकार) २ रत्ती रात में सोते समय गुरुच्यादि अर्क से।

(५) गुरुच्यादि अर्क (वैद्यराज हरदयाल जी वैद्य वाचस्पति का अनुभूत योग)—सकांडपत्ता गुरुची, पर्पट, उशीर, नेत्रवाला, गोक्षुरू, पुनर्नवा पंचांग, काकमाची, फूल गुलाब, श्वेत चन्दन, रक्त कमल, सौंफ मीठी, कुमारी पत्र, पाषाणभेद, हरिद्रा प्रत्येक २५०-२५० ग्राम जौकुट करके १६ लिटर पानी में भिगो दें। प्रातः काल भवका यन्त्र से १२ बोतल अर्क निकाल लें। वृक्क रोगियों के लिए अनुपान तथा जल के रूपमें पानार्थ प्रयोग करें। उपरोक्त चिकित्साक्रम वैद्य वाचस्पति हरदयाल जी का अनुभूत है।

आहार— सर्वोत्तम निरापद आहार गाय या बकरी का दूध है। सत्तू व बार्ली वाटर, चावल का मांड, गेहूं का दलिया आहार में दिया जाता है। डाभ (नारियल का पानी) जल का प्रयोग उत्तम है। सन्तरा, मौसम्बी, अंगूर, पपीता, अनार, नाशपाती, द्राक्षा, चीकू दिया जाता है।

विहार—रोगी को शीत से बचाये तथा सर्वदा गर्म विस्तर पर रखे। शीतल वायु का सेवन, आर्द्र स्थान निवास व वर्षाकालीन जलप्लावित वात स्पर्श हानिप्रद है।

अपथ्य—रोग की तीव्रावस्था में अन्न न दें। दधि केला अमरूद आदि गरिष्ठ फल भी खाने के लिए नहीं देना चाहिए। रोगी को मांस मछली तथा मिर्च-मसाले तीक्ष्ण पदार्थों का सर्वथा त्याग करना चाहिए। ※

वृक्क रोगों से सावधान!

डा. जी. आर. भाटी

श्री गंगाराम भाटी आयुर्वेद जगत के ख्यातनामा लेखक एवं सिद्धहस्त चिकित्सक हैं। आप भारतीय स्वास्थ्य एवं सामाजिक सूचना परिषद के उपाध्यक्ष तथा जिला आयुर्वेद सम्मेलन पाली के अध्यक्ष हैं। आपने हमारे विशेष आग्रह पर लेख भेजकर अनुग्रहीत किया है। एतदर्थ हृदय से आभारी हैं।

—विशेष सम्पादक 'धन्वन्तरि'

मानव शरीर में दो वृक्क होते हैं। इनका काम रक्त से मूत्र बनाना होता है। ये उदर के पीछे, पीठ से लगते हुये दायें और बायें होते हैं। बायां वृक्क ऊंचा तथा दायां उससे कुछ नीचे स्थित होता है। इनका आकार सेम के

चित्र—६६

बीज जैसा होता है। लम्बाई इनकी लगभग चार इंच, चौड़ाई ढाई इन्च तथा मोटाई एक इंच के लगभग होती है। वृक्कों के ऊपर छोटे छोटे उपवृक्क भी होते हैं। वृक्कों की बनावट कुछ ऐसी विशिष्ट होती है, छलनी सी कि जिससे ये रक्त में से अनावश्यक जलीयांश तथा अन्य पदार्थों को छानकर मूत्र के रूप में मूत्र प्रणाली द्वारा मूत्राशय में निरन्तर भेजते रहते हैं और उसे ही हम मूत्र के रूप में त्याग करते हैं। मूत्र प्रणाली अथवा मूत्रवाहिनी का एक हिस्सा ऊपर वृक्कों में वृक्ककोष, मीनारें, धमनी, शिरायें, केशिकायें, लसिका वाहिनियों एवं वातनाड़ी सूत्र समाहित रहते हैं। वृक्क मीनारों के शिखिरों में जो छोटे छोटे छिद्र होते हैं, उन्हीं से मूत्र रिस रिस कर मूत्र प्रणाली में आता है।

रक्त के पिष्टांश और शर्करांश वृक्कों द्वारा अलग हो जाते हैं और रक्त स्वच्छ होकर अपना यूरिया और यूरिक एसिड मूत्र में छोड़ते हुए आगे शरीर में भ्रमण करने योग्य हो जाता है। मूत्र प्रणाली की लम्बाई लगभग १० इन्च से १२ इंच के करीब होती है। हम जो जल सेवन करते हैं वह शरीर को पुष्ट करता हुआ रक्त मे मिलकर उसकी अशुद्धियों को धोने का काम करता है और विजातीय पदार्थों को लेकर मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। वृक्काश्मरी के कण तथा कभी कभी बड़ी संगठित रूप में वृक्काश्मरी निकल कर मूत्र प्रणाली में आती है और जब अटक जाती है तब रोगी को असह्य पीड़ा होती है। मूत्र प्रणाली से मूत्राशय में आने के बाद यह पथरी अगर मूत्रमार्ग में अटक जाती है तो मूत्र त्याग करते समय बड़ा कष्ट होता है। मूत्र त्याग अवरुद्ध हो जाता है, जोर लगाने पर मूत्रमार्ग से रक्त आने लगता

है और इस प्रकार मूत्राश्मरी की चिकित्सा लेना आवश्यक हो जाता है।

आयुर्वेदिक निदान ग्रन्थों मे वृक्क रोगों के निदान विस्तृत रूप में तथा विभिन्न वर्गों मे नही मिलते। परन्तु फिर भी मार्गदर्शन तथा चिकित्सा हेतु रास्ता बखूबी मिल जाता है। वे बताते हैं कि वृक्क रोगी की नाड़ी वेगवती तथा कठिन हो जाती है। रोगी को पीड़ास्वरूप निद्रा नहीं आती। त्वचा में रूक्षता तथा उष्णता प्रतीत होती है, स्निग्धता हट जाती है, रोगी अग्निमांद्यता का शिकार हो जाता है नेत्रों, पांवों तथा मुख पर शोथ के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। रोगी के शुद्ध रक्त के पर्याप्त मात्रा में न बनने से उसे रक्ताल्पता रोग बन जाता है जिससे मुख पीला सा नजर आता है। वृक्कों के स्थान अर्थात् कटि प्रदेश में पीडा होती है. पर पसीना नही होता। अगर होता है तो ठंडा पसीना होता है। अग्निमांद्यता के फलस्वरूप रोगी को अरुचि, उदरशूल एवं अपचन रहता है। खट्टी तथा चरपरी डकारें आती है, पेट और गले में दाह होती है। वमन होना भी एक मुख्य लक्षण है।

हृदय कम्पन भी होता है तथा रोगी को श्वास लेने में भी कष्ट प्रतीत होता है, मूत्रवेग शिथिल हो जाता है और मूत्रेन्द्रिय के अग्रभाग में दाह तथा पीड़ा लगती है। अगर वृक्क विकार जीर्ण एवं भीषण हों तो यकृत, प्लीहा तथा हृदय के अन्य रोग भी हो सकते हैं। वृक्कशूल मे पीड़ा पीछे (पीठ) से आरम्भ होकर उदर (उदर) के आगे की तरफ आती है। रोगी को पीडा से ज्वर हो जाता है। कही कही अतिसार के लक्षण भी मिलते हैं। मूत्र परीक्षा कराने पर उसमें रक्तकण तथा एलब्यूमिन मिलता है। रोगी को कानों में एक गूंज सी सुनने को मिलती है तथा नेत्रशक्ति पर भी रोग का दुष्प्रभाव पड़ता है। सिर और ग्रीवा मे भी पीड़ा लगती है। रोगी के हाथ और पैर भारी हो जाते है। अधिक विकृति होने पर रोगी अचेत (बेहोश) हो जाता है। रात्रि में रोगी के सब ही लक्षण बढ़ जाते हैं। एक बात ध्यान में रहे कि सभी रोगियों में सभी लक्षण नहीं मिलते हैं, अतः लक्षणों की विभिन्नता के आधार पर ही रोग विनिश्चय करना चाहिये।

पश्चिमी चिकित्सकों ने अपने आधुनिक एलोपैथिक ग्रन्थों में वृक्क रोगों का जहां अलग अलग वर्गीकरण किया है वहां उन पर खूब विस्तार से भी प्रकाश डाला है। वैसे भी आधुनिक तरीके से पश्चिमी लोगो की मान्यता के अनुकूल जीवनयापन करने तथा आहार विहार का सेवन करने से वृक्क रोग खुद ही बहुत बढ़ जाते हैं. कारण उसमें शुद्ध पानी का बहुलता से प्रयोग न किया जाकर उसके स्थान में अप्राकृतिक बोतलों में बन्द पेयों का प्रयोग धड़ल्ले से किया जाता है। मैं यह सब अपनी आंखों से देख चुका हूं। कारण विश्व के चौदह देशों मे जो ३ बार जा चुका हूं। ऐसे जीवनयापन से जहां दैनिक अनावश्यक खर्च तो बढता ही है वहां शुद्ध जल के अपर्याप्त मात्रा में प्रयोग से वृक्क रोगों का आगमन भी आरम्भ हो जाता है। हम अब अधिक विस्तार मे न जाकर वृक्क रोगों की चिकित्सा (संक्षेप में) पर प्रकाश डालेंगे। चिकित्सकों तथा रोगियों को चाहिये कि वे इससे समुचित लाभ उठावें और अगर आवश्यक लाभ न हो तो शीघ्रातिशीघ्र बड़े हास्पीटलों या रोग विशेषज्ञो से निदान करवाकर उनकी चिकित्सा तथा मार्गदर्शन प्राप्त करें। वृक्क रोगों से जीवन को बड़ा खतरा पैदा हो जाता है अतः अज्ञान में ऐसा खतरा मोल लेना उचित नहीं कहा जा सकता।

वृक्क शोथ—

(१) पूर्ण विश्राम बिस्तर में, (२) पानी पीने को कम दें, (३) नमक सेवन बन्द।

आयुर्वेद चिकित्सा—(१) मयूरशिखा, मक्की की मूंछें, खरबूजे के छिलके, गोखरू, पञ्चमूल, पुनर्नवा, कुटकी के २ तोले क्वाथ में ४ रत्ती शिलाजीत मिला रोगी को दिन में ३ दफा पान।

(२) गोक्षुरादि गुग्गुल, चन्द्रप्रभा वटी २-२ गोली प्रात सायं दूध से।

(३) शिलाजीत वटी १, चन्द्र प्रभावटी २, पुनर्नवा सव २ चम्मच छोटे तथा २ चम्मच लोहासव के साथ दिन में २ बार।

(४) कुलथी की दाल का पानी थोड़ा यवक्षार मिलाकर पान। जौ का पानी, थोड़ा नीबू रस डालकर पथ्य के रूप में।

एलोपैथी चिकित्सा—सिस्टेक्स टेबलेट २-२ गोली दिन में ३ बार दें। इनके साथ ही आवश्यकतानुसार

एण्टीवायोटिक्स, वमनरोधी एवं मूत्रल औषधियां भी दें। एलोपैथिक औषधियों का प्रयोग केवल वे ही चिकित्सक करें जो कि औषधियों का अंग्रेजी में पूरा साहित्य सही सही पढ़ सकें एवं समझ सकें, अन्यथा नहीं करें।

वृक्क प्रदाह—

आयुर्वेदिक चिकित्सा—(१) पुनर्नवा, गोखुरू, अनन्तमूल, मकोय, निर्गुण्डी चूर्ण १ छोटा चम्मच भर दिन में ३ बार पानी से। नमक और खट्टे पदार्थ का सेवन बन्द कर दें।

(२) अगस्त सूतिराज रस ४ रत्ती मधु से प्रातःसायं सेवन।

(३) काला नमक, खुरासानी अजवायन १ माशा गर्म जल से दिन में ३ बार।

(४) गौमूत्र (यथासम्भव बछड़े का) २॥ तोला सेवन प्रातः एवं सायं।

एलोपैथिक चिकित्सा—(1) Furadentin (SKF) (2) Antibiotics (3) Septran Tab. 2-2 (4) Analgesics (जानकार एवं अच्छे पठित चिकित्सक ही प्रयोग करें, अन्य नहीं)।

वृक्कशूल—

आयुर्वेदिक चिकित्सा—(१) यवक्षार, कलमी शोरा, नौसादर, रेवन्दचीनी और सौंफ प्रत्येक १॥ माशा एवं मिश्री २ तोले। इन सबकी ४ खुराकें बना २-२ घण्टे से पानी से।

(२) यवक्षार १॥ माशा, मात्रा में जल से प्रति घण्टा जब तक दर्द अथवा शूल न मिटे।

एलोपैथिक चिकित्सा— (1) Morphin Inj. (2) Pethedine Inj. (3) Fortwin Inj. (4) Valginate Inj. (Orient) शूलनाशक हेतु। वमन रोकने हेतु—(1) Largactil Inj/Tab (MB) (2) Siquil Inj./Tab. (Sarabhai)। किसी सही अनुपात में बने Alkaliser का पान करावें। रोगी को पूर्ण विश्राम विस्तर में करावें।

(एलोपैथिक औषधियां केवल पठित एवं अनुभवी चिकित्सक प्रयोग करें, अन्य नहीं)

वृक्क बढ़ जाना—

आयुर्वेदिक चिकित्सा—(१) पुनर्नवा एवं गोखरू चूर्ण २ माशा दिन में दो बार पानी से।

(२) गिलोय, गोखरू एवं पुनर्नवा चूर्ण १ छोटा चम्मच भर कर पानी से दिन में दो बार।

(३) आरोग्यवर्धिनी वटी २, गोक्षुरादि गुग्गुल २ गोली (तोड़कर) पुनर्नवासव ४ चम्मच के साथ दिन में २ बार + रात्रि में २ गो. चन्द्रप्रभा वटी दूध से।

एलोपैथिक चिकित्सा— (1) Dexamethasone Inj./Tab. (MSD) (2) Betamethasone (Glaxo) Tab./Inj. (3) Prednisolone or Prednison Tab. (any reliable Co.) (4) Antibiotics Inj/Tab. Septran group medi (BW)

(अंग्रेजी औषधियां अच्छे पढ़े लिखे चिकित्सक प्रयोग करें, अन्य नहीं)

वृक्काश्मरी—

आयुर्वेदिक चिकित्सा—(१) एरण्ड बीज १ लेकर छीलकर तवे पर सुर्ख होने तक भून लें। ऐसा १ बीज १५ दिन सुबह शाम दूध से सेवन करें।

(२) मूली स्वरस १०० मिलि. मिश्री मिलाकर केवल प्रातः पान करावें।

(३) मूत्र जांच कर उसमें यूरिक एसिड अधिक हो तो क्रूशन साल्ट आधा चम्मच गरम पानी से दिन में २ बार दें।

एलोपैथिक चिकित्सा—(1) Depropanex Inj. (MSD) (2) Cystone Tab. (Hima. Drug) २ गो. दिन में ३ बार पानी से। (३) कभी–२ अचानक दर्द हो जाये तो दर्दनाशक कोई इन्जेक्शन जैसे-Valginate 3 c.c. (Orient) या कैपसूल Spasmo-Paroxon गर्म पानी या चाय से दें। X-Ray द्वारा समय समय पर जांच कर पता लगाते रहें कि अश्मरी दवाइयों से कितनी घटी। अगर आशाप्रद लाभ न हो तो शल्य विशेषज्ञ से सलाह लें, आपरेशन करावें।

—डा० जी० आर० भाटी
डी.सी.एच., डी.आर.एस. (लंदन),
एम.ए.एम.एस. (लाहौर), एम.एस.सी.ए. (झांसी),
आयुर्वेद रत्न (प्रयाग), आयुर्वेद मनीषी (जयपुर),
आयुर्वेद महोपाध्याय (हैदरा०)
पाली (राजस्थान)

(१) अश्वनाल वृक्क—अश्वनाल के आकार के वृक्क दोनों ओर के वृक्कों के निम्न ध्रुवों की ओर कभी कभी ऊर्ध्व ध्रुवों का जुड़ जाने का परिणाम होता है जिसमें
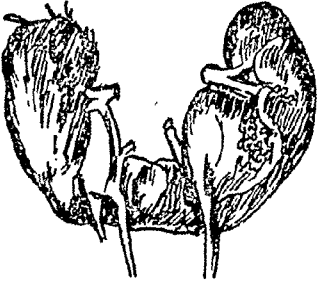
चित्र सं०—६७

दोनों पार्श्व के वृक्क आपस में जुड़कर उदरीय महाधमनी (Abdominal aorta) के अग्रभाग में स्थित हो जाते हैं। इसके अन्तर्गत रोगी किसी प्रकार का कोई प्रत्यक्ष लक्षण या नैदानिक दोष नहीं बताता। वृक्क की गोलिका, जो सामान्यतया वृक्क वाहिनियों के पीछे से निकलती है। इस अवस्था में उनके सामने रहती है और इससे गोलिका गवीनी संगम पर अवरोध उत्पन्न होने से जलीय वृक्कता (Hydro Nephrosis) उत्पन्न हो सकती है। यह दशा उत्सर्जन गोलिका चित्रण द्वारा या उदर के साधारण विकिरण चित्रण द्वारा पूर्णरूपेण जानी जा सकती है।

(२) एकाकी वृक्क—यह अत्यन्त विरल अपसामान्कता है। १००० में से एक में यह पायी जा सकती है। एकल वृक्क अन्यथा पूर्णतः सामान्य स्वस्थ वृक्क होता है जिसका जीवन में सन्देह भी नहीं होता जबतक कि उत्सर्जन गोलिका चित्रण (Excration Pylogram) न लिया जाय। इसका विशेष रूप से शल्यकर्म के समय ध्यान रखना चाहिए कि किसी व्यक्ति में एक ही वृक्क हो सकता है। इसकी पुष्टि एक्सरे से की जानी चाहिये।

(३) स्थानेतर वृक्क (Ectopic kidney)—यह अपसामान्य दशा भी १००० रोगियों में एक में पायी जाती है। कभी कभी एक वृक्क किसी अस्वाभाविक स्थान जैसे त्रिकास्थि (Sacrum) के सामने विद्यमान दृष्टिगत
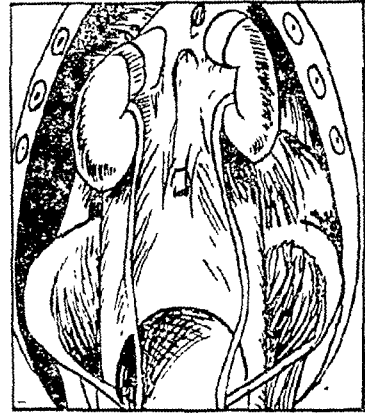
चित्र सं० ६८—स्वस्थानस्थ वृक्क
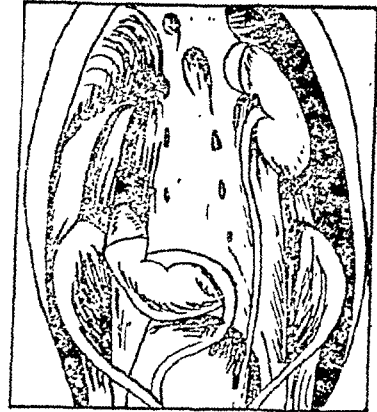
चित्र सं० ६९—स्थानेतर दक्षिण वृक्क

होता है। इसका निदान कठिन हो सकता है। कभी कभी सहज एकल वृक्क श्रोणी में मिलता है। इसकी पुष्टि एक्सरे द्वारा हो जाती है।

(४) लघु वृक्क—कभी कभी जन्म जात ही वृक्क का आकार बहुत ही छोटा हुआ करता है जिससे वाह्यदलपुंज (Calyx) और भी छोटा होता है। परन्तु इसकी आंत्र वृक्कीय रूप रेखा में कोई भी अनियमितता तथा वल्कुर मोटाई (Cortical thickness) एक्सरे के अन्दर नहीं दिखाई देती।

(५) उभय वृक्क—नियमित एक वृक्क में एक गवीनी और एक गोलिका होती है, पर कभी कभी दो गोलिकायें और दो गवीनियां भी मिलती हैं। ऐसे व्यक्तियों में गवीनी कलिका (ureteric bud) दो में विभक्त हो गई है और एक ओर दो वृक्क बन गये हैं। उभय वृक्क के ऊर्ध्वभाग की गवीनी मूत्राशय में दूसरी के अपेक्षा नीचे खुलती है। वह कभी कभी असामान्य स्थानों योनि, स्त्री मूत्र मार्ग, शुक्राशय या पुरस्थ ग्रन्थि में खुलती है।

(६) उभय मूत्रवाहिनी—कभी कभी जन्मजात विकृति के विरूपण में एक ही वृक्क से दो मूत्रवाहिनियां (Ureters) सम्बन्धित दिखाई देती हैं। इनके कारण सामान्यतया कोई असुविधा नहीं रहती। परन्तु कभी कभी उनमें उपसर्ग के पुनरावर्तन की सम्भावना रहती है।

(७) एक पार्श्वी संयुक्त वृक्क (Unilateral fured kidney)—इस अवस्था में दोनों वृक्क एक ही ओर हो जाते हैं और अवग्रह (Sigmoid) आकार या केक (Cake) के समान रूप धारण कर लेते हैं। एक गवीनी मध्य रेखा में आकर मूत्राशय के सामान्य पार्श्व पर पहुंचती है-ऐसा वृक्क प्रायः कष्टकर होता है।

(८) बहुपुटीयुक्त वृक्क (Polycystic kidney)—वृक्क वस्तु में बहुत सी पुटी होती हैं जो केशिका स्तवक द्वारा स्रवित तरल के संग्राहक सूक्ष्मनलिकाओं में न पहुंच सकने के कारण उत्पन्न होती हैं। अतः इसका कारण कुछ सूक्ष्म नलिकाओं में वृक्क के स्रावी और उत्सर्गी भागों का संयुक्त न होना माना जाता है।

(९) अपसामान्य रक्त वाहिकायें—वृक्कों के श्रोणि में स्थित रहने पर श्रोणिफलक रक्त वाहिकाओं से रक्त आता है। उनके आरोहण के पश्चात् कटि प्रदेश में पहुँचने पर महाधमनी से रक्त आने लगता है और ये शाखा मुख्य वृक्क धमनियां बनाती हैं। किन्तु कभी कभी महाधमनी की शाखाओं के अतिरिक्त अन्य रक्त लाने वाली शाखायें जीवन भर वैसी ही बनी रहती हैं।

(१०) गवीनी की अपसामान्यता - दो गवीनियों तथा दो गोलिकाओं का बनाना सबसे अधिक होने वाली अपसामान्यता है। यह गवीनी नलिका के द्विशाखन (Bifurcation) का परिणाम होता है। गवीनी सम्पूर्णतः दो हों या अधोप्रान्त पर पहुँचकर मूत्राशय में प्रवेश के पूर्व जुड़कर जाय या गवीनी योनि, मूत्रमार्ग आदि अनुचित स्थानों में खुलें।

(११) मूत्रवाहिनी वृक्क द्रोणिसंगम संकीर्णन—कभी कभी जन्मजात वृहद वृक्क द्रोणि तथा मूत्रवाहिनी के उच्च निवेशन (High insertion of ureters) के कारण वृक्क द्रोणि का आयतन प्रसार (Dilalation of Pelvis) तथा मूत्रवाहिनी वृक्क द्रोणि का आंशिक अवरोध हुआ करता है। इसके कारण शिरान्तरीय वृक्क निवाय चित्रण में काफी विलम्ब हो जाया करता है। यद्यपि साधारण एक्सरे में इसके अन्दर बहुत कम ही परिवर्तन दिखाई देता है।

(१२) मूत्रवाहिनी (Mega uretes)—मूत्र वाहिनी का यह आयतन प्रसार जन्मजात विकास सम्बन्धी विकार के कारण हुआ करता है।

—कवि० श्री गिरिधारी लाल मिश्र ए०, एम० बी० एस०
अधीक्षक—श्री केदारमल मेमोरियल आयु धर्मार्थ चिकित्सालय
तेजपुर (असम)

***
**
*

वृक्काश्मरी चिकित्सा

वैद्य अम्बालाल जोशी आयु. केसरी

'धन्वन्तरि' के गतवर्ष (सन् १९८२) के 'ज्वर-रोग चिकित्सांक' के यशस्वी विशेष सम्पादक वैद्य-राज श्री अम्बालाल जी जोशी राजस्थान के श्रेष्ठतम चिकित्सकों की प्रथम पंक्ति में प्रतिष्ठित हैं। पत्र-कार तो आप एक युग से हैं। आयुर्वेद संसार में आपकी लेखनी के चमत्कार से कौन अपरिचित मिल सकता है। 'धन्वन्तरि' पर आपकी कृपा सदैव से रही है, अतः प्रस्तुत विशेषांक हेतु आपने 'वृक्का-श्मरी चिकित्सा' अनुभवपूर्ण लेख भेजा है। एत-दर्थ हृदय से आभारी हैं। पाठक निश्चय ही आपके लेख से लाभान्वित होंगे।

—विशेष सम्पादक 'धन्वन्तरि'
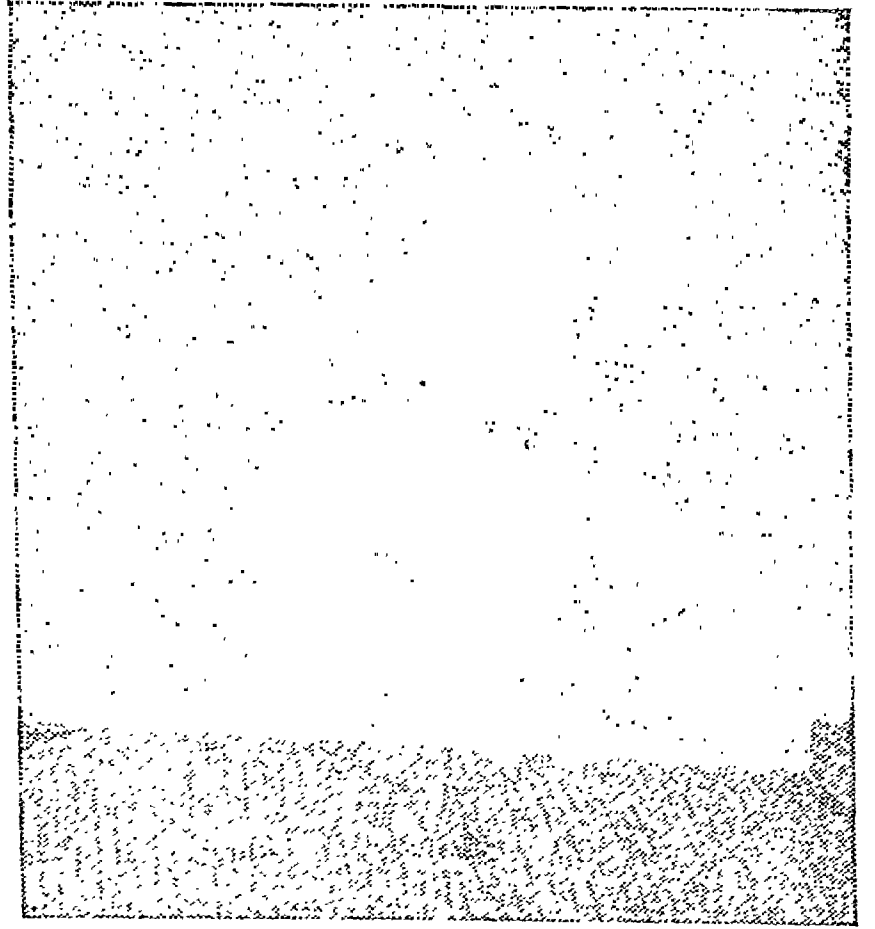
वृक्क मूत्रजनक सम्पूर्ण अवयव को कहते हैं। इसे यूनानी में गुर्दा, अंग्रेजी में किडनी कहते हैं। सौत्रिक तन्तुओं द्वारा निर्मित इस स्थान में जब मूत्र कण या मूत्र शर्करा जम जाती है तब 'अश्म' पथरी Stone या अश्मरी का निर्माण हो जाता है। इसे वृक्काश्मरी स्थान विशेष के कारण कहते हैं। यह अन्य स्थानों पर भी हो सकती है

आयुर्वेद वाङ्मय में अश्मरी चार प्रकार की बताई गई है—(१) वातज, (२) पित्तज, (३) श्लेष्मज, (४) शुक्रज।

प्रायः सभी अश्मरियों में श्लेष्मा को ही उनका आश्रय माना गया है। यह घोर, घोरतर तथा घोरतम होती है। समय रहते यदि इसका उपचार नहीं किया गया तो यम के समान यातना देने वाली होती है। यों अश्मरियां एक दोषज नहीं होती, त्रिदोषज होती हैं।

अश्मरी की पूर्वावस्था में आध्मान, वृक्क के निकट-

वर्ती प्रदेश में हल्की पीड़ा तदन्तर उग्र पीड़ा तथा मूत्र में अजा मूत्र की सी गन्ध, मूत्रकृच्छ, ज्वर तथा अरुचि हो जाती है।

वृक्क में अश्मरी का चयापचय परिवर्तनों के कारण मास्वीय। निम्मीय, प्राङ्गारीय तथा चूर्ण कण संचित हो
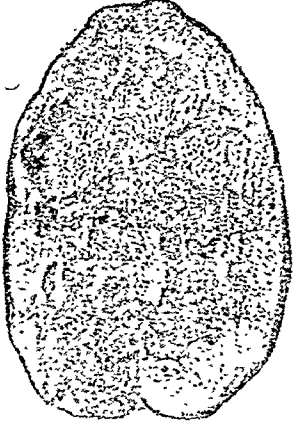
चित्र—७०
वृक्क स्थित अश्मरी के दवाव से वृक्क कोषों का विनाश हो गया है।

जाते हैं। इस प्रकार अश्मरी का निर्माण होता है। आयुर्वेदीय मत से सिकता (कुछ छोटे कण) तथा शर्करा (कुछ बड़े कण), कफ की सान्द्रता के कारण एक दूसरे से चिपक कर पथरी वना देते हैं। इस अश्मरी में मूत्र विसर्जन करते समय वृक्क में हल्की पीड़ा होती है। यह पीड़ा कटि प्रदेश से प्रारम्भ होकर वंक्षण तथा वृषणों तक आ जाती है। यदि वहां क्षत हो जावे तो रक्त या पूय मिश्रित मूत्र का प्रवाहण होता है। भौतिक परीक्षण में रक्त कण, पूय कण तथा चूर्ण कण निकलते हैं। मूत्र कठिनता से उतरता है। कुछ विवन्ध भी रहता है। यदि अश्मरी नीचे उतर आवे तो मूत्र में दो धारायें आती हैं। मूत्र गन्दा (धूसर) आता है। शर्करायुक्त होता है। प्राय: पुरुषों में बाल्यावस्था या युवावस्था में होती है।

वातिक अश्मरी—वातिक अश्मरी का रोगी पीड़ा से अत्यन्त दुखी होकर दांत चबाने लगता है, कांपता है,

चित्र—७१
वातिक अश्मरी (आक्जेलेट अश्मरी)

रोता है, तथा पीड़ा से आतुर हो जाता है। वृक्क स्थान पर (चित्र ७४)तीव्र पीड़ा होती है। मूत्र में भी अवरोध होता है तथा मल त्याग में भी कठिनाई होती है। अश्मरी चरक मत से कदम्ब पुष्प के आकार की तथा सुश्रुत के मत से विपमाकार होती है। यह कण्टकाकीर्ण श्याम अथवा अरुण होती है। इसे अंग्रेजी में यूरिक एसिड कल्कूलस कहते हैं। यह आग्जलेट से निर्मित होती है।

पैत्तिक अश्मरी—पैत्तिक अश्मरी में वृक्कों में दाह, मूत्र विसर्जन में जलन तथा वृक्क स्पर्श से उष्ण होते हैं। अश्मरी रक्तवर्ण, पीतवर्ण अथवा श्यामवर्ण की होती है। इसे अंग्रेजी में मिक्सड केल्कयूलस कहते हैं। यूरिक एसिड यूरेट, कार्वोनेट से यह निर्मित होती है। यह पित्तज अश्मरियों की श्रेणी में गिनी जा सकती है।

श्लैष्मिक अश्मरी—इस अश्मरी में वृक्कों में भारीपन, पीड़ा, शिथिलता, गुरुता, स्पर्शता में शीतलता होती है। यह अश्मरी चिकिनी, सफेद, कुक्कुटाण्ड के रङ्ग के आकार में अन्य अश्मरियों से बड़ी होती है। इसे अंग्रेजी

चित्र—७२
श्लैष्मिक अश्मरी
(स्टोन ऑफ फास्फेट)

में 'स्टोन ऑफ फास्फेट' कहते हैं। फास्फेट से निर्मित यह पथरी कफज होती है। फास्फेट वायु के संयोग संस्थान विशेष में जम कर पथरी वना देती है।

वचपन में वच्चे पत्थर, चूना, रेती आदि खाते हैं। वह शरीर के विभिन्न अवयवों में रुककर वहां जमकर पथरी वन जाता है। इनको निकालने का काम वायु करती है जो ऊर्ध्व जाने से उन्हें रोक भी देती है। यह विजातीय द्रव्य विशेषत: वृक्क तथा मूत्र संस्थान में कहीं भी जमा होकर अश्मरी स्थित कर देते हैं।

शुक्राश्मरी—यह पथरी वृक्कों में नहीं जमती अत: इसका उल्लेख या वर्णन हम यहां नहीं कर रहे हैं।

ये अश्मरियां अधिकतर वच्चों में ही होती हैं। कभी कभी वे अज्ञात रूप में अवयव में स्थित रहती हैं तथा युवावस्था में ज्ञात या प्रकट होती हैं। जवकि वे अधिक पीड़ा उत्पन्न कर देती है या अन्य चिह्न प्रकट होते हैं।

अश्मरी के बड़े टुकडों को शर्करा तथा छोटे टुकड़ों को सिकता कहा गया है। वाग्भट्ट के मत से वायु जहां
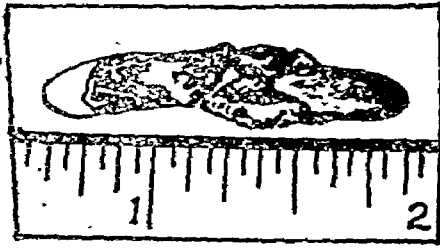
चित्र—७३
शल्य क्रिया से निकाली गई मूत्र गवीनी की अश्मरी

चित्र ७४—वृक्कशूल—१. स्थिर शूल (बायीं ओर आगे की ओर का शूल-स्थान तथा दायीं ओर पीछे की ओर का शूल स्थान दर्शाया है)
२. बिन्दुदार रेखा द्वारा प्रसरणशील वृक्क शूल का मार्ग दिखाया है।

अनुलोमन होकर अश्मरी के टुकड़े-टुकड़े कर बाहर निकाल देती है वहां यह प्रतिलोमन कर उन्हें ऊपर ही रोक देती है और इस प्रकार मूत्रकृच्छ्र हो जाता है।

सापेक्ष निदान—

सापेक्षता की दृष्टि से कुछ रोग ऐसे हैं जिनको देखकर अश्मरी का भ्रम हो जाता है उनको संक्षेप में यहां उपस्थित किया जाता है—

(१) आंत्रिक शूल—इसमें उद्वेष्टन होता है, नाभि के चारों ओर पीड़ा होती है तथा तीव्र वेग से पीड़ा होती है। पीड़ा स्थान दबाने से कुछ आराम मिलता है। इसमें अतिसार नहीं होता, रक्तालपता नहीं होती, कष्ट बढ़ता रहता है। किसी भी अवस्था वाले को यह रोग हो सकता है जबकि अश्मरी में यथास्थान पीड़ा होती है, मूत्रावरोध तथा मलावरोध होता है।

(२) पैत्तिक शूल यह दक्षिण पार्श्व में आरम्भ हो कर दक्षिण स्कन्ध की ओर प्रसरण करता है। अनवरत शूल होता रहता है तथा वेगयुक्त होता है। इसमें कामला की संभावना रहती है तथा अन्य यकृद विकार के लक्षण भी मिलते हैं। चालीस वर्ष से ऊपर वालों के तथा अधिकतर विवाहित स्त्रियों में होता है। जबकि अश्मरी में ये लक्षण उपलब्ध नहीं होते।

(३) मूत्रावयवजनित शूल—कटि प्रदेश में पीड़ा तथा पीड़ा का प्रसार, मूत्र में शर्करा प्राप्ति तथा रक्त कणों की प्राप्ति तथा मूत्र विसर्जन में पीड़ा। बालक युवा तथा वृद्धों में समानतया उपलब्ध इसके लक्षण अश्मरी से मिलते हैं परन्तु आयु में भेद है। यों अश्मरी क्ष किरण परीक्षण द्वारा स्पष्ट की जा सकती है।

(४) आंत्रपुच्छजन्यशूल—उदर के दक्षिण भाग में नाभि के नीचे शूल तथा पीड़ा का प्रसार, वमन तथा ज्वर तेज होना; आध्मान, पीड़ा स्थान से प्रसरित वेदना, स्पर्श में स्थान काठिन्य ये लक्षण इस रोग के होते हैं। किसी भी वय के रोगी को यह रोग आघात कर सकता है। जबकि वृक्काश्मरी के सभी चिन्ह इससे भिन्न हैं।

(५) प्रमेह—अधिकतर सिकतामेह तथा शनैर्मेह का होना इस रोग से साम्यता रखता है। परन्तु इसमें अश्मरी रुकती नहीं, पीड़ा आदि का होना भी आवश्यक चिन्ह नहीं है। प्रमेह की ये दोनों ही जातियां हैं।

(६) मूत्र मार्ग या वृक्क में ग्रन्थि—इस रोग में मूत्र में रक्त अथवा पूय की उपस्थिति रहती है। दूषण स्थान पर पीड़ा होती है। बार बार मूत्र त्याग होता है। कर स्पर्श से ग्रंथि का स्पर्श होता है। परन्तु पीड़ा का प्रसरण अश्मरी की तरह नहीं होता। यह रोग भी क्ष किरण यन्त्र से स्पष्ट किया जा सकता है।

(७) उष्णवात (सुजाक)—में मूत्र में जलन, पूय विसर्जन तथा बार बार मूत्र का दाह के साथ विसर्जन, मूत्र कर लेने के बाद फिर मूत्र त्याग की इच्छा होना। ये लक्षण
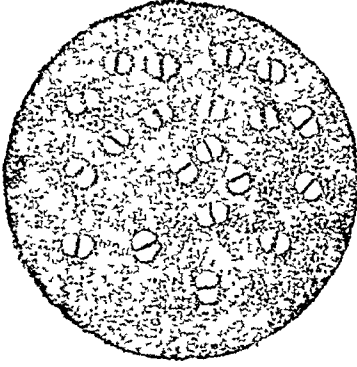
सुजाक के कीटाणु

चित्र—७५

अश्मरी में नहीं प्राप्त होते । मूत्र की अणुवीक्षण यंत्र द्वारा परीक्षा में सुजाक के जीवाणु की उपस्थिति तथा रक्त परीक्षा से उष्णवात रोग स्पष्ट हो सकता है ।

इसके सिवाय वृक्क शोथ, ओजोमेह, वृक्क प्रदाह, साधारण वृक्क शूल, वृक्कार्बुद आदि रोगों से भी वृक्काश्मरी को स्पष्टत: प्रथक किया जा सकता है जो अन्य लेखों का विषय है । साधारणत: वृक्काश्मरी एक कठिन रोग है जिसकी चिकित्सा शल्य साध्य है। परन्तु यह पूर्णत: निरापद नहीं है । आयुर्वेद में भी सुश्रुत ने इसकी शल्य चिकित्सा का वर्णन किया है जो क्रिया साध्य है । फिर भी कुछ औषधियां भी बताई गई हैं जो वृक्काश्मरी के निष्कासन में उपयोगी सिद्ध हुई हैं । उनमें एकौषधि, संयुक्त औषधि प्रयोग प्रथक प्रथक वर्णित हैं। यहां हम कुछ ऐसे योगों को उपस्थित कर रहे है जो इस रोग में लाभ करते हैं—

(१) कुलथी की दाल—इसे पानी में खूब उबाल कर अष्टमांश शेष रहने पर छान कर यवक्षार मिलाकर बार-बार पानी पीवें ।

(२) यव—को पानी में उबालकर अष्टमांश शेष रहने पर छान कर नीबू रस डालकर यवक्षार मिलाकर पान करें ।

(३) गोखरू—को चूर्ण कर पानी में उबाल कर चतुर्थांश शेष रहने पर छान कर पीवे ।

(४) मक्की की मूंछ (मक्की के बाल) को पानी में उबाल कर चतुर्थांश शेष रहने यवक्षार मिलाकर पान करे ।

(५) खरबूज का छिलका इसे उबाल कर चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर यवक्षार मिलाकर पीवे ।

(६) पपीते की जड़ — इसे कूटकर उबाल कर चतुर्थांश जल शेष रहने पर छानकर पीवें ।

(७) मूली की जड़-का रस उचित मात्रा में यवक्षार मिलाकर पीने से लाभ होता है ।

उपरोक्त एकौषधि जल को बार बार पीना चाहिए तब ही यह लाभ करता है । दिन में आठ दस बार पीवें । अन्य प्रयोग ये हैं—

१ पाषाण भेद चूर्ण मात्रा ४ ग्राम को गोक्षरू क्वाथ से पीने से लाभ होता है ।

२. यवक्षार ६ माशा—उपरोक्त किसी भी क्वाथ के साथ पीने से लाभ होता है ।

३. वीरतर्वादिगण—वीरतरु (Dichrostachya Cinria) शर, अरनी मूल, पियाबांस का लाल फूल, पियाबांस का नीला फूल, पियाबांस का पीला फूल, नरसल, मूर्वा नीलोफर, कुशमूल, अगस्त्य पुष्प, ब्राह्मी, काशमूल, दर्भमूल, अपामार्ग, गोखरू बड़ा पाषाण भेद अरलू ।

मात्रा १० ग्राम — विधिवत क्वाथ बनाकर दिन में ३ बार पीवें ।

४. अश्मरी हर कषाय—पाषाण भेद, सगौनं के बीज, पपीता की जड़, शतावरी, गोखरू बरना की छाल, कुश मूल, कासमूल धान्यमूल, पुनर्नवामूल (रक्त) गिलोय, चिचडामूल, ककड़ी के बीज, सभी १०-१० ग्राम, जटामांसी २० ग्रा., खुरासानी अजवायन २० ग्राम, (सिद्धयोग)

मात्रा १० ग्राम क्वाथ सिद्ध करे । १ ग्राम श्वेतपर्पटी मिलाकर पीवें ।

५ त्रिकण्टकादि क्वाथ—गोखरू, दर्भ, धमासा हरड़, अमलतास का गूदा, कास, पाषाणभेद—समभाग । मात्रा २० ग्रा. क्वाथ कर बार बार पीवें ।

६. पाषाण भेदादि क्वाथ—पाषाणभेद, वरुणत्वक, गोक्षरू, ब्राह्मी समान भाग ।

मात्रा २० ग्राम—विधिवत कषाय छानकर इसमें शिलाजतु, ककड़ी के बीज, खीरा के बीजों की गिरी का कल्क मिलाकर गुड़ डाल कर पीवें ।

७. वरुणादि क्वाथ—वरुणछाल, गोखरू, कुलथी, कास, ईख, सूंठ, मूसली, कुश, दर्भ, सर समान भाग मात्रा २० ग्रा. विधिवत क्वाथकर यवक्षार मिलाकर पीवें।

उपरोक्त सभी क्वाथ दिन में बार बार पिलाये जाने चाहिए। ये अकेले या अनुपान रूप में भी प्रयोग किये जा सकते हैं।

अन्य प्रयोग—

(१) सर्वतोभद्र वटी (स्वर्णयुक्त)-१/१० ग्रा, त्रिविक्रम रस १/१० ग्रा., बदर पाषाण भस्म १ ग्रा.। १ मात्रा इसे मधु से चाटकर ऊपर वरुणादि क्वाथ पीवें।

(२) बदर पाषण भस्म १ ग्राम, पाषण भिन्न रस आधा ग्राम। १ मात्रा वीरतर्वादि क्वाथ से।

(३) वरुणाद्य लोह १ ग्राम की मात्रा में त्रिकण्टकादि क्वाथ के साथ लेवें।

(४) वृक्क शूलान्तक चूर्ण—काला नमक, सज्जी-खार, नौसादर, यवक्षार सुहागे का फुला, अकरकरा, हींग, पिपरमिन्ट के फूल सभी समभाग। चूर्ण बनाकर मात्रा २ ग्राम।

(५) एलादि चूर्ण—छोटी इलायची दाने, पाषाणभेद, शुद्ध शिलाजीत पीपर बराठी इनका चूर्ण बनावें। मात्रा २ ग्राम कुलत्थ जल के साथ देवें।

(६) माजून हिज्रलयहूद—कद्दू के बीज, ककड़ी के बीज, खरबूजे के बीज इन सब का मगज ५-५ ग्राम, काकनुज ५ ग्राम, हिज्रल यहूद पिष्टी ५० ग्राम सबको कूट कपड़छन कर शहद में मिलाकर माजून बनालें। (तिब्बे अकबरी) मात्रा १-२ ग्राम अनुपान गोखरू क्वाथ।

(७) दानाह फिरङ्ग धारण—जिस वृक्क की ओर अश्मरी शूल हो उसी ओर की अनामिका अंगुली में इसकी अंगूठी बनाकर पहनने से लाभ होता है। दानाह त्वचा को स्पर्श करता रहे।

यह दानाह (रत्न) हरे रङ्ग का पत्थर होता है अन्य रत्नों की तरह अंगूठी में जड़वा कर पहना जा सकता है।

(राजेश्वर दत्त शास्त्री)

हिज्रल यहूद भस्म—हजरतबेर पत्थर को लाकर कूट लें, फिर धमासे के रस में पीसकर टिकिया बनाकर सुखाकर गजपुट दें। इसी प्रकार मूली के रस में टिकिया बनाकर एक पुट और दें। भस्म तैयार है। अधिक गुणों के लिये मूली के रस के और भी पुट दे सकते हैं।

मात्रा १ ग्राम। अनुपान विभिन्न।

त्रिविक्रम रस—ताम्रभस्म १० तोले को बकरी के १० तोले दूध में मिलाकर मन्दाग्नि पर पकावें। दूध सूख जाने पर १० तोले पारद तथा १० तोले गन्धक की कज्जली मिलाकर खरल करे फिर काले फूल की निर्गुण्डी की छाल के क्वाथ में ३ दिन खरलकर गोली बनावें। फिर सुखा कर शराव संपुट में बालुका यंत्र में रख कर १ प्रहर तीव्राग्नि दें। शीतल होने पर निकाल लें। मात्रा १/४ग्रा.

सर्वतोभद्रवटी—स्वर्ण भस्म, रौप्य भस्म, अभ्रक भस्म, लोह भस्म, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध गन्धक, सुवर्ण माक्षिक भस्म सम भाग—वरुणत्वक क्वाथ की भावना देकर खरल कर वटी बनावें। मात्रा १/१० ग्राम

इस योग में डाली जाने वाली स्वर्ण तथा अभ्रक भस्म कल्मी शोरे से बनाई गई हो तो अधिक लाभ करती है।

शीतल पर्पटी—मात्रा १ ग्राम—यह आयुर्वेद का प्रसिद्ध योग है। इसका प्रयोग अश्मरी खण्डन के किया जा सकता है।

इस रोग में पथ्यापथ्य का भी उतना ही ध्यान रखना चाहिए जितना औषधि सेवन का—

पथ्य पुराना चावल, यव, गोधूम की यवागू, कुलथी दाल, मूंग की दाल का जूस, चौलाई, मूली, लौकी, चौपतिया, खीरा, ककड़ी, खरबूजा, पपीता, नीबू, आर्द्रक, गो दुग्ध, छाछ, नारियल का पानी, चीनी आदि का सेवन उचित है।

अपथ्य—घृत, भारी चीज, अम्ल, विष्टम्भी, रूक्ष, गुड़ मूत्रावरोध ये सभी अपथ्य हैं।

आयुर्वेद में आज अनेक अश्मरी निकाल बाहर करने वाली औषधियां है जिनके आधार पर अनेक औषधि निर्माण शालाओं ने अपने पेटेन्ट योग बनाकर तैयार कर दिये हैं तथा जिनका नामकरण भी अंग्रेजी में कर दिया है जिससे डाक्टर लोग इनका प्रयोग कर सकें। वे सभी प्रयोग अपनी अपनी विशेषतायें रखते हैं।

—वैद्य पं० अम्बालाल जोशी आयुर्वेद केशरी
आयुर्वेदाचार्य, साहित्याचार्य
पुंगल पाड़ा, जोधपुर (राजस्थान)

वृक्कशूल

आचार्य पं० विश्वनाथ द्विवेदी

आचार्य विश्वनाथ जी द्विवेदी आयुर्वेद जगत के ख्याति प्राप्त चिकित्सक, लेखक एवं अनुसन्धारक हैं। एक दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित तथा २०० से ऊपर अनुसन्धानात्मक महानिबन्धों के निर्देशक तथा अखिल भारतीय इन्स्टीट्यूट ऑफ आयुर्वेदिक प्रशिक्षण व अनुसन्धान के निदेशक रह चुके हैं। आपका वृक्कशूल लेख अनुभूत योगों सहित भेजकर तथा डा० गणनाथ वी० द्विवेदी जी का 'अभ्रक सत्व भस्म का मधुमेह पर प्रभावात्मक उपयोग' लेख प्रेषित किया है एतदर्थ अनुग्रहीत हैं तथा आपका अभिनन्दन करते हुये हृदय से आभारी हैं। — विशेष सम्पादक 'धन्वन्तरि'

※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※

परिचय—वृक्कद्वय शरीर के मर्मत्रय में गिने जाते हैं। वृक्क एक अद्वितीय यंत्र है। यह पृष्ठवंश के १३ वीं, १४ वीं पर्शुकायों के क्षेत्र के नीचे उभयत: होते हैं। इनका आकार शूकशिम्बी के आकार का होता है। इनका कार्य जाग्रत और सुषुप्तावस्था में सदा होता रहता है। यह शरीर को स्वस्थ रखने के प्रधान यंत्र हैं। इनमें शिराओं द्वारा रक्त आता है और छनकर पुन: धमनियों द्वारा लौट जाता है। रक्त से जिन वस्तुओं की आवश्यकता रक्त में नहीं होती ये छानकर बाहर मूत्र द्वारा निकाल देते हैं। अत: मूत्र में यूरिया-अनेक प्रकार नमक छन जाते हैं और मूत्र में निकलते रहते हैं। जब वृक्क रुग्ण हो जाता है, उसमें शोथ होजाता है, अर्बुद या अन्य रोग होजाते हैं, अधिक काम करना पड़ता है तो यह कई प्रकार की वेदनाओं से युक्त हो जाता है।

निदान –

अधिक तीक्ष्ण, उष्ण-अम्ल व क्षार के सेवन से तथा अधिक द्विदल (दालें) या प्रोटीन के सेवन से आवास तथा अभिघात के कारण वृक्क का रोग होजाता है।

कियाहानि होने पर अनेक रोग जैसे प्रमेह के रोग वृक्क के रोग, रक्तह्रास, पांडुता स्वेदावरोध, त्वचा की क्रिया हानि अधिक मधुर से बने, मूत्र, मूत्र शर्करा, मूत्राश्मरी तथा हृदय के रोग होने से वृक्क को अधिक कार्य करना पड़ता है।

यह मर्मत्रय (हृदय, मस्तिष्क, वस्ति शिर) में गिना जाता है अत: इसके रुग्ण होने पर हृदय के रोग, मूत्र के रोग, मस्तिष्क के रोग हो जाते हैं। इनका आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है अत: एक के रुग्ण होते ही तीनों रुग्ण हो जाते हैं। वह चाहे आंशिक रूप में हो या विशिष्ट रूप में हों।

नया अन्न गुड़ के बने पदार्थ—अधिक आलस्य, अधिक सोना, दुग्ध के बने पदार्थ-दही के बने पदार्थ, मांस का सेवन अधिक करना, शर्वत अधिक पीना, सोडा क्षारीय द्रव पीना, अधिक चाय या काफी का पीना यह सब वृक्क के रोग पैदा करने में सहायक हैं। यों तो इसकी रचना प्रकृति ने ऐसी बनाई है कि यह रोगी नहीं होते—बारी बारी से आराम करते रहते हैं परन्तु अधिक काम होने पर इनमें रोग हो जाते हैं। यों तो प्रमेह इसका प्रधान रोग है। जब प्रभूत मूत्र होना-आविल (गंदला) मूत्र होना, कम मूत्र होना इसके प्रारम्भिक विकृति लक्षण हैं।

वृक्कशूल—जब वृक्क की उत्तिकाएं शोथयुक्त हों जब इनमें क्षय हो, जब अधिक आमिष सेवन से इनके

मुख बंद हो जाये या उत्सिका कम काम करे, जब मनुष्य अधिक दाल के बने पदार्थ खाये तो इनका मुख रुग्ण हो जाता है और रक्त छनने का काम कम हो जाता है। लालामेह (Albumen Urea) के देर तक बने रहने व चिकित्सा न करने से। क्षारीय पदार्थ, चूना, सुर्ती अधिक खाने से, जौ, मटर व वेसनके पदार्थ खाने से कई प्रकार के लवण मूत्र में उत्सर्जित होते हैं। क्षारों के उत्सर्जन से वृक्क खण्डों, उत्सिका, व पिरामिडों में (जो वृक्क की रचना के अंश हैं) क्षार संचय होता है तो कालान्तर में वह जमकर धीरे धीरे शर्करा व बरावर वृद्धि होने पर पथरी के छोटे कण के रूप में जमा होने लगते हैं और मूत्र के साथ उत्सर्जित होते हैं। बड़े होने पर गवीनी में अटक (फंस) जाते हैं और गवीनी में जाकर पतले भाग में अटक जाते हैं। तब भयंकर शूल पैदा होता है, छोटे होने पर बराबर प्रवाहिका होने से तीव्र वेदना होती है वृक्काश्मरी का रूप वन जाता है। वेदना के मारे रोगी चिल्लाता है रोता है। यह वेदना गवीनी में रुक जाने से होती है। किन्तु वेदना का क्रम कटि, पृष्ठ, वस्ति प्रदेश, मूत्रनलिका के अग्रभाग में ज्ञात होता है। वेदना के समय रोगी का मुंह लाल हो जाता है, पसीने छूटने लगते हैं और मूर्च्छित तक हो जाता है। चेहरा सफेद पीला होजाता है। यह वृक्काश्मरी जनित शूल होता है। वस्ति के रोग होने पर शूल होता है यूरिया के अधिक निकलने, वृक्कशोथ, (Nephritis) में भीवेदना होती है। वृक्कक्षय, वृक्क आघात व्रण में भी शूल होता है। अत: निदान हो जाने पर चिकित्सा उचित होती है। वृक्क शूल के अश्मरी जन्य शूल में निम्न औषधि की जाती है।

चित्र—७६
वृक्काश्मरी रोगी की खड़े होने की विशिष्ट आकृति

चिकित्सा—

स्नेहन-स्वेदन, औषधि (संशमन) सहयोगी अन्य औषधि प्रदान करना है।

स्नेहन—

(१) वृक्कप्रदेश या वेदनाके प्रदेश पर हिंगुत्रिगुण तैल या महानारायण तैल की मालिश कर उष्णतैलिक विधि से स्वेदन करना होता है। प्रगाढ़ स्वेद से कुछ व्यथा कमहोती है।

(२) एरण्ड मूल—मेंउड़ी के पत्र, धतूर पत्र का कल्क बना इसे एरण्ड तेल में गर्म कर पोटली से स्वेद लाभदायक होता है।

(३) गर्म पानी को रबर के थैले में भरकर तारपीन का तेल वेदना स्थान पर लगाकर स्वेद करना चाहिए।

औषधि—

वेदना हारक, वेदना शामक दवा देने से वेदना कम होजाती है। धीरे धीरे गवीनी में कण या अश्मरी का भाग निकल जाने से दर्द वन्द होता है। अहिफेन मिश्रित दवायें या इसके सत्व से बनी औषधियां देने से वेदना शांत होजाती है।

(१) वेदना स्थापन रस—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध कपूर और शुद्ध अहिफेन समभाग मिलाकर १-१ रत्ती की गोली वनाइये। किसी प्रकार की वेदना में १-२ गोली उष्ण जल से दें, दर्द वन्द होगा।

(२) वेदनाहर—आज अनेकों द्रव्य बाजार में मिलते हैं। दर्द बन्द न होने पर आधुनिक चिकित्सक मारफीन व कोडीन आदि का इन्जेक्शन देते हैं। रोगी वेहोश होकर सो जाता है। पेशी शैथिल्य शिरा शैथिल्य होकर अश्मरी मूत्राशय में पहुँचती है। वेदना शांत होती है।

स्थाई चिकित्सा - यह शूल अच्छा होने पर भी बार-बार होता है। अत: इसकी चिकित्सा स्थाई की जाती है। स्थायी चिकित्सा आयुर्वेद की ही होती है। अत: यह चिकित्सा दर्द बंद होने के बाद करनी चाहिए।

१. तारकेश्वर रस—१ रत्ती की मात्रा में वरुणादि

कषाय ५ तो. के साथ सेवन करें। लगातार सेवन से वृक्क शोथ समाप्त होकर अश्मरी शर्करा बन कर निकल जाती है। मार्ग साफ हो जाता है।

२. बदरीपाषाण भस्म—२ रत्ती की मात्रा में वरुणादि कषाय से लगातार २१ दिन या ४१ दिन देने से अश्मरी बनना बन्द हो जाती है। वृक्कदोष रहित और क्षार संग्रह नष्ट हो जाता है।

३. श्वेतपर्पटी १ माशा, बदरी पाषाण भस्म २ रत्ती की एक मात्रा बनाकर ऐसी दो मात्रायें नित्य लें—पथरी गलकर वह जायगी व गवीनी से निकल कर वस्ति में चली जायगी और मूत्र के साथ बाहर आ जायगी।

यह नं० २-३ के योग बहुत रोगियों पर परीक्षित हैं। मूत्रल सब योग हैं परन्तु यह सबसे अधिक मूत्रल है।

आयुर्वेद में तीव्र मूत्रल योग नहीं है। पंचतृण कषाय वरुणादि कषाय पाषाण भेद रस, पाषाण भेद के मूल का चूर्ण मूत्रल हैं परन्तु अधिक मूत्रल नहीं है। आधुनिक मूत्रल लैसिक्स के समान कोई योग आयुर्वेद के नहीं ठहरते किन्तु यह २ मात्रा में नं. ३ का मूत्रल व पाषाण भेदक है।

४. वृक्कशोथ में वरुणादि कषाय शोथ नाशक व मूत्रल है। तथा एंटीसेप्टिक है। अतः बल्य व मूत्रल देकर वृक्क को शक्तिशाली बना सकते हैं।

वृक्क को बलदायक दोपहर रस—

(१) वातकुशान्तक रस—१ से ३ रत्ती सद्यः बलदायक और शोथहर वेदनाहर रस है। इसको वेदना शांति की तरह प्रयोग करें।

(२) वसंत तिलक—यह वेदनाहर, शोथहर, वृक्कबल्य तथा वृक्ककार्य नियंत्रक रस है। इसे २-३ रत्ती तक की मात्रा में वरुणादि कषाय के साथ प्रयोग करें।

(४) वसंत कुसुमाकर रस—वृक्कशोथहर, वृक्कबल्य व बड़ी मात्रा (३-४ रत्ती) में मूत्र के छनने की शक्ति का नियामक, मूत्र अल्प लाने वाला बलदायक और मूत्र संग करने वाला रस है। वृक्काश्मरी, वृक्कशूल के बाद देवें।

(५) बहुमूत्रान्तक रस—वृक्क बल्य और वृक्कशूलहर भी है। बड़ा गोक्षुर बीज चूर्ण के साथ लाभप्रद है।

वृक्काश्मरी

डा. शिव पूजन सिंह कुशवाह एम.ए.

वृक्काश्मरी (गुर्दे की पथरी, रीनल कैल्कुलस Renal Calculas) एक भयंकर रोग है।

कारण—छोटे २ पत्थर चूरे को मूत्ररेणु (Gravel) कहते हैं। मूत्र रेणु श्वेत ईंट के चूरे की भांति लाल होती है। ये मूत्र रेणु ही आपस में मिलकर मटर की भांति,
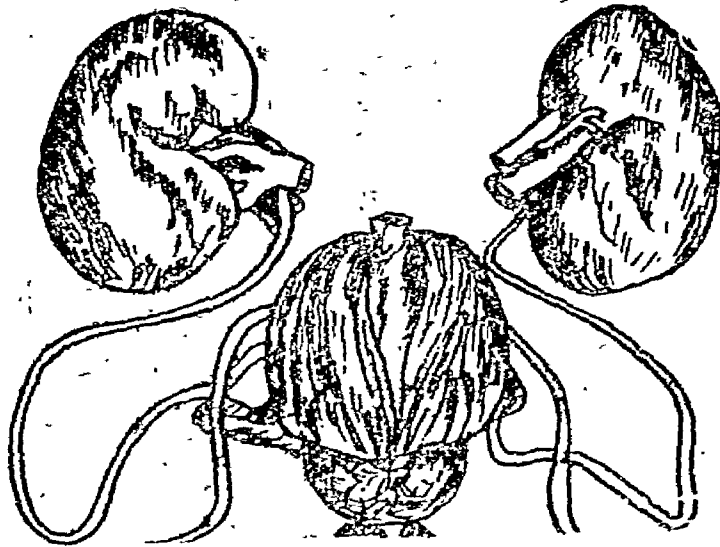
चित्र—७७

छोटे २ पत्थर बन जाते हैं। पथरी गोल, अण्डाकार, चिकनी, गर्म और आलू सदृश ३ इन्च मोटी भी हो सकती है। जिनके मूत्र में कैल्सियम आता है उनमें पथरी विशेष रूप से बनती है। इस रोग में मूत्र त्याग करते समय भीषण दर्द होता है, मूत्र रुक रुक कर आता है। कभी कभी वृक्क में सूजन व फोड़ा भी होजाता है, शिश्न के अग्रिम भाग में दर्द होता है। पथरी जब वृक्क से मूत्राशय (Kidney) में उतरती है तब वेदना के कारण रोगी उन्मत्त सा हो जाता है। रोगी का जी मिचलाता है, व वमन भी होता है। मूत्र त्याग के समय और बाद शिश्न-मुण्ड में 'वेदना' होने के साथ बारबार मूत्र हुआ करता है।

चित्र—७८
वृक्क स्थित अश्मरी
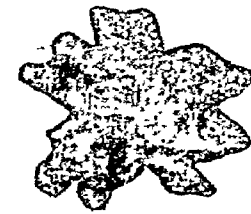
चित्र—७९
अश्मरी का एक प्रकार [इसे जैकस्टोन अश्मरी की भी संज्ञा दी गई है]

"चतस्रोऽश्मर्यो भवन्ति, श्लेष्माधिष्ठाना तद्यथाश्लेष्माण, वातेन, पित्तेन, शुक्रेण चेति"।

—(सुश्रुत संहिता, निदानस्थानम् अ० ३, श्लोक ३)

अर्थात्—अश्मरी चार प्रकार का है, श्लेष्मा इन अश्मरियों का अधिष्ठान (समवायी कारण) है। यथा—कफ जन्य, वातजन्य, पित्त जन्य, शुक्रजन्य।

"तत्रासंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसंपृक्तोऽनुप्रविश्य वस्तिमश्मरी जनयति ॥४॥

तासां पूर्वरूपाणि-ज्वरो वस्ति पीडारोचको मूत्रकृच्छ्र

बस्तिशिरोमुष्कशेफसां वेदना कृच्छ्रावसादो बस्तगन्धित्वं मूत्रस्येति ॥·॥ —(सुश्रुतसंहिता, निदानस्थानम् अ. ३)

अर्थ--सम्प्राप्ति-(वात-पित्त व कफ दोष जन्य अश्मरी की) असशोधनशील (जो वमन, विरेचन नहीं करता)।

अपथ्यकारी व्यक्ति में कफ कुपित होकर मूत्र के साथ मिलकर मूत्राशय में पहुँच कर अश्मरी को उत्पन्न करता है ॥·॥

ज्वर, बस्ति पीडा, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, बस्ति, शिर, मुष्क (अण्डकोष) और शिश्न में वेदना, ज्वर, कृच्छ्रावसाद, मूत्र वस्तगंध (बकरे की गंध) आना, ये अश्मरी के पूर्वरूप है ॥५॥
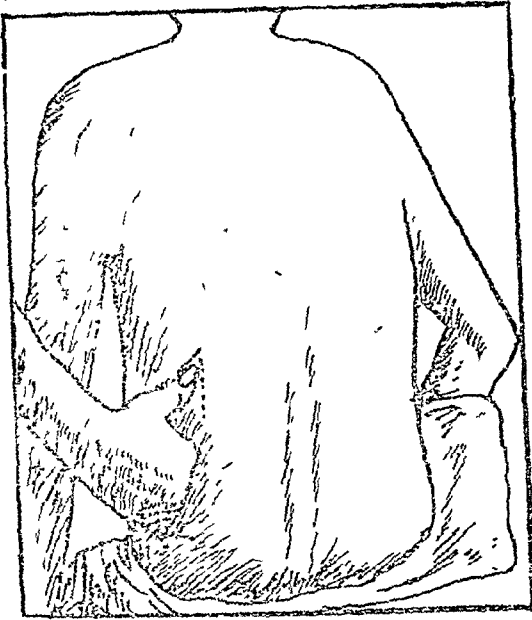
चित्र—८०
वृक्कशूल का स्थान

एकाएक मैथुन के रोकने से अथवा अति मैथुन के कारण अपने स्थान से चलायमान 'शुक्रमार्ग से बाहर न आकर ऊपर-नीचे पार्श्वस्थ दोनों धमनियों में एकत्रित होकर शिश्न,वृषण या मध्य में एकत्रित,गोलाकार बन जाता है। वायु इसको एकत्रित करके सुखा देती है। यह शुष्क शुक्रकी अश्मरी मूत्रमार्ग को बन्द कर देती है। इसको शुक्राश्मरी समझना चाहिए। १०॥

जिस प्रकार से घड़े में स्नेह पहुंच जाता है उसी प्रकार से वात, पित्त, कफ मूत्र के साथ मिलकर बस्ति में पहुंच कर अश्मरी रोग उत्पन्न करते हैं ॥२४॥

आयुर्वेदिक चिकित्सा—

(१) शृतं वा मधुरैः क्षीरं सर्पिर्मिश्रं पिबेन्नरः ।
मूत्रदोषविशुद्ध्यर्थं तथैवाश्मरिनाशनम् ॥४३॥
—सुश्रुतसंहिता, उत्तर तन्त्रम् अ० ५८
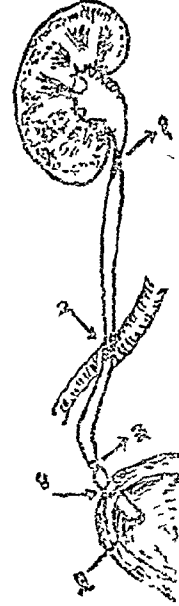
चित्र—८१

मूत्र गवीनी नलिका के चार स्वाभाविक संकुचित स्थल जहांकि वृक्काश्मरी अटककर शूल उत्पन्न कर सकती है।

१—गवीनी श्रोणि के तत्काल पश्चात्,

२—श्रोणिस्था महाधमनी (इलियक आर्ट्री) के सामने, ३ - शुक्रवाहिनी नलिका के सामने

४—मूत्राशय भित्ति में प्रवेश करते समय,

५—मूत्राशय में खुलने के स्थान पर।

अर्थ—काकोल्यादि मधुर गण से सिद्ध किया दूध घृत मिलाकर मनुष्य पीवें, इससे मूत्रदोष एवं अश्मरी नष्ट होते हैं।

(२) बलाश्वदंष्ट्राकोञ्चास्थि कोकिलाक्षकतण्डुलान ।
शतपर्वकमूलं च देवदारु सचित्रकम्॥ ४४॥

अक्षबीजं च सुरया कल्कीकृत्य पिवेन्नरः।
मूत्र-दोष विशुद्धयर्थं तथैवाश्मरि नाशनम्॥४५॥
— सुश्रुतसंहिता, उत्तरतंत्रम्, अ० ५८

अर्थ—वला, गोखरू, कौंच की अस्थि, ताल मखाना, चावल, शतपर्वक मूल (जल गांडीर, दूब), देवदारु, चित्रक, बहेड़े की मज्जा इनको सुरा× के साथ पीसकर सुरा से मनुष्य पीवें। इससे मूत्र दोषों का शोधन होता है और अश्मरी नष्ट होती है।

(३) मूली के रस में मिलाकर रोगी को दें।

(४) अरहर के पत्ते ६ माशा और संगेयहूद चार रत्ती दोनों को महीन पीसकर ठंडाई की भांति पिलाया करें। बहुत लाभप्रद प्रयोग है।

(५) कलमी शोरा ६ माशा, यवक्षार (जवाखार) ६ माशा दोनों को बारीक पीसकर समानमात्रा में शक्कर मिलालें। ठंडे पानी के साथ तीन माशे की मात्रा दिया करें। वृक्काश्मरी के लिए रामवाण है।

(६) कलमीशोरा, जवाखार, नौसादर प्रत्येक ४-४ रत्ती, गन्ने का रस २ तोले, नींबू का रस ६ माशे इतनी एक खुराक है। सबको मिलाकर कुछ दिनों तक सेवन करने से पथरी गल जाती है।

(७) वंशलोचन (तवाशीर पंजावी में), गोखरू, सुरमा-श्वेत, कलमीशोरा, जवाखार प्रत्येक २-२ माशे सवको कूटपीस कर दश पुड़िया बनालें और १-१ पुड़िया २-२ घंटे के अन्तर से बकरी के दूध की लस्सी के साथ खाने से पथरी व गुर्दे का दर्द दूर होता है।

(८) पेठे के रस में शक्कर जाना तथा पथरी रोग में लाभ होता है।

(९) सहजने के जड़ का क्वाथ (काढ़ा) गुनगुना गर्म पीने से पथरी रोग नष्ट हो जाता है।

(१०) कटेरी के स्वरस में शहद मिलाकर पीने से पथरी तथा भयङ्कर मूत्रकृच्छ रोग में लाभ होता है।

(११) कुटज (कुड़े) की छाल को पीस कर दही में मिलाकर खाने से बहुत पुरानी अश्मरी भी ठीक होती है।

(१२) तीन माशे गोखरू के बीजों के चूर्ण को शहद में मिलाकर तथा भेड़ी के दूध में घोल कर सात दिन तक पीने से हर प्रकार की पथरी दूर होती है।

(१३) करञ्ज के पत्तों का खार (क्षार) २ माशा को १ तोला शहद में मिलाकर पीने से पथरी गल जाती है।

(१४) गुलदाऊदी के पत्तों का क्वाथ बनाकर पीने से पथरी ठीक होती है। उसमें समभाग चीनी मिलाकर दो।

(१५) चौलाई का शाक खाते रहने से पथरी ठीक हो जाती है।

(१६) तिल के पौधे का खार (क्षार) २ माशा को गन्ने के सिरका २ तोला में मिलाकर पीने से पथरी गल जाती है।

(१७) जंगली कपोत की बीट ८ माशा तथा शक्कर ८ माशा इन दोनों को मिलाकर पानी के साथ फांकने से पथरी रोग दूर हो जाता है।

आयुर्वेदिक इन्जेक्शन—

[१] अरण्य तुलसी ('सिद्धि' व जी० ए० मिश्रा) वन तुलसी (बुन्देलखण्ड आयु० फार्मेसी) १-२ सी. सी. मांस में लगाने से लाभ होता है।

[२] इन्द्रायण (लक्ष्मी, बुन्देलखंड, सिद्धि, आदर्श, मिश्र, ए० बी० एम) १ से ३ सी.सी. नित्य या सप्ताह में ३-४ बार मांस या नस में लगावें।

[३] कसीस (लक्ष्मी आयुर्वेद अनुसन्धान भवन) १ से २ सी.सी सप्ताह में २ या ३ बार मांस में लगावें।

[४] गोखरू (आदर्श, जी० ए० मिश्रा, बुन्देलखण्ड व लक्ष्मी)। २ सी.सी. सप्ताह में ३ बार मांस में लगावें।

[५] पाषाणभेद (मिश्र व बुन्देलखण्ड)। २ सी.सी. नित्य मांस में लगाने से लाभ होता है।

[६] मूत्रल (ए. बी. एम. रिसर्च इन्स्टीट्यूट)। रोगानुसार २ सी. सी. नितम्ब में लगावें।

एक एम्पुल में हपुषा, पुनर्नवा, कंकोल, भूमि आंवला प्रत्येक ०.०१६-०.०१६ ग्राम, यवक्षार ०.००८ ग्राम, परिश्रुत जल २ सी सी. मिश्रण है। ६ से १५ सूई लगावें। इससे पथरी छोटे २ टुकड़ों में टूट कर मूत्र के साथ निकलती है।

× सुरा=शराव, जल। यहां सुरा से तात्पर्य शराव ही प्रतीत होता है। जो लोग मद्यपान न करते हों उनके लिए वेकार है।—(लेखक)

वृक्काश्मरी में होमियोपैथिक प्रयोग—

(१) वरवेरिस Q—५-५ बूंद गर्म पानी में दर्द के समय १५ मिनट के अन्तर से देने से दर्द में आराम होगा।

(२) लाइकोडियम ६—मूत्र में लाललाल तलछट जमे तो दिन में ३ बार कुछ दिन तक दें।

(३) फास्फोरिक एसिड २ × —यदि मूत्र में फास्फेट अधिक आते हों।

(४) लीथियमकार्ब ३ × यदि पथरी गुर्दे में न होकर मूत्राशय में हो तो इस औषधि के कुछ दिनों तक सेवन से पथरी गल जाती है।

(५) औसिमम फेनम २००, डायस्कोरिया १ ×, कैन्थेरिस ६ भी लाभप्रद हैं।

वायोकेमिक चिकित्सा—

(१) नेट्रम फास्फोरिकम (Natrum Phosphoricum) ३ × . देना चाहिये।

ऐलोपैथिक-आयुर्वेदिक मिश्रित औषधि—

पोटाश साइट्रास, थियोब्रोमीन, हजरलजहूर १-१ भाग, पोटासनाइट्राश ५ भाग, श्वेतजीरा, कलमीशोरा संगसेरमाही १-१ भाग लें। सबको कूट-छान करके टींचर एसफोपारी ५ भाग, टींचर आयोसाइनम ५ भाग मिलाकर खूब महीन खरल करें।

सेवन विधि—आधा से १ ड्राम तक प्रातः सायं शर्बत बजूरी ० ग्राम के साथ दें। बिना शस्य क्रिया के पथरी टूटकर निकलती है। मूत्र खुलकर आता है। यह पूयमेह (उष्णवात, सुजाक) में भी उपयोगी है।

वृक्काश्मरी में ऐलोपैथिक औषधियां—

(१) मर्क कम्पनी की 'यूपेको' एक एक टिकिया दिन में तीन बार देने से रोग अधिकार में रहता है।

(२) एमोनियम क्लोराइड टेब्लेट (कैराटोनकोर)—साढ़े सात ग्रेन की गोली दिन में तीन बार दें।

(३) एसेएण्टासाइड (क्रुक्स)—१-१ गोली दिन में चार बार दें

(४) केमीनोडीए (केमोफार्मा)—पथरी बनने से रोकने में १-२ गोली चबवायें।

(५) साइट्रासोल (बंगाल केमिकल)—२-२ चम्मच दिन में चार बार दें।

(६) लाल लीथिया (एस. पी.) १-१ छोटी चम्मच दिन में ३ बार दें।

(७) सिस्टोन टेब्लेट्स (हिमालय)—१ से ३ गोलियां दिन में ३ बार दें। (यह आयुर्वेदिक योग है)।

(८) नियोट्रोपिन (Neotropin)—यह बरलिन जर्मनी की बनी हुई है। गर्म गर्म दूध के साथ या गर्म पानी के साथ सेवन करने से रेत, कंकरी तथा पथरी आदि विकार गल कर मूत्र के साथ बाहर निकल आती हैं। यदि मूत्र पीला या लाल आवे तो चिन्ता न करें। यह टिकिया है।

इञ्जेक्शन—

[१] एट्रोपीन (बंगाल इम्युनिटि) १/१०० ग्रेन चर्म में लगावें। शूल में लाभप्रद है।

[२] ट्रासेण्टिन (सीबा) मांस में लगावें।

[३] नोवाल्जिन (हैक्स्ट कं०)—५ सी.सी. नस में लगावें।

[४] यूनल्जिन (यूनीकम)—१० सी. सी. नस में धीरे-२ लगावें।

[५] विस्कार्डिन (बी. डी. एच.)—एक एम्पुल प्रतिदिन २ बार मांस में दें।

※ पृष्ठ २३१ का शेषांश ※

वर्क्स, मानिक चौक, झांसी]—बड़ों को १-२ सी. सी. बच्चों को आधा सी. सी. नित्य मांस में दें।

(५) गोखरू [आदर्श आयुर्वेद अनुसन्धान भवन, टीकमगढ़, जी. ए. मिश्रा फार्मेसी, बुन्देलखंड, लक्ष्मी आयुर्वेदिक अनुसंधान भवन, झांसी]—२ सी. सी. सप्ताह में २-३ बार मांस में लगाने से लाभ होता है।

ऐलोपैथिक औषधियां—

पेटेण्ट टेब्लेट

१. नेप्टल (एम बी.)—१ टिकिया दें। यह तीव्र मूत्रल है।
२. इसीड्रेक्स (सीबा)—आधा से १ टिकिया आवश्यकतानुसार दें।
३. थेसीनाल (थेमिस कं)—२ टिकिया ३ बार दें।
४. कैल्सियम डायोरिटिन: (२ गोली दिन में ३ बार दें।
५. नियो बेफलेस (ग्लेक्सो) १-१गोली आवश्यकतानुसार दें
६. नेफिल (फीजर)—१-१ गोली दें। यह तीव्र मूत्रल है।
७. सिल्लारिन (सैण्डोज)—पुरानी शोथ में १-२ टिकिया ३ बार दें।
८. सेनहिस्टामाइन (वार्नर)—२ गोली दिन में ४ बार दें।

वृक्क शोथ

कवि. डा. गिरिधारीलाल मिश्र

☆ ★ ☆

शरीर के विजातीय व दूषित पदार्थों को मूत्रमार्ग द्वारा वहिष्कृत कर स्वास्थ्य को बनाये रखना वृक्क का प्रमुख कार्य है एतदर्थ हृदय-मस्तिष्क की तरह वृक्क भी शरीर के प्रमुख अवयव हैं तथा हृदयादि की क्रियाएं इसके साथ अन्योन्याश्रित हैं। यही कारण है कि जब वृक्क का कार्य ठीक से सम्पन्न नहीं होता और त्याज्य हानिकारक पदार्थों का मूत्रमार्ग द्वारा निस्सरण नहीं होता तो वे रक्त में मिलकर अनेक प्रकार के सार्वदैहिक दुष्प्रभावों का शरीर में प्रादुर्भाव करते हैं। इस प्रकार का विकार एकांगी होते हुए भी उसका प्रभाव सार्वदैहिक होता है।

वृक्क शोथ (Nephritis)—

वृक्क की सूक्ष्म प्रणालियों (वृक्क का स्रावक भाव Nephron), धमनी गुच्छों ग्लोमेरुलस (Glomerulus) व उसके ट्यूबूल्स के प्रारम्भिक तथा औपस्तम्भिक भाग में शोथ होने को वृक्क शोथ कहते हैं क्योंकि मूत्रस्रवण व निर्माण के लिए वृक्कस्थ सूक्ष्मक स्रावक नेफ्राम हैं इसलिए इसे Nephritis कहते हैं। डा० रिचार्ड ब्राइट (१७८०-१८५८) ने सन् १८२७ में पहले पहले यह घोषित किया कि यदि मूत्र गरम करने पर जम जाय अर्थात् मूत्र में एल्ब्यूमिन हो तथा सारे शरीर में शोथ दिखाई पड़े तो वृक्कों के रुग्ण होने की आशंका करनी चाहिए। अतः इस रोग को आधुनिक चिकित्सक ब्राइटामय (Bright's disease) भी कहते हैं।

आयुर्वेद में जिस प्रकार ज्वर, ज्वरातिसार, संग्रहणी, अर्श, यक्ष्मा आदि रोगाधिकार के रूप में रोगों का वर्णन है उसी प्रकार से वृक्क रोगाधिकार के रूप में स्वतन्त्र वर्णन न होने के कारण आयुर्वेदज्ञों की यह धारणा है कि आयुर्वेद में वृक्क रोगों का वर्णन नहीं है व प्रमेह रोगाधिकार में ही जो संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध है उसी में वृक्क रोगों का भी समावेश है। आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से वृक्कशोथ को वात-पित्त-कफ भेद से विभक्त किया जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार वृक्कशोथ का वर्गीकरण निम्न तालिकानुसार किया जा सकता है—
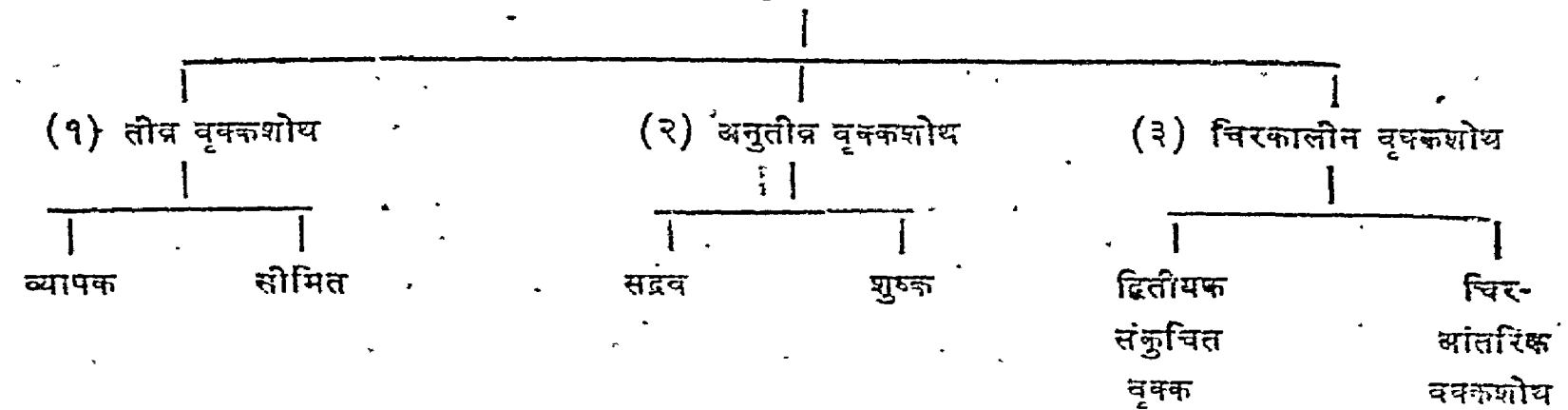
(१) प्रथमावस्था—इसको तीव्र अवस्था भी कहते हैं इसमें मुख्यतया गुत्सक (Glomeruli) विकृत होते हैं। विकृति का स्वरूप प्रसरणशील (Proliferative) होता है तथा मुख्य लक्षण मूत्र में पाये जाते हैं।

(२) द्वितीयावस्था—इसको अनुतीव्र (Sub-acute) अवस्था भी कहते हैं। मूत्रनलिकायें (Tubules) में विकृति होती है और मुख्य लक्षण सर्वाङ्ग शोथ रहता है।

(३) तृतीयावस्था—इसको जीर्ण (Chronic) अवस्था कहते हैं। वृक्कों का अन्तराल धातु विकृत होता है तथा मुख्य लक्षण उच्च रक्तचाप तथा वृक्क कार्य हानि होते हैं।

तीव्र वृक्कशोथ

पर्याय—तीव्र गुत्सकीय वृक्कशोथ (Acute Glomerulo nephritis), तीव्र रक्तस्रावी वृक्कशोथ (Acute Hemorrhagic Nephritis)

तीव्र वृक्कशोथ—इस रोग में वृक्कों के धमनी गुच्छ (ग्लोमेरुलाई) में शोथ होता है। मूत्र स्राविणियों (ट्यूवल्स) में शोथ नहीं होती या कम होती है। जब ग्लोमेरूलाई में सूजन हो जाती है तब मूत्र में एल्ब्युमिन छन जाता है और मूत्र की मात्रा कम हो जाती है।

हेतुकी—

(१) उपसर्ग—इस रोग का प्रमुख कारण उपसर्ग है। ६०% रोगियों में उपसर्ग का इतिहास मिलता है और ७०% से अधिक रोगी गले और श्वसन संस्थान के रोगी होते हैं जैसे गलक्षत, तुण्डिका शोथ, मध्य कर्णशोथ, कनफेर, लोहित ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका, विषम ज्वर, आमवात, उपदंश, मसूरिका, कालीखांसी, न्यूमोनिया आदि।

उपसर्गकारी जीवाणुओं में प्रधान मालागोलाणु (स्ट्रेप्टोकोकाई) और मालागोलाणुओं में प्रधान शोणांशिक (Hemolytic) प्रकार का होता है। अनेक बार तुण्डिकोच्छेदव (Tonsillectomy) के पश्चात् २-३ सप्ताह में यह रोग होता है। गलक्षत के साथ भी इस रोग का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(२) त्वग्विकार—वृक्क और त्वचा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्वग्दग्ध (Burns), चमशोथ, विसर्प, फोड़े-फुन्सियों इत्यादि पूययुक्त त्वग्विकारों में भी इसके होने की सम्भावना रहती है। वर्षा में भीग जाने व सर्दी लग जाने तथा कभी कभी वृक्क प्रदेश पर अत्यधिक शीत लग जाने के कारण वृक्कशोथ हो जाता है।

(३) आयु-लिंग—तीव्र रूप में यह रोग ३ से १० वर्ष के बीच बाल्यावस्था में होता है। लड़कियों से लड़कों में अधिक पाया जाता है। वैसे यह रोग स्त्री-पुरुषों दोनों में ही ३० से ४० वर्ष की आयु में अधिक पाया जाता है। जिन बालकों में यह रोग पाया जाता है उनमें तुण्डीकेरी या त्वचा पिडिका, अग्निदग्ध आदि कोई रोग स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से होकर वहां से हीमोलिटिक-स्ट्रेप्टोकोकस का संक्रमण वृक्कों में होकर इसका आक्रमण हो जाता है।

(४) आहार—मद्य पीने वालों में इस रोग के होने की सम्भावना अधिक रहती है। वैसे प्राभूजिनों (प्रोटीन) की भोजन में अधिकता तथा प्रांगोदियों (कार्बोहाइड्रेट) की अल्पता से यह रोग बढ़ता है।

(५) प्रसार यह रोग अकेला-दुकेला हुआ करता है परन्तु अनेक बार परिवार, पाठशाला, छात्रावास, जनसम्पर्क के सार्वजनिक स्थान, इनमें एक समय में अनेक व्यक्ति पीड़ित हुये दिखाई देते हैं जिनसे गृहणशील व्यक्तियों द्वारा फैलने वाला माना जाता है।

(६) विष—कुछ विषैले द्रव्य ऐसे हैं जिनके प्रयोग से वृक्कों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। इनमें कार्बोलिक एसिड, तारपीन तैल तथा पारद के योग एवं फासफोरस तथा बैरोजे का तैल विशेष महत्व रखते हैं। कभी कभी गर्भावस्थाजनित विषमयता भी रोग का कारण बन जाती है।

(७) शरीर के अन्दर ही Auto-immunity or Autoallergy की प्रक्रिया के हो जाने से वृक्क शोथ का रोग होता है अतः यह एक Auto immunity से होने वाला रोग माना जाता है। इसलिये बहुत से रोगियों के सीरम में एण्टीस्ट्रेप्टोलाइसिन जो इस जीवाणु के संक्रमण के सूचक होते हैं, पाये जाते हैं।

विकृति—

इसमें दोनों वृक्क विकृत होते हैं। वृक्कों की अभिवृद्धि होती है किन्तु आकृति ज्यों की त्यों रहती है उनका तल लगभग दुगुना होता है। वृक्काभिवृद्धि तीव्र वृक्कशोथ की खास पहचान है। रुग्ण वृक्कों की स्थूल परीक्षा करने

पर उसके अन्तर्वल्तु या खोल में रक्तस्राव के लाल दाने दीखते हैं तथा सूक्ष्म परीक्षण से पता चलता है कि जैसे विष ने उनके धमनी गुच्छों (ग्लोमेरूलाई) की धमनियों पर दुष्प्रभाव करके उन्हें सुजा दिया हो। इस रोग में वृक्कों के प्रत्येक अंगों में विकृति होती है परन्तु धमनी गुच्छों में मुख्यतया अधिक विकृति होती है इसलिए इस रोग को ग्लोमेरूलो वृक्क शोथ कहते हैं। इस रोग में निम्न विकृतियां प्रमुख रूप में मिलती हैं—

(१) धमनी गुच्छकों के बाहर जो अधिच्छदीय कोषायें होती हैं वे फूलकर मोटी हो जाती हैं तथा उनके भीतर का रास्ता बन्द सा हो जाता है जिससे रक्त स्वल्प मात्रा में ही आता है तथा उनके अनेक मोड़ों में तो रक्त बहना ही बन्द हो जाता है जिससे मूत्राल्पता उत्पन्न होती है।

(२) वृक्कों में प्राणवायु की कमी होने से रक्तचाप बढ़ने लगता है तथा कोशिकाओं की दीवाल से शुक्लि का उत्सर्ग होता है।

(३) धमनी गुच्छ के मोड़ों (loops) का बहिस्तर (इपीथीलियम) भी फूलकर मोटा हो जाता है जिससे दो मोड़ों के बीच का प्रदेश भर सा जाता है। इस सूजे हुये बहिस्तर के अनेकानेक सैल क्षीण होकर झर जाते है एवं अन्दर के रिक्त स्थान में बह जाते हैं। सूजे हुये मोड़ों या लूप्स पर से श्लेष्मस्राव भी अधिक मात्रा में निकलता है। इस श्लेष्मस्राव के द्वारा मोड़ों में रक्तकण, श्वेतकण, अलब्यूमिन, फाइब्रिन भी कैप्सूल के अन्दर के खाली स्थान में आते हैं तथा मूत्र द्वारा बाहर निकलते रहते हैं।

(४) जब यह रोग मालागोलाणुजन्य गले की खराबी से होता है तब उसमें रोग बार बार आक्रमण होने की प्रवृत्ति रहती है और वृक्क विकृति का उपशम न होकर वह जीर्ण होने लगती है।

(५) वृक्कों के अतिरिक्त अन्य अङ्गों की कोशिकाओं की प्राचीर भी विष के कारण विकृत होती है।

(६) इस रोग में Tubules तथा वृक्क की रक्तवाहिनियों में कोई विशेष विकृति नहीं होती बल्कि धमनी गुच्छों में ही प्रमुख रूप से विकृति होती हैं।

(७) संक्षेप में तीव्र वृक्क शोथ में प्रफलन (Proliferation), अनुतीव्र में अपजनन (Degeneration) और जीर्ण अवस्था में क्षय (Atrophy) तथा व्रणवस्तु भवन (Scarring) अधिक होता है।

सम्प्राप्ति—वृक्कशोथ उपसर्गजन्य होने पर भी उपसर्ग के जीवाणु न रक्त में और न वृक्क में पाये जाते हैं तथा नहीं मूत्र से उत्सर्जित होते हैं बल्कि जिन औपसर्गिक रोगों से यह रोग होता है उपसर्गों की निवृति के पश्चात् होता है, जीवाणुजन्य विष रोगोत्पादक होने से विकार प्रस्तुत होते हैं। तीव्रावस्था में वृक्कों के बहुत कम गुत्सक (Glomeruli) बचते हैं। इस विकार में जीवाणुजन्य विष से गुत्सकीय वृक्कशोथ उत्पन्न होता है।

लक्षण—

गले की खराबी, तुण्डीकेरी, आमवात इत्यादि

(१) पूर्ववर्ति रोगों के ठीक होने के पश्चात् यकायक आंखों पर तथा शरीर पर शोथ और मूत्र विकृति इस रोग का सूचक है। मूत्र विकृति में लाल कणों की उपस्थिति सर्वाधिक महत्व की है। इनकी उपस्थिति के कारण ही यह रोग रक्तस्रावी ब्राइट का रोग कहलाता है। अधिक रक्त साधारणतया ४०% रोगियों में पाया जाता है।

(२) रोग का प्रारम्भ प्रायः यकायक होता है-या कभी कभी प्रारम्भ धीरे धीरे भी हो सकता है। इस अवस्था में वास्तविक लक्षण प्रारम्भ होने से पूर्व जी मिचलाना, वमन, पित्त प्रवृत्ति, उदर में पीड़ा सिर दर्द इत्यादि लक्षण होते हैं।

(३) ज्वर—तीव्ररूप में तीव्र संक्रमण के कारण सर्दी लगकर सहसा ज्वर का आक्रमण होता है और १०२-१०४ डिग्री फा० तक हो जाता है जो बराबर बना रहता है या न्यूनाधिक हो जाता है और बीच बीच में उतर भी जाता है जिससे विषम ज्वर का भ्रम हो सकता है।

(४) यूरीमिया के लक्षण जल्दी आ सकते हैं—बार बार वमन होना, तन्द्रा, सिर दर्द, श्वास कृच्छ्रता तथा श्वास कृच्छ्र के साथ खांसी होना तथा सर्वाङ्ग शैथिल्य पाण्डुता वृक्क प्रदेश पर मन्द मन्द दर्द, वृक्क स्पर्शाक्षमत्व एवं मूत्र में यूरिया का परिमाण सामान्य अवस्था से थोड़ा बढ़ा हुआ मिलता है।

(५) शोथ—तीव्र वृक्कशोथ का यह एक प्रधान लक्षण है। प्रायः प्रातः उठते समय यह प्रथम दिखाई देती

है। इसका प्रारम्भ सर्वप्रथम आंखों के नीचे शिथिल वर्तुल मांसपेशियों में दीखता है। तत्पश्चात् वृषण, गुह्यभाग और पैरों पर तथा पीठ पर दीखता है। यदि अधिक बढ़ गया हो तो फुफ्फुस, हृदय, उदर इत्यादि अङ्गों के आवरणों में जल संचय होता है।

(६) रक्तचाप—रक्त का दबाव बढ़ जाता है तथा नाड़ी कठिन होकर उसकी गति कुछ अधिक रहती है। महाधमनी का द्वितीय शब्द स्पष्ट हो जाता है पर हृदय वृद्धि नहीं होती।

(७) मूत्र—मूत्राशय के विक्षुब्ध रहने से मूत्र बार बार लगभग आधा आधा घण्टे पर थोड़ा थोड़ा आता है तथा जलन के साथ आता है। उसमें पूय तथा कुछ रक्त का अंश भी (Pyuria, Haematuria) होता है अर्थात् मूत्र में पूय तथा जीवाणु तथा श्वेतरक्तकण भी होते हैं जिससे यह धुंधला और दुर्गन्धित होता है अर्थात् Colon Bacilli होने पर उसमें मछलीकी सी बू आती है और प्रोटीन के संक्रमण से उसमें अमोनियां की सी बू आती है। मूत्र में प्रायः एल्ब्युमिन पर्याप्त मात्रा में रहता है यहां तक कि कई बार मूत्र उबालने पर ठोस हो जाता है। मूत्र की मात्रा कम होती है, कई बार दिन भर में केवल १०-२० औंस या इससे भी कम मूत्र आता है परिणामतः आपेक्षिक गुरुत्व अधिक होता है। मूत्र प्रबल अम्लीय प्रतिक्रिया का होता है तथा गंदला, धुंधियाला तथा रक्त की उपस्थिति के कारण गहरा भूरे रङ्ग का रहता है।

(८) रक्त—रक्त में श्वेत कणों की संख्या १०-१५ हजार क्युबिक मि.लि. पाई जाती है जिसमें Polymorphonuclear नामक श्वेतकण विशेष बढ़े होते हैं।

(९) नाड़ी की गति—तापमान की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है।

(१०) रोगी को मलबन्ध बना रहता है। यह रोग चिकित्सा साध्य है पर उचित चिकित्सा न मिलने पर चिरस्थायी रूप ले लेता है और वृक्क निपात व रक्तचाप वृद्धि उपद्रवों का कारण बनता है।

सीमित प्रकार का वृक्क शोथ—

वृक्कशोथ की यह विकृति प्रायः बाल्यावस्था में ही मिलती है। इसमें विकृति ग्लोमेरुलाई के कुछ ही भाग में सीमित रहती है। इसमें वृक्क की असमर्थता, रक्तचाप की वृद्धि व रक्त में यूरिया की वृद्धि आदि लक्षण नहीं मिलते। यह रोग विशेषतः बाल्यावस्था में ही होता है। रोगी बालक के कटिप्रदेश व वृक्क क्षेत्र पर पीड़ा होती है तथा उसे दबाने पर दर्द अनुभव करता है। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ४-५ दिन तक १०० डि. फा. मन्द ज्वर तथा ज्वर के साथ कै, शिरःशूल उपस्थित रहता है। रक्त मिला हुआ भूरा रङ्ग का मूत्र आता है। मूत्र परीक्षा से मूत्र में रक्त के लाल कण, श्वेतकण तथा कुछ निर्मोक (Casts) मिलते हैं। नाड़ी की गति तीव्र तथा रोगी का रङ्ग फीका सा लगता है। मूत्र में एल्ब्युमिन रहता है।

रोग के उपद्रव—रोग की उग्रावस्था में निम्न उपद्रव मृत्युकारक होते हैं—

(१) वृक्कातिपात (Renal failure)—अल्पमूत्रता या अमूत्रता होने वाले रोगियों में यह उपद्रव हुआ करता है। इससे रक्त मे भूयाति विधारण होकर वमन, प्रवाहिका, सिरदर्द, कम्प, आक्षेप इत्यादि मूत्र विषमयता के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(२) हृदयातिपात—फुफ्फुस में सूजन होकर श्वासकृच्छ्र होता है। सिरागत तथा धमनीगत रक्तचाप की वृद्धि, हृदयाभिवृद्धि व हृदयातिपात हुआ करता है।

(३) शोथवृद्धि—त्वचा की सूजन परिहृदय, परिफुफ्फुस, पर्युदर इत्यादि आभ्यन्तरीय अङ्गों में प्रविष्ट होकर जलोदर आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

(४) मस्तिष्क विकृति—यह उपद्रव बच्चों में रक्तनिपीड की अधिकता के कारण होता है। इसमें मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों में ऐंठन उत्पन्न होती है और वमन, अन्धता, आक्षेप, क्षणिक अङ्गघात आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(५) अनेक बार रोग की उग्रावस्था में उपसर्ग—फुफ्फुसपाक, परिफुफ्फुस शोथ, परिहृदय शोथ, पर्युदर शोथ इत्यादि औपसर्गिक रोग उत्पन्न होते हैं।

साध्यासाध्यता—

साध्यता—यह रोग सौम्य रहता है, चिकित्सा शीघ्र प्रारम्भ की जाती है तब प्रायः दो सप्ताह में सुधार होने लगता, मूत्र की राशि बढ़ने लगती है, चार सप्ताह के पूर्व मूत्र शुक्लिनिर्मुक्त (Albuminfree) होता है और ४-६ सप्ताह में मूत्र में लाल कण भी अदृश्य हो जाते हैं। मूत्र में रक्त के लाल कणों का न मिलना रोगानिवृत्ति का

प्रधान चिन्ह होता है। रक्तचाप तथा अवसादन गति का स्वाभाविक हो जाना तथा वर्ष भर में पुनरावर्तन न होना रोग के पूर्ण उपशम के लक्षण हैं।

असाध्यता—रोग उपशमन के उपरोक्त लक्षण २-४ मास तक न दिखाई दे तथा सर्वाङ्ग शोथ बढ़ती जाय तो समझना चाहिए कि रोग जीर्ण हो रहा है। फुफ्फुस, मस्तिष्क, स्वरयन्त्र इत्यादि में शोथ हो जाय तथा अभ्यन्तरीय उदर-अन्त्रादि अवयवों में जल संचय (जलोदर) हो जाव। रक्त निपीड बढ़ता जाय तथा मूत्र की राशि घटती जाय तो समझना चाहिये कि रोग असाध्य हो गया है।

मृत्यु प्रायः मूत्र विषमयता होकर वृक्कातिपात, हृदय-दौर्बल्य, रक्तचापवृद्धि, हृदयातिपात, फुफ्फुस, स्वरयन्त्र में सूजन होकर प्राणावरोध से हुआ करती है। इस प्रकार तीव्र वृक्कशोथ में १०% तक रोगी प्रायः असाध्य होकर मर जाते हैं और १०-२० प्रतिशत जीर्णावस्था में तथा २०-३० प्रतिशत गुप्तावस्था में परिणत हो जाते हैं तथा ४०-५० प्रतिशत रोगी पूर्णतया स्वस्थ हो जाते हैं।

तीव्र वृक्कशोथ चिकित्सा—

निदान परिवर्जन, वृक्कों को आराम, त्वचा और आंत्र द्वारा वृक्क कार्य और उपद्रवों की चिकित्सा ये चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त हैं। तत्कालकरणीय व्यवस्था में वृक्कों को अधिक से अधिक विश्राम देना चाहिये। इसके लिये अधिक से अधिक जो हम कर सकें करना चाहिये।

शैय्या विश्राम तथा त्वचा को गरम रखना—त्वचा तथा आन्त्र की क्रिया को बढ़ाकर वृक्कों का कार्य इनके द्वारा लिया जाना चाहिये। इसके लिये रोगी को गरम कमरे में पूर्ण आराम से रखना चाहिये। रोगी को शीत और श्रम से बचना चाहिये। गरम कमरे में गरम कपड़ों में एक मास तक पूर्ण विश्राम से रहने तथा गरम जल द्वारा संपज करने से व आसपास गरम बोतलें रखने से त्वचा के गरम होने से वृक्कों की रक्तवाहिनियां भी फैल जाती हैं जिससे शोथ शान्त होती है, मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है, मूत्र में एल्ब्युमिन और रक्त की मात्रा घट जाती है, रक्त भार भी घटने लगता है और २-३ दिन में ही रोगी आराम अनुभव करने लगता है। प्रति दूसरे तीसरे दिन रोगी के रक्तभार, मूत्र की मात्रा, मूत्र में अल्ब्युमिन तथा शरीर के भार का परीक्षण करते रहना चाहिये। अब रोगी का रक्त भार सामान्य हो जाय तथा मूत्र में अल्ब्युमिन की मात्रा २ ग्राम रह जाय तब उसे उठने-बैठने की अनुमति दे देनी चाहिये तथा एक मास तक पूर्ण विश्राम देने पर भी लाभ प्रतीत न हो तो विश्राम की अवधि २ मास के लिये बढ़ा देनी चाहिये।

आहार—आहार में पेय पदार्थों की मात्रा कम कर देनी चाहिये जिससे वृक्कों पर अधिक कार्य भार न पड़े। रोगी को प्रथम ३-४ दिन तक लंघन कराना चाहिए जिससे वृक्कों को विश्राम मिलने से लाभ शीघ्र होने की सम्भावना रहती है। पर रोगी दुर्बल हो तो रोगी की शक्ति के अनुसार ही लंघन करावे—बल यत्नेन पालयेत्। अतः रोगी यदि लंघन व उपवास न कर सके तो प्रतिदिन दिन में दो बार आधा गिलाश जल निम्बू रस या ग्लूकोज मिलाकर देते रहना चाहिये जिससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है और रक्तमेह कम होता है। जब मूत्र की मात्रा बढ़ने लगे तब दूध तथा सोडा वाटर आधा पाइन्ट की मात्रा में दिन में दो बार देना चाहिये तथा इस प्रकार धीरे धीरे दूध और जल की मात्रा बढ़ानी चाहिये। रोगी को टमाटर, अंगूर, सन्तरे का रस जौ-यूष (Barley water), मठ्ठा आदि पदार्थ पर ही रखा जाय। दूध और फलों के रस के रूप में २ किलो तक द्रवाहार प्रतिदिन दिया जाय, शोथ अधिक हो तो नमक और जल का प्रयोग अत्यल्प करना चाहिये। जब रोगी एक लिटर मूत्र त्याग करने लगे तथा जैसे जैसे रोगी को आराम आने लगे रोगी को सामान्य आहार तथा जल की मात्रा बढ़ाते जावें। रोगी की कमर (वृक्कस्थान) को रोग शान्त करने के लिये दीर्घकाल तक गरम ऊनी कपड़े से लपेट कर रखना चाहिये। १२ या १४ दिन में सामान्य आहार, दैनिक खुराक दे सकते हैं।

उपद्रवों की चिकित्सा उपद्रवों के लक्षणानुसार करें।

औषधि—आयुर्वेद में इस अवस्था की चिकित्सा में मूत्रल औषधियों के रूप में श्वेत पर्पटी तथा पुनर्नवा क्षार को मिश्री मिलाकर देना चाहिये। कमजोर अधिक हो तो लौह के योग देने चाहिये। शिलाजीत लौह भी उत्तम योग है। चन्द्रप्रभावटी, तारकेश्वर रस, सर्वतोभद्र वटी, माहेश्वर वटी, चतुर्मुख रस आदि इस रोग के प्रशस्त योग हैं। पुनर्नवामण्डूर, आरोग्यवर्धिनी भी दी जाती है। पीठ और

वृक्क प्रदेश पर महानारायण तैल व उशीरादि तैल की मालिश कराते हैं।

अनुतीव्र वृक्कशोथ

पर्याय—जीर्ण अन्तःसारीय वृक्कशोथ (Chronic parynchymatous Nephritis), वृहत् श्वेत वृक्कशोथ (Large white Nephritis)

हेतुकी—

जैसा ऊपर लिख चुके हैं कि वृक्कों को पूर्ण विश्राम तथा उचित चिकित्सा देने से तीव्र वृक्कशोथ बहुधा ठीक हो जाता है परन्तु यदि वृक्कशोथ २-३ मास तक ठीक न हो तो वह मन्द या चिरस्थायी वृक्कशोथ का रूप धारण कर लेता है। वृक्कशोथ की यह मध्यम स्थिति कही जाती है। यह विकार अधिकतर मध्यम अवस्था के पुरुषों में दिखाई देता,है और इस प्रकार धीरे धीरे शुरू होता है कि उसका पता भी रोग के उपद्रव उपस्थित होने पर ही चलता है।

विकृति—वृक्क परिमाण में स्वाभाविक अवस्था से कुछ बड़े हुये होते हैं, वृक्क ग्रन्थि पर सिराएं दिखाई देती हैं तथा वृक्क कुछ श्वेत वर्ण के दीखते हैं इसलिये इसको श्वेतवर्ण दीर्घ वृक्क (वृहत् श्वेत वृक्क–Large white kidney) कहते हैं। इस रोग में धमनी गुच्छों में स्थूलता का तथा मूत्र स्राविणियों मे क्षीणता का लक्षण विशेष रूप

चित्र—८२
वृहत् श्वेत वृक्क–बहिर्वस्तु में शोथ एवं श्वेताभता प्रदर्शित हो रही है।

से पाया जाता है। असंख्य गुत्सक (धमनी गुच्छ) विकृत होकर नष्ट हो जाते हैं और कटे हुये भागों में छोटे छोटे उभार के रूप में दिखाई देते हैं। गुत्सकों के अन्तःस्तर इतने मोटे हो जाते हैं कि उनमें रक्त संचार ही बन्द हो जाता है। जो गुत्सक पूर्णतया बेकार हो जाते हैं उनकी नलिकायें क्षीण होकर तान्तव धातु में परिणत हो जाती हैं। धमनी गुच्छकों के चारों ओर के कैप्सूलों के अन्दर का अन्तःस्तर (Epitheliuma) विशेष स्थूल हो जाता है अर्थात् इनके सैलों में अतिवृद्धि हो जाती है। नलिकाओं के साथ गुत्सका धमनियां और अन्तराल धातु भी विकृत रहते हैं।

शोथ की अवस्था के अनुसार इस रोग के दो भेद किये गये हैं—

(१) सद्रव अनुतीव्र वृक्कशोथ (Oedematous subacute nephritis)

(२) शुष्क अनुतीव्र वृक्कशोथ (Non oedematous subacute nephritis)

(१) सद्रव अनुतीव्र वृक्कशोथ—

रोगी को इस रोग का आक्रमण इतने मन्द और अज्ञात रूप में होता है कि रोगी को शारीरिक निर्बलता तथा चलने पर श्वास चढ़ने के अतिरिक्त महीनों तक इस रोग का पता नहीं चलता। फिर पहले चहरे पर फिर पैरों पर और फिर सारे शरीर पर शोथ का प्रसरण हो जाता है। आंतों की दीवार में श्वयथु होने से वमन अतिसार के लक्षण हो सकते हैं। धीरे धीरे रक्ताल्पता की स्थिति उपस्थित हो जाती है और रक्ताल्पता और शोथ के कारण चेहरा एक विशेष आकृति का तथा बड़ा प्रतीत होता है। शोथ इतनी हो सकती है कि शरीर का भार सामान्य भार से दो गुना हो जाय। शोथ के साथ रोगी में पाण्डुता का भी लक्षण होता है। हीमोग्लोबिन की मात्रा रक्त में अत्यधिक कम हो जाती है तथा कोलेस्टरोल की मात्रा बढ़ जाती है। मूत्र की मात्रा कम हो जाती है और उसका आपेक्षिक भार घट जाता है। मूत्र में अल्ब्युमिन, यूरेट्स और अन्य कास्ट मिलते हैं। पाचन क्रिया विकृत हो जाती है। वृक्क रोग से युक्त स्त्री को गर्भ स्थिति हो जाय तो उसमें यह रोग और बढ़ता है अतः उसमें गर्भ का रहना ठीक नहीं होता। शोथयुक्त अवस्था दीर्घकाल तक चलने पर रक्त यूरिया का संचय होने

लगता है फिर रक्तचाप की वृद्धि होने लगती है और अन्त में शोथ कम हो जाता है।

(२) शुष्क अनुतीव्र वृक्कशोथ—

वृक्कशोथ के मन्द रूप में रहने से मूत्र में अल्ब्युमिन, Casts, रक्तकण आते हैं पर रोगी के चेहरे आदि पर शोथ नहीं होता जिससे शरीर शुष्क रहता है। रोगी में पाण्डुता के लक्षण स्पष्ट होते हैं तथा धमनी काठिण्य होकर रक्तचाप की वृद्धि हो जाती है। रक्तभार की वृद्धि बराबर बनी रहने से सिर दर्द की शिकायत बनी रहती है। इस अवस्था में रक्त संस्थान सम्बन्धी लक्षणों की प्रधानता रहती है फलतः हृदय की मांसपेशी मोटी हो जाती है जिससे दक्षिण हृदयनिपात (Right congestive heart failure) के लक्षण हो जाते हैं। मूत्र से यूरिया का निस्सरण कम होकर रक्त में संचित होने लगने से यूरीमिया की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। रक्तचाप वृद्धि के कारण रेटिना में विकृतिजन्य परिवर्तन हो जाते हैं। मूत्र की मात्रा अधिक पर आपेक्षिक भार कम हो जाता है। मूत्र में एल्ब्युमिन की उपस्थिति कम होती है।

निदान— जब तीव्र वृक्क शोथ अनुतीव्र वृक्क शोथ में परिणत होता है तब यह परिणति बहुत धीरे धीरे होने के कारण तीव्र कब समाप्त हुआ और अनुतीव्र कब प्रारम्भ हुआ इसका निर्णय करना कठिन होता है। साधारणतया तीव्र की अवधि २-३ मास मानी जाती है जब प्रारम्भ से ही रोग अनुतीव्र रहता है तब ज्वराभाव, सूजन और मूत्रगत परिवर्तनों से निदान करना चाहिये।

उपद्रव—

(१) जल संचय—हृदयादि अङ्गों के अवकाशों में जल का संचय होना जैसे जल परिहृदय (Hydropericardium), जलोदर, फुफ्फुसावरण शोथ आदि।

(२) उपसर्गी विषोत्सर्जन (Vicarious elimination of toxins)—शरीर में इकट्ठा हुआ विष अनेक मार्गों से शरीर के बाहर निकलने लगता है। आन्त्र में सव्रणता उत्पन्न होकर प्रवाहिका हो जाती है। त्वचा द्वारा निकलने पर कण्डु, शीतपित्त (urticaria), छाजन (Eczema) रक्तस्राव इत्यादि विकार होते हैं।

साध्यासाध्यता—वृक्क में जब एक बार स्थायी विकृति हो जाती है तब वह कदापि ठीक नहीं हो सकती, प्रायः बढ़ती ही जाती है। यदि हृदय और रक्तचाप की वृद्धि न हुई तो ६-१८ मास व अधिक से अधिक ३ वर्ष में किसी न किसी उपद्रव से मर जाता है। पर रोगी पथ्य पूर्वक आहार-विहार से रहे और कोई उपद्रव उत्पन्न न हो तो रोग का शमन सम्भव है व रोगी अधिक काल तक भी पथ्यमय जीवन यापन कर सकता है।

असाध्यता—जब हृदयाभिवृद्धि होने लगती है तो समझना चाहिये कि रोग जीर्ण अवस्था में परिणत हो रहा है।

शरीर पर सूजन का बढ़ना, आभ्यन्तरीय अङ्गों में जल का संचय होना, मूत्र में शुक्लि की मात्रा का बढ़ना रक्तचाप वृद्धि तथा नेत्र के दृष्टि पटल में सूजन उत्पन्न होना असाध्यता के लक्षण हैं।

रोगी की मृत्यु प्रायः उच्च रक्तदाब, यूरीमिया अथवा मस्तिष्कगत रक्तस्राव के परिणामस्वरूप होती है।

जीर्ण वृक्कशोथ (Chronic Nephritis)

पर्याय—जीर्ण अन्तरालीय वृक्क शोथ (Chronic Interstitial Nephritis), जीर्ण गुत्सकीय वृक्क शोथ (Ch. Glomerulonephritis), द्वितीयक संकुचित वृक्क (Secondary Contracted Kidney) लघु श्वेत वृक्क (Small white Kidney)।

हेतुकी—यह विकार तीव्र वृक्क शोथ, अनुतीव्र वृक्क शोथ या अपवृक्कता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। इसका प्रारम्भ इतना सूक्ष्म और सौम्य होता है कि इसका प्रारम्भ कब किस वृक्क विकार के परिणामस्वरूप होता है इसका पता नहीं लगता। यह रोग तीव्र वृक्क शोथ तथा अनुतीव्र वृक्क शोथ दोनों में से किसी के चिरकाल लगभग २ वर्ष तक बने रहने से होता है। यह दो प्रकार का है—

(१) द्वितीयक संकुचित वृक्क शोथ (Secondary Contracted Kidney)।

(२) चिरकालीन आंत्रिक वृक्क शोथ (Chr. . i Interstitial Nephritis)।

(१) द्वितीयक संकुचित वृक्क शोथ—तीव्र वृक्क शोथ या अनुतीव्र वृक्क शोथ इन दोनों में से किसी एक के

वर्ष तक रह जाने पर यह होता है। इस अवस्था में मूत्र की माला बढ़ जाती है, आपेक्षिक गुरुत्व बहुत गिर जाता है। प्रथम अवस्था में जो एल्ब्युमिन बहुत माला में आता था वह कम हो जाता है। दिन रात में मूत्र की माला बढ़ जावे तो शोथ कम हो जाता है हृदय वाम क्षेपककोष्ठ में अतिवृद्धि हो जाती है। वृक्क की अकर्मण्यता प्रारम्भ होने पर मूत्र की मात्रा कम होजाती है तो यूरीमिया होजाता है।

(२) चिरकालीन आंत्रिक वृक्क शोथ -- पहले यह एक ही प्रकार का समझा जाता था पर अब प्रायोगिक दृष्टि से इसके मुख्य तीन भेद माने जाते हैं। यथा—

(क) मध्यमवय वा वृद्धावस्था में चिरकालीन वृक्क शोथ उत्पन्न हो जाये जिससे रक्त दबाव बढ़ा हुआ हो तो जिसके २ भेद हैं—

(i) साध्य रक्त का दबाव

(ii) असाध्य रक्त का दबाव

(ख) युवा व्यक्ति में चिरकालीन वृक्क शोथ हो तो इस कारण वृक्क की सहज विकृतियां व सिस्टिक विकृति (Congenital & Cystic Kidney)हो सकता है।

(ग) वृक्काश्मरी-चिरकालीन वस्ति वृक्क शोथ से भी हो सकता है।

विकृति—

इस अवस्था में वृक्क में तन्तूत्कर्ष तथा व्रण वस्तुभवन (Fibrosis) होने से वृक्क का परिमाण छोटा होता है इसलिए इसको लघु श्वेत वृक्क कहते हैं। परिणाम में छोटा होने से पहले वृक्क बड़ा रहता है इसलिए इसको द्वितीयक संकुचित वृक्क भी कहते हैं। सूक्ष्म परीक्षण करने पर वृक्क की रचना पूर्णतया नष्ट हुई प्रतीत होती है। अधिक संख्यक धमनी गुच्छों में अत्यधिक वेकार हो जाने से और आसपास के धातुओं के साथ इस प्रकार मिल जाते हैं कि उनको पहचानना कठिन हो जाता है। कुछ गुत्सक क्षीण संकुचित रहते हैं परन्तु उनके भीतर रक्त प्रवाह जारी रहता है जिससे मूत्र थोड़ा-थोड़ा छनता रहता है। यद्यपि अधिक संख्यक वृक्काणु क्षीण होकर वेकार हो जाते हैं तथापि जो बचते हैं वे परमपुष्ट होते हैं जिनके बल पर वृक्क का कार्य चलता है और जीवित रहता है। वृक्कगत इन विकृतियों का परिणाम शुक्लिमेह कम होने में, मूत्र की माला बढ़ने में तथा सर्व शरीर की धमनियों में जठरता (Sclerosis), रक्तचाप वृद्धि और हृदय की अति वृद्धि होने से होता है।

लक्षण—

चिरकालीन वृक्कशोथ रोग की तृतीयावस्था होती है जो अनुतीव्र वृक्कशोथ के १-२ वर्ष बाद दिखाई देती है। वृक्कशोथ की द्वितीयावस्था (अनुतीव्र वृक्क शोथ) में यद्यपि वृक्कों की काफी क्षति होती है तथापि उनका जो अंश बचता है वह अधिककार्य करके वृक्क कार्य का समतोलन-क्षतिपूर्ति (Compensation) कर लेता है इसलिये उसमें वृक्ककार्य हानि के कोई लक्षण मूत्र में या रक्त में नहीं दिखाई देते। इस अवस्था में धीरे-२ वृक्क कार्य हानि होने लगती है जिसका परिणाम मूत्र और रक्त पर होता है। संक्षेप में अनुतीव्र और जीर्ण वृक्कशोथ में जो अन्तर होता है वह वृक्कगत शारीरिक विकृति की अपेक्षा वृक्क के कार्य हानि के कारण हुआ करता है।

मूत्र—प्रारम्भ में मूत्र में पतलापन तथा अल्प स्वरूप का एल्ब्यूमिन मिलता है। मूत्र की राशि धीरे-धीरे बढ़ने लगती है और जब काफी बढ़ती है तब रोगी को रात में भी उठना पड़ता है। इस रोग में वृक्क के धमनीगुच्छ और मूत्र विस्राविणियां अत्यधिक संख्या में क्षीण होजाती हैं जिससे मूत्र गाढ़ा करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। मूत्र निर्माण तो लगभग १०० औंस के हो सकता है और उसमें गाढ़ापन नहीं होता है इसलिए मूत्र अधिक आता है जिससे रोगी को प्यास अधिक लगती है और शरीर में जलाल्पता की विकृति उत्पन्न हो जाती है। पतला और हल्का बहुमूत्र जीर्णवृक्क शोथ का प्रधान लक्षण माना जाता है। मूत्र में कास्ट्स की उपस्थिति रहती है तथा यूरिया की निकासी कम होने तथा रक्त में इसकी ५०% से अधिक वृद्धि होने पर शरीर तथा मस्तिष्क पर अल्प परिश्रम ही थकावट उत्पन्न कर देता है। संक्षेप में मूत्र की अधिकता, गुरुता की अल्पता, शुक्लि की लेशमात्रता इस रोग की विशेषतायें होती हैं।

रक्त—मूत्र से रक्त का जलांश निकल जाने के कारण तथा शुक्लि का उत्सर्ग कम होने के कारण रक्त में शुक्लि की मात्रा बढ़ने लगती है तथा रक्तगत विषैले पदार्थों के मिलने से रोगी की त्वचा पर छोटे-छोटे लाल चकते निकल आते हैं, साथ ही नाक तथा अन्य मार्गों से रक्तस्राव भी होता है। वृक्कों की मूत्रस्राविणियों के क्षीण होने से,

वृक्कों में विद्यमान रक्तवाहिनियों का रक्तप्रवाह मन्द हो जाने से रक्तभार बढ़ जाता है जिससे वाम हृदय की अति वृद्धि हो जाती है। रक्तभार वृद्धि के कारण शिर:शूल शिरोभ्रम, मानसिक विक्षोभ, दृष्टिमांद्य आदि प्रमुख लक्षण होते हैं। रक्त कणों की कमी तथा हीमोग्लोबिन के अल्प निर्माण के कारण शरीर पर फीकापन तथा पाण्डुता आ जाती है।

नाड़ियों पर विक्षोभक प्रभाव पड़ने पर से हाथ पैर की मांसपेशियों में स्तम्भ के लक्षण पैदा हो जाते हैं तथा मस्तिष्क प्रभावित होने से दिन में निद्राधिक्य तथा रात्रि में अनिद्रता के लक्षण होते हैं।

अन्य लक्षण—उपर्युक्त प्रधान लक्षणों के अतिरिक्त मितली (Nausea), अरोचक, अग्नि की मन्दता, प्रवाहिका इत्यादि पाचन संस्थान के लक्षण होते हैं। श्वसन संस्थान के प्रभावित होने से खांसी, श्वासकृच्छ्रता, मस्तिष्क संस्थान के लक्षण, सिर दर्द, नाड़ी शूल, पेशियों में ऐंठन, निद्रानाश, शारीरिक और मानसिक काम करने में अनिच्छा, कर्णनाद, आंखों के सामने अन्धेरा या अन्धापन तथा कण्डू, छाजन, भारक्षय, बराबर सर्दी से पीड़ित होना आदि लक्षण होते हैं।

उपद्रव—यह रोग वर्षों तक बना रहता है। वृक्ककार्य हानि प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे बढ़ती है और वृक्कातिपात (Renal Failure) होकर मूत्र विषमयता हो जाती है जो मारक होती है। रक्तस्राव रक्तचापवृद्धि के कारण भी होता है, नासागत रक्तस्राव घातक नहीं होता है। हृदय निपात (Cardiac failure) तथा आभ्यन्तरीय अङ्गों का द्रव संचय मारक होता है। उपद्रवों का विस्तृत विवरण तीव्र वृक्कशोथ के अन्तर्गत हो चुका है।

असाध्यता—रोग तीव्र स्वरूप का हो तो ५-१० वर्षों में और मृदुस्वरूप का हो तो २०-३० वर्ष में रोगी को यूरीमियां होकर मृत्यु होती है। रक्तभार वृद्धि तथा हृदय निपात आदि उपद्रव मृत्युकारक होते हैं।

जीर्णवृक्क शोथ चिकित्सा—

अनुतीव्र और जीर्ण वृक्क शोथ में आराम का जीवन होना चाहिए परन्तु बिस्तरे की शरण जब सूजन अधिक हो, मूत्रविषमयता के लक्षण तीव्र हों तब लेनी चाहिये। कमरा तथा ओढ़ना बिछौना ऐसा हो कि शीत से शरीर की रक्षा हो। रहने के लिए शुष्क या सम शीतोष्ण जलवायु का प्रदेश हितकर रहता है।

आहार—आहार में प्रोटीन कम तथा कार्बोहाइड्रेट्स, वसा का अधिक सेवन कराना चाहिए। जब यूरिया १०० मि लि. रक्त में १०० मि. ग्राम से ऊपर हो तब लगभग ३५ ग्राम प्रोटीन देना चाहिये। उसके देने से पूर्व ३-४ दिन तक रोगी को निराहार या केवल द्रवाहार पर ही रखा जाय तो लाभ अधिक होता है। द्रवाहार का कुछ अंश टमाटर और अंगूर आदि फलों का रस होना चाहिए तथा शेष अंश चाय लेमोनेड तथा नीबू का शर्बत आदि जिन में ४-६ औंस ग्लूकोज की मात्रा मिश्रित हो इस प्रकार १५ दिन तक प्रोटीन रहित कार्बोहाइड्रेट वाले आहार देने से यूरिया की मात्रा कम हो जाती है। जब रक्त में यूरिया की मात्रा १०० सी.सी. में २० सी.सी. के लगभग हो तब आहार में प्रोटीन की मात्रा ३५-४० ग्राम तक दी जा सकती है। कुछ दिन तक रोगी को केवल उबले हुए चावल ३-३ औंस दिन में ३ बार खांड या मुरब्बे के साथ दिया जाय तो यूरिया की मात्रा घट जाती है तथा यूरिया की मात्रा घट कर ५०-६० मि.लि. प्रतिशत तक हो जाय तो जल की मात्रा साधारण अर्थात ३-३।। प्रतिशत तक दी जा सकती है। सब्जी आलू फल चावल रोटी दूध मक्खन की मात्रा धीरे धीरे भूख के अनुसार बढ़ाई जा सकती है। नमक का पूर्ण वर्जन करने की आवश्यकता नहीं पर सूजन की अवस्था में कम कर दिया जाय या न दिया जाय। मद्य मांस, काफी, गर्म मसालों का प्रयोग सर्वथा निषेध रखा जाय।

मूत्रल औषधियां—जीर्ण वृक्कशोथ के रोगी के लिए मूत्रल औषधियों का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए। जब शरीर पर सूजन होती है तब रोगी को तृषित न रखते हुए अल्पमात्रा में जल देना चाहिए। मूत्रल औषधियों में क्षारीय औषधियां यथा नीबू रस, सोडाबाईकार्ब, श्वेतपर्पटी आदि का प्रयोग करना चाहिए। यथा सम्भव रोगीको द्रवाहार पर ही रखना चाहिए तथा सन्तरे, अंगूर, टमाटर आदि का रस देना चाहिए। यथासम्भव तीव्र मूत्रल औषधियों का प्रयोग न करें पारदयुक्त मूत्रल औषधियों का प्रयोग कदापि न करें।

स्वेदल औषधियां—स्वेदल औषधियों का प्रयोग जीर्ण वृक्क शोथ में हितकर नहीं होता क्योंकि उनके प्रयोग से

शीत पकड़ने का डर रहता है जो रोग को बढ़ाता है।

विरेचन औषधियां—रोगी की कोष्ठ शुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके लिए सौम्य विरेचन औषधियां मैगसल्फ, जलापा चूर्ण व शिवाक्षार पाचन चूर्ण व जवाहरड़ को कैस्टर आयल में भूनकर चूर्ण कर इसका प्रयोग एकाध बार कर सकते हैं। तीव्र विरेचक औषधियों इच्छाभेदी, नाराच रस व जमाल गोटे के योगों का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि उनसे आंत कमजोर हो जाती हैं।

उपद्रवों की चिकित्सा—रक्त भार वृद्धि तथा यूरीमिया के कारण उपद्रवों की उत्पति होती है। मुख्य रूप से श्वासकष्ट, मुखपाक, दन्तवेष्ट शोथ, उच्च रक्तचाप आदि होते हैं जिनकी चिकित्सा रोग के लक्षणानुसार करनी चाहिए। वृक्कातिपात, हृदयातिपात तथा मस्तिष्क विकृति जन्य विकार मारक होते हैं।

औषधि चिकित्सा—औषधि चिकित्सा में ऐसी औषधि की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे शारीरिक मल का निस्सरण होता रहे एतदर्थ मैगशल्फ या शिवाक्षार पाचन चूर्ण १-२ दिन से देते रहना चाहिए। अम्लोत्कर्षकी स्थिति में सोडाबाई कार्ब प्रतिदिन देना चाहिए। रक्त में पोटाशियम की कमी हो तो रोगी को पोटाश साइट्रेट या पोटासक्लोर लिक्विड देना चाहिए। रातको ग्लूकोज मिश्रित जल देते रहना चाहिए। कैलशियम तथा विटामिन डी की कमी पूर्ति के लिये कैल्सियम ग्लूकोज १० मि० लि० की मात्रा में शिरामार्ग से देना चाहिए। रक्तचाप वृद्धिहोने पर रिसर्पिन व सर्पगन्धा चूर्ण आधा ग्राम का प्रयोग करना चाहिए। यदि रोगी हृदय फेल की स्थिति में हैं तो मूत्रल औषधियां तथा 'डिजीटेलिस' का प्रयोग किया जाता है। रक्ताल्पता में लौहयुक्त औषधियां हितकर रहती हैं।

आयुर्वेद योग चतुर्दश—

(१) श्वेतपर्पटी—यह मूत्रल योग है। पहली मात्रा ही मूत्र प्रवंतन के लिए पर्याप्त है।

(२) पत्थर बेर चूर्ण—अश्मरीनाशक उत्तम मूत्रल योग, दिन में ३-४ बार दिया जा सकता है।

(३) चन्द्रप्रभा वटी—त्रिफला क्वाथ के अनुपान से जीर्ण वृक्क शोथ में हितकर है।

(४) सर्वतोभद्र वटी (भैषज्य रत्नावली)—वृक्क शोथ की सभी अवस्थाओं में प्रयोग कर सकते हैं।

(५) रसराज रस— वृक्कशोथ के साथ रक्तचाप वृद्धि की स्थिति में विशेष लाभदायक है।

(६) तारकेश्वर रस – मूत्र रोगों में प्रशस्त योग है।

(७) पुनर्नवा मण्डूर - वृक्कनिपात व हृदयनिपात आदि उपद्रवों में भी उपयोगी है।

(९) शिलाजतु योग—शिलाजीत ४ रत्ती की मात्रा में त्रिफला क्वाथ से पिलावे।

(१०) अगस्तिमोदक—४ माशा की मात्रा में दिन में २ बार दें, मल मूत्र प्रवर्तक है।

(११) पुनर्नवाद्यवलेह–१०-१० ग्राम दिन में दो बार दें। शोथ नाशक मूत्रल प्रयोग है।

(१२) आर्द्रक-स्वरस—अदरख रस + गुड़ मिलाकर दिन में २ बार दें।

(१३) गोक्षुरादि गुग्गुल—मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी नाशक मूत्रप्रवर्तक योग है।

(१४) दशमूल हरीतकी–१०-१०ग्रा. दिन में दो बार दें।

वृक्कशोथ चिकित्सा में चिकित्सक रोग के लक्षणों के अनुसार उपर्युक्त योगों की व्यवस्था करे। वृक्कशोथ की चिरकालीन जीर्ण अवस्था में दीर्घकालीन पथ्यव्यवस्थामय चिकित्सा की आवश्यकता है। कारण औषधोपचार से रोग के लक्षण शांत हो जाते हैं क्योंकि इस रोग में वृक्क निर्बल एवं विकारग्रस्त रहते हैं अतः पुनः-पुनः रोग का आक्रमण हो जाता है। एक बार यह रोग हो जाने पर जल्दी ही रोगी को छोड़ता नहीं बल्कि इस रोग में मृत्यु को हटाया नहीं जा सकता क्योंकि यूरीमिया, हृदयातिपात, वृक्कनिपात आदि की स्थिति आकर रोगी का प्राणांत होजाता है। अतः रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ही रोगी को सावधान हो जाना चाहिये अन्यथा इस रोग में मृत्यु आ ही जाती है। चिकित्सक को बड़ी तत्परता से रोग के उपद्रवों को दृष्टिगत रखते हुए उनका शमन करते हुए चिकित्सा करने से ही सफलता मिलती है।

वृक्क शोथ

डा० शिवपूजन सिंह कुशवाह एम०ए०, साहित्यालंकार, कानपुर।

'वृक्क प्रदाह, वृक्कशोथ, गुर्दे की सूजन आंग्ल भाषा में Nephritis भी कहते हैं।

इस रोग में वृक्क के स्थान पर कमर में दर्द होता है जो नीचे की ओर जांघों में आता है। जिस वृक्क में शोथ होता है उस ओर का पांव खींचने से पीड़ा बढ़ जाती है। जांघ का भीतरी भाग सुन्न सा लगता है। मूत्र अत्यल्प, और दर्द के साथ आता है। मूत्र में काले रंग का रक्त भी आ सकता है। सर्दी लगकर ज्वर होना, वमन होना और मलावरोध लक्षण भी होते हैं।

आयुर्वेदिक औषधियां—'माहेश्वर वटी' अत्यन्त उपयोगी है।

गगनं कान्तलौहं च स्फटिकास्वर्ण मौक्तिकम्।
सहदेवीजटा क्षीरपुष्पी सर्वे समांशकम् ॥१९॥
संचूर्ण्य सितवर्षाभूर्गोक्षुरः शुष्कमूलकम्।
एषां क्वाथैस्तु विधिना पृथक् संभाव्य सप्तधा ॥२०॥
गुंजाद्वयोन्मिताः कार्या वटिकाः सद्भिषग्जनैः।
इयं माहेश्वरीनाम्नी वटिका सेवनाद् ध्रुवम् ॥ १॥
वृक्करोगं च सलिलोदरं पाण्ड्वामयं तथा।
विषमज्वरं च शोथं सर्व देह समुद्गतम् ॥२२॥
मूर्च्छां च सत्वरं हन्याद् यथा वज्रं तु पादपान्।
सेवनीयं प्रयत्नेन क्षीरान्नं पथ्यरूपतः ॥२३॥

—[भैषज्य रत्नावली ९३ वृक्क रोग चिकित्सा प्रकरणम्]

विद्योतिनी भा० टी०—अभ्रक भस्म, कान्तलौह भस्म, शुद्ध फिटकिरी। स्वर्ण भस्म, मुक्ता भस्म, महाबला की जड़ और क्षीर काकोली, इन सबको समान-२ प्रमाण लेकर एकत्र महीन पीसकर श्वेत पुनर्नवा, गोखरू तथा सूखी मूली, इनके पृथक्-२ क्वाथों से विधिपूर्वक सात-२ बार भावित करके अच्छी तरह खरल कर दो-दो रत्ती की बटिकाएं बना के सुखा कर शीशी में भर लें। इसको 'माहेश्वर वटी' कहते हैं। एक बटी सुबह तथा एक सन्ध्या के समय सेवन करनी चाहिए। वटी के सेवन करते समय पथ्य में दुग्ध तथा हल्के पदार्थ जैसे चावल आदि अन्न का सेवन करना उचित है। यह वटी वृक्क के विकार जलोदर, पांडु, विषमज्वर, सर्वाङ्ग शोथ, मूर्च्छा आदि को शीघ्र ऐसे नष्ट करती है जैसे बज्र वृक्ष को।★

आयुर्वेदिक इंजेक्शन—

(१) अपराजिता [बुन्देलखण्ड, झडा, जी. ए. मिश्रा,] १ से २ सी.सी. सप्ताह में ३ बार चर्म, मांस या नस में लगाने से लाभ होगा। नस में लगाना विशेष उपयोगी है। सूई लगाने के पश्चात् मूर्छा होने पर प्रवालपिष्टी २ से ४ ग्रेन तक शीतल जल से दें। शीतल जल में ग्लुकोज घोलकर पिला दें। जल के छींटे भी मारें।

(२) पुनर्नवा [मार्तण्ड, ए. बी. एम., बुन्देलखण्ड, लक्ष्मी, सिद्धि, मिश्रा, आदर्श, भरत]—१ सी.सी. नित्य नितम्ब में ६ से १५ तक सूई लगावें।

(३) वरुण [जी ए मिश्र व बुन्देलखण्ड]—१-२ सी.सी. नित्य या तृतीय दिन मांस या नस में दें।

( ) प्रबाल पंचामृत [बुन्देलखंड आयुर्वेदिक फार्माम्युटिकल।

—शेषांश पृष्ठ २२० पर देखें।

★'भैषज्यरत्नावली'' पृष्ठ ८२७ [संवत् २०१८ दि०, द्वितीय संस्करण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, पो-बा० ८, वाराणसी १ द्वारा प्रकाशित]

वृक्कशोथ की सफल चिकित्सा

आचार्य श्री हरदयाल वैद्यवाचस्पति, आयुर्वेदाचार्य
ई--२१, आनन्द निकेतन, नई दिल्ली--२१

आयुर्वेद के प्रकांड विद्वान कविराज हरदयाल वैद्य वाचस्पति वयोवृद्ध अनुभवी चिकित्सक तथा आयुर्वेद जगत के जाने-माने आचार्य हैं। आप दयानन्दायुर्वेद महाविद्यालय लाहौर एवं अमृतसर के प्रिन्सिपल रहे हैं तथा विश्व को आपने अपने अध्यापनकाल में ५॥ हजार से अधिक कुशल चिकित्सक दिये हैं। 'धन्वन्तरि' के साथ तो आपका इसके जन्मदाता वैद्यराज राधावल्लभ जी के समय से ही सम्बन्ध रहा है। लेख एवं सद्परामर्श के लिये कृतज्ञ हैं।

—विशेष सम्पादक 'धन्वन्तरि'

वृक्क शोथ—द्विधा विभक्त है, तीव्र तथा चिरकालीन वा जीर्ण। इसका सीधा सम्बन्ध वृक्क विकृति से है। वृक्कों की वृद्धि के कारण वे विषैले पदार्थ जो मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकलते हैं वे शरीर में ही संचित होकर विष के लक्षणों को जन्म देते हैं। स्वस्थ वृक्क यूरिया एवं यूरिक अम्ल आदि द्रव्यों को जो प्रोटीन के प्रयुक्त होने से उनके विश्लेषण से बनते हैं, मूत्र द्वारा बाहर निकलते रहते हैं पर वृक्कों में निःस्रवीकरण शक्ति का ह्रास होने से ये विषैले पदार्थ रक्त में सम्मिलित होते रहते हैं तथा इस रोग को उत्पन्न करते हैं। इसके लिये प्रचलित विचारधारा यही है। अभी तक निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि किस द्रव्य विशेष से ऐसा होता है? यह अन्वेषण कोटि में है।

तीव्र वृक्क शोथ—अचानक शिरःशूल, शिरोभ्रम, व्याकुलता आदि लक्षणानुभूति होती है। तदनु कुछ समय के बाद होठों और मुख पर उत्क्षेपण से होने लगते हैं। पश्चात् शीघ्र ही उत्क्षेपणानुभूति समस्त शरीर में होने लगती है। साथ ही तन्द्रावस्था भी बढ़ती है जिससे रोगी मूर्च्छित होकर संसार को छोड़ देता है। दोष दुष्टि एवं यूरीमिया की अंशांश कल्पना के आधार पर सर्वत्र और सदा यही लक्षण नहीं होते अपितु भिन्न भी होते हैं और उपर्युक्त लक्षणों से भिन्न अनेक प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कभी अत्युग्र शिरोव्यथा और दृष्टिमांद्य या दृष्टिनाश भी होता है या उत्क्षेपण के अनन्तर अथवा अकस्मात पक्षाघात के लक्षण उत्पन्न होते हैं एवं अति उग्र कण्डू तोद भेद, मज्जा स्फुटन, उद्वेष्ण, अनिद्रा आदि होते हैं तथा तन्द्रा, मूर्च्छा से रोगी मृत्यु मुख में चला जाता है।

जीर्णवृक्क शोथ—इस दशा में वृक्क रोगी मस्तिष्क, श्वास संस्थान एवं उदर गुहा के रोगों से विशेष रूप से पीड़ित होता है।

(१) मस्तिष्क सम्बन्धी लक्षण प्रायः तीव्र वृक्कशोथ में होते हैं—असह्य शिरःशूल जो प्रायः अदम्य होता है कुछ समय के पश्चात् शिरोभ्रम, उत्क्षेपण, पक्षाघात, दृष्टिनाश, विभ्रम आदि प्रबल यूरिया के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

(२) श्वास सम्बन्धी लक्षण प्रायः किंचित्तीव्रावस्था (Subacute) में होते हैं। सबसे अधिक श्वासकष्ट है। इसके साथ मुखपाक, दन्तवेष्ट शोथ विशेष लक्षण होते हैं। युगपत इन लक्षणों की विद्यमानता एक ही स्थान पर उपलब्ध हो तब निःसन्देह यूरिया मान लेना चाहिये। ऐसी अवस्था में रोगी की मूर्च्छा के कारण मृत्यु होती है और मूर्च्छितावस्था में मुख से मूत्रगन्ध आती है।

(३) उदर सम्बन्धी परिचायक लक्षण—उत्क्लेश, वमन, अतिसार और हिचकी आदि लक्षण जान पड़ते हैं। परन्तु मूत्र परीक्षण से ही वृक्क रोग का निश्चय होता है। मूत्र द्वारा निःसृत होने योग्य पदार्थों को यन्त्र द्वारा बाहर निकालने की चेष्टा में व्रण होजाते हैं। इसीसे अतिसार हो जाता है जो इस रोग में दुर्लक्षण है।

जीर्ण वृक्क शोध में प्रायः ही वृक्कीय रचना और कार्य प्रणाली में विकृति आ जाती है। मूत्र निर्माण करने वाली नाड़ियां विकृत (Chronic parenchymatous nephritis) होती है। कुछ काल के पश्चात्

नाड़ियों की केन्द्रस्थ सैलें भी प्रभावित होती हैं। आद्यारम्भ में वृक्क मोटा और स्थूल होता है। इसे स्थूल श्वेत वृक्क कहते हैं। तदनु यदि रोग स्थिति चलती रहे तो दीर्घकालान्तर में सौत्रिक तन्तु बढ़ जाते हैं। परिणामतः वृक्क संकुचित हो जाते हैं। इसे छोटा संकुचित श्वेत वृक्क नाम से सम्बोधित करते हैं। कभी-कभी शोथ से केन्द्रीय सैलें अधिक पीड़ित होती हैं तब जीर्ण केन्द्रस्थ वृक्क शोथ (Granular Kidney) कहते हैं। इस अवस्था में अद्भुत लक्षण भिन्नता उपलब्ध होती है-इसमें मूत्र अधिक आता है ओजोनि:सरण कम होता है, आपेक्षिक घनत्व घट जाता है। अन्त में वृक्क संकोच होता है।

चिकित्सा—

आयुर्वेदीय सिद्धान्तानुसार विश्वभर की समस्त चिकित्सा पद्धतियों में भी आधारभूत तीन स्तम्भ समान रूप से अपनाये जाते हैं—प्रथम औषधि प्रयोग द्वितीय अन्न (चतुर्विध खाद्य, लेह्य, चोष्य, पेय), तृतीय-विहार, (इसमें रोगी की समस्त चेष्टायें परिचर्या, रोगी सेवा) में सम्मिलित हैं। इनका उचित सम्यक तथा युक्तियुक्त प्रयोग निश्चित सुखदायक होता है। वैद्य की सिद्धहस्तता इसीमें है कि वह अपने प्रतिपक्ष स्थित (रोग) योद्धा के बलाबल, प्रसरण शक्ति और उपस्थित, परिस्थिति जन्य अन्य रोग तथा उपद्रवों का पूर्व ज्ञान तथा उपद्रवों का प्रशमन करते हुए चिकित्सा करने परही वैद्य की जय पराजय अवलंबित है।

उपद्रव चिकित्सा—तीव्र और जीर्ण वृक्क शोथ की चिकित्सा के अभाव में ही उपद्रवों की सृष्टि होती है यथा श्वास कष्ट, मुखपाक, दन्तवेष्ट शोथ, शिरोभ्रम, शिरोवेदना, उत्क्षेपण, तन्द्रा, मूत्र में रक्तस्राव, वमन, उत्क्लेश, कटि एवं वृक्क स्थान पर शूल, ये सर्व सम्पूर्ण लक्षण तो समवेतरूपेण एक ही रोगी में उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जो भी उपलब्ध हो वह अतिशय कष्टदायक होता है। अतः तुरन्त शमनोपाय करना चाहिए।

श्वास – इसकी निवृत्ति के लिए—सितोपलादि चूर्ण १ माशा, अभ्रक भस्म १ रत्ती, कलमीशोरा २ रत्ती, ऐसी १-२ मात्रा चन्दनासव के साथ देनी चाहिए अथवा मधुयष्टी चूर्ण ४ रत्ती, सौभाग्य भस्म २ रत्ती उष्ण किये हुए गुरुच्यादि अर्क से देना हितकर होता है। कण्ठ और छाती पर महानारायण तैल मर्दन करके रबड़ की थैली में गरम जल भरकर स्वेद देने से भी लाभ होता है।

मुखपाक – एतदर्थ आगे लिखे 'आरग्वधादि अवलेह' का सेवन तथा आमलकी और उदम्बरपत्र क्वाथ से गण्डूष और इसी कल्क से कवल धारण अति उपयोगी है।

दन्तवेष्ट शोथ—शान्त्यर्थ मुखपाक शामक चिकित्सा प्रयोग की जाती है।

शिरःशूल, शिरोभ्रम—ये दोनों लक्षण रक्त में यूरीमिया के कारण उद्भूत होते हैं। इन दोनों के प्रशमनार्थ—त्रिफला चूर्ण ३ माशा, हरिद्राचूर्ण १ माशा, स्फटिकाभस्म १ माशा, गैरिक १ माशा, चन्द्रभागा चूर्ण १ माशा-मिला कर रखलें। इसकी १-२ माशा मात्रा गुरुच्यादि अर्क या गो दुग्ध से दी जाती है। ऊपर से आरग्वधादि अवलेह १ चम्मच चटाया जाता है। अथवा वैक्रान्त भस्म, स्वर्ण भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, स्फटिका भस्म समान भाग लेकर १-४ रत्ती की मात्रा में आरग्वधादि अवलेह से चटा कर गुरुच्यादि अर्क अथवा चन्दनासव, उशीरासव या अरविन्दासव, सारस्वतारिष्ट अनुपान रूप में देने से लाभ होता है।

तन्द्रा और उत्क्षेपण–शान्त्यर्थ भी ऊपर के दोनों योग देने से अच्छा लाभ होता है।

वमन-उत्क्लेश—इनकी शान्ति के लिए यवक्षार चार रत्ती शीतलजल में घोलकर—अथवा विशुद्ध यवक्षार के अभाव में (Potas-Bicarbonate) आधी चम्मच आधे गिलास जल में मिलाकर दिन में २-४ बार देने से लाभ होजाता है। अथवा - मधुरक्षार (Soda Bicarb) नृसार, सूर्यसार (कलमीशोरा) एक एक रत्ती गुरुच्यादि अर्क २ तोला में घोलकर थोड़े थोड़े समय के बाद देते रहने से दोनों उपद्रव शीघ्र शांत होजाते हैं।

मूत्र में रक्त की उपस्थिति तथा ओजोविस्रंसन—में कारस्करादि क्वाथ प्रातः सायं तथा हरीतक्यादि क्वाथ एवं रात्रि को चन्दनादि चूर्ण ४-८ रत्ती तक चन्दनासव से दिया जाता है। ये तीनों योग भैषज्य रत्नावली के ओजोमेहाधिकार में वर्णित हैं। एक सप्ताह के प्रयोग से इच्छित लाभ होता है।

वृक्कशूल और कटिशूल—शान्ति के लिये, वाह्योपचार में—उष्ण जल स्वेदन तथा अलसी, ईसबगोल, खमाचदाना का पुलटिश बांधना हितकर है। नारायण तैल से मर्दन तथा शृङ्गी या जलौका द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिये। —शेषांश पृष्ठ २३४ पर देखें।

वृक्कशोथ पर आरग्वधादि अवलेह

आचार्य श्री हरदयाल वैद्यवाचस्पति, आयुर्वेदाचार्य, ई—२१, आनन्द निकेतन, नई दिल्ली—२१

✽ ✻ ✽

आरग्वधादि अवलेह—यह वृक्क रोगियों के लिए हमारा प्रधान शस्त्र है। प्रत्येक दशा में इसे दिया जाता है। अनुपान रूप से तथा स्वेच्छा से दिन भर में कई बार १-१ चम्मच चाटते रहना चाहिए। इससे मलमूत्र की सम्यक प्रवृत्ति होने लगती है। वृक्क शोथ शनैः-शनैः दूर हो जाता है जिससे मूत्रोत्पादन एवं निःसरण सुधरता जाता है। रोग निदान ठीक समय पर होते ही इसके प्रयोग से वृक्क शोथ, उनकी अकर्मण्यता दूर हो रक्त-शुद्धि होती है।

आरग्वधादि अवलेह का योग—आरग्वध की फली का अन्तर्भाग ७५० ग्राम (गूदा फली से स्वयं निकालें, बाजार का निरर्थक होता है)। क्वाथार्थ-पंचतृणमूल, शतावरी, गोक्षुरी पंचांग, शालपर्णी, पृष्णपर्णी, काकमाची, पुनर्नवा पंचाग, धनियां, श्वेत जीरक, उन्नाव-इन १० द्रव्यों को प्रथक-प्रथक १५०ग्रा लेकर क्वाथ योग्य कूटकर चतुर्गुण जल से स्वच्छ पात्र में पाक करें। चतुर्थांशावशिष्ट रहने पर पात्र को शीतल होने के लिए अलग रख दें। शीतल होने पर दोनों हाथों से या लकड़ी के मुसद्द से खूब मर्दन करें। इस क्रिया से क्वाथ का जल पूर्वापेक्षा कुछ गाढा हो जायेगा। घोल को ऐसे वस्त्र से जिसके छिद्र विरल हों अति संहत नहीं। यह छना हुआ क्वाथ गाढे रूप का हो।

प्रक्षेप द्रव्य—स्वर्णपत्री चूर्ण २ तोले, त्रिवृत चूर्ण ३ तोले, फूलगुलाब चूर्ण ४ तोले, खीरे के निष्तुष बीज की गिरी का चूर्ण ३ तोले, द्राक्षा बीजरहित २० तोले तथा गुठली सहित इमली के बीजों का वक्कल ४ तोला।

निर्माण विधि प्रथम आरग्वध फलियों से प्राप्त कृष्णप्रसचक्रियायें लेकर एक स्वच्छ कलईदार पतीली में आधा सेर जल को गरम करें। जब जल खौलने लगे तब आरग्वध डालकर पात्र के मुख को ढांक दें और नीचे अग्नि शांत करदें। २ घण्टे के पश्चात् इनको हाथ से मसलकर विरल छिद्र वस्त्र से छान लें। छनने के पश्चात् निष्पीडित भाग को थोड़ा और जल देकर मर्दन करके पुनः छान लें ताकि द्रव्यगत ग्रहणीय भाग पूर्णतया प्राप्त हो। तदनु इमली के बीजों के वक्कल को १५-२० तोला पानी में २ घण्टे भिगोकर तथा मसलकर उसी वस्त्र से छानकर प्रथक रखे। अब एक पत्थर की शिला पर धौत और बीज सहित मुनक्का को पीसें और थोड़ा-थोड़ा इमली से तैयार किये जल को डालकर दृढ मर्दन करें। बिना द्रव की सहायता के द्राक्षा के बीजों की संरक्षण त्वचा का सम्यक् पेषण नहीं होता। सुपिष्ट होने पर द्राक्षाकल्क को प्रथक पात्र में रखें और इमली के अवशिष्ट जल से ही शिला पर लिप्त द्राक्षा भाग को संग्रह करलें। अब पूर्व निर्मित क्वाथ, द्राक्षा कल्क तथा आरग्वध के वस्त्रपूत घोल को स्वच्छ कलईदार पतीला में पाक करे। यह पाक क्रिया बड़ी मन्द आंच से सम्पन्न होनी चाहिए। ५-६ घण्टे समय उसमें लग जाते हैं। जब पकते पकते नरम हलुए के सदृश पाक हो तब इसमें प्रक्षेप द्रव्यों के चूर्ण को मिलाकर आधा किलो मधु मिलाकर आलोड़न प्रक्रिया से एकरस करलें। योग को टिकाऊ रखने के लिए Potasium Meta Bi Sulphate १ छोटा चम्मच मिला कर कांच व चीनी मिट्टी के पात्र में रखलें जिससे न फूलन आयेगी और न योग विकृति ग्रस्त होगा—प्रयोग विधि ऊपर आ ही चुकी है।

● पृष्ठ २३३ का शेषांश ●

मुख्य चिकित्सा—प्रातः ८ बजे सर्वतोभद्र वटी (भैषज्य रत्नावली) २ रत्ती मधु में चटा कर ऊपर से गुरुच्यादि अर्क पिलावे। सायं ४ बजे प्रभाकर वटी (भै. र.) २ रत्ती तथा शयनकाल में माहेश्वर वटी २ रत्ती, गुरुच्यादि अर्क से दे एवं दिन में कई बार एक-एक चम्मच 'आरग्वधादि अवलेह' जो वृक्क रोगियों पर अमोघास्त्र है चटाते रहें जिससे मूत्रोत्पादन और निःसरण होकर शनैः शनैः वृक्क शोथ का ह्रास होकर रोग निर्मूल होजाता है।

गुरुच्यादि अर्क—सकांडपत्रा गुरुची, पर्पट, उशीर, नेत्रवाला, गोक्षुरु, पुनर्नवापंचांग, काकमाची, फूल गुलाब, श्वेत चन्दन, रक्त कमल, सौंफ, कुमारीपत्र, पाषाणभेद, हरिद्रा प्रत्येक १-१ पाव, १६ सेर जल में भिगोकर अर्क विधान से १ बोतल अर्क निकाल लें। इसका उपयोग अनुपान तथा जलपान के रूप में किया जाता है।

वृक्कार्बुद

विशेष सम्पादक-कविराज श्री गिरिधारीलाल मिश्र ए०,एम०बी०एस०

आयुर्वेद ग्रन्थों में वृक्क के अर्बुद पर कोई स्वतन्त्र प्रकरण तो नहीं है पर शल्याचार्य सुश्रुत ने मूत्राघात के १३ भेद माने हैं उनमें वात कुण्डलिका (Spasm of urethra), मूत्र ग्रन्थि (Enlarged prostate or tumour of the bladder) मूत्रोत्सर्ग और मूत्रक्षय आदि भेदों में रोग के जिन लक्षणों का समावेश किया है उनमें वृक्कार्बुद के लक्षणों का समावेश कर सकते हैं। आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों ने वृक्कार्बुदों के सन्दर्भ में निदान और चिकित्सा सम्बन्धी पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर ली थी जिसका वर्णन प्रस्तुत किया जारहा है—

वृक्क के अर्बुद दो प्रकार के माने गये हैं—

(१) सार ऊतक (Parenchyma) के अर्बुद।

(२) गोणिका (Pelvis) के अर्बुद

अर्बुद का रूप	वृक्क का सार ऊतक	वृक्क गोणिका
सुदम	ग्रन्थ्यर्बुद (एडीनोमा)	वाहिकार्बुद (Angioma) अंकुरार्बुद (Pipilloma)
दुर्दम	एडिनो-कार्सिनोमा (हाइपरनेफ्रोमा या स्राविग अर्बुद) एम्ब्रियोमा (नेफ्रोब्लास्टोमा या विलास अर्बुद)	अंकुरीय कार्सिनोमा ऐपीडर्माइड कार्सिनोमा

वृक्क के अर्बुद को दुर्दम समझकर ही उनकी चिकित्सा करनी चाहिये क्योंकि सुदम अर्बुद प्राय: असाधारण होते हैं तथा उनकी दुर्दम होने की पूर्णत: प्रवृत्ति रहती है।

रोग लक्षण—

वृक्क अर्बुद में शारीरिक सामान्य लक्षण एक समान हैं जिनमें मुख्य लक्षण रक्तमेह, उभार या वृद्धि और वेदना है—

(१) रक्तमेह (Haematuria)—वृक्कार्बुद का यह मुख्य लक्षण है। अधिकतर रोगियों में यह शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाता है पर लगभग तृतीयांश रोगियों में विलम्ब से प्रकट होता है। रक्त मूत्र में मिला रहता है किन्तु कृमिवत् निर्मोक (Casts) के रूप में भी निकल सकता है।

(२) उभार या वृद्धि—अधिकतर रोगियों में अर्बुद के अन्दर स्पर्शासहिष्णुता रहती है, अर्बुद गोल और चिकना होता है तथा श्वास के समय गति करता है। वृक्क प्रति लोढनीय (Ballotable) होता है।

(३) वेदना—अर्बुद में वेदना सदैव नहीं होती। पर होने पर वह वृक्क सम्पुट के खिंचाव के कारण होती है या कभी कभी रक्त के थक्के जब गवीनी पर उतरते हैं तब वेदना होती है।

(४) ज्वर - असाधारण नहीं है, अज्ञात हेतुक ज्वर के कारणों में हाइपरनेफ्रोमा स्मरणीय है। संक्रमण के बिना भी ज्वर रह सकता है और प्राय: वृक्क उच्छेदन के पश्चात् रोगी को ज्वर नहीं रहता।

वृक्कार्बुद निदान—

वृक्क कैंसर के निदान में एक्सरे परीक्षण तथा वृक्क

स्पर्श परीक्षा तथा रोग निदान में विशेष सहायता मिलती है।

एक्स-रे परीक्षण—वृक्क कैंसर के निदान में एक्स-रे परीक्षण द्वारा वृक्क के कैंसर का स्थान और वाह्य रूप-रेखा के साथ अर्बुद के आकार का स्पष्ट पता चल जाता है। इसके अतिरिक्त अर्बुद अनियमितता, कैल्सीकरण तथा द्वितीयक विक्षेप भी चित्र में दृष्टिगत होते हैं। वृक्कजन्य हाइपरनेफ्रोमा के रोगी को कभी कभी रक्तमिश्रित कफ भी आता है। ऐसे वक्ष के एक्स-रे परीक्षण में फुफ्फुसों के विकार का भी ज्ञान हो जाता है। उदर के साधारण एक्स-रे परीक्षण में एक विस्तृत एक्स-रे पिन्जर दिखाई देता है जिससे आंत्र दूसरी ओर विस्थापित हो जाती हैं। शिरामार्गीय गोणिका चित्रण में संपीडित तथा लम्बी सी गोणिका दिखाई देती हैं।

स्पर्श परीक्षा—ताडन क्रिया द्वारा वृक्क कैंसर के, स्थान पर मन्दध्वनि सुनाई, स्पर्श परीक्षा से 'विल्म्स' स्वरूप का अर्बुद बड़े आकार का प्रतीत होता है। अर्बुद की ऊपरी भाग की उदर की ऊपरी त्वचा तनावयुक्त हो जाती है और चमकने लगती है। स्पर्श परीक्षा से दृढ़ स्वरूप का अनियमित स्तर वाला अर्बुद पर्याप्त गहराई में प्रतीत होता है। दक्षिण वृक्क का अर्बुद यकृत से सम्बन्धित हो जाता है और वाम वृक्क का अर्बुद बृहदन्त्र से सम्बन्धित हो जाता है। तब किसी किसी को जलोदर के लक्षण भी मिलते हैं।

रक्तमेह—रक्तमेह भी वृक्क कैंसर के मुख्य लक्षणों में प्रमुख है। जब वृक्क शूल की अनुभूति रक्तमेह के साथ होती है तथा रक्तमेह बार बार होता रहता है व यकायक रक्तमेह अधिक मात्रा में आता हैं व एकाएक रक्त का मूत्र में आना बन्द हो जाता है। रोग के संक्रमणकाल में रक्त में मूत्र अवश्य मिलता है। जब रक्तस्कन्द गवीनी से होकर गुजरता है तब रोगी को वृक्कशूल की अनुभूति होती है। यह वृक्कशूल या तो जन्घा की ओर प्रसरित होता है या वक्ष की ओर प्रसरित होता है। तीव्र वृक्क शूल वृक्काश्मरीजनित ही होता है।

विल्म्सस्वरूप अर्बुद का निदान शिरामार्गीय गोणिका चित्र द्वारा तथा वृक्क कैंसर का स्पष्ट निदान सुनियोजित परीक्षण द्वारा हो जाता है।

साध्यासाध्यता—

वृक्क रोगियों के अर्बुद का ज्ञान प्रारम्भिक स्थिति में ही हो जाता है तो चिकित्सा की दृष्टि से पर्याप्त साध्य होता है। अर्बुद के अधिक प्रसरित होने तथा रक्तमेह का लक्षण प्रकट होने पर वह असाध्य हो जाता है। जब अर्बुद एक ही स्थान पर होता है तो उसका समूल निष्कासन समान होता है पर रोग के प्रसरित होने पर असाध्य हो जाता है।

ग्रन्थ्यकार्सिनोमा में जितना अर्बुद छोटा होता है उतना ही साध्य होता है। उपत्वचाभ कार्सिनोमा कष्टसाध्य माना गया है और विल्म्स अर्बुद अत्यन्त घातक माना जाता है। यद्यपि इसमें शल्य चिकित्सा पर्याप्त प्रभावकारी सिद्ध हुई है तथा विकिरण चिकित्सा द्वारा भी सन्तोषजनक परिणाम मिले हैं तथापि अर्बुद असाध्य रोग माना जाता है। वृक्क के अर्बुद का प्राग्ज्ञान प्रायः सीमित ही रहता है। वृक्कार्बुद की प्रारम्भिक अवस्था में वृक्कोन्छेदन अन्तिम चिकित्सा मानी जाती है।

अतिवृक्कार्बुद (Hyper nephroma)

वृक्क के जीवितक से उत्पन्न होने वाले अर्बुदों को अतिवृक्कार्बुद, एडिनोकार्सिनोमा कहा जाता है। ग्रोवित्ज नामक वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम इसका पता लगाया था इसलिये ग्रोवित्ज्ञार्बुद (Grawiz tumours) भी कहते हैं। एडिकार्सिनोमा वृक्क में सबसे अधिक होने वाला अर्बुद है।

लक्षण—

साधारणतया अर्बुद वृक्क के ऊर्ध्व ध्रुव से निकलता है किन्तु निम्न ध्रुव पर भी निकल सकता है। अर्बुदों का प्रत्यक्ष दर्शन गोल सम्पुटित पिंडवत् होता है पर उससे वृक्क का आकार प्रभावित नहीं होता पर अर्बुद को काटने पर उसमें कई प्रकार की आकृति दीखती हैं, स्वर्णपीत क्षेत्र, रक्तस्राव के कारण लालक्षेत्र व रक्त से भरे हुये काष्ठ (cysts) इतस्ततः देखे जा सकते हैं। कई प्रकार की पुटियां (casts) जिनमें कुछ पुटियों में स्वच्छ तरल और कुछ में रक्त भरा होता है। प्रारम्भिक अवस्था में अर्बुद सम्पुटित होता है किन्तु आगे चल कर सम्पुट फट जाता है और अर्बुद गोणिका को भी आक्रान्त कर देता है।

जिन लक्षणों से यह अर्बुद पहचाना जाता है उनमें

प्रमुख लक्षण हैं—

(१) बीच बीच में वृक्क शूल होना जिसके साथ वमन भी होती रहती हो।

(२) स्थानिक दबाव के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जिससे दर्द व समीपवर्ती अवयवों की क्रिया बिगड़ जातीहै।

(३) बहुधा अर्बुद धीरे धीरे फैलता है और जब गोणिका को आक्रान्त करता है तब रक्तमेह होता है।

(४) यह अर्बुद वृक्क शिरा के द्वारा प्रसारित होता है जो कभी कभी कोशिकाओं के ठोस स्तम्भ से भर जाती हैं। यह स्तम्भ वृक्कशिरा में होता हुआ अधोमहाशिरा

चित्र—८३
वृक्क का घातक अर्बुद

और दक्षिण हृदय में पहुंच सकता है जिसके परिणामस्वरूप फुफ्फुस और अस्थियों में उसका अत्यधिक स्थलान्तरण हो सकता है और परिणामस्वरूप वक्षशूल, फुफ्फुस से रक्तस्राव (रक्तष्ठीवन) अथवा विकृतिजन्य अस्थिभंग आदि प्रारम्भिक लक्षण हो सकते हैं।

(५) जब रोग समीप के अंगों को भी ग्रस्त कर लेता है तो समीप के कटि लसीकापर्वों का विवर्धन पाया जाता है।

रोग के कारण—

जन्मजात गवीनियों का तंग होना, वृक्क की रक्तवाहिनी का स्वाभाविक स्थान से सटना, मूत्रमार्ग में पर्दा होना जिससे मूत्र त्याग में कठिनाई होना आदि कारण हैं। जन्मोत्तर कालजन्य कारणों में मूत्रमार्ग में स्ट्रिक्चर, मूत्र ग्रंथि का बड़ा होना, गवीनियों में अश्मरी से या रक्त के जमने से बस्तिभाग के व दूसरे अर्बुद का दबाव पड़ना, शस्त्रकर्म व आघात के कारण, गवीनी के रोग से गवीनी के संकुचित हो जाने आदि कारण, अन्य अज्ञात कारण इस रोग के उत्पादक माने जाते हैं।

यह रोग ४० वर्ष से अधिक के आयु के स्त्री-पुरुष दोनों को होता है।

निदान—

सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने पर इसकी आकृति में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। रोग का प्रारम्भ में ही निदान आवश्यक है। सब लक्षणों के प्रकट होने पर प्रायः स्थलांतरण हो चुका होताहै अतः सिस्टोस्कोप द्वारा पूर्ण अन्वेषण आवश्यक है। उत्सर्जन गोणिका चित्र में भरण अपूर्णता (Filling defect) दिखाई देगा।

चिकित्सा—

शस्त्रोपचार ही इसकी चिकित्सा है। पर्युदर्यापार (Transperitoneal), वृक्कोच्छेदन, परिवृक्क वसा सहित वांछित चिकित्सा है।

भ्रूणार्बुद (Nephroblastoma)

यह बाल्यकाल का सबसे साधारण अर्बुद है जो बालकों में २ या ३ वर्ष की आयु में मिलता है। ८ या १० वर्ष की आयु के पश्चात् अति असाधारण है। इस अर्बुद की उत्पत्ति बाल्यावस्था में होती है तथा उत्पत्ति का कारण भ्रूणीय वृक्कजन्य ऊतक माना जाता है एतदर्थ इसे भ्रूणार्बुद, नेफ्रोब्लास्टोमा, ऐम्ब्रियोमा तथा विल्म्स अर्बुद के नाम से भी जाना जाता है।

विकृति रचना—

यह अर्बुद स्पष्ट रूप से रेखांकित गोलाकार तथा बड़े आकार वाले होते हैं। कभी कभी आकार बहुत छोटा होता है किन्तु बहुधा बड़े आकार का होता है। प्रायः वृक्क के एक ओर होता है व दोनों ओर भी हो सकता है। अर्बुद प्रायः गोलाकार अथवा अण्डाकार भी हो सकता है। यह वृक्क वस्ति से प्रारम्भ होता है और बहुत समय तक सम्पुट के भीतर ही बढ़ता रहता है। यदि अर्बुद को काट कर देखा जाय तो उसका एक समपृष्ट धूसरमय लाल रंग का दीखता है।

अर्बुद का विस्तार—यह अर्बुद पास के पर्वों में लसीकावाहिनियों तथा फेफड़े में रक्तप्रवाह द्वारा फैलता है। इसका प्रसार सतत रूप से गोणिका श्रोणि की ओर होता है। साथ ही इनके द्वारा वृक्कीय शिरायें तथा कभी

कभी महाधमनियां भी ग्रसित हो जाती हैं। इस अर्बुद द्वारा अधिवृक्कीय संक्रमण होता है तथा यकृत, आंतें और कशेरुकायें भी ग्रसित हो जाती हैं।

लक्षण—

बच्चों में होने वाले वृक्कीय अर्बुद प्रायः यकायक उत्पन्न होते हैं और बहुत समय तक लक्षणहीन रह सकता है। प्रारम्भिक अवस्था में एक पिण्ड के रूप में उपस्थित हो सकता है जिसका आकार बढ़ सकता है और उदर के पार्श्व से मध्य धारा के दूसरी ओर तक विस्तृत हो सकता है तथा जिस ओर का वृक्क आक्रांत हो उस ओर का उदर बढ़ने लगता है। इस अर्बुद में वेदना नहीं होती तथा मूत्र सम्बन्धी लक्षण विरल होते है और रक्तमेह असाधारण है। पर रक्तमेह होने पर बालक का जीवन अति दुस्तर है।

रोग के बढ़ने पर बालक को वृक्क स्थान पर दर्द की अनुभूति होने लगती है। शरीर में रक्त की कमी, क्षुधा-नाश तथा शरीर का भार क्रमशः गिरने लग जाता है। अर्बुद के कफजनन और रक्तस्राव के परिणामस्वरूप ज्वर भी हो जाता है। सामान्य रूप से वृक्क अर्बुद पर ध्यान नहीं जाता पर जब बिना किसी आघात, चोट आदि के रोगी का अस्थिभंग हो जाता है तो इस ओर ध्यान जाता है।

ऐक्सरे परीक्षा—उदर के ऐक्सरे चित्र से अपार्य पिंड दीखता है। अंतशिरीय गोणिका चित्रण से संपीड़ित (compressed) और लम्बी सी गोणिका दीखती है।

चिकित्सा—

यह अर्बुद अत्यन्त घातक होता है जितना शीघ्र हो सके अर्बुद का उच्छेदन करें। पार उदर छेदन द्वारा वृक्क को स्पष्ट करके उसके वृन्त का बन्धन करने के पश्चात् वृक्क को उसके स्थान से हटाकर उसका उच्छेदन कर दिया जाता है। शल्यकर्म के पश्चात् ऐक्सरे किरणन बहुत लाभदायक होता है। किरणन की प्रथम मात्रा शल्य-कर्म के प्रथम दिन ही संवेदनाहरण के पश्चात् चेतना होने के पूर्व ही दी जाती है। बोस्टन के बाल चिकित्सालय में इस विधि के परिणाम उत्साहवर्धक हैं। विशेषकर १ वर्ष से कम आयु वाले बालकों में। अधिकतर मृत्यु प्रथम वर्ष में रोग की पुनरावृत्ति से होती है। अर्बुद का स्पर्शन अधिक व्यक्तियों द्वारा व अधिक बार न करें क्योंकि उससे रोग का विस्तार होता है। शल्यकर्म पूर्व ऐक्सरे किरणन से कोई लाभ नहीं होता।

वृक्कार्बुद की चिकित्सा—

शल्य चिकित्सा—वृक्कार्बुद में शल्य चिकित्सा द्वारा सम्पूर्ण वृक्क का समूल उच्छेदन कर दिया जाता है और यह चिकित्सा एकमात्र सर्वाधिक सफल चिकित्सा प्रमाणित हुई है। विकृत वृक्क की परिवृक्क वसा, उपवृक्क ग्रन्थि, लसीका पर्वो, वृक्क तथा गवीनियों के अधिकांश विकृत भाग को निकाल दिया जाता है और तत्पश्चात् रेडियम चिकित्सा दी जाती है। वृक्क के अंकुरित कार्सीनोमा में वृक्क के श्रोणि, गवीनी तथा मूत्राशय की दीवाल के अतिरिक्त भाग को भी निकाल दिया जाता है। गवीनी के कैंसर में वृक्क गवीनी उच्छेदन किया जाता है। वृक्क ग्रंथ्यार्बुद में फुफ्फुस में विक्षेप पहुंचने से फुफ्फुस का भी खण्डोच्छेदन कर दिया जाता है।

शल्य चिकित्सा से पूर्व रोगी को रक्ताल्पता हो तो रक्ताल्पता को दूर करने के लिये रक्ताधान करके वृक्कोच्छेदन करना चाहिये। शल्य चिकित्सा के पश्चात् रेडियम चिकित्सा दी जाती है पर वृक्कार्बुद का आकार यदि काफी बड़ा हो तो उसे पहले रेडियम चिकित्सा द्वारा छोटा कर लिया जाता है जिससे अर्बुद शल्य चिकित्सा के योग्य हो जाता है। विकिरण चिकित्सा के अन्तर्गत रोग की स्थिति के अनुसार ३,०००-६,००० रैड ५ सप्ताह तक विकृत वृक्क पर लगाया जाता है। बोस्टन के बाल चिकित्सालय में १ वर्ष से कम आयु वालों में शल्य चिकित्सा के पश्चात् रेडियम चिकित्सा अधिक लाभकारी सिद्ध हुई है।

विकिरण चिकित्सा (Radio theraphy)—भ्रूणार्बुद (बच्चों में होने वाले विल्म्स अर्बुद) में शल्य चिकित्सा के साथ रेडियो चिकित्सा भी की जाती है। यदि वृक्क प्रारम्भ में ही बड़ा हो तो रेडियम चिकित्सा का एक कोर्स २०:० रैड विकिरण ३ सप्ताह तक दिया जाता है तत्पश्चात् वृक्कोच्छेदन कर रेडियम की शेष मात्रा दी जाती है। कभी कभी रेडविकिरण चिकित्सा द्वारा वृक्कशोथ तथा अस्थिकुब्जता आदि उपद्रव पैदा होते हैं ऐसी स्थिति में विकिरण का उपयोग विभाजित मात्रा में

किया जाता है। साथ ही अधिक वोल्टेज के विकिरण का प्रयोग किया जाता है जिससे अस्थियों द्वारा विकिरण कम शोषित होता है। जो वृक्कार्बुद शल्य चिकित्सा से ठीक नहीं होते उनमें रेडियम चिकित्सा उत्तम है।

आयुर्वेद चिकित्सा—

स्नेहन, स्वेदन, उत्तरवस्ति देनी चाहिये। पाटला, यवक्षार, पारिभद्र, तिल क्षारोदक से दालचीनी, इलायची, त्रिकुटा का चूर्ण, गुड़ मिलाकर पिलायें या इनसे लेह बनाकर चटावें।

सर्वतोभद्र वटी—स्वर्ण, लौह, रजत, अभ्रक की भस्म, शिलाजीत, गन्धक, स्वर्णमाक्षिक भस्म समभाग को वरुण क्वाथ से घोटकर १-१ रत्ती की गोली बनावें। १-१ गोली सुबह-शाम सेवन करना लाभदायक है।

कैंसर विध्वंसक रस—सर्वेश्वर पर्पटी ६ ग्राम, शुद्ध वर्की हड़ताल ६ ग्राम, स्वर्ण भस्म ६ ग्राम, अभ्रक भस्म (सहस्र पुटी) ६ ग्राम, मुक्ता पिष्टी ६ ग्राम, अमृतासत्व ६० ग्राम, पन्नापिष्टी ३ ग्राम, उत्तम हीरा भस्म २५० मि०ग्राम सबको खरल में डाल सहंजन छाल स्वरस की भावना देकर अच्छी तरह घुटाई कर २५० मि०ग्राम प्रमाण की गोलियां बनालें। १-१ गोली प्रातः सायं शहद से चटाकर सहंजन स्वरस पीवें।

आयुर्वेद के—तालकेश्वर रस, त्र्यम्बकाभ्र रस, विश्वम्भर रस, सोमेश्वर रस, हेमाद्र रस, चन्द्रप्रभावटी, योगोत्तमा वटी, नृपतिवल्लभ, रसमाणिक्य, उदय भास्कर, सारिवाद्यासव, महामंजिष्ठाद्यरिष्ट, कांचनार गुग्गुल आदि औषध कल्पों का प्रयोग लाभकारी है। ☆

कविराज डा० हरिवल्लभ मन्नूलाल द्विवेदी सिलाकारी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद बृहस्पति
स्वामी निरञ्जन निवास, कोतवाली रोड, सागर (म० प्र०)

यह अर्बुद विशेषतः स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक होता है। इसमें सामान्य लक्षण—मूत्र में रक्त का निकलना है। यह रक्त वृक्क में से भी आ सकता है। इसके अतिरिक्त ज्वर और रक्त की परीक्षा करने पर रक्त में परिवर्तन पाया जाता है। कभी-कभी चिकित्सक को स्पर्श करने पर भी आभास होता है। इसके सिवाय एक्सरे, रेडियो एक्टिव टेस्ट, वृक्क कार्य परीक्षण तथा ऐसे अनेक परीक्षणों द्वारा निदान की स्पष्टता होती है। पाश्चात्य चिकित्सा में इसका एकमात्र उपचार शस्त्र क्रिया से वृक्क को निकाल देना है। परिणाम रोग की घातक अवस्था पर निर्भर करता है।

उपचार—

१. रोगी को सर्वप्रथम उसकी अवस्था के अनुसार विरेचन, वस्ति तथा उत्तर वस्ति देकर शोधन करने के उपरान्त निम्न औषधियों का उपयोग करना चाहिये—

२. गोक्षुरादि गुग्गुल १ माशा, चन्द्रप्रभा वटी १ गोली, बङ्ग भस्म २ रत्ती। सबको मिला १ मात्रा तैयार कर लेना। अनुपान गौ दुग्ध तथा मिश्री के साथ। अमृतादि क्वाथ के साथ। समय—दिन में ३ बार अथवा रोग और रोगी की अवस्थानुसार प्रयोग करना उचित है।

३. उशीरासव सारिवाद्यासव २-२ तोला, जल ४ तोला मिला भोजनोत्तर दिनमें २ बार दें।

४. त्रिफला के क्वाथ की अथवा हिम की उत्तरवस्ति देनी चाहिये।

५. स्थानिक—रोगी को गरम पानी में राई मिलाकर इस राई के पानी (टब) में बैठालना, साथ ही कमर के पिछले भाग पर राई की पट्टी लगानी चाहिये।

६. त्रिफला चूर्ण ६ माशा की मात्रा में रात्रि में रोज सोते समय गुनगुने पानी से सेवन करना।

वृक्क-विद्रधि

विशेष सम्पादक—कविराज श्री गिरिधारीलाल मिश्र ए., एम. बी. एस., आयु० वाचस्पति

शरीर पर पिड़िकायें (व्रण) या कारवंकल निकलते रहते हों तो उसमें रक्त संचार द्वारा संक्रमण होकर वृक्क के आवरण, वृक्क पृष्ठ और समीपस्थ अवयव में पूयभाव होकर वृक्क विद्रधि होती है।

विभेद—

यह दो प्रकार की होती है—

(१) परिवृक्क हीमेटोमा के स्टेफिलोकोकस द्वारा संक्रमण से उत्पन्न होती है। संक्रमण फुंसी या अवसम्पुटी (Subcapsular) विद्रधि के परिवृक्क ऊतक में फूटने से
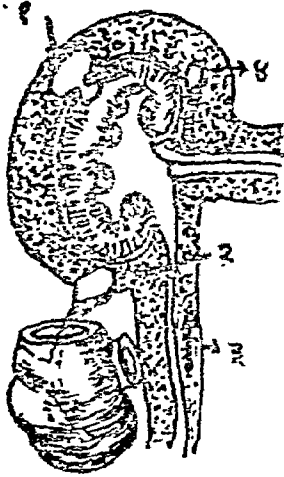
चित्र—८४

वृक्क की परिधि पर विद्रधियों के संक्रमण प्राप्ति स्थल

१—बहिर्वस्तु (कार्टेक्स) २—आन्त्रपुच्छशोथ से

३—मूत्र गवीनीस्थ लसीका ग्रंथियों से

४—रक्त वाहिनियों द्वारा

पहुँचता है। यह स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में वाम ओर की अपेक्षा दक्षिण की ओर अधिक होती है।

(२) द्वितीयक, जो समीप के अङ्गों में शोथ के उपद्रव रूप होती है जैसे पित्ताशय शोथ, आंत्रपुच्छशोथ, डिम्बवाहिनी शोथ, यकृत विद्रधि, एम्पायमा, पृष्ठवंशक्षय, वृक्कवस्ति शोथ व आघातज कारणों से होती है।

लक्षण—

कटि में मन्द किन्तु चुभती हुई वेदना, जो कभी कभी टांगों की ओर जाती है। रुग्ण पार्श्व की टांग मुड़ी रहती है और चलते समय रोगी पीठ को सीधा न कर सकने के कारण झुक कर चलता है। शीत कम्प सहित ज्वर रहता है। बारम्बार फोड़े होते रहने का इतिहास प्रायः होता है और रोगी कृश होता जाता है। वृक्क अथवा समीपस्थ अंगों में शोथग्रस्त होने का इतिहास, त्वचा का शोथ, वृक्ककोण पर स्पर्शासिहता व वहां सूजन मिलती है। मूत्र में परिवर्तन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है परन्तु नाम मात्र को एल्ब्युमिन आता है। ल्युकोसायटोसिस बहुत अधिक रहता है। फेफड़ों के आधार में कोलैप्स रहता है और कभी कभी प्लुरा में द्रव संचय भी हो जाता है।

इसका आरम्भ में ज्वर विषसंचार (Toxaemia) के लक्षणों के साथ होता है जब वृक्क प्रदेश पर पीछे एक रक्तवर्ण कठोर सा उभार प्रकट हो जाता है जिसमें दर्द, स्पर्शाक्षमता, कुछ भारीपन और Rigidity के होने से तथा टांग का सीधा न होने पाना (दर्द के कारण से), साथ ही ज्वर, स्वेद, पाण्डुता तथा पूयभाव होने से चिकित्सक का ध्यान इस ओर जाता है। वृक्क आवरण कैपसूल पर अन्दर से दवाव पड़ने के कारण ही वृक्क प्रदेश पर दर्द की प्रतीति होती है।

निदान—एक्सरे चित्र में कटि लम्बनी और वृक्क की छायाओं का उस ओर लोप दीखता है और मध्यच्छदिका ऊँची उठी दीखती है। उत्सर्जन गोणिका चित्रण में आलवाल दीखते हैं।

चिकित्सा—

प्रारम्भ में स्थानिक ऊष्मा प्रयोग द्वारा वेदना तथा पेशी आकर्षण का शमन हो सकता है। उपयुक्त प्रतिजीवी औषधियां दी जाती हैं। पेन्सिलीन देनी चाहिये। Antibiotics देने पर यह रोग ठीक न हो तो शल्यकर्म द्वारा इसकी पूय निकालनी पड़ती है अन्यथा यह विद्रधि स्वयं आन्त्र में, उदरगुहा, उरोगुहा, मूत्रमार्ग में खुलकर वस्तिगुहा में, वंक्षण में या पीठ पर खुल जाती है। अतः ज्यों ही पूय का ज्ञान हो त्यों ही शल्यकर्म करना चाहिये।

रोगी के स्वस्थ हो जाने पर उधर के वृक्क की दशा का उत्सर्जन एक्सरे चित्रों द्वारा अन्वेषण करना चाहिये तथा उसके रोगग्रस्त होने पर उपयुक्त चिकित्सा की जानी चाहिये।

लगभग दो तिहाई रोगी संरक्षी चिकित्सा से आरोग्य लाभ करते हैं। रोगी को शैय्यारूढ़ करके तीव्र रक्तमेह के रोगी को चौथाई ग्रेन मार्फीन देकर रक्ताधान प्रारम्भ कर दिया जाता है। संक्रमण को रोकने के लिये पेन्सिलीन और स्ट्रिप्टोमाइसिन दिये जाते हैं। रक्तस्राव रुक जाने पर १० दिन तक पूर्ण शैय्या विश्राम (Bed rest) कराया जाता है। रोगी को मुक्त करने के पूर्व वृक्क कार्यक्षमता को जानने के लिये उत्सर्जन गोणिका एक्सरे चित्रण उपयोगी होता है।

शल्यकर्म – २०-३० प्रतिशत रोगियों में शल्यकर्म की आवश्यकता होती है। परिवृक्क अवकाश का निस्राव, विदर की सीवन आंशिक व पूर्ण वृक्कोच्छेदन करना आवश्यक हो सकता है। मूत्राशय से रक्त के थक्कों को बिगेलो के निस्सारक (Bigellow's evecuator) और केनुला की सहायता से निकाला जा सकता है।

वृक्क का कारबंकल (Carbuncle)

वृक्क का कारबंकल—यह अत्यन्त विरल है और त्वक-पनसिका से रक्त द्वारा स्टेफिलोकोकस ओरियस के संक्रमण के एक वृक्क में पहुँचने से होता है।

विकृति—वृक्क के प्रान्तस्था संक्रमण के स्थानान्तरण से सार ऊतक के एक क्षेत्र में कई बहुकोष्ठीय विद्रधियां बन जाती हैं जिससे परिगलन (necrosis) होता है। यह विद्रधि फूटकर परिवृक्क ऊतक में परिवृक्क-विद्रधि बना देती है।

लक्षण—

कटि प्रदेश में पिंड सा प्रतीत हो सकता है। जीव विषाक्तता और ज्वर कई सप्ताह तक बने रह सकते हैं। गोणिका वृक्कशोथ के समान रोगी की दशा होती है। उत्सर्जन एक्सरे चित्रण में क्षति की गुहिका दृष्टिगोचर होती है। रक्त में श्वेत कोशिकाओं की बहुलता होती है। मूत्र में पूय कोशिकायें तभी अधिक होती हैं जब विद्रधि गोणिका में फूट जाती है।

चिकित्सा—

पेन्सिलिन की बृहद मात्रायें सल्फोनामाइड के साथ दी जाती है। परिवृक्क विद्रधि बनने पर शस्त्र कर्म द्वारा पूय निर्हरण किया जाता है तथा इसमें सफलता न मिलने पर वृक्कोच्छेदन किया जाता है।

पूय अपवृक्कता (Pyoneprosis)

इस दशा में गोणिका विस्फारित होकर पूय से भर जाते है। सार ऊतक नष्ट हो जाते हैं। यह दशा जलीय वृक्कता के संक्रमण होने से या गोणिका वृक्कशोथ में अवरोध उत्पन्न होने से होती है।

विकृति—वृक्क विवर्चित हो जाता है, वृक्क पूय का कई कोष्ठ वाला थैलासा हो जाता है। पूय मूत्र में निकल सकती है।

सिस्टोस्कोप—से परीक्षा करने पर गवीनी द्वारा पूय एक पतली रज्जुका के समान निकलती हुई दिखाई देतीहै।

लक्षण – वेदना, ज्वर, पूयमेह, जीवविषमयता, परिस्पर्श्य और विवर्चित वृक्क हो सकते हैं। बन्द प्रारूप (closed type) के रोग में पूयमेह नहीं होता। साधारण एक्सरे में विवर्चित वृक्क की छाया दीखती है। उत्सर्जन गोणिका चित्र से वृक्क कार्यहीन मालूम होते हैं।

चिकित्सा—वृक्कोच्छेदन है।

वृक्कवस्ति में पूयोत्पत्ति (Pyonephrosis)

यह वृक्क का सिस्टिक अर्बुद है जिसका कारण वृक्क की वस्ति का और कैल्शियम का पूययुक्त द्रव से फैलना है। इसका कारण मूत्र के स्वतंत्र रूप में बाहर आने की रुकावट है।

लक्षण—

मूत्र में पूय की मात्रा बढ़ी हुई आती है, स्पर्श से अर्बुद के अन्दर स्पर्श असहिष्णुता रहती है, वृक्क वस्ति शोथ के लक्षण मिलते हैं। विसर्गी ज्वर, कभी कभी शीत-कम्प, विषैले प्रभाव, कटि भाग में मन्द वेदना रहती है। बीच में जब अवरोध हट जाता है अर्बुद लुप्त हो जाता है।

कारण—

हाइड्रोनेफ्रोसिस में जीवाणु संचार हो जाय, जैसाकि मूत्राशय शोथ में होता है एवं गवीनी के अवरोध के कारण वृक्कवस्ति शोथ के कारण यह दुखदायी रोग होता है। वृक्क की बनावट प्रायः नष्ट हो जाती है। कोष्ट या वक्ष में अर्बुद के फटने से घातक परिणाम होते हैं।

चिकित्सा—

गवीनी को मूत्र शलाका से धोना अस्थायी रूप में लाभ। प्रायः वृक्क को शल्यकर्म द्वारा निकालना पड़ता है।

चित्र ८५—मूत्र गवीनी श्रोणि का पूययुक्त शोप गवीनी श्रोणि पूयस्राव से भरी हुई हैं तथा वृक्क में विद्रधियां दिखाई दे रही हैं।

वृक्क का पोली सिस्टिक रोग

इसमें दोनों वृक्क के अन्दर सिस्ट होती है जिनकी संख्या और आकार भिन्न भिन्न होते हैं। यह रोग प्रायः कुटुम्ब में चलता है।

लक्षण—एक या दोनों वृक्क पार्श्वों में अर्बुद होता है जिससे एक या दोनों कटि प्रदेश पर चुभने वाली मन्द वेदना रहती है, वृक्क पर्याप्त कठोर दृष्टिगत होते हैं। मूत्र बहुत अधिक श्वेत वर्ण, आपेक्षिक भार में कमी तथा अल्पपरिमाण में एल्ब्युमिन तथा कभी कभी रक्त और कास्टस भी मूत्र में आते हैं।

उच्च रक्त दाब, हृदय में हाइपरट्रोफी हो जाती है। इसके कारण भ्रूण में बहुत से अर्बुद भी हो सकते हैं जिससे प्रसव कठिन हो जाय और बच्चों में वृक्क का फक्क रोग (Rickets) भी हो सकता है। रोगी का स्वास्थ्य बहुत दिनों तक अच्छा रह सकता है अथवा चिरकालीन यूरीमिया के लक्षण हो सकते हैं। रोगी प्रायः मध्यम वय के होते हैं और मध्यम वय के रोगी रोग निर्णय के पीछे २०-३० वर्ष तक जीवित रह सकते हैं।

चिकित्सा—

वृक्क शोथ के समान है, मृत्यु, यूरीमिया के कारण से या वृक्क शोथ के उपद्रवों से होती है जब दोनों पार्श्वों में अर्बुद हो तो शल्य कर्म नहीं किया जाता है।

वृक्क गोणिका का अर्बुद (Pipilloma)

इसकी रचना मूत्राशय के अङ्कुरार्बुद के समान होती है उसकी गवीनी में फैलने की प्रवृत्ति होती है और दीर्घ-काल तक रक्तमेह के लक्षण हो सकते हैं जिसमें रक्त-स्कन्द (clot of blood) गवीनी शूल का कारण बन सकता है। उत्सर्जन गोणिका चित्रण में भरण अपूर्णता दीख सकती है। इसकी चिकित्सा गवीनी उच्छेदन है।

उपत्वचाभ कार्सीनोमा (Epidermoid carcinoma)

गोणिका की भित्ति चूर्ण्य वृद्धि से ढक जाती हैं इसलिये इसे गोणिका का एपीथीलियोमा भी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति अधिकतर वृक्काश्मरी व वृक्क उपसर्ग से होती है जिसमें वृक्क का श्रोणि प्रदेश अर्बुद से ग्रसित हो जाता है। इस प्रकार का कैंसर ५० वर्ष की आयु बाद होता है। यह १० प्रतिशत रोगियों में होता है। ✳

जलापवृक्कता

* विशेष सम्पादक—वैद्य श्री गिरिधारीलाल मिश्र *

जला-अपवृक्कता मूत्र के बहिःप्रवाह के अवरोध के कारण उत्पन्न होती है। मार्गावरोध के कारण इकट्ठा हुए मूत्र के दवाव से वृक्क आलिन्द और आलवालों की अभिस्तीर्णता की ओर वृक्क की क्षीणता की विकृति को जलापवृक्कता कहते हैं। मूत्रका अवरोध वृक्कान्तर्गत हो सकता है या वृक्क बाह्य होता है जिसमें गोनिका का विशेष विस्फार होता है।

हेतुकी—

(१) मस्तिष्क संस्थान विकृतिजन्य—मूत्रवह संस्थान के मूत्रमार्ग में मूत्र का प्रवाह प्रत्यक्ष पुरःसरणक्रिया (Active Peristalsis) से जारी होता है एतदर्थ मूत्र प्रवाह सुचारु रूप से प्रवाहित रहना मस्तिष्क संस्थान का काम होता है। सुषुम्ना पारच्छेदन (Trans Section) मस्तिष्कगत रक्तस्राव आदि विकारों में मूत्र संस्थान के इस कार्य में बाधा उत्पन्न होकर मूत्र इकट्ठा होने लगता है।

(२) मूत्रमार्गावरोध जन्य—मूत्र प्रवाह के मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट रहने पर मूत्र प्रवाहित न होकर इकट्ठा होने लगता है। इसके सहज और उपलब्ध दो प्रकार के कारण होते हैं—

[क] सहज कारण—अश्वनालाकार वृक्क, अस्थानिक वृक्क (Ectopic Kidney) गोणिका गवीनी-संगम की संकीर्णता (Stenosis) गवीनी में पुटक (Folds) या मरोड़ (Twist), मूत्राशय में गवीनी का मुख पिन की नोक के समान होना, गवीनी मुख की अपसामान्य स्थिति जैसे योनि या गर्भाशय में, विपथी (Aberrant) वृक्क रक्तवाहिकायें। मूत्रमार्ग के वहिर्द्वार का अतिसूक्ष्म होना या फाइमोसिस, कुछ रोगियों में गोणिका-गवीनी संगम अथवा गवीनी के मूत्राशय में प्रवेश पर तंत्रिकापेशी असंतुलन आदि कारण माना जाता है।

[ख] उपलब्ध कारण—गवीनी की अश्मरी, निकुंचन या अर्बुद, गवीनी की हर्निया, मूत्राशय की विपुटी अथवा अर्बुद का गवीनी के निम्न प्रान्त पर दवाव, गवीनी का बाह्य ओर से दबना जैसे अर्बुद से, कभी कभी चलायमान वृक्क, मूत्राशय, गर्भाशय ग्रीवा या मलाशय का कार्सिनोमा, विचर्चिका, पुरस्थ और मूत्रमार्ग का निकुंचन आदि उपलब्ध कारण माने जाते हैं। अतः मूत्र प्रवाह में मूत्रवहसंस्थान की सहज विकृतियों के कारण व मूत्र संस्थान के रोगों के कारण मूत्र प्रवाह का अवरोध हो जाता है।

सम्प्राप्ति—

गोनिका गवीनी संगम, और गवीनी के निम्न प्रान्त के बीच में अवरोध होने से एक ओर जलापवृक्कता होती है किन्तु मूत्राशय की ग्रीवा या मूत्र मार्ग में अवरोध होने से दोनों वृक्कों में जलापवृक्कता होती है। जब मूत्र की रुकावट स्थायी और पूर्णरूप की होती है तो जलापवृक्कता न होकर अमूत्रता और वृक्क शोथ (Atrophy) के विकार होते हैं पर जब मूत्र की रुकावट अस्थायी आंशिक और आन्तरित स्वरूप की होती है तब जलापवृक्कता उत्पन्न होती है। एक ओर की जलापवृक्कता का चयापचय वृक्क उत्सर्जन निपीड आलिन्दान्त्यं निपीड के बलाबल पर निर्भर रहता है।

लक्षण—

जलापवृक्कता किसी भी वय में हो सकती है। प्रायः २५ और ३० वर्ष के बीच में जलापवृक्कता का प्रारम्भ बहुत धीरे-धीरे होता है और अनेकों में उसके कोई लक्षण कुछ काल तक नहीं दिखाई देते। यह स्त्रियों में पुरुषों से अधिक होती है और वह भी दाहिनी ओर की गर्भ में जलापवृक्कता कष्ट प्रसव का कारण होती है।

जलापतावृक्कता दो प्रकार की होती है—(१) बन्द

(Closed) (२) सविरामी।

(१) बन्दप्रकार में कोई लक्षण नहीं होते। कटिप्रदेश में मन्द वेदना और सूजन बन जाती है।
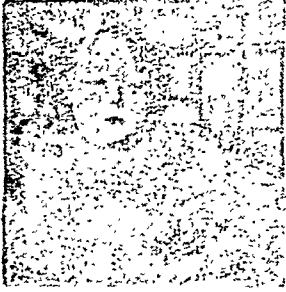
चित्र संख्या ८६
शोथमय वृक्कशोथ
रोगी की आकृति
विशेष

(२) सविरामी (Inter mittent) कटिप्रदेश में वेदना और उभार होते हैं जो बहुत बार मूत्र-त्याग पर जाते रहते हैं। गवीनी में अश्मरी होने पर सविरामशूल, बहुमूत्रता तथा रक्तमेह हो सकते हैं। परिस्पर्शन से कटि प्रदेश में उभार प्रतीत होता है जिसमें वृक्क सम्बन्धी वृद्धि के सम लक्षण होते हैं।

जलापवृक्कता में निम्न तीन लक्षण प्रमुख होते हैं -

(१) वृक्क प्रदेश का अर्बुद—यह अर्बुद धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और वीच में किसी दिन अधिक राशि में मूत्र त्यागने पर अदृश्य होता है। उसके पश्चात् वह फिर से धीरे-धीरे बनने लगता है।

(२) कटिशूल– कटि प्रदेश में मन्द वेदना बनी रहती है। प्रायः जलापवृक्कता के बढ़ने के साथ पीड़ा बढ़ती है और मूत्र निकल जाने पर जब अर्बुद गायब हो जाता है और पीड़ा भी गायब हो जाती है। बीच-बीच में अत्यधिक पीड़ा होकर वमन और शक्तिपात (Collapse) भी होजाता है।

(३) बहुमूत्रता—रोग के बीच बीच में यह वृक्क के भीतर इकट्ठा हुआ जल रुकावट के हट जाने से निकल जाने से होता है। यह विकृति अधिकतर स्त्रियों में चल वृक्क के कारण हुआ करती है इसमें निकलने वाले जल का संगठन मूत्रसम ही होता है पर उसमें यूरिया की मात्रा कम और लवण की मात्रा अधिक हो जाती है तथा मूत्र की गुरुता कम रहती है।

साध्यासाध्यता—

रोगियों में एकाध बार वृक्क में इकठ्ठा हुआ मूत्र निकलजाने पर फिर जलापवृक्कता उत्पन्न नहीं होती तो रोग ठीक हो जाता है और अनेक रोगियों में बार बार मूत्र का त्याग होकर रोग गायब होता है और फिरसे बनता जाता है। इसे अन्तरिस जलापवृक्कता (Intermittent) कहते हैं जो विशेष कष्टदायक न होकर ठीक होजाती है पर मूत्र में रुकावट पैदा होने से मूत्र विषमयता उत्पन्न होने से, उसमें उपसर्ग होने से या वृक्क के विदीर्ण होने से रोग घातक और असाध्य हो जाता है।

निदान—कटि प्रदेश में पीड़ा, वृक्क स्थान में अर्बुद, बीच-२ में अत्यधिक मूत्र निकल जाने पर अर्बुद और पीड़ा नष्ट होना आदि लक्षण होते हैं।

एक्सरे चित्रण साधारण एक्सरे से- चित्र में अश्मरी दीख सकती है, वृक्क छाया से विवर्धन स्पष्ट हो सकता है। उत्सर्जन-गोनिका चित्रण में वृक्कगोणिका का विस्फार दिखता है। आलवाल चषकवत से मुद्गदाकार हो जाते हैं उनका आकार बढ़ जाता है। आगे चलकर रंजक का सान्द्रण उत्तम नहीं होता है। चित्रों में रञ्जक का कुछ सान्द्रण दिखाई पड़ता है और अस्थिर छाया बनती है। उत्सर्जन चित्रण के रञ्जक के सफल न होने पर प्रतीपगामी चित्रण आवश्यक होते हैं।

सिस्टोस्कोपी से मूत्राशय में या गवीनी मुख पर उपस्थित कारण ज्ञात होजाता है।

चिकित्सा—

एकपक्षीय कष्ट न देने वाली जलापवृक्कता के लिए कोई विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह प्रायः घातक नहीं होता। बहुत धीरे-२ बढ़ता है और क्वचित् अपने आप ही ठीक हो जाता है पर जब जलापवृक्क का थैला बहुत बड़ा और पीड़ादायक होता है तब व्रीहिमुख यन्त्र से वेधन करके जल का आचूषण करें।

एक पार्श्वी रोग में गवीनी से अश्मरी का अपहरण आवश्यक हो सकता है। जब वृक्क अंशतः या पूर्णतः बेकार हो जाता है तब आंशिक अर्ध या पूर्ण वृक्कोच्छेदन करना पड़ता है। वृक्क के सक्रिय होने और गोनिका-गवीनी संगम पर उपस्थित अवरोध वाले रोगियों में जिनमें गोनिका विरूप हीजाती है अनेक प्रकार के प्लास्टिक शस्त्रकर्मों का आयोजन किया जाता है। इन शस्त्रकर्मोंमें गोनिका के अतिरिक्त भाग का उच्छेदन करके नई गोनिका में गवीनी को

—शेषांश पृष्ठ २४६ पर देखें।

वृक्क-क्षय

यक्ष्मा के अन्य अङ्गों के साथ वृक्कों में भी यक्ष्मिकाएं बनती हैं परन्तु इस विकृति का परिणाम रोग के लक्षणों पर न होने से रोगी की जीवितावस्था में इस विकृति की ओर ध्यान आकर्षित नहीं होता और मरणोपरान्त परीक्षा से वृक्कक्षय मृत्यु का कारण मालूम होता है। वृक्कयक्ष्मा

चित्र संख्या—८७

कभी प्राथमिक नहीं होता बल्कि फुफ्फुस, लसीकापर्व अस्थि में पहिले यक्ष्मा का केन्द्र रहता है और वहां से यक्ष्मादण्डाणु वृक्क में पहुँच जाते हैं। प्रथम एक ओर का वृक्क पीडित रहता है और पश्चात दूसरी ओर का।

हेतुकी—

यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक हुआ करता है। बालक और वृद्ध इससे बहुत कम आक्रान्त होते हैं। ३०-५० वर्ष की अवस्था के लोगों में प्रायः यक्ष्मा होने के पश्चात् इसका विकार दिखाई देता है।

विकृति—प्रायः दक्षिण वृक्क प्रथम आक्रान्त होता है वैसे यह सदा एकपार्श्वी होता है तथा एक वृक्क के उपसृष्ट होने के कुछ काल बाद ही दूसरी ओर का वृक्क आक्रान्त होता है, यक्ष्मा का संक्रमण वृक्क में सदा रक्त द्वारा ही होता है। वृक्क में प्रथम यक्ष्मिका के व्रण बन जाने पर रोग का गोनिका में प्रसार होता है। यह यक्ष्मिका (Tubercle) धीरे-२ बढ़ती है और उसके बीच में किलाटी भवन (Caseation) शुरू होजाता है और यक्ष्मा उपसर्ग में धातु विनाश की प्रवृत्ति होने से यक्ष्मिका के भीतर पूय बहता है जो आलिंद में पहुंचकर मूत्रमें उत्सर्गित होता है। इस प्रकार इसमें पूयापवृक्कता भी उत्पन्न होती है। धीरे-२ उपसर्ग गवीनी में फैलता है तथा कभी-कभी उसके मार्ग का पूर्णतया विलोप होकर निम्न अङ्गों से उसका सम्बन्ध विच्छेद होकर वृक्क वस्तु का नाश होकर वृक्क क्रियाहीन हो जाता है। इसको स्वतः वृक्कोच्छेदन (Auto-nephrectomy) कह सकते हैं। गवीनी से रोग वस्ति में चला जाता है और मूत्राशयशोथ उत्पन्न करता है। वस्ति से अष्ठीला वीर्यवाहिनी वृषण आदि तक प्रवाहित हो सकता है। इस व्याधि के रोगियों में ज्यादातर जीर्ण विनाशात्मक यक्ष्मा अथवा शल्यीययक्ष्मा सबसे अधिक पाया जाता है। जो प्रायः एक ओर के वृक्क में ८० % पाया जाता है और मृत्यु काल तक दोनों वृक्कों में ६० % रोगियों में पाया जाता है।

लक्षण—

धीरे धीरे स्वास्थ्य गिरना, मन्दज्वर प्रारम्भ होकर मूत्र त्याग की वृद्धि प्रवृत्ति बार-बार होती है जिसका कारण प्रारम्भ में किलाटी पदार्थ का वृक्क से मूत्राशय में आना और आगे चलकर स्वयं मूत्राशय का आक्रान्त होना होता

है जिससे उसकी धारिता कम हो जाती है। गवीनी में विकृति होने पर वह तंग हो जाती है। तब रक्त के कारण उसमें शूल उत्पन्न होने लगता है और मूत्र की अविलम्बता भी बढ़ती है। वृक्क शूल का विशेष लक्षण नही होता पर कटिप्रदेश में मन्द वेदना हो सकती है। कभी-कभी वृक्क शूल किलाटी पदार्थ के गवीनी में होकर आने के कारण होता है। यक्ष्माविकृति से वृक्क आलवालों (Calyx) की रक्तवाहिनियों का नाश होने से रक्तमेह उत्पन्न होते हैं। वेदनाहीन रक्तमेह के प्रारम्भिक लक्षण हो सकते हैं। साधारणतया मूत्र में कुछ लाल रक्तकोशिका उपस्थित मिलती हैं अतः रक्तमेह वृक्क यक्ष्मा का प्रधान और प्रथम लक्षण है।

उपद्रव—वृक्क यक्ष्मा में संस्थान के अन्य अङ्ग तथा पुरुषों में प्रजनन संस्थान भी उपसृष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त यक्ष्मज मस्तिष्कावरण शोथ वृक्क यक्ष्मा में जितना उत्पन्न होता है उतना फुफ्फुस यक्ष्मा को छोड़ कर शरीर के दूसरे किसी अङ्ग के यक्ष्मा में नहीं उत्पन्न होता।

निदान—

मूत्र की परीक्षा करने पर पूय कोशिकायें तथा कुछ लाल रक्त कोशिकायें मिलती हैं। यक्ष्मा जीवाणु २४ घंटे तक एकत्र किये हुए मूत्र की तलछट में मिल सकते हैं। ७८% रोगियों में मूत्र का संवर्धन और गिनीपिगों के निवेशन प्रयोग धनात्मक होते हैं। मूत्र में यक्ष्मा दण्डाणु मिलने पर शरीर के अन्य स्थानों में यक्ष्मोपसर्ग हो या न हो वृक्क में जरूर उसका उपसर्ग होने की सम्भावना पर प्रथम ध्यान देना चाहिए।

एक्सरे-परीक्षा—एक साधारण एक्सरे चित्र में वृक्क का कैल्सीभवन दिखाई दे सकता है। वृक्क की परीक्षा से फुफ्फुस की विक्षति मालूम हो सकती है। उत्सर्जन-गोनिका चित्रण से पिरामिडों में अनियमित गुहिकाओं का बनना, आलवालों का विस्फार, गवीनी में एक या अधिक निकुंचनों का होना अथवा वृक्क की कार्यहीनता का पता चल सकता है।

सिस्टोस्कोप द्वारा परीक्षा—गवीनी का मुख शोथ-युक्त या संकुचित हो, आगे चल कर उसके चारों ओर यक्ष्मिकायें तक दीख सकती हैं। कुछ में वह ऊपर खिंचा हुआ दीखता है यद्यपि मुख खुला रहता है। यह गोल्फहोल गवीनी कही जाती है।

साध्यासध्यता—

रोग धीरे धीरे आक्रमण करते हैं और धीरे धीरे बराबर बढ़ता ही जाता है। आप से आप या औषधियों से ठीक होने वाला यह रोग नही है। साधारणतया ५ वर्ष के भीतर अधिक संख्यक रोगी मर जाते हैं परन्तु कुछ रोगी १०-२० वर्ष तक भी जीवित रह सकते हैं। दोनों वृक्क खराब होने पर कुछ ही वरसों में मर जाते हैं। इस रोग मे मृत्यु प्रायः सार्वदैहिक यक्ष्मा जन्य मूत्रविषमयता, वृक्कातिपात या अन्य औपसर्गिक रोग से होती है।

चिकित्सा—

यक्ष्मा की साधारण रोग की भांति शय्या-विश्राम, प्रतियक्ष्मा रसायनी चिकित्सा और आहार द्वारा चिकित्सा करें। इसकी प्रमुख चिकित्सा शल्यकर्म ही है—

आंशिक वृक्कोन्च्छेदन (Partia Nephrectomy)–जब वृक्क के केवल एक ही हिस्से में उपसर्ग होता है और दूसरा हिस्सा ठीक होता है तब शल्य कर्म किया जाता है।

वृक्कोच्छेदन—वृक्क की विकृति आंशिक हो या पूर्ण हो प्रायः इसी का प्रयोग किया जाता है इसमें एक ओर का सम्पूर्ण वृक्क निकाला जाता है।

औषधि चिकित्सा में—स्ट्रेप्टोमायसीन का स्थान सर्वोपरि है। वृक्कोच्छेदन के बाद भी इस औषधि का प्रयोग लाभदायक है जिससे यदि कोई संक्रमण रह गया हो तो वह दूर हो जायं इसलिए शस्त्र कर्म के पश्चात् भी प्रतिक्षय चिकित्सा महीनों तक चलती रहनी चाहिए। आधुनिक युग की यक्ष्मा की सर्वोत्कृष्ट स्ट्रेप्टोमायसीन है उसी तरह आयुर्वेद में रुदन्ती का स्थान है अतः रुदन्ती का प्रयोग इसमें करके देखना चाहिए। आयुर्वेदिक व आधुनिक किसी भी औषधि का चिकित्सक को अपनी योग्यता और सुविधानुसार प्रयोग करना चाहिए।

—विशेष सम्पादक।

—शेषांश पृष्ठ २४४ का—

आरोपित किया जाता है जिसका वृक्कछिद्रीकरण द्वारा कुछ दिनों तक निर्हरण होता रहता है। केवल वृक्कछिद्रीकरण से वृक्क की कार्य क्षमता के पुनः स्थापन में सफलता मिल सकती है जिससे मूत्र प्रवाह पुनः होने लगता है और वृक्क की रक्षा हो जाती है वृक्क का कार्य उत्तम न होने पर उभय पार्श्वी रोगियों में दोनों ओर वृक्कछिद्रीकरण लाभदायक होता है।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से—
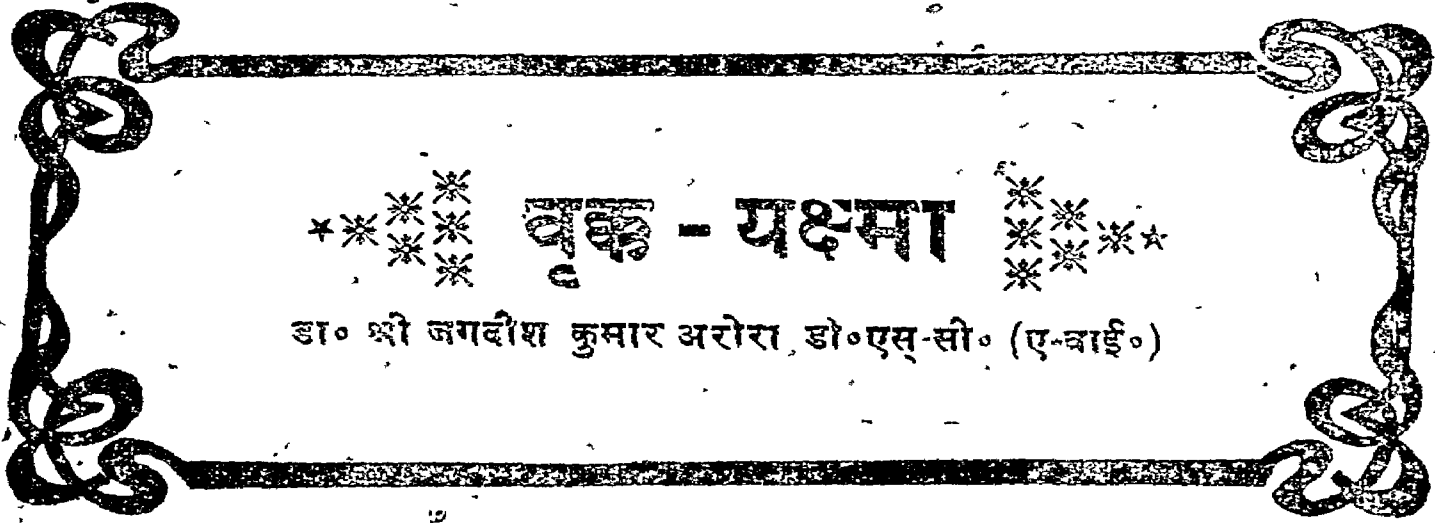
वृक्क-यक्ष्मा

डा० श्री जगदीश कुमार अरोरा, डो०एस्-सी० (ए-वाई०)

यक्ष्मा रोग क्या हैं ?

यह रोग ट्यूबर कुलोसिस या यक्ष्मा दण्डाणुओं के प्रकोप से ही होता है। यह प्रकोप प्रायः फेफड़े से ही आरम्भ होता है। फेफड़े के अतिरिक्त यह रोग वृक्क, ग्रन्थियों, आन्त्रों, हड्डियों, फुपफुसावरण तथा जोड़ों इत्यादि में प्रायः होता है। मस्तिष्कावरण और हृदयावरण में यक्ष्मा भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। इसकी
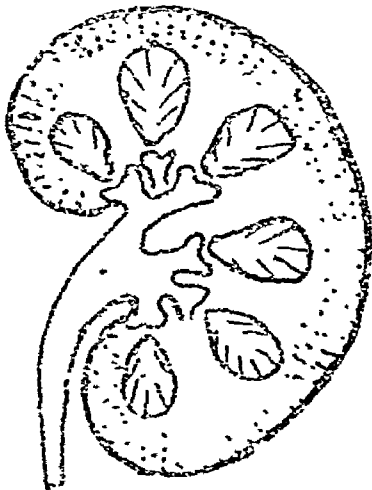
चित्र—८८

वृक्क का पिरामिड प्रदर्शक चित्र

विक्षति हर अङ्ग में प्रायः एक सी होती है। अङ्ग की विशेष बनावट के कारण इसमें थोड़ा बहुत अन्तर पड़ता है।

यक्ष्मा का विशिष्ट कारण—

यक्ष्मा का मुख्य कारण तो यक्ष्मा दण्डाणु से संक्रमण ही है। ये माइक्रो बेक्टीरियम वर्ग के दण्डाणु हैं। इन्हें

चित्र—८९

वृक्कक्षय–चित्र में वृक्क की वहिर्वस्तु (कार्टेक्स-पिरामिड) में कोटरयुक्त व्रणों की प्रारम्भिक अवस्था प्रदर्शित की है।

वेसिलस ट्यूबर कुलोसिस या यक्ष्मा दण्डाणु भी कहते हैं। सार्वदैहिक श्यामाकीय (General miliary) यक्ष्मा में अन्य अङ्गों के साथ वृक्कों में भी यक्ष्मिकाएँ बनती हैं। परन्तु इस विकृति का परिणाम इस रोग के लक्षणों पर

न होने से रोगी को जीवितावस्था में इस विकृति की ओर ध्यान आकर्षित नहीं होता और मरणात्तर परीक्षा में उसका पता लगता है वैसे ही फुफ्फुस क्षय में भी मृत्यु के पहले वृक्कों के अन्दर यक्ष्मा के विकेन्द्र (फोकस) उत्पन्न होते हैं परन्तु उस समय भी उसमें कोई लक्षण प्रकट नहीं होते और विकृति का पता मरणोत्तर परीक्षा से ही लगता है।

प्राथमिक स्वरूप का विकार—इसमें भी शरीर के भीतर कहीं न कहीं यक्ष्मा का विकेन्द्र रहता है परन्तु वह शान्त या सुप्त होता है और वहां से वृक्क उपसृष्ट होकर रोग बढ़ता है जिससे इसमें वृक्कविकृति के लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतः वृक्क यक्ष्मा में केवल इसका ही विचार किया जाता है।

यह रोग प्रायः ३०-५० वर्ष की अवस्था के लोगों में प्रायः दिखाई देता है और अपेक्षाकृत स्त्रियों में अधिक हुआ करता है।
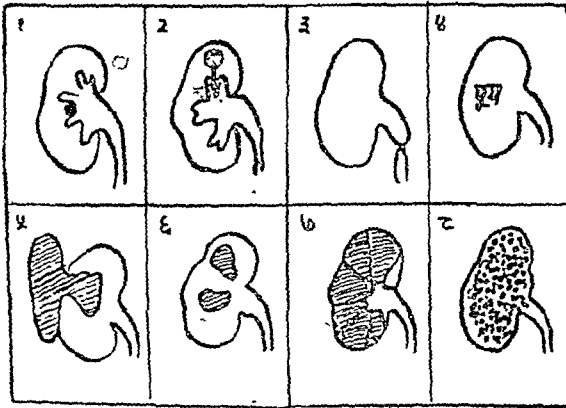
चित्र—९०

वृक्कक्षय के विभिन्न प्रकार

१. वृक्क का क्षयज व्रण
२. वृक्क का कोटरयुक्त क्षयज व्रण
३. क्षयज वृक्क-जलामयता (हाइड्रोनेफ्रोसिस)
४. वृक्क पूयमयता (पायोनेफ्रोसिस)
५. क्षयज वृक्क विद्रधि
६. क्षयज वृक्काश्मरी
७. क्षयज गलित या किलाटी भवनीकृत वृक्क (केजियस किडनी)
८. सम्पूर्ण वृक्क की विस्तीर्ण क्षयग्रस्तता

शरीर में प्रायः अस्थि, सन्धि, लसग्रन्थियां इत्यादि में यक्ष्मा का विकेन्द्र रहता है और वहां से यक्ष्मा दण्डाणु वृक्क में पहुँच जाते हैं। प्रथम एक ओर का वृक्क पीड़ित होता है और पश्चात् दूसरी ओर का। यक्ष्मा दण्डाणु मुख्यतया रक्त के द्वारा वृक्क में पहुंच जाते हैं। जब श्रोणिगुहा में विकेन्द्र होता है तब गवीनी की लसीका-वाहिनियों द्वारा भी यह पहुंच सकते हैं।

शारीरिक विकृति—

प्रथम एक ओर का वृक्क उपसृष्ट होता है और उसके बाद दूसरा वृक्क। परन्तु अधिकतर यह देखा गया है कि यह एक ही वृक्क में होता है। प्रथम वृक्क वाह्य भाग में या एकाध स्तूप (पिरामिड) में यक्ष्मा का Tubercle उत्पन्न है और इसका प्रसार वृक्क की बहिर्वस्तु (cortex) भाग में होता है और उसके बीच में किलाटी भवन (caseation) शुरु होता है। इसकी वृद्धि चारों ओर होती है और पैल्विस (गवीनी मुख), वस्ति, शुक्रवाहिनी, पौरुष ग्रन्थि, वृषण आदि तक प्रसारित हो सकता है। इस व्याधि का प्रकोप प्रायः युवाओं में विशेषतः देखा गया है। इसमें गवीनी (Ureter) की श्लेष्मकला में यक्ष्मिकाएं उत्पन्न होकर वह कठिन स्थूल (Dilated) होती हैं। कभी कभी उसमें उपसंकोच (Obliteration) होकर निम्न अङ्गों से उसका सम्बन्ध विच्छेद होकर मूत्रगत लक्षण नष्ट हो जाते हैं—इसको Auto-nephrectomy कह सकते हैं। अतः मूत्रगत लक्षण बन्द होने का तात्पर्य यह नहीं है कि रोग ठीक हो गया, यह रोग वृक्क में ही बन्द हो जाता है इसलिये अधिकतर यह देखा गया है कि मूत्र में इसका कल्चर करने पर भी यह नहीं मिल पाते। यह ठीक है कि मूत्रल संस्थान के क्षय में तथा सार्वदैहिक क्षय में मूत्र में यक्ष्मादण्डाणु उत्सर्गित होते हैं परन्तु मूत्र में पूय के अभाव में, इनको प्राप्त करना बहुत कठिन काम है। वृक्कक्षय में मूत्र की प्रतिक्रिया (pH) अम्ल होती है।

लक्षण—

धीरे धीरे स्वास्थ्य का गिरना, मन्द ज्वर इत्यादि सार्वदैहिक लक्षण इसमें मिलते हैं। इसमें मूत्र जलन के साथ आता है तथा मूत्र में रक्त आता है क्योंकि वृक्क में रक्त का संचार सबसे अधिक है और यह तीव्र गति से होता है। अतः यह सम्भव है कि जीवाणु वृक्क में ज्यादा देर तक न रह सके और मूत्र के साथ ही आगे बढ़कर

मूत्र के साथ निकल कर बाहर आ जाये और कभी कभी रक्त भी साथ निकल आये।

मूत्र की बारम्बारता—यह सबसे महत्व का और प्रथम लक्षण होता है। यह बारम्बारता प्रारम्भ में दिन में और पश्चात् (रक्तमेह) रात्रि में बढ़ती है। बारम्बारता के साथ मूत्र करने के समय पीड़ा भी होती है। आगे चलकर जब गवीनी में विकृति होकर तंग हो जाती है तब रक्त के कारण उसमें शूल उत्पन्न होने लगता है और मूत्र करने की अविलम्बता भी बढ़ती है। मूत्र में शुक्लि (एल्ब्यूमिन) और रक्त मिलते हैं। शोणितमेह (स्थूल या सूक्ष्म) वृक्क यक्ष्मा का प्रधान लक्षण है। यक्ष्मा की विकृति से calyx की रक्तवाहिनियों का नाश होने से रक्तमेह उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—

प्रारम्भिक अवस्था में यह रोग औषधि साध्य है परन्तु रोग की जटिल अवस्था में शस्त्रकर्म ही उपयोगी होता है। परन्तु औषधि से भी रोगी ठीक किया जा सकता है।

(क) औषधि चिकित्सा—सन् १९४४ में अमेरिका के डाक्टर वेकसमेन ने स्ट्रेप्टोमाइसीन नामक प्रतिजीवी औषधि का आविष्कार किया। इस आविष्कार ने यक्ष्मा की उपचार प्रणाली में नयी क्रान्ति कर दी। जिसकी आज भी वही उपयोगिता है जो उस समय थी। इसके दो वर्ष बाद अर्थात् १९४६ में स्वीडन के डा० लेहमेन ने यक्ष्मा के उपचार लिये पैरा-एमाइनो सैलिसिलिक एसिड नामक रासायनिक औषधि खोज निकाली, जिसकी आज भी चिकित्सा में वही उपयोगिता है। सबसे महत्वपूर्ण खोज १९५२ में "रोश" कम्पनी, स्विटजरलैंड द्वारा प्रभावी औषधि Isoniazid की हुई है। उसके बाद अन्य कई नई नई औषधियों का आविष्कार हुआ जिनमें यह प्रमुख हैं—

१. थायासिटाजोन (Thiacetazone)
२. पाइरेजिनामाइड (Pyrazinamide)
३. साइक्लोसिरीन (cycloserine)
४. इथिओनामाइड (Ethioniamide)
५. ईथमबटोल (Ethambutol)
६. केप्रिओमाइसिन (Capreomycin)
७. केनामाइसिन (Kanamycin)
८. रिफेम्पसिन (Rifampcin)

अब तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कालान्तर में अल्प लाभदायक औषधियां छोड़ दी जायेंगी और स्थायी लाभप्रद औषधियां यक्ष्मा का समूल नाश कर देंगी और वृक्कोच्छेदन की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

(ख) शस्त्रकर्म—निम्न तीन प्रकार के शस्त्रकर्म किये जाते हैं—

(१) आंशिक वृक्कोच्छेदन—जब वृक्क के केवल एक ही भाग में उपसर्ग रहता है और दूसरा हिस्सा स्वस्थ तथा कार्यक्षम होता है तब यह शस्त्रकर्म किया जाता है।

(२) वृक्कोच्छेदन - वृक्क की विकृति आंशिक हो या पूर्ण हो प्रायः इसी का प्रयोग किया जाता है। इसमें एक ओर का सम्पूर्ण वृक्क निकाल दिया जाता है।

(३) गवीनी वृक्कोच्छेदन—प्रायः मूत्र द्वारा यक्ष्मा दण्डाणुओं का उत्सर्जन होने के कारण गवीनी में भी उसका उपसर्ग पहुंच जाता है। इसलिये शस्त्रकर्म के समय यदि गवीनी में विकृति मालूम हो जाय तो उस समय वृक्क के साथ उसको भी काटकर निकाला जाता है।

—डा० जगदीश कुमार अरोरा
डाक्टर ऑफ साइन्स (एवाई०),
एफ.आर.ए.एस. (लन्दन), ए.एफ.आर.एस. (लन्दन),
मेम्बर ऑफ दी इण्डियन कालेज ऑफ एलर्जी एण्ड एप्लाइड इम्यूनोलोजी,
मेम्बर ऑफ दी ऐस्थमा, ब्रॉङ्काइटिस एण्ड कैंसर लंग फाउण्डेशन ऑफ इण्डिया,
मेम्बर ऑफ दी सोसायटी ऑफ बायोलोजिकल केमिस्ट, इण्डिया,
मेम्बर ऑफ दी इण्डियन ऐरोबायोलोजिकल सोसायटी,
पटेल नगर, हापुड़—२४५१०१ (उ०प्र०)

●●—✱—●●

वृक्क के आघात

वृक्क के आघात साधारणतया नहीं होते पर होने से बड़े मार्मिक होते हैं। वृक्क आघात खुले हुए व्रणोंके कारण हो सकते हैं अथवा प्रत्यक्ष अभिघात का फल हो सकते हैं।

चित्र संख्या ६१

१ पीछे से चोट लगने पर वृक्क यकृत के पीछे चला जाता है।

आगे से चोट लगने पर द्वादश पर्शुका से सट जाता है।

३ नीचे से आघात लगने पर वृक्कवृन्त क्षतिग्रस्त हो जाता है।

अनावृत आघात—अधिकतर गोली लगने या तेजधार वाले चाकू-छुरे के भेदने (Stab) का फल होते हैं। उनके साथ बाह्य रक्तस्राव होता है और वृक्क की गोणिका के क्षत हो जाने से उनमें होकर मूत्र भी निकलता है। ऐसे क्षतों से मूत्र व्रणनाल (Urinary Fistula) बन जाते हैं। किन्तु वे अधिकतर स्वतः विरोहित (Heal) हो जाते हैं।
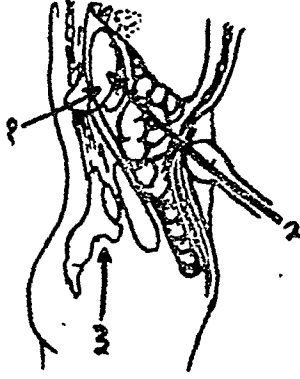
आवृत आघात—उदर या उसके पार्श्व से वृक्क पर सीधी चोट लगने से होता है। कभी कभी रोगी के ऊंचाई से नितम्बों पर गिरने से भी वृक्कों को आघात पहुंच सकता है। वृक्क का वृन्त विदीर्ण हो सकता है।

विकृति और भेद—वृक्क का विदरण (Laceration) अनुप्रस्थ हो सकता है अथवा वह हाइलम से परिसर की ओर विदरित हो सकता है। वृक्क आघात को निम्न भेदों में विभक्त किया जा सकता है—
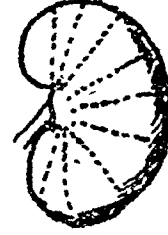
चित्र संख्या ६२ वृक्क के सर्वाधिक सम्भावित विदर-स्थल

(१) विदरण—वृक्क के केवल एक भाग का विदरण हो सकता है अथवा कई विदरण हो सकते हैं। गोणिका और ऊतक में विस्तृत विदरण से परिवृक्क रक्त गुल्म बन जाता है और रक्तमेह होता है।
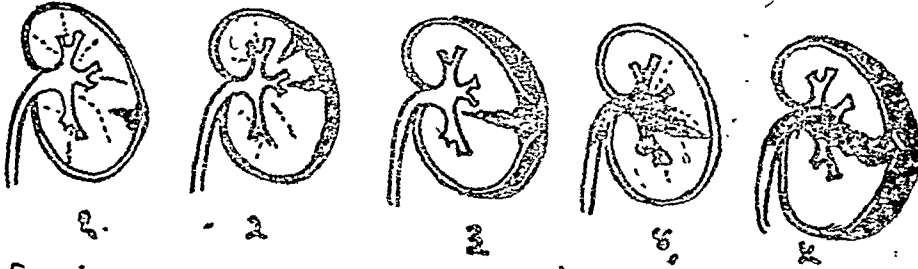
चित्र संख्या ६३—वृक्क पर आघात लगने पर वृक्क में रक्तस्राव की विभिन्न अवस्थायें
१. वृक्कावर के नीचे अल्प स्राव २. वृक्कावरण के नीचे अधिक रक्तस्राव ३. वृक्कबहिर्वस्तु-विदरसह रक्तस्राव ४. वृक्कश्रोणि में रक्तस्रावसहित वृक्क अन्तर्वस्तु विदर ५. सम्पूर्ण वृक्क विदर

(२) वृक्क वृन्त के विदरण (Rupture of Renal pedicle) से आभ्यन्तर रक्तस्राव होता है जो बढ़ता जाता है। और घातक प्रमाणित हो सकता है।

(३) दश वर्ष से कम आयु वाले बालकों में वृक्कों के साथ पर्युदर्या का भी विदर हो सकता है जिससे पर्युदर्या-

—शेषांश पृष्ठ २५५ पर।

वृक्कभ्रंश

विशेष सम्पादक—कविराज श्री डा० गिरिधारीलाल मिश्र

पर्याय—सर्पीवृक्क, चल वृक्क स्पृश्यवृक्क, प्लव वृक्क।

व्याख्या—वृक्क उदरगुहा के भीतर पीछे की दीवाल पर परिवृक्क चरबी से, वृक्क रक्तवाहिनियों से तथा ऊपर फैली हुई पर्युदर कला से बन्धे हुए रहते हैं फिर भी श्वसन के साथ नीचे की ओर आ जाते हैं। यह गति बांई ओर की अपेक्षा दांयी ओर अधिक होती है।
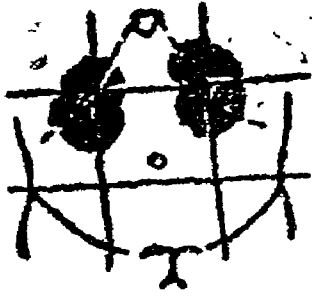
चित्र ९४—शरीर में वृक्क की स्थिति

स्पृश्य वृक्क—में उदर शिथिल कर के पीठ के बल लेटे हुए व्यक्ति का निचला शिरा अन्तः श्वसन के समय जब हाथ से टटोला जा सकता है तब उसको स्पृश्य वृक्क कहते हैं।

चल वृक्क—जब अन्तःश्वसन के समय हाथ वृक्क के ऊपर के सिरे के ऊपर जाकर बहिः श्वसन के समय उसको ऊपर जाने से रोक सकता है तब उसे चलवृक्क कहते हैं।

पल्व वृक्क (Floating)—जब वृक्क उदर मध्य रेखा के पास पाया जाता है और हाथ से उदर मध्य रेखा की दूसरी ओर दबाया जा सकता है तब उसको पल्ववृक्क कहते हैं।

हेतुकी—

(१) वृक्क बन्धनों की शिथिलता वृक्कभ्रंश का मुख्य कारण है। यह शिथिलता इन बन्धनों की सहज दुर्बलता के कारण हो सकती है। (२) यह शिथिलता पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक (१:७) पायी जाती है। इसका कारण गर्भवृद्धि के कारण उनकी उदर गुहा में काफी उथल-पुथल होना है और प्रसवों के कारण औदरिक पेशियों में काफी दुर्बलता के कारण-शिथिलता आ जाती है। इसका
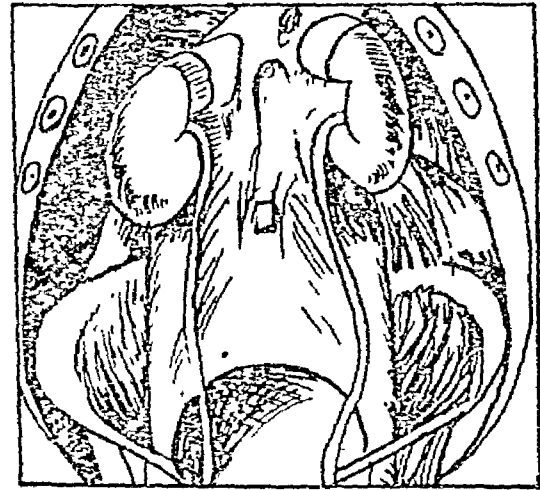
चित्र—९५
वृक्क अपने सही स्थान पर—

अर्थ यह नहीं है कि यह रोग वन्ध्याओं में नहीं होता।

(३) ऊँचा तङ्ग कमर बन्ध भी इसका कारण है।

(४) वृक्क के आस पास चर्बी का शोष, अभिघात, भारी बोझ उठाना आदि भी कुछ कारण हैं।

(५) वृक्क अर्बुदों के बड़े हो जाने से भी वह नीचे की ओर खिसक जाते हैं।

विकृति—

वृक्क के नीचे की ओर गति करने पर उसका ऊर्ध्व ध्रुव निम्न ध्रुव की अपेक्षा मध्यरेखा के समीप आ जाता है और इसके वृन्त की लम्बाई बढ़ जाती है। बांई की अपेक्षा दाहिने वृक्क में यह विकृति अधिक पाई जाती है, कारण
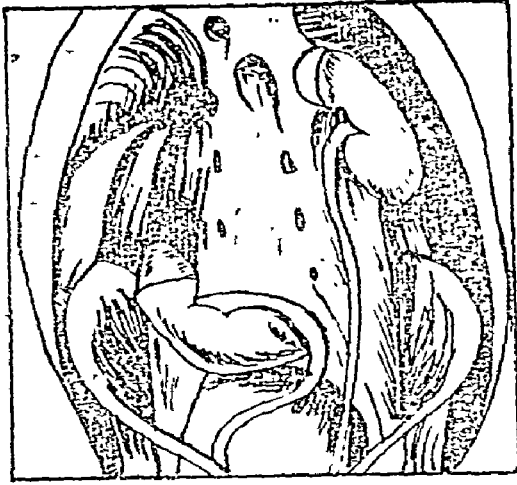
चित्र—६६
दायां वृक्क नीचे खिसक आया है।

कि दाहिने वृक्क के ऊपर यकृत् रहता है जो महाप्राचीरा पेशी के साथ श्वसन के समय नीचे आकर वृक्क को नीचे दबाता है। बांयी ओर इस प्रकार की स्थिति न होने से वह नीचे की ओर कम आता है।

लक्षण —

दशा लक्षण हीन हो सकती है। संयोगवश इसका ज्ञान होजाने पर रोगी को नहीं बताना चाहिए क्योंकि रोगी के मन पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। निम्न लक्षण हो सकते हैं—

(१) कटि प्रदेश में बेचैनी, पीड़ा, खिचावट के साथ जल अप वृक्कता हो सकती है।

(२) अन्तर्पर्शुकीय नाड़ी शूल, वाड्यवसन्नता (Neurasthenia) स्त्रियों में अपतन्त्रक तथा पुरुषों में पागलपन आदि हो सकते हैं।

(३) चल वृक्क में वृक्क को किसी भी ओर चलाया जा सकता है। कुछ में निम्न ध्रुव किन्तु अधिक में वृक्क का उर्ध्वध्रुव परिस्पर्श्य होता है।

(४) वृक्क के चलायमान होने से वृक्क की रक्तवाहिनियां मुड़ जाती हैं या उनमें बल पड़ (Twist, Shrink) जाते हैं जिससे वृक्क शूल, हृल्लास, वमन आदि होते हैं।

(५) वृक्क की गवीनी में बल पड़ जाने से वृक्क के भीतर मूत्र इकठ्ठा होकर अर्बुद सा बन जाता है जो सन्तरे से लेकर नारियल तक बड़ा हो सकता है। अर्बुद के बनने के काल में मूत्र त्याग नहीं होता या अल्प होता है। उसमें कुछ रक्त भी रहता है ज्वर वमन भी होती है फिर स्थानिक पीड़ा और हृल्लासादि लक्षण कम होने लगते हैं और मूत्र की राशि बढ़ जाती है तथा मूत्र त्याग द्वारा १०-१२ घंटे में अर्बुद गायब होजाता है। इस प्रकार बार बार दौरे आते हैं, जलापवृक्कता सबसे कष्टदायक उपद्रव है।

निदान—वेदना और उभार के अभिलक्षक इतिवृत्ति से निदान हो जाता है। रोगी को खड़ा करके गोणिका-चित्रण से निदान किया जाता है। उदर के अन्य चल अर्बुदों या गुल्मों, जैसे, पित्ताशय का श्लेष्म गुल्म (Mucocele), पित्ताशय अग्न्याशय के अर्बुद, स्थूलान्त्र के अर्बुद से इसका सापेक्ष निदान करना आवश्यक है।

चिकित्सा—

वेदना की अवस्था में रोगी को बिस्तरे पर पेट के बल या जानु कूर्परासन पर लिटा कर पीड़ा के स्थान में सेंक या स्वेद किया जाय। पीड़ा असह्य हो तो मार्फिया की सूई लगायी जाय। दौरा अधिक काल तक चले तो क्लोरोफार्म देकर हस्त विधान (Menipulation) से वृक्क को स्थानापन्न करने का प्रयत्न किया जाय। एक कसी हुई उदर पेटी और शरीर भार बढ़ाने वाला वसामय उत्तम भोजन अधिकतर रोगियों को लाभदायक होता है।

शल्यकर्म - शल्यकर्म का परामर्श प्राय: मनोदौर्बल्य (Neurasthenia) के रोगियों को नहीं दिया जाता है। इसके बार-बार आक्रमण होने पर वृक्क स्थिरीकरण (Nephropexy) या वृक्कोच्छेदन आवश्यक होता है।

पृष्ठ २५३ का शेषांश

जीर्ण रोगी की बलाबल की स्थिति के अनुसार उपवास आरम्भ कर दें। उपवासकाल में जल मिश्रित फलरस, यवागू (पुराने चावल, मूंग, तिल के यूष) पर रखें। प्राकृतिक चिकित्सा के जल प्रयोग (वस्ति, गरम ठंडे सेक, मिट्टी की पट्टी उदर पर एवं सर्वाङ्ग स्वेदन) आदि का प्रयोग किया जा सकता है। तीव्रगामी औषधियों के प्रयोग से समस्या और उलझ जाती है।

—डा० योगेन्द्रनाथ मिश्रा
योग नेचर रिसर्च क्लीनिक,
२४/१५७, शक्ति नगर, दिल्ली-७

वृक्क रोग की प्राकृतिक चिकित्सा

डा. योगेन्द्र नाथ मिश्र

वृक्क अपना कार्य क्यों नहीं करता ?

हमारा पूरा शरीर एक इकाई के, रूप में कार्य करता है। इस इकाई की प्रमुख विशेषता है, उसकी चया-पचय शीलता अर्थात् शरीर विभिन्न रूपों में जो खाद्य पदार्थ (जल, वायु और पृथ्वी तत्व) प्राप्त करता है उसका उपयोगी अंश शरीरगत पोषण में काम आता है और निरुपयोगी अंश शरीर की निस्कासन यन्त्र प्रणाली द्वारा निकाल बाहर किया जाता है। शरीर के निष्काषण यन्त्र व्यवस्था के प्रमुख अंग हैं—बड़ी आंत, वृक्क, त्वचा, फेफडे। ये अंग शरीर में विश्वसनीय सेवक के समान जीवनपर्यन्त कार्य करते रहते हैं। ये अंग अपना ठीक से कार्य करते रहें इसके लिये आवश्यक है जीवन में युक्त आहार-विहार के नियमों का कठोरता से पालन किया जाये। आहार-विहार के नियमों का पालन तभी संभव है जबकि उनकी सही जानकारी का ज्ञानहो। दुर्भाग्य की बात है कि हमारी शिक्षा दीक्षा में आहार-विहार के नियमों के प्रति अत्यन्त लापरवाही बरती जाती है। स्वयं चिकित्सक समाज आहार-विहार के नियमों के प्रति गंभीर रूप से उदासीन हैं। जन-समाज काम और विश्राम के बीच विवेक नहीं रख पाता। पाक कला के विस्तार ने वास्तव में आधुनिक मनुष्य की पाचन क्रिया को चौपट करने का खतरनाक कार्य किया है। पर्याप्त शारीरिक श्रम के अभाव में त्वचा अपना स्वाभाविक कार्य नहीं कर पाती। इन सबके परिणामस्वरूप शरीर के वृक्क यन्त्रों पर अत्यधिक भार पड़ता रहता है और कालान्तर में उनकी कार्यक्षमता ही नहीं घटती बल्कि नाना प्रकार के रोग लक्षण पैदा होने लगते हैं।

ऊपर के विवेचन से प्रबुद्ध पाठक सहज अनुमान लगा सकते हैं कि वास्तव में वृक्क रोग सम्पूर्ण चया पचय की दूषित व्यवस्था के कारण पनपते हैं। इसलिये समस्त वृक्क रोगों की सम्पूर्ण चिकित्सा के लिये शरीर की चया-पचय प्रक्रिया का जीर्णोद्धार करना आवश्यक हो जाता है। आज का औसत चिकित्सक इस मौलिक सत्य को समझने में असमर्थ है। वृक्क रोगों में लाक्षणिक चिकित्सा करने से अनेकों प्रकार की गंभीर स्थितियां पैदा होना स्वाभाविक है। औषधियों के निरन्तर सेवन से शरीरगत भयानक प्रतिक्रियायें पैदा होती हैं जिनका अन्तिम परिणाम जीवन शक्ति का क्षय का होना है।

अत्यन्त जटिल वृक्क रोग की स्थिति में वृक्कद्वय अपना कार्य करना ही बन्द कर देते हैं। आजकल यांत्रिक वृक्क क्रिया—डाइलेसिस का एक फैशन सा बन गया है यह वैसे ही उपचार है जैसे कि कमजोर होती हुई आंखों को चश्मा अथवा कमजोर होते हुये पैरों के लिये वैशाखी।

वृक्क रोगों की मौलिक चिकित्सा—

वृक्क रोगों में सर्व प्रथम सशक्त पाचन क्रिया और त्वचा की क्रिया को जागृत करना आवश्यक है। इसके लिये औषधियों का सहारा न्यूनतम लिया जाये। उपवास, विश्राम और आहार-विहार के नियन्त्रण से ९९% रोगियों पर वृक्क रोग में सफलता मिलती है, यह हमारे विगत ४० वर्षों के कार्य अनुभव का निचोड़ है। आशा है हमारे प्रबुद्ध चिकित्सक वृक्क रोग सम्बन्धित विचार परिचर्या से स्वयं लाभान्वित होंगे और वृक्क रोगियों का सही दिशा में मार्गदर्शन कर सकेंगे।

नोट—वृक्क रोग स्थिति में सर्वोत्तम चिकित्सा पंचकर्म के माध्यम से शत प्रतिशत परिणाम के द्वारा की जा सकती है'

मेरा निवेदन है कि चिकित्सक जटिल, गंभीर एवं

—शेषांश पृष्ठ २५२ पर देखें।

मूत्राश्मरी एवम् वृक्काश्मरी
की
योगासनों द्वारा चिकित्सा
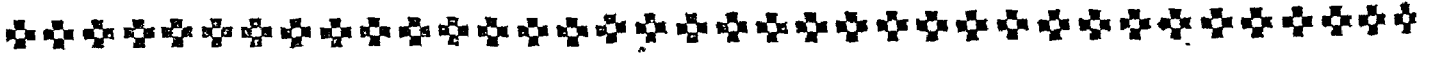
विश्व में इस समय यौगिक क्रियाओं एवं योगासनों तथा अध्यात्म विद्या की खोज के लिये तरह-तरह के परीक्षण चल रहे हैं। इस मशीनरी युग में सबसे अचूक इलाज योग चिकित्सा द्वारा हो रहे हैं।

अन्य चिकित्सा पद्धतियों में जहां लाभ होता है वहीं हानि भी अवश्यम्भावी है। परन्तु योगासनों द्वारा चिकित्सा करने में धैर्य से कार्य लिया जाय तो हानि के लिये कोई गुंजाइश नहीं है। हम जिस योगासन के विषय में लिख रहे हैं यह शर्तिया इलाज है जिसका अनुभव एवं परीक्षण ५० रोगियों पर किया गया है जिनमें ४५ रोगी रोगमुक्त हो चुके हैं। शेष की चिकित्सा व्यवस्था चल रही है। इस चिकित्सा व्यवस्था में किसी भी अन्य पद्धति का सहारा नहीं लिया गया है।

मूत्राश्मरी एवं वृक्काश्मरी हेतु जिस आसन विशेष का वर्णन किया जा रहा है वह है मयूरी आसन।
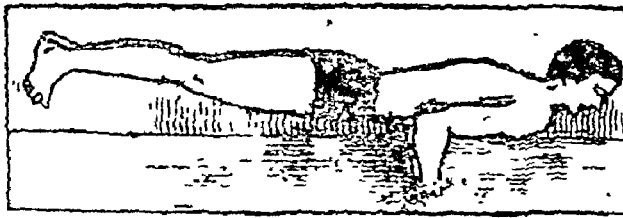
चित्र ६७—मयूरासन

विधि—

सर्व प्रथम पद्मासन लगाकर बैठ जांय। फिर दोनों हाथ की हथेलियां जमीन पर टिकाकर पूरे शरीर को धीरे धीरे कोहनियां दोनों मिलाकर तथा नाभि से सटाकर शरीर का वजन कोहनियों पर आने दें। कृपया जल्दबाजी न करें। धीरे धीरे पूरे के पूरे शरीर का वजन कोहनियों और हथेलियों पर आने दें। फिर मयूरासन की तरह पूरा शरीर सीधा कर लें, लेकिन पद्मासन लगाये रहें। धीरे धीरे श्वास ग्रहण करें। धीरे धीरे श्वास छोड़ें। कुंभक, पूरक, रेचक धीरे धीरे धैर्य से करें। अब शरीर को सीधी लकड़ी की तरह तान दें। लेकिन पद्मासन लगाये रहें। शरीर को संतुलित रखते हुये कमर तथा गर्दन सीधी रखें। ऊपर उठाये रखें। पूरा शरीर भार कोहनियों एवं हथेलियों पर रहेगा। अपना शरीर सामर्थ्यानुसार इसी स्थिति में रहे। जब तक आराम से रह सके इसी स्थिति में रहे। अभ्यास धीरे-२ बढ़ावें। शरीर सामर्थ्य से बाहर अभ्यास वर्जित है। कुछ दिनों के अभ्यास से ही आपको लाभ दृष्टिगोचर होने लगेंगे।

मयूरी आसन के लाभ—

(१) पथरी जिसे वृक्काश्मरी या मूत्राश्मरी कहते हैं। दोनों स्थानों की पथरियों को आपरेशन से बचाकर इसके अभ्यास से शनैः शनैः टुकड़े टुकड़े होकर मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाती है। अतः पथरी का यह अचूक इलाज है।

(२) गुर्दों के समस्त रोगों को दूर कर यह आसन गुर्दों में शक्ति संचार करता है। अतः वृक्क सम्बन्धी कोई रोग नहीं होने पाता है।

(३) गले एवं उदर रोग, वात-पित्त-कफ रोग अति शीघ्र इस आसन द्वारा काबू में आते हैं।

(४) पाचन शक्ति एवं रक्त संचार शक्ति बढ़ाकर शरीर में लावण्यता एवं तेज का प्रसार होता है।

(५) जिगर, तिल्ली एवं उदर अगर आवश्यकता से अधिक बढ़े हों उन्हें यथास्थिति में लाने के हेतु इस आसन की आवश्यकता है।

(६) यौवन स्थिर रखने में कामयाब है।

(७) दीर्घायु तथा प्रसन्न चित्त बनाने में सहायक है।

नोट— १. ऊपर चित्र में मयूरासन दिखाया है। इसी में पैरों को पद्मासन की स्थिति में (पालथी मारे रहने पर) मयूरी आसन होता है।

२. कृपया आसन करने के पश्चात् शवासन अवश्य कर लें जिससे रक्त की गति सामान्य हो जावे।

—डा० पी०सी० शारदा उर्फ निरंजन नाथ
प्रधान चिकित्सक—शारदा हास्पिटल एवं आ० फार्मेसी,
छिबरामऊ (फरुखाबाद), उ०प्र०

भैषज्य रत्नावली में वृक्कामय

वृक्कों (गुर्दों) पर ठण्ड लगने से प्राय: यह रोग उत्पन्न हुआ करता है। अत्यन्त पुराने ज्वर, विसूचिका, मसूरिका तथा आमवात में भी यह उपद्रव के रूप में हो जाया करता है।

वृक्क मोटे, मृदु, भार में दुगुने हो जाते हैं। उनकी शिरायें रक्तसंचय के कारण फूल जाती हैं। नाड़ियों में द्रव भर जाता है और मूत्रधारिणी कला झड़ने लगती है।

वृक्कामय के पूर्वरूप—अनिद्रा, अग्निमान्द्य. आंख, मुंह एवं पैर में शोथ, नाड़ी वेगवती, कठिन एवं उष्ण, त्वचा की रूक्षता--ये वृक्करोगी के पूर्वरूप होते हैं।

लक्षण—

ज्वर, सम्पूर्ण अङ्गों में वेदना, शोफ, शिर:शूल कै-रक्त की कमी के कारण पांडुता, अग्निमान्द्य, स्वेद न आना, त्वचा की रूक्षता, नाड़ी वेगवती तथा तीक्ष्ण, कमरमे वृक्क स्थान पर स्पर्शासह पीड़ा, मूत्र का बार बार थोड़ा-थोड़ा करके पीड़ायुक्त एवं गर्म आना, कहीं-२ मूत्ररोध तथा कहीं बिन्दु-बिन्दु आना, वृक्कों में अश्मरी के कारण अथवा वहां की शिराओं के रक्त से फूली हुई होने के कारण स्वयं ही रक्त के स्रुत हो जाने से रक्त मिश्रित मूत्र होना, रक्त के कारण मूत्र का कृष्णवर्ण का होना, हाथ पैर की शीतता, मूत्र के साथ ओज का अत्यन्त परिमाण में निकलना, मूत्रकाल में मूत्रेन्द्रिय के अग्रभाग पर दाह, वृक्कों के अपने कार्य में शिथिल होने के कारण जिगर एवं तिल्ली के घोर विकार होजाते हैं जो कि अपने-अपने लक्षणों से माने जाते हैं। कानों में शब्द होना, आंखों में विकृति, मूर्च्छा, ध्वजभङ्ग, शिर, गर्दन एवं अंस देश में पीड़ा तथा भूख का नाश, अतिपिपासा, मलबन्ध आदि साधारण लक्षण भी रहते हैं।

उपद्रव—फुफ्फुसभित्तिशोथ, कै,उरस्तोय, जलोदर कास तथा मूर्च्छा, मूत्र के विषों का रक्त में प्रतिगमन; ये उपद्रव वृक्क रोग में होते हैं।

क्रियाक्रम—

जोंक, तुम्बी, शृङ्ग अथवा शिरामोक्षण द्वारा रोगी का बलाबल देखकर रक्तनिर्हरण कराये।

विरेचन, स्वेद, वाष्पस्वेद, तथा हृद्य अन्न, पान एवं औषधि का वृक्क रोग में प्रयोग करें। पारद के योग इस रोग को बढ़ाते हैं, अत: उनका प्रयोग न करना चाहिए। मलबन्ध होने पर स्नेहयुक्त वस्ति देनी चाहिये। यदि वृक्काश्मरी हो तो अश्मरीवत् क्रिया करनी चाहिए।

सर्वतोभद्र वटी—यह सम्पूर्ण वृक्क रोगों एवं वस्ति के रोगों को नष्ट करती है तथा बल और वीर्य को बढ़ाती है। यह योग वृक्कक्षय में विशेष लाभकारक है तथा जीर्ण वृक्कशूल में अनुभूत है।

ताम्रेश्वर वटी—पांडु, वृक्क रोग, सर्वाङ्गशोथ, जलोदर. मूर्च्छा, विषमज्वर प्रभृति रोगों को नष्ट करती है।

इस वृक्कामय में रसायनाधिकारोक्त औषधों का भी प्रयोग करा सकते हैं।

इस रोग की सर्वथा शान्ति के लिए कोई भी औषधि शास्त्रों में निर्दिष्ट नहीं। वैद्य को चाहिए कि वल्य एवं सुपच पथ्य द्वारा इस रोग का यापन करता रहे।

वृक्क के आघात

पृष्ठ २५० का शेषांश

गुहा में रक्त और मूत्र एकत्र हो जाते हैं और परिवृक्क वसा की अम्लता के कारण मूत्र परिस्राव भी हो सकता है।

(४) अपूर्ण विदरण—केवल गोणिका के विदर में रक्तमेह और मूत्र का परिस्राव (Extravasation of Urine) होता है।

(५) सामान्य नील लांछन और वृक्क का क्षुद्र विदर में रक्तमेह और रक्तगुल्म होता है।

लक्षण—

वृक्क पर आघात लगने से कटि प्रदेश एवं वृक्क स्थान में वेदना होती है। वमन, जीमिचलाना तथा रक्तमेह होता है। उदर का आध्मान,मूत्रावधारण मूत्राल्पता तथा अमूत्रता तक हो सकती है तथा अन्य अंगों के आघात के लक्षण साथ होसकते हैं। आभ्यन्तर रक्तस्राव के कारण रक्तदाब का ह्रास हो सकता है। पार्श्वपर नीललाछन

(Bruising) तथा स्पर्श से वृक्क कोण पर स्पर्शासह्यता प्रतीत होती है। उत्तर भित्ति कठोर तथा कटि प्रदेश में एक पिड-सा भी प्रतीत हो सकता है। मूत्र में रक्त अधिक मात्रा में उपस्थित हो सकता है।

निदान—ऐक्सरे चित्रण—एक्सरे चित्रण में अन्तिम दो पर्शुकाओं का अथवा अनुप्रस्थ प्रवर्धनों का अस्थि भङ्ग मिल सकता है, प्रतिगामी गोणिका एक्सरे चित्र आलवालों की विकृति को स्पष्टतया दिखा सकता है। आघात की ओर के चित्र विरूपित आलवाल तथा परिवृक्क ऊतक में लीक किया हुआ रंजक दीख सकता है इसलिए स्तब्धता के समय उत्सर्जन एक्सरे चित्र नहीं लिये जाते।

सिस्टोस्कोप परीक्षा—द्वारा गवीनी में से आघात की ओर आता हुआ रक्त दिखाई देता है।
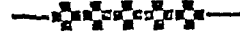
संजय गांधी स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान में

सन् १९८४ से गुर्दा प्रत्यारोपण

लखनऊ २ अप्रैल (यूनी) अगले वर्ष मार्च माह से संजय गांधी स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान में न्यूरोलाजी तथा जेनेटिक्स इन्म्यूनोलाजी की अतिविशिष्टताओं पर कार्य आरम्भ होजायेगा। शहर से १२ किलोमीटर दूर इस संस्थान को एशिया का सर्वोत्तम आयुर्विज्ञान शोध संस्थान बनाये जाने की महत्व कांक्षी योजना है। संस्थान में न्यूरोलाजी विशिष्टता के तहत गुर्दा प्रत्यारोपण भी किया जायगा। पांच सौ सत्ताइस एकड़ में निर्मित होने वाले इस संस्थान की लागत अब ७५ करोड़ रुपये हो जायेगी। १९७९ में लागत का अनुमान ५० करोड़ रुपये था।

वर्ष १९८६ तक इस संस्थान का निर्माण कार्य पूरा हो जायेगा तथा चार अन्य अति विशिष्टताओं में शोध व उपचार कार्य आरम्भ हो जायगा। ये चार अति विशिष्टतायें, न्यूरोलाजी तथा न्यूरो सर्जरी कार्डियोलाजी, गंस्टो एंट्रोलाजी इंडोकोरोलाजी है।

इस संस्थान में कार्यरत विशेषज्ञों को देश में सर्वोत्तम वेतन दिया जायेगा तथा जिन दो अति विशिष्टताओं में मार्च से कार्य आरम्भ होगा उसके लिये विशेषज्ञों तथा कर्मचारियों का चयन इसी वर्ष जुलाई के अन्त तक कर दिया जायेगा। इनकी सलाह से उपकरण आदि आयातित किये जायेंगे और जो देश में सुलभ होगा उसे खरीदा जायेगा। संस्थान का चिकित्सालय १०० एकड़ के वृहद क्षेत्र में फैला होगा।

उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य मन्त्री श्री लोकपति त्रिपाठी ने संवाददाताओं को बताया कि इस संस्थान में केवल स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त डाक्टरों को आगे की पढ़ाई के लिये भरती किया जायेगा तथा इसे पूर्णरूपेण स्वायत्त संस्थान द्वारा उन्हें डी. एस. सी. की उपाधि प्रदान की जायगी। इस संस्थान के सभी विशेषज्ञों, कर्मचारियों तथा शोध छात्रों को संस्थान के परिसर में ही रहना पड़ेगा। श्री त्रिपाठी ने कहा कि यदि आवश्यकता पड़ी तो विदेशों से भी विशेषज्ञों को बुलाकर संस्थान में नियुक्त किया जायेगा। उन्होंने कहा कि संस्थान शोध पर सर्वाधिक बल देगा और कम्प्यूटर युक्त लाइब्रेरी में विशिष्टताओं पर विश्व में हो रहे कार्यों की आधुनिक जानकारी उपलब्ध रहेगी। संस्थान पूर्ण रूप से संदर्भित आयुर्विज्ञान संस्थान होगा और केवल मेडिकल कालेजों तथा मंडलीय मुख्यालयों से संदर्भित मरीजों को ही इसमें भर्ती किया जायेगा। उन्होंने बताया कि संस्थान केन्द्र सरकार से जापान, फ्रांस, इंगलैण्ड, पश्चिम जर्मनी, अमेरिका तथा स्वीडन द्वारा ऋण तथा अनुदान के प्रस्तावों को स्वीकार करने की अनुमति मांग रहा है।

श्री त्रिपाठी ने कहा कि संस्थान जब किसी अतिविशिष्टता पर संपूर्ण तकनीकी ज्ञान का विकास कर लेगा तो उस सम्पूर्ण ज्ञान को मेडिकल कालेजों को प्रदान करके नयी अति विशिष्टताओं पर कार्य आरम्भ कर दिया जायेगा।

संस्थान के पूरा हो जाने पर १०,००० की आबादी का एक संपूर्ण नगर तैयार जायेगा।

हर मरीज के साथ केवल सम्बन्धियों को यहां रहने दिया जायेगा और उनकी आवश्यकता के लिए वांछित धर्मशालायें बनाई जायेंगी।

—नवभारत टाइम्स ३ अप्रैल ८३ पृष्ठ ५ से साभार।

मूत्राशय की अश्मरी और उसकी सफल चिकित्सा

प्राणाचार्य पं० हर्षुल मिश्र प्रवीण बी०ए० (ऑनर्स) आयुर्वेदरत्न, आयुर्वेदाचार्य
सेवा निवृत्त आयुर्वेदीय विभागीय निरीक्षण अधिकारी, रायपुर (म०प्र०)।

※ ※ ※

मूत्राशय में अश्मरी मूत्राशय स्थित कुपित वात-पित्त-कफ एवं शरीर स्थित दूषित धातुओं एवं विजातीय तत्वों के संयोग से बनती है। कभी-कभी शुक्र विच्युत होकर मूत्राशय में पहुंचकर कठिन वायु द्वारा शुष्क होकर अश्मरी का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार आयुर्वेद मतानुसार मूत्राशय में वातज अश्मरी, पित्तज अश्मरी, कफज अश्मरी, शुक्राश्मरी का निर्माण होता है। अश्मरी के निर्माण में पित्त, कफ, शुक्र, शरीर स्थित दूषित धातुओं एवं विजातीय तत्व केवल साधन मात्र हैं। जब तक ये सब द्रव्य कुपित वायु द्वारा मूत्राशय में संचित होकर शुष्क नहीं हो जाते, तब तक अश्मरी का निर्माण नहीं होता। ये दूषित द्रव्य (विजातीय तत्व) वायु के अनुलोम रहने से मूत्रमार्ग द्वारा सरलतापूर्वक बाहर निकल जाते हैं, जिससे अश्मरी निर्माण की स्थिति कायम नहीं हो पाती। अश्मरी के पूर्वरूप में विजातीय तत्व वृक्क, मूत्राशय, पित्ताशय आदि अवयवों में सर्वप्रथम बारीक रेत कणों के रूप में संचित होते रहते हैं। ये ही सूक्ष्म कण वायु के प्रतिलोम होने पर वायु द्वारा शुष्क होकर घन होने लगते हैं। इनके घन होने की क्रिया प्रारम्भ होते ही मूत्राशय में क्रमशः संचित होने वाले विजातीय तत्वों का आवरण इन (सिक्ताओं) पर शनैः शनैः चढ़ने लगता है। कुछ दिनों में ये सिक्तायें बढ़कर चना, मटर, चिरौंजी फल, करंज फल के आकार की दानेदार, चपटी, गोल, वृत्ताकार, अर्ध वृत्ताकार, चिकनी, कठोर, श्याम, श्वेत, पीली, लाल विषम रङ्ग और विषम आकार की बन जाती है। अश्मरी, मूत्राशय आदि अवयवों में उसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती है, जिस प्रकार गोरोचन गाय के पित्ताशय में बढ़ता है।

मूत्राशय में अश्मरी की स्थिति

(१) अश्मरी कभी कभी मूत्राशय में बनने के बाद

धीरे धीरे विजातीय तत्वों के संयोग से मूत्राशय की दीवालों में श्लेष्मिक कला से वेष्टित होकर एक रुग्ण उभार (Morbid growth) के रूप में कायम हो जाती

चित्र - ९८
मूत्राशय में अनेक छोटी अश्मरियां

है। इसमें पीड़ा अवश्य होती है, परन्तु यह अश्मरी मूत्राशय में वायु से प्रेरित होकर इधर उधर घूमती नहीं। इसलिये इसके द्वारा मूत्र विसर्जन में बाधा नहीं होती। यदि यह मूत्राशय के मुख के पास श्लेष्मकला से वेष्टित होकर स्थिर हो जाती है तो इसमें बढ़ने से अचानक मूत्राघात की भयंकर स्थिति कायम हो जाती है, जिसका निवारण सिर्फ शल्य क्रियां द्वारा ही किया जा सकता है। प्राय: अधिकांश अश्मरी श्लेष्मकला से आवेष्ठित ही पायी जाती हैं, जो स्वतन्त्रतापूर्वक मूत्राशय में घूमती रहती हैं और कभी भी मूत्राशय के मुख के पास आकर मूत्राघात तथा मूत्रकृच्छ्र की स्थिति निर्माण कर रोगी को महान कष्ट देने लगती हैं। कभी-२ ये छोटी होने से पीड़ा देते हुये, कभी सरलतापूर्वक मूत्रमार्ग से बड़े वेग के साथ रक्त रंजित बाहर निकल पड़ती हैं। तब इसके निकलते ही रोगी मूत्रबाधा से तत्काल मुक्त हो जाता है। ऐसी छोटी अश्मरियों का मूत्र मार्ग से बाहर निकलना उत्तम औषधियों के प्रयोग से ही होता है। स्वतन्त्र अश्मरियों से उत्पन्न मूत्राघात, उत्तरवस्ति (कैथीटर) को मूत्रमार्ग में प्रवेश कर मूत्राशय के मुख तक पहुंचाने से निःसंदेह दूर हो जाता है।

(२) वृक्क से भी अश्मरी निर्माण करने वाली सिक्तायें वृक्कनलिका द्वारा धीरे-२ मूत्राशय में पहुंचकर मूत्राशय में संचित होती रहती हैं, जो कालान्तर में अश्मरी का रूप धारण करती हैं। ऐसी सिक्ता अश्मरियां जब वृक्क नलिका में फंस जाती हैं तब नाभि के कभी दायीं ओर तो कभी बायीं ओर भयङ्कर वेदना होती है। गरम पानी की थैली से सेक पहुंचाते ही वृक्कनलिका फैलती है और अश्मरी सिक्ता तत्काल मूत्राशय में उतर जाती है, जिससे रोगी को पीड़ा में तत्काल राहत मिल जाती है। ऐसी सिक्ता अश्मरियां कभी कुछ दु:ख के साथ, कभी सरलतापूर्वक मूत्रमार्ग से बाहर आ जाती हैं। इस प्रकार सिक्ता अश्मरियों का मूत्रमार्ग से बाहर निकलने का प्रसंग प्राय: आशुगुणकारी औषधियों के प्रयोग के बाद ही आता है, अन्यथा नहीं।

(३) शोथयुक्त मूत्राशय की लाला ग्रन्थियों के उभार में कभी-२ अश्मरी फंस जाती है तो अत्यन्त कष्टदायक पीड़ा होती है। उस समय शल्य क्रिया द्वारा अश्मरी को निकालना आवश्यक हो जाता है। शल्य क्रिया की सुविधा न होने पर सुखोष्ण जल के टब में रोगी को बैठालने से भी भयङ्कर दु:ख में राहत मिलती है और मूत्र विसर्जन स्वाभाविक रूप से होने लगता है। परन्तु यह उपचार स्थायी रूप से रोगनाशक नहीं हैं। रोग निवारण शल्य क्रिया द्वारा अथवा आशुगुणकारी पथरीनाशक औषधियों से ही सम्भव है।

अश्मरी उत्पत्ति के कारण—

मूत्र के वेग को अधिक देर तक रोकने की आदत से अधिक चूनायुक्त जल के पीने से वा कैल्शियमयुक्त पदार्थों के अधिक सेवन से। मैथुन के समय वा स्वप्नावस्था में शुक्र के वेग को बार बार रोकने से शुक्र प्रतिलोम वायु के वेग से मूत्राशय में पहुंचकर शुक्राश्मरी का कारण बनता है। पान के बीड़े के साथ अधिक चूना खाने वालों को वृक्काश्मरी तथा मूत्राशयाश्मरी हो जाती है। शरीर के रक्त में जल की मात्रा कम होने से भी वृक्क में रक्त के स्थूल विजातीय तत्व मूत्र के साथ घुलकर मूत्र मार्ग से बाहर नहीं निकल पाते। वे वृक्क में संचित होकर सिक्ता का रूप धारण कर लेते हैं, फिर धीरे-२ मूत्राशय में पहुंचकर कालान्तर में मूत्राशय अश्मरी का रूप धारण कर लेते हैं।

अश्मरी की बनावट में पाये जाने वाले द्रव्य—

वाताश्मरी में चूना (Oxlate of lime calculus) विशेष रूप से पाया जाता है। इसी के कारण वाताश्मरी कठोर और उसका आवरण कांटेदार होता है। पित्ताश्मरी की बनावट में मूत्राशय तथा मूत्र लवण (Uric acid) तथा नृसार (अमोनिया) रक्त के लाल और पीले कणों की उपस्थिति रहती है। कफाश्मरी से अस्थिसार (फास्-

फेट) के साथ भिन्न भिन्न प्रकार के शारीरिक लवणों की उपस्थिति रहती है। शुक्राश्मरी में शुक्र धातु के शुद्ध कणों की उपस्थिति रहती है। जब यह टूटती है वा चूर्ण हो जाती है तब मूत्र के साथ घुली हुई बाहर निकलती है।

मूत्राशय की अश्मरी का पूर्वरूप—

मूत्राशय में जब अश्मरी बनना प्रारम्भ होता है, तब मूत्राशय में आध्मान (वातावरोध) होता है, जिससे मूत्राशय में यदाकदा वेदना होती रहती है। मूत्र की गन्ध बकरे के मूत्र की तरह आती है। मूत्र विसर्जन यदाकदा जरा कष्ट के साथ और रुक-रुककर होता है। रोगी को उपर्युक्त स्थिति में ज्वर हो आता है। मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, मूत्राशय प्रदेश में वेदना, अश्मरी निर्माण के प्रारम्भिक लक्षण हैं।

अश्मरी का सामान्य लक्षण

अश्मरी के रोगी को मूत्र विसर्जन करते समय मूत्राशय और मूत्रमार्ग में पीड़ा होती है। कभी पीड़ा नहीं भी होती, मूत्र बाहर निकलते समय दो बार में निकलता है। कभी मूत्र विसर्जन स्वाभाविक वेग से होते होते अचानक रुक जाता है अथवा बूंद बूंद गिरने लगता है। कभी-२ मूत्र मार्ग में अश्मरी आ जाने से भारी वेदना होती है, मूत्राशय की ग्रीवा में अश्मरी आ जाने से मूत्राघात की स्थिति निर्माण हो जाती है, जो उत्तर वस्ति (कैथीटर) लगाकर ही दूर की जा सकती है। कभी-२ स्वाभाविक वेग से मूत्र विसर्जन होते होते अचानक रुक जाता है, परन्तु एक पैर नीचा और एक पैर ऊंचा रखने से अथवा दायें बायें किसी भी ओर हाथ रखकर अथवा तिरछा होकर बैठने से मूत्राशय की ग्रीवा से अश्मरी हट जाती है, और पुनः स्वाभाविक वेग से मूत्र विसर्जन होने लगता है। कभी-२ छोटी अश्मरी मूत्र मार्ग में आकर रुक जाती है तो पतली धार से मूत्र विसर्जन होता है और उसकी रगड़ से मूत्रमार्ग छिल जाने पर मूत्र के साथ शुद्ध रक्त भी बहने लगता है। इस स्थिति में धातु निर्मित मूत्रमार्गी शलाका (कैथीटर) के प्रयोग से अश्मरी को मूत्रमार्ग से पीछे की ओर धीरे-२ हटाते हुए उसे पुनः मूत्राशय में पहुँचाया जाता है। मूत्रमार्गी शलाका के माध्यम से मूत्र का सम्यक् विसर्जन होता है अन्यथा नहीं। अश्मरी में मूत्र बाधा के साथ साथ शिशु के पेड़, मलद्वार में पीड़ा होती है। नाभि को रोगी वेदना असह्य होने पर बार बार मलता है और दर्द से चिल्लाता है। मूत्रमार्ग को जब अश्मरी पूर्णतया अवरुद्ध नहीं करती, तब मूत्र पतली धार से थोड़ी वेदना के साथ उतरता है। जब मूत्राशय की ग्रीवा में अश्मरी फंस जाती है, तब भारी वेदना होती है। मूत्राशय में संकोच होकर मूत्र का वेग जोरदार होता है। परन्तु ग्रीवा में अश्मरी की बाधा होने से पेशाब बिल्कुल नहीं उतरता। इस स्थिति में मूत्रमार्गी शलाका के प्रयोग से ही तत्काल मूत्र विसर्जन कराके रोगी को तत्काल दुःख से मुक्त किया जा सकता है।

वातज अश्मरी के लक्षण—वातज अश्मरी में मूत्रावरोध, मूत्र विसर्जन के समय अत्यन्त वेदना होती है। मूत्र विसर्जनार्थ रोगी जब बार बार बल लगाता है, गुदाद्वार से अपान वायु निकल आती है; मल भी निकल आता है। रोगी दांत पीसता है, नाभि को दोनों हाथों से दबाता है और चिल्लाता है। बहुत बल लगाने पर मूत्र बूंद बूंद गिरता है। वाताश्मरी श्यामवर्ण, रूक्ष, विषम आकार की कठोर और कंटकावृत्त होती है। यह वाताश्मरी अत्यन्त पीड़ाकर और मूत्रावरोधक है। सहज में टूटती नहीं। स्पर्श में कठोर होती है।

पित्ताश्मरी के लक्षण—यह भिलावे की मिगी के आकार की किंचित लाल और किंचित फीके पीतवर्ण की होती है। मूत्राशय में पित्ताश्मरी होने पर मूत्राशय में दाह (जलन) की स्थिति बनी रहती है। मूत्र विसर्जन के समय उष्णवात के समकक्ष जलन और दर्द होता है। यह प्रायः बढ़कर वस्ति के मुख में ही स्थित रहती है, जिससे मूत्रकृच्छ्रता, मूत्राघात की स्थिति दिन रात में कभी भी निर्माण हो जाती है। यह स्पर्श में दाहयुक्त प्रतीत होती है।

कफाश्मरी के लक्षण—वस्ति में कफाश्मरी की उपस्थिति होने पर हल्की वेदना के साथ तोद होता है। यह प्रायः श्वेतवर्ण की वा मधु पुष्प (महुये के फूल) के रङ्ग की चिकनी और स्पर्श में शीतल होती है। इसमें मूत्र विसर्जन के समय दाह और पीड़ा नहीं होती। केवल मूत्र वेग से नहीं होता, प्रत्युत पतली धार से शनैः शनैः बहुत देर में होता है। कभी कभी मूत्रमार्ग में तुदन जैसी पीड़ा होती है। उष्ण जल के टब में बैठने से,

वस्ति पर उष्ण जल की शीशी वा थैली से सेकने से, उष्ण लेप करने से प्राय: मूत्र विसर्जन हो जाता है। कफाश्मरी बच्चों को अधिक होती है।

शुक्राश्मरी के लक्षण—आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार, वीर्य के वेग को जब रोका जाता है, तब वायु प्रतिलोम होकर शुक्र को मूत्राशय में ठेल देती है। जहां वह कालांतर में वायु द्वारा शुष्क होकर शुक्राश्मरी का रूप धारण कर लेती है। यह शुक्राश्मरी केवल बालिग, प्रौढ़ पुरुष को ही होती है। वस्ति में शुक्राश्मरी की उपस्थिति में बहुत पीड़ा होती है। मूत्र कठिनाई से रुक रुक कर होता है। शुक्राश्मरी कभी कभी ज्यादा घन न होने पर टूटकर बिखर जाती है और सिक्ता और शर्करा के रूप में मूत्र के साथ बाहर निकलने लगती है। कहने का तात्पर्य यह, कि शुक्र मूत्राशय में पहुँचकर प्रतिलोम रूक्ष वायु के स्पर्श से घन होकर अश्मरी बनाता है। यही औषधि आदि के प्रयोग से अनुलोम वायु के स्पर्श से टूटकर शर्करा के रूप में मूत्र मार्ग से बाहर निकलने लगता है। परन्तु यह शुक्र शर्करा तथा शुक्र सिक्ता मूत्राशय में संचित रह गयी तो वह नाभि और अण्डकोष में शोथ, मूत्रावरोध, उष्ण वात, तृष्णा हृद्पीड़ा आदि उपद्रव पैदा कर रोगी को मार डालती है।

सूचना—उपर्युक्त उपद्रव प्राय: सभी मरणासन्न अश्मरी रोगियों में मिलते हैं। इसलिये बढ़ी हुई अश्मरी को उपर्युक्त उपद्रव होने के पूर्व ही शल्य क्रिया द्वारा निकलवा देना चाहिये।

अश्मरी नाशक अनुभूत सफल औषधि योजना—

(१) घृत कुमारी का स्वरस २॥ तोला, यवक्षार ४ रत्ती, गुड़ १। तोला सबका घोल बनाकर नित्य प्रात: सायं पीवें तो दो तीन वर्ष की अश्मरी ३ से ६ माह के अन्दर टूटकर चूर्ण रूप में मूत्र मार्ग से बाहर निकल जाती है।

(२) क्षारामृत मिश्रण—तिलक्षार, अपामार्गक्षार, कदलीक्षार, पलाशक्षार, यवक्षार पांचों १-१ रत्ती, भेड़ का ताजा मूत्र २॥ तोला। सबको मिलाकर घोल तयार करलें नित्य प्रात: १ बार खाली पेट पीवें तो सभी प्रकार की अश्मरी सिक्ता सर्करा २१ दिन में नि:संदेह नष्ट होजावेंगी।

(३) पाषाणभेद, गोखरू, एरण्डमूल, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, तालमखाना का समभाग चूर्ण, ६ माशा नित्य ताजे दही के ५ तोला पानी में घोलकर पीवें तो १ माह में अश्मरी से होने वाली मूत्र बाधा रुक जावेगी, स्वाभाविक रूप से मूत्र विसर्जन होने लगेगा। ३ माह के सेवन से अश्मरी गलकर मूत्र के साथ बाहर निकल जावेगी।

(४) कूष्माण्ड (भूरा कुम्हड़ा) के ५ तोला स्वरस में यवक्षार ४ रत्ती हींग ४ रत्ती और तिलक्षार ४ रत्ती घोल कर नित्य सवेरे पीने से अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र ७२ घण्टे में दूर होता है। इसके पीते ही अश्मरी का ह्रास प्रारम्भ होजाता है। अश्मरी भेद और शरीर भेद के अनुसार कभी शीघ्र वा कभी विलम्ब से किन्तु १ माह से डेढ़ माह के भीतर अश्मरी गलकर मूत्र के साथ बाहर निकल जावेगी।

(५) अश्मरी भेदक योग—पाषाणभेद का घनसार, वरुणा की छाल का घनसार, गोखरू का घनसार, ब्राह्मी का घनसार, प्रत्येक १-१ तोला। ककड़ी के बीजों की मींगी, यवक्षार, गोपाल कचरी की जड़ का चूर्ण तीनों २-२ तोले, सूर्यतापी शुद्ध लौह शिलाजीत ४ तोले, तिलक्षार ८ तोले।

समस्त द्रव्यों को पत्थर के खरल में डालकर खूब मर्दन कर मिश्रण तैयार करलें। मात्रा—१ माशा। अनुपान—गुड़ युक्त सुखोष्ण वरुण क्वाथ। समय प्रात: सायम्।

गुण—१५ से ३० दिन में पथरी टूटकर चूर्ण रूप में मूत्र मार्ग से बाहर निकल जाती है।

(६) अश्मरी गदांतक वटी—गोखरू घनसार, वरुणात्वक् घनसार, पाषाण भेदघनसार, तिलक्षार, अपामार्गक्षार, कदलीक्षार, पलासक्षार, यवक्षार, हजरलयहूद भस्म, गोखरू के बीज का चूर्ण, सहजना मूलत्वक चूर्ण, मुक्तासीप भस्म प्रत्येक २-२ तोले, शुद्ध सूर्यतापी लौह शिलाजीत ४ तो०, गोपाल कचरी की जड़ का चूर्ण ८ तो०—सबको १० तोले असली मधु और ५ तोले भेड़ के घृत में सानकर १-१ माशे के वटक बना लें। मात्रा १ से २ वटक। अनुपान—ताजे दही का जल समय—प्रात: सायं। बच्चों को आधा बटक।

गुण—इसके सेवन से नि:संदेह १५ से ३० दिन के अन्दर अश्मरी टूटकर मूत्र मार्ग से बाहर निकल जाती है।

(७) कुलत्थादिघृत—वरुणा का काढ़ा अष्टमांस

अवशिष्ट १ सेर, कुल्थी का चूर्ण, सेंधानमक, विडंगबीज, शक्कर, पद्मकण्ठ चूर्ण, यवक्षार, कूष्माण्ड (भूरा कुम्हड़ा) के बीज का चूर्ण, गोखरू बड़ा का चूर्ण प्रत्येक ५-५ तो० । सबको दही के पानी में पीसकर कल्क तयार करलें । फिर इस कल्क और वरुणा के काढ़े को १ सेर गोघृत के साथ स्टेनलेस स्टील के डेग (चौड़े मुंह वाले पात्र) में डालकर अग्नि पर चढ़ाकर इतना पकावें कि सब द्रव्य पचजाय, केवल घृत मात्र शेष रहे । घृत सिद्ध होते ही पात्र को अग्निताप से अलग कर दें । घृत जब सुखोष्ण होजाय, तब उसे छानकर कांच की बरनी में भर कर सुरक्षित रख दें। मात्रा १ तोला से २ तोले । अनुपान—वरुण का सुखोष्ण क्वाथ । समय प्रातः सायं भोजन के पूर्व । गुण—यह घृत लगातार १॥ माह से ३ माह तक सेवन करने से सभी प्रकार की अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात समूल नष्ट हो जाता है।'

ईस्ट के सिस्टोमीटर द्वारा

मूत्राशय का अन्तः दबाव मापन

चित्र क्रमांक ९९
ईस्ट का सिस्टोमीटर

चित्र क्रमांक १००
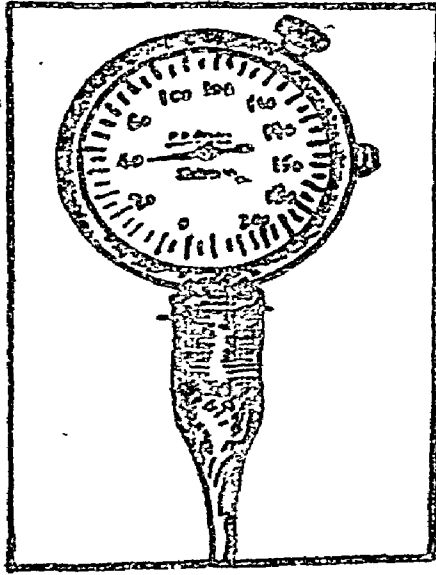
इसे ईस्ट का सिस्टोमीटर कहते हैं। इसमें रक्तचाप मापक यन्त्र (डायल टाइप) के समान ही एक डायल होता है। फर्क केवल इतना ही है कि रक्तचाप मापक यन्त्र में पारद की ऊँचाई प्रदर्शक चिन्ह होते हैं जबकि इसमें पानी की ऊँचाई प्रदर्शक चिन्ह (सैन्टीमीटर में) होते हैं।

विधि—पहले सम्पूर्ण यन्त्र को, कैथीटर आदि को विसंक्रमित कर लें। अब रबड़ कैथीटर के बाहर के सिरे में मुख्य यन्त्र की (चित्र ९९ में नीचे की ओर दिखाई गई) नली को प्रविष्ट कर दें तथा कैथीटर को मूत्राशय में प्रविष्ट कर चित्र क्रमाङ्क १०० में दिखाये अनुसार स्थिर कर दें। यन्त्र में मूत्राशय का दबाव आ जायेगा।

★★-※-★★
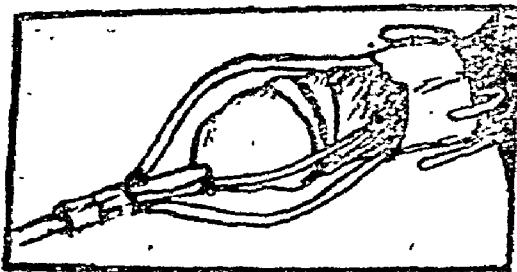
मूत्राशय-अश्मरी

वैद्य श्री जयनारायण गिरि 'इन्दु' बी०ए०, डी०एस्-सी०एवाई० (आयु०बृह०), आयु० रत्न
धजवा, पो० नूरचक (मधुवनी) विहार।

अश्मरी को आम बोल-चाल की भाषा में "पथरी" कहा जाता है। इस रोग में गवीनी या मूत्राशय में पत्थर हो जाता है। जो मानव इस व्याधि से दुर्भाग्यवश ग्रसित हो जाता है उसकी स्थिति अत्यन्त ही कारुणिक हो जाती है। सुश्रुताचार्य का कहना है कि जिस प्रकार वायु और विद्युत की अग्नि आकाश में स्थित जल को ओले में परिकर देती है, उसी प्रकार वायु सहित ऊष्मा यानी पित्त, वस्तिगत कफ को बांधकर अश्मरी का निर्माण कर देते हैं। उनके अनुसार—'चतस्त्रोऽश्मरी भवन्ति श्लेष्माधिष्ठानाः।' इसका तात्पर्य यही हुआ कि समस्त प्रकार की अश्मरियां श्लेष्मा का आश्रय लेकर ही उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इसकी उत्पत्ति में वात, पित्त और कफ तीनों दोषों की भूमिका है।

आचार्य चरक ने अश्मरी रोग का विवेचन मूत्रकृच्छ्र रोग के ही अन्तर्गत कियाहै, किसी स्वतन्त्र व्याधि के रूप में नहीं। अमरकोषकार ने भी अश्मरी और मूत्रकृच्छ्र को एक-दूसरे का पर्यायवाची ही माना है ("अश्मरी मूत्रकृच्छ्र स्यात्" २/६/५६)। बाद के संहिताकारों ने अश्मरी और मूत्रकृच्छ्र को दो स्वतन्त्र रोग माना है। यह सही है कि अश्मरी के कारण भी मूत्रकृच्छ्र होता है और मूत्रकृच्छ्र के परिणामस्वरूप अश्मरी भी हो सकती है।

हमने अश्मरी के निर्माण में वात, कफ, और पित्त की भूमिका का उल्लेख कर ही दिया है। सुश्रुत ने अत्यन्त ही स्पष्ट रूप से कहा है कि जिस प्रकार नवीन घट में रखे हुए जल में भी कुछ समय के उपरांत पंक (कीचड़) की उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार वस्तिगत स्वच्छ मूत्र में भी कुछ काल के बाद अश्मरी बनने लगती है। अन्तरिक्ष का जल अविकारयुक्त होता है किन्तु धरती के वातावरण और जलवायु के संसर्ग के कारण उसमें विभिन्न प्रकार के खनिज लवणों का मिश्रण होजाता है। जल के सूखने पर ये ही लवण अवक्षेप बनाते हैं। मूत्र के द्वारा प्राकृतावस्था में अनेक लवण यथा यूरिक एसिड, यूरेट्स, फॉस्फेट आदि (देखें, इसी विशेषांक के अन्तर्गत "रोग-निदान में सहायक मूत्र-परीक्षा के अन्तर्गत" प्राकृत मूत्र)। आहार-बिहार की अनियमितता के कुपरिणाम स्वरूप मूत्र में जलीशांश की यदि अल्पता हो जाती है तो इन लवणों के स्फटिकी भवन (Crystalization) होकर छोटे-छोटे Crystals बन जाते हैं जिसके फलस्वरूप मूत्र में अवक्षेप पैदा होता है और इसी अवक्षेप के एकत्रित होकर कठोर बनने से पथरी का निर्माण हो जाता है। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रियों का यह अभिमत है कि भोजन में नाइट्रोजन बहुल पदार्थों की अधिकता एवं विटामिन "ए" की कमी से ही अश्मरी होती है।

अश्मरी का रोग बाल्यावस्था में विशेषकर होता है। स्त्रियों में यह व्याधि क्वचित ही पाई जाती है क्योंकि उनका मूत्र मार्ग छोटा और विस्तृत होने से छोटी अश्मरी सुगमता पूर्वक निष्कासित हो जाती है।

अश्मरी के पूर्वरूप

इस अवस्था में मूत्राशय फूला हुआ रहता है, मूत्र त्याग करते समय तीव्र वेदना की अनुभूति होती है, मूत्राशय तथा उसके समीपस्थ प्रदेश में भी असहनीय पीड़ा प्रतीत होती है, मूत्र की गन्ध बकरे के गन्ध (बोतुआ के शरीर के गन्ध सा) आवे और अरुचि रहे तो इन लक्षणों को अश्मरी का पूर्वरूप ही मानना चाहिए।

अश्मरी के सामान्य रूप

सुश्रुत के अनुसार—"अथ जातासु नाभि-बस्ति-सेवनी,

मेहनेच्चान्यतमस्मिन महती वेदना मूत्रधारा सङ्ग सरुधिर मूत्रता मूत्रविकिरणं गोमेदकप्रकाश-मत्याविलं ससिकतं विसृजति। धावनलङ्घनाप्लवन, पृष्ठयानाध्वगमनैश्चास्य वेदना भवन्ति।।" उनके अनुसार—

(क) नाभि, वस्ति, सेवनी, शिश्न और शिर में पीड़ा होती है।

(ख) मूत्र परित्याग के समय मूत्रधारा रुक जाती है (अश्मरी के कारण)। अश्मरी के हटने पर सुखपूर्वक मूत्र का त्याग होता है।

(ग) मूत्र के साथ रक्त का भी स्राव होता है क्योंकि अश्मरी के कारण उसके संक्षोभ से क्षत उत्पन्न हो जाता है।

(घ) मूत्र की धारा टेढ़ी निष्कासित होती है।

(ङ) मूत्र का रंग गोमेदक के समान (पीताभ) होता है।

(च) मूत्र के साथ सिकता (Gravels) निकलता है।

(छ) मूत्र अस्वच्छ (सुश्रुत ने 'आविल' इसी अर्थ में लिखा है) निष्कासन होता है।

(ज) दौड़ने, उछलने, तैरने, घोड़े आदि की पीठ पर सवारी करने, अत्यधिक मार्ग गमन करने तथा उष्ण सेवन से वेदना में वृद्धि होती जाती है।

अश्मरी के प्रकार

अश्मरी के चार प्रकार होते हैं—(१) वातिक-अश्मरी (२) पैत्तिक-अश्मरी, (३) श्लेष्माश्मरी और (४) शुक्राश्मरी।

वातिक-अश्मरी—इस प्रकार की अश्मरी में मूत्र त्याग करते समय रोगी लिङ्ग और नाभि में असहनीय पीड़ा के कारण चिल्ला उठता है। भयंकर पीड़ा के कारण रोगी अत्यन्त व्यथित होकर दांत चबाता है, नाभि को दबाता है, शिश्न को मसलता है, गुदा को छूता है और कभी-कभी रोगी को रेचन भी हो जाता है। वातिक-अश्मरी स्पर्श में कठोर, श्यामवर्णयुक्त, विषम और खुरदरी होती है।

पैत्तिक-अश्मरी—इसका अश्मरी रक्त मिश्रित, पीला, कृष्ण, भिलावे की गुठली के समान और मधुवर्ण (शहद के समान वर्ण वाली) होती है। इसके रोगी को ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसके पेडू पर फोड़े के समान वेदना और उष्णता हो।

श्लेष्माश्मरी—श्लेष्माश्मरी का स्वरूप मुर्गी के अण्डे के समान आकृति और रंग का होता है। इसके रोगी का पेडू शीतल होता है। यह क्षारीय मूत्र में उत्पन्न होती है और ट्रिपल फॉस्फेट (अमोनियम) से बनती है। इस प्रकार की अश्मरी यदा-कदा ही दृष्टिगोचर होती है।

चिकित्सा

नवीन और नातिवृद्ध अश्मरी की चिकित्सा औषधि द्वारा सफलतापूर्वक की जा सकती है। अश्मरी के अत्यन्त बढ़ जाने पर सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा का निर्देश दिया है—

> अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तक प्रतिमो मतः।
> औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति।।
>
> —सु० चि० ६/३

अश्मरी का चिकित्सा सिद्धान्त यही है कि इस रोग में चिकित्सार्थ ऐसे योगों की योजना की जाय, जिसके प्रयोग से मूत्र में अश्मरी निर्मापक द्रव्यों की न्यूनता, उत्पन्न अश्मरी का विघटन और मूत्रराशि को बढ़ाकर उसका बहिर्निष्क्रमण हो जाय। आवश्यकतानुसार सेंक, स्वेदन, अवगाहन, लेप तथा उत्तरवस्ति का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। कतिपय योग इस रोग में उपकारी हैं। यथा—

(१) त्रिकण्टक चूर्ण—गोखरू के बीज का चूर्ण मधु मिलाकर बकरी के दूध के साथ पीने से एक सप्ताह में नष्ट हो जाती है।

(२) सहिजने के मूल का कोष्ण क्वाथ पीना अश्मरी-नाशक है।

(३) वाग्भट्ट का कथन है कि शुक्राश्मरी होने पर वस्तिकर्म द्वारा मूत्रमार्ग के शुद्ध कर लेने के बाद पुरुष वृष्य द्रव्यों और मुर्गे के मांस का तृप्ति पर्यन्त सेवन करें। पश्चात् अत्यन्त मददायी, रूपवती, षोड़स वर्षीया बाला के साथ जी भरकर सम्भोग करें। इससे शुक्राशय की शुद्धि होकर शुक्राश्मरी नष्ट हो जाती हैं।

(४) "राज मार्तण्ड" के कथनानुसार गोल ककड़ी की जड़ रात्रि में पानी में भिगोकर दें और प्रातःकाल उसी पानी में ठण्डाई के समान उसे पीसकर पिलायें तो सात दिन में ही पथरी मूत्र मार्ग द्वारा निष्कासित हो जाती है।

(५) "योगरत्नाकर" लिखित" पाषाणवज्रक रस" इस रोग में अत्यन्त ही हितावह है। इसे २ रत्ती से १ माशा तक की मात्रा में गोपाल ककड़ी के मूल के क्वाथ या कुल्थी के क्वाथ के अनुपान से प्रयोग करना चाहिये। इसकी निर्माण विधि निम्न है—

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक तीन भाग लेकर कज्जली बना श्वेत पुनर्नवा के रस के साथ एक दिन मर्दन करें, पश्चात् भूधरयन्त्र में रखकर पकावें। शीतल होने पर समभाग पाषाणभेद का चूर्ण मिलाकर रख लें। इसका प्रयोग अश्मरी में अत्यन्त ही फलप्रद है।

(६) आयुर्वेद के मूर्द्धन्य विद्वान और अनुभवी चिकित्सक वैद्य मोहरसिंह आर्य जी का निम्न योग अवश्य ही गुणकारी सिद्ध होगा—

कलमीशोरा १०० ग्राम, भांग ५०० ग्राम लें। भांग को सूक्ष्म पीस लें। कलमी शोरा को कड़ाही में डालकर आग पर चढ़ा दें। जब शोरा पिघलने लगे तो भांग चुटकी चुटकी डालते जायें। जब तमाम भांग जल जाये तो शोरा को एक घण्टा आंच पर ही रहने दें। फिर नवसादर १०० ग्राम लें। एक हांडी में नीचे-ऊपर शोरा रख मध्य में नवसादर रख सम्पुट करके २० किलोग्राम उपलों की आंच दें। शीतल होने पर निकाल-पीस लें। मात्रा बड़ों के लिए १ ग्राम। बालकों के लिए अवस्थानुसार १ चावल।

अनुपान—खरबूजा के बीज ६० ग्राम, शक्कर ६० ग्राम लें। बीजों को रगड़कर जल के संयोग से सत निकाल, शक्कर मिला आग पर चढ़ा दें। जब सार घट जाय तो छान कर दें।

गुण—हर प्रकार की पथरी टुकड़े-टुकड़े होकर निकल जायगी। खाने को दही न दें।

(७) राजस्थान के विद्वान आयुर्वेदज्ञ पं० विरिञ्चि लाल शर्मा जी का निम्न प्रयोग अश्मरी पर कल्याणकारी है—

निम्बू रस २५० ग्राम, यवक्षार (पपड़ी) ६५ ग्राम, मधु १३० ग्राम। इन्हें मिलाकर मिक्चर बना लें। इसके बाद शोभांजन (सहिजना) की छाल २५ ग्राम लेकर २५० ग्राम जल में डालकर उबाल लें। औषधक्वाथ २५ ग्राम जल शेष रहने पर छानकर उपरोक्त मिक्चर १ तोला में मिला कर दिन में २ बार या ज्यादा परेशानी हो तो तीन बार इस प्रकार से देने से सफल सिद्ध होता है।

(८) राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय उदयपुर के कविराज राजेन्द्र प्रकाश आ० भटनागर जी की निम्न चिकित्सा व्यवस्था इस रोग में अपूर्व गुणकारी है—

(क) प्रातः सायं-दिन में दो बार, त्रिविक्रम रस २ रत्ती, हजरुलयहूद पिष्टी या भस्म ४ रत्ती, क्षारपर्पटी २ रत्ती-मिलित १ मात्रा।

ऐसी २ मात्राएं मधु से चाटकर निम्न कषाय पीयें-

(ख) अश्मरीहर कषाय (सिद्ध योग संग्रह) १ तो० १×२ मात्रा।

(ग) चन्द्रप्रभावटी २ गोली या शिवागुटिका २ गोली —१ मात्रा×२ मात्राएं।

गोक्षुर चूर्ण पक्व दुग्धानुपान से, प्रातः सायं।

(घ) कुल्थी का क्वाथ ३ तो०, दिन में ३-४ बार।

अश्मरीहरकषाय की निर्माण विधि निम्न है—

पाषाणभेद, सागौन के फल, पपीते की जड़, शतावरी, एवं कास गोखरू, वरुण छाल, कुश मूल, पुनर्नवा, गिलोय अपामार्ग के मूल और ककड़ी के बीज-प्रत्येक समभाग, जटामांसी और खुरासानी अजवायन के बीज या पत्ती—प्रत्येक २ भाग लें। सबको जौकुट करके रख लें। इनमें से १ तोला ले, उसको १६ तोले जल में पका, ४ तोला बाकी रहे तब कपड़े से छान कर पीवें।

(९) अन्त में विशिष्ट सम्पादक का चिकित्सानुभव—

(क) सिस्टोन (निर्माता, हिमालया ड्रग कम्पनी) १ गोली, बंगशील (निर्माता एलार्सिन कम्पनी) १ गोली अश्मरीहर कषाय (योग संख्या ८ में वर्णित) के साथ दिन में ३ बार।

(ख) त्रिविक्रम रस (र० यो० सा०) १ रत्ती, प्रवाल पिष्टी २ रत्ती, हजरुलयहूद पिष्टी ४ रत्ती, पुनर्नवा मण्डूर ४ रत्ती—ऐसी १ मात्रा दिन में दो बार मधु के साथ चाटें।

(ग) रात्रि में शयन के समय १/४ लिटर कुल्थी की दाल में (गुनगुना) दो चम्मच वरुणादि घृत (भै० र०) डाल कर पीवें।

*

डा० दाऊदयाल गर्ग ए., एम.बी'एस., आयु०बृह०, सम्पादक 'धन्वन्तरि'
गुलजारनगर, रामघाट रोड, अलीगढ़ ।

वमन-विरेचन आदि संशोधन कर्मों से रहित तथा अपथ्य सेवन करने से पुरुष में कफ प्रकुपित होकर सूत्र के साथ मिलकर चार प्रकार की (१. वातज, २. पित्तज, ३. श्लैष्मिक, ४. शुक्रज) अश्मरी उत्पन्न होती हैं । इन सभी का अधिष्ठान श्लेष्मा ही है ।

पूर्वरूप—वस्ति प्रदेश में आध्मान, अरुचि, सूत्र त्याग करने में कष्ट, वस्ति शिर (दोनों वृक्क एवं मूत्र गवीनियां) अण्ड-कोष और शिश्न में वेदना, मन्द ज्वर, ग्लानि मूत्र में बकरे की सी गन्ध का आना आदि अश्मरी के पूर्वरूप हैं । वातादि दोष के अनुसार वेदना, मूत्र का वर्ण परिवर्तन, सान्द्रता, गंदलापन होता है तथा रोगी कठिनाई से मूत्र त्याग कर पाता है ।

सामान्य लक्षण—

अश्मरी होने पर मूत्रोत्सर्ग के समय मूत्राशय, श्रोणि तल (सेवनी—Perinium) और मेहन (अण्डकोष एवं शिश्न) में से किसी एक स्थान में पीड़ा, यदि अश्मरी मूत्रमार्ग में आ जाये तो मूत्र की धारा का निरोध, क्वचित रक्त मिश्रित मूत्र का आना, अश्मरी के मूत्रमार्ग से हट जाने पर भी मूत्र की धारा का सीधा न गिरकर इधर उधर गिरना, मूत्र का वर्ण गोमेद मणि के समान या गोलोचन के समान रक्तवर्ण होना, बहुत अधिक गंदला होना, बालू मिश्रित पानी जैसा होता है । भागने, कूदने, फांदने, तैरने, ऊंचे नीचे स्थान पर सवारी में बैठने या घोड़े की सवारी करने, ग्रीष्म ऋतु में चलने-फिरने से या लम्बी यात्रा करने से वेदना होती है या वेदना में वृद्धि हो जाती है ।

वात, पित्त एवं कफजन्य तीनों प्रकार की अश्मरियां प्रायः बालकों में होती हैं क्योंकि दिन में सोने से, अपथ्य-कर भोजन करने से, अध्यशन करने से, शीत, गुरु, मधुर, स्निग्ध आहार उन्हें प्रिय होने से, वस्ति के या मूत्र प्रणा-लियों के छोटा होने से अश्मरी शीघ्र ही पैदा हो जाती है तथा वृद्धि को प्राप्त होती हैं । लेकिन वस्ति के तथा शरीर के छोटा होने से, वस्ति आदि में अधिक मांस न
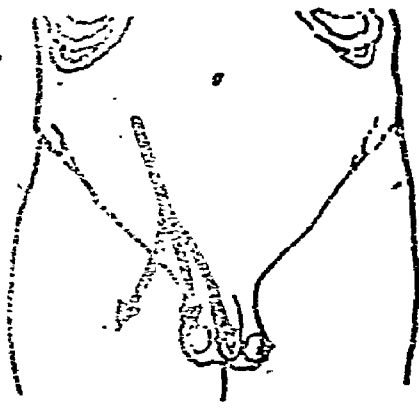
चित्र—१०१

मूत्र गवीनी के निम्न भाग में अश्मरी के अटक जाने पर होने वाले शूल के प्रसार की तीन विभिन्न स्थितियां

होने से बच्चों में अश्मरी को सुखपूर्वक खींचा जा सकता है या निकाला जा सकता है।

बड़े पुरुषों में शुक्राश्मरी शुक्र के कारण उत्पन्न होती है। मैथुनरत पुरुष के एकदम किसी कारणवश मैथुन से विरत हो जाने, अथवा मैथुनाधिक्य के कारण स्वस्थान से क्षरित शुक्र बाहर न आकर विमार्गगामी होकर वायु द्वारा ऊपर-नीचे या किसी भी पार्श्व में ले जाया जाकर मेढ़ और वृषण के मध्य में (मूत्राशय के नीचे शुक्राशय में) एकत्रित होकर गोलाकार बन जाता है तथा वायु वहां पहुँचकर इसे शुष्क कर देता है। यह शुष्क शुक्र ही अश्मरी बन मूत्रमार्ग को अवरुद्ध कर देता है जिससे मूत्र का कठिनाई से आना, वस्ति में वेदना का होना तथा कभी कभी दोनों अण्डकोषों में सूजन हो जाती है। गुदा में अंगुली प्रविष्ट कर शुक्राशय पर दबाव डालने से यदि अश्मरी छोटी ही है तो वह विलीन हो जाती है। यह नूतन शुक्राश्मरी के लक्षण हैं। शर्करा (बारीक रेत जैसी) मेह, सिकता (दानेदार बालू) मेह और भस्माख्य (मूत्र शुक्र नामक मूत्र रोग) अश्मरी के ही विकार (उपद्रव) हैं। अश्मरी जब वायु द्वारा छोटे छोटे रेत जैसे टुकड़ों में विभक्त हो जाती है तो उसे शर्करा कहते हैं। इसमें अश्मरी के समान ही लक्षण एवं वेदनायें होती हैं। यदि यह बहुत बारीक हो तो वायु के अनुकूल होने पर (उचित चिकित्सा से) बाहर निकल भी जाती है। शर्करा रोगी में हृदय प्रदेश में वेदना (शर्कराश्मरी वृक्क में होने पर), टांगों में ग्लानि, उदरशूल, कम्पन, तृष्णा, वायु का ऊर्ध्वगामी होना, रुग्ण का कृष्णवर्ण हो जाना, दुर्बलता के कारण (रक्त की कमी से) रुग्ण का पीलापन, अरुचि और अजीर्ण आदि होते हैं। यदि अश्मरी वृक्क से निष्क्रमित होकर मूत्रमार्ग (मूत्र गवीनी नलिका) में पहुंच कर रुक जाती है तो अत्यन्त बेचैनी, उदरशूल, हृदय में वेदना, दुर्बलता, कृशता, अरुचि, तृष्णा, पाण्डु, वमन उत्पन्न करती है।

वस्ति में वायु के अनुलोम होने पर मूत्र प्रवृत्ति भलीप्रकार होती रहती है लेकिन वायु के प्रतिलोम होने पर वस्ति में मूत्राघात, प्रमेह, शुक्रदोष और मूत्रदोष उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार से आकाशीय जल को वायु और अग्नि (बिजली) मिलकर कठोर ओला जैसा बना देती है उसी प्रकार से मूत्राशय में स्थित वायु अग्नि के सहयोग से मूत्र को (कफ को) पाचित कर कठोर अश्मरी उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार से नूतन (स्वच्छ) घड़े में अत्यन्त स्वच्छ जल भी रखे रहने पर कालान्तर में उसमें कीचड़ उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार से वस्ति (मूत्राशय) में भी निर्मल मूत्र से भी अश्मरी बन जाती है।

चिकित्सा—

अश्मरी रोग भयानक है तथा मृत्यु के समान दारुण है। नूतन अश्मरी तो औषधि चिकित्सा द्वारा साध्य है किन्तु अधिक पुरानी अथवा अधिक बड़ी अश्मरी शस्त्र कर्म साध्य ही है। अश्मरी के पूर्वरूपों में स्नेहन कराना चाहिये।

वातज अश्मरी—पाषाणभेद, वक पुष्प, अपामार्ग, सिरहटा (अश्मन्तक), शतावर, गोखरू, दोनों कटेरी ब्राह्मी सहचर (झिंटी), खस, गुंजा, श्योनाक, वरुण, सागौन के फूल, जौ, कुलथी, बेर, निर्मली, इनके क्वाथ में उपकादि गण का प्रक्षेप देकर घृत सिद्ध करे। वातज अश्मरी में स्नेहन, उत्तर वस्ति हेतु इसी घृत का प्रयोग करें। इस वातनाशक गण में पेय क्षारों को, यवागू को, यूष को, कषाय, दूध और भोजन बनाये।

पित्तज अश्मरी—कुश, कास, सरकण्डा, गुन्द्रा (एरक) गन्ना की जड़, पाषाणभेद, शतावरी विदारी, वाराहीकन्द, शालीमूल, गोखरू, श्योनाक, पाटला, पाठा, मछेछी, झिण्टी, पुनर्नवा, शिरीष— इनके क्वाथ में शिलाजतु, मुलेठी, कमलगट्टा, खीरा, ककड़ी, कूष्माण्ड आदि के बीजों के कल्क से सिद्ध घृत पित्तजन्य अश्मरी को नष्ट करता है।

कफज—वरुणादि गण, गुग्गुलु, इलायची, हरेणु, कूठ, भद्र दार्व्यादि, मरिच, चित्रक, देवदारू—इनके क्वाथ में ऊषकादि गण का कल्क दे कर सिद्ध किया गया है। बकरी का घृत कफ जन्य अश्मरी को नष्ट करता है।

करीर, अंकोल, निर्मलीफल, सागौन, कमल के फल (कमल गट्टा) समभाग लेकर चूर्ण कर इस चूर्ण के समभाग गुड़ मिलाकर गर्म पानी से देने पर शर्करा नष्ट होती है। इसी प्रकार कौंच, ऊंट और गधे की अस्थि, गोखरू, मूसली, अजवायन कदम्ब का फूल और सोंठ—समान भाग मिश्रित कर गरम पानी से (या सुरा के साथ) पीने से शर्करा नष्ट होती है।

गोखरू के बीजों के चूर्ण को मधु के साथ भेड़ के दूध में घोलकर ८-१० दिन पीने से अश्मरी नष्ट होती है।

ऊपर कहे गये घृतों के द्रव्यों को लेकर (जिस दोष की अश्मरी होवे उसी घृत के द्रव्य लें) तिल की लकड़ियों से जलाकर भेड़ के मूत्र में घोलकर छान लें। इसी में गाय बकरी आदि ग्राम्य पशुओं के गोबर—लीद को जलाकर बनाया गया क्षार मिलावें और धीरे धीरे पकावें। पकाते समय इसमें ऊषकादि गण का प्रक्षेप और त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल) मिलावें। यह क्षार अश्मरी, गुल्म और प्लीहा को नष्ट करता है।

तिल, चिरचिटा, केला, ढाक, जौ का क्षार भेड़ के मूत्र के साथ पीने से शर्करा नष्ट होती है। इसी प्रकार पाटला और करवीर (कनेर) के क्षार को भेड़ के मूत्र के साथ पान करने से शर्करा नष्ट होती है। गोखरू, मुलेठी, ब्राह्मी का कल्क ३ माशे की मात्रा में २ तोले भेड़ मूत्र के साथ पान करे। पनवाड़, सहंजना और भांगरा—इनको भेड़ के मूत्र से पियें। त्रिफला या पुनर्नवा से सिद्ध दूध (क्षीरपाक विधि से) दूध पियें।

वीरतर्वादि गण से सिद्ध घृत, दूध, कषाय, यवागू, भोजन आदि का उपयोग करना चाहिये।

यदि घृत, क्षार, कषाय, दूध, उत्तरवस्ति आदि के प्रयोग से भी अश्मरी का उपशमन न हो तो उसके लिये सुश्रुत चिकित्सा स्थान सप्तम अध्याय में निम्नवत् शल्य कर्म का उपदेश किया है—

रोगी व्यक्ति का स्नेहन करके वमन विरेचन से दोषों को निकाल कर थोड़ा सा लंघन कराके स्नेहन करके वमन विरेचन से दोषों को निकाल कर थोड़ा सा लंघन कराके स्नेहन स्वेदन कराके भोजन देवें। फिर बलवान एवं न घबड़ाने वाले रोगी को घुटनों के बराबर ऊंची चौकी पर पूर्वाभिमुख बैठे हुये दूसरे पुरुष (भृत्य) की गोदी में नाभि से ऊपर का भाग रख देवें तथा रोगी के नितम्बों के नीचे कपड़े की गद्दी या तकिया रख कर कमर को ऊंचा उठा कर घुटने और कोहनियों को संकुचित कर एक दूसरे के साथ कपड़े से बांध दें। तत्पश्चात् भली प्रकार स्नेहाभ्यङ्ग नाभिप्रदेश के वाम पार्श्व में मलकर मुट्ठी द्वारा नाभि के नीचे दबाये जब तक कि पथरी नीचे न आ जाये। फिर बांये हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों में अच्छी तरह तैल या घी चुपड़कर (तथा जिनके नाखून भी अच्छी प्रकार कटे हों और भली प्रकार स्वच्छ हों, अच्छा तो यह है कि रबड़ के दस्ताने पहने हों) गुदा में प्रविष्ट करके सेवनी के साथ साथ ले जाते हुए गुदा और मेहन के बीच में लाकर प्रयास और बलपूर्वक त्वचा में संकोच हुए बिना वस्ति को आयताकार और सीधा करके अंगुलियों से जोर से दबाये जिससे कि शल्य (अश्मरी) गांठ के समान ऊपर को उठ आये। इस प्रकार अश्मरी के हाथ में आजाने से किसी किसी रोगी की आंखें स्तब्ध हो जाती हैं, वह मूर्छित हो जाता है तथा मरे हुए के समान गर्दन लटका देता है, चेष्टा रहित होकर मृत पुरुषवत दीखता है। ऐसे रुग्णका शल्य कर्म यश चाहने वाला वैद्य न करे। जिसमें उपरोक्त लक्षण न हों उसी का शल्य कर्म करें। फिर वाम पार्श्व में सेवनी से जौ भर बचाकर अश्मरी के प्रमाण से शस्त्र चलाये। कुछ आचार्य सुगमता के लिये दक्षिण पार्श्व में शस्त्र कर्म करने का निर्देश करते हैं। ऐसा प्रयास करे कि अश्मरी टूटे नहीं या चूरा नहीं हो क्योंकि यदि टूट कर उसका छोटा सा कण भी अन्दर रह जाता है तो कालान्तर से वह पुनः अश्मरी का रूप ले लेता है। संपूर्ण पथरी को अग्रवक्र शस्त्र से बाहर निकाल लें। स्त्रियों में वस्ति के पार्श्व में ही गर्भाशय रहता है इसलिये इनमें शस्त्र को ऊपर की ओर धार करके चलाये अन्यथा इनमें मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है। पुरुष में भी मूत्रमार्ग में आघात होने पर मूत्र क्षरण होता है। अश्मरी व्रण के बिना भिन्न वस्ति फिर नहीं जुड़ती। अश्मरी कर्म में भी दो स्थान से (ऊपर और नीचे) विदीर्ण हुई वस्ति नहीं जुड़ती। अश्मरी व्रण के कारण एक तरफ से विदीर्ण वस्ति मिल जाती है इसलिये रोगी जीवित रहता है। —उष्णोदक, क्षीरी वृक्ष,

कषाय आदि उपचार के निरन्तर सेवन करने से तथा शास्त्र के अनुसार छेदन करने के कारण तथा मूत्र को बढ़ाने वाले यवागू गुड आदि खाने से रोगी जीवित रहता है। शल्य (अश्मरी) के निष्कासन के अनन्तर रोगी को गर्म पानी के टब में बैठा कर स्वेदन करने से वस्ति में रक्त नहीं भरता। यदि रक्त भर भी जावे तो पुष्प नेत्र से बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के कषाय (क्वाथ) से धो देवें। मूत्रमार्ग के शोधन हेतु रोगी को पेट भर कर गुड़ खिलाये। गरम पानी के टब मे से रोगी को निकाल कर व्रण पर मधु और घी का लेप करे और पंचतृण मूल, गोखरू, कूष्मांड, पाषाण भेद आदि मूत्र शोधन द्रव्यों से सिद्ध घृत से मिश्रित यवागू को तीन दिन तक प्रातः सायं खिलावे। तदनन्तर १० दिन तक प्रचुर गुड़ वाले दूध के साथ गला हुआ कोमल भात थोड़ा सा देवें जिससे मूत्र और रक्त का शोधन होवे और व्रण में आर्द्रता आये। इसके बाद अनार आदि खट्टे फल और जांगल मांस रस खाने को देवे। फिर दस दिन तक द्रव स्वेद या स्नेह से स्वेद देवे। व्रण को बरगद, पीपल, पिलखन, गूलर आदि क्षीरी वृक्षों के कषाय से धोवे। लोध्र मजीठ, कमल के कल्क को व्रण पर लेपन करे। इन्ही में हल्दी मिलाकर तैल या घृत सिद्ध करके व्रण पर अभ्यङ्ग करे। यदि रक्त जम गया हो तो उत्तर बस्ति देवे सात दिन पश्चात् जब मूत्र स्वाभाविक रूप में आने लगे तब व्रण की कही गई विधि से जलाये। मूत्र के अपने मार्ग से आने पर मधुर एवं कषाय गण के द्रव्यों से आस्थापन, अनुवासन और उत्तर वस्ति देवें। जो शुक्राश्मरी या शर्करा स्वतः ही मूत्रमार्ग में आकर रुक जाये उसे मूत्रस्रोत में से निकाल दें। यदि इस तरह से स्वतः आकर रुकी अश्मरी या शर्करा प्रयास करने पर भी बाहर न आये तो नाड़ी को चीर कर शस्त्र से या बडिश यन्त्र से निकालें।

सावधानी—१ व्रण के भर जाने पर भी कम से कम १ वर्ष तक तीक्ष्ण व्यायाम, घोड़ा आदि पर चढ़ना, झटकेदार सवारी पर चढ़ना वर्जित है।

२. मूत्र संस्थान से सम्बन्धित आठ मर्म (सेवनी, शुक्रवहा मुष्क, गुदा, मूत्र प्रसेक, मूत्रवहस्रोत, योनि और बस्ति) स्थानों को बचा कर शस्त्र कर्म करे। मूत्रवहस्रोत के कटने से वस्ति मूत्र पूरित हो जाती है तथा मृत्यु हो जाती है। शुक्रवहस्रोत के कटने से नपुंसकता या मृत्यु होती है। मुष्क स्रोत कटने से ध्वजभंग होता है। मूत्रप्रसेक मे आघात के कारण मूत्र निकलता रहता है। सेवनी और योनि के कटने से वेदना होती है।

★ ★ ★

※ पृष्ठ २७१ का शेषांश ※

(७) वरुणार्थ लौह—वरुण की छाल और आंवला का चूर्ण २-२ पल, धाय के फूल ४ तोला, हरड़ का चूर्ण लौहभस्म और अभ्रक भस्म प्रत्येक १-१ तोला अच्छी तरह खरल कर रखलें। मात्रा २ माशे शहद से प्रयोग करने पर विशेष लाभ करता है।

अनुभूत प्रयोग—

(१) त्रिविक्रम रस २५० मि. ग्राम, हजरुलयहूद भस्म ५ ग्राम, स्वर्ण वङ्ग २५ मि० ग्राम, श्वेतपर्पटी ५० मि० ग्राम शुद्ध स्फटिक २५ मि ग्रा०। ऐसी ही मात्रा सुबह दुपहर, शाम प्रतिदिन पानी या शहद से दें। अवश्य ही लाभ होगा।

२—श्वेत पर्पटी ५०० मि० ग्राम, बेरपत्थर ५०० मि० ग्राम, पुर्ननवामण्डूर १ ग्राम, प्रवाल भस्म ५०० मि० ग्राम, शुद्ध शिलाजत्वादि लौह ५०० मि ग्राम, १×३ मात्रा सुबह दुपहर शाम अनुपान शहद से।

(३) गोक्षुरादिगुग्गुल १-१ गोली सुबह दुपहर सायं दुग्धानुपान से सेवन करे। अवश्य ही लाभ होगा।

पथ्य वस्ति कर्म, वमन, विरेचन, लंघन, जल में क्रीडा जौ, पुराना चावल, गोक्षुर, अदरख आदि।

अपथ्य—मूत्र शुक्र वेगों का धारण, अम्ल रूक्ष आदि चीजों का सेवन न करें।

मूत्राशय अश्मरी

डा० विजयकुमार वार्ष्णेय बी०ए०एम०एस०
कटरा बाजार, सहावर-टाउन (एटा) उ प्र०

डा० विजय कुमार वार्ष्णेय आयुर्वेद के उदीयमान लेखक हैं, आपने प्रस्तुत विशेषांक के लिए पांच लेख प्रेषित कर हमें सहयोग दिया है। आप राजकीय आयुर्वेद कालेज पीलीभीत के उपाइान हैं तथा वहां से B. A.-M. S. उत्तीर्ण कर चिकित्सा के क्षेत्र में 'कामयेदुःखतप्तनां प्राणिनामाति नाशनम्' की भावना को लेकर उतरे हैं। आपकी लेखन शैली को देखते हुए लगता है कि आप अति शीघ्र ही लेखकों की गण्यमान्य मण्डली में अपना श्रेष्ठ स्थान बना लेंगे। धन्वन्तरि को आप से बड़ी बड़ी आशाएं हैं।

—विशेष सम्पादक

मूत्राशय में पथरी के निर्माण होने को मूत्राशयाश्मरी (Vesical Calculus) कहते हैं।

रोग का नाम तथा पर्याय - संस्कृत नाम-अश्मरी, हिन्दी का नाम—पथरी। लेटिन का नाम—कैलकूलस (Calculus), अंग्रेजी का नाम-स्टोन (Stone),

सम्प्राप्ति—मूत्र में तरलता की कमी एवं घनता की वृद्धि ही अश्मरी का प्रधान हेतु है। सात्मीकरण की विकृति से यूरिक एसिड तथा फास्फेट जैसे पदार्थों की प्रचुरता होने पर उसके कण धीरे-धीरे एकत्रित हो जाते हैं जो अन्ततोगत्वा अश्मरी का रूप धारण करते हैं।

अश्मरी निर्माण क्रिया—

वस्तिगत वायु जब सशुक्र या सपित्त मूत्र को या कफ को सुखादेता है तो पित्ताशय में गोरोचन की क्रमशः उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार अश्मरी भी मूत्राशय में उत्पन्न होती है। (चरक)
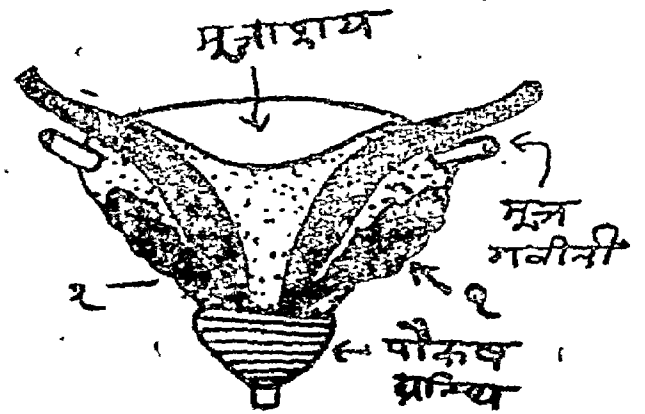
चित्र—१०२

उदाहरणः— महर्षि सुश्रुत ने जल का उदाहरण लिया है जैसे स्वच्छ जल जब कालान्तर में सूख जाता है उसमें उपस्थित पदार्थों के कारण वह कीचड़ हो जाता है उसी प्रकार अश्मरी का निर्माण होता है। इसी प्रकार जब मूत्र में यूरिक एसिड, यूरेट्स, आक्जेलेट आदि निश्चित परिणाम से जब अधिक होते हैं तो वृक्क गवीनी या मूत्राशय में कण

के रूप में बैठ जाते हैं। यही कण आपस में मिलकर बड़ा आकार बना लेता है जिसे अश्मरी कहते हैं।

अश्मरी रचना—

यदि अश्मरी को मध्य से दो भागों से बांटा जाय तो उसके तीन भाग होते हैं। १–न्यूक्लियस २–मुख्यभाग (बाडी) ३–क्रस्ट।

(१) अश्मरी निर्माण किसी पदार्थ को केन्द्र मानकर होता है जैसे श्लेष्मा, जमा हुआ रक्त, पूय, मूत्र द्वारा वृक्क से सूक्ष्म वृक्काश्मरी के आने से आदि पदार्थ केन्द्र बन जाते हैं।

(२) अश्मरी जिस पदार्थ की होती है उसी पदार्थ की मुख्य पदार्थ (बाडी) भी होती है। जैसे—यूरिक एसिड, आक्जेलेट।

(३) इसमें भिन्न-भिन्न मात्रा में फास्फेट पदार्थ होते हैं।

अश्मरी संख्या—

प्राय: एक ही अश्मरी पाई जाती है। कभी-कभी एक साथ अनेकों छोटी-छोटी सैकड़ों की संख्या में होती हैं। अधिक अश्मरी जब होती हैं तो एक साथ टकराने से मालूम हो जाती हैं। कई बार जब अश्मरी दीवाल के पास होती है तब कला से आच्छादित हो जाती है तब उसे आवेष्ठित अश्मरी कहते हैं।

प्रकार—यह चार प्रकार की होती हैं जो निम्न हैं—

आयुर्वेद मतानुसार —	अर्वाचीन मतानुसार
(१) वातिक अश्मरी	(1) Oxalate Calculus
(२) पैत्तिक अश्मरी	(2) Uric Acid Calculus
(३) श्लैष्मिक अश्मरी	(3) Phosphatic Calculus
(४) शुक्राश्मरी	(4) Spermatic Calculus

कारण—

(१) समय-समय पर पंचकर्मों के द्वारा शरीर की शुद्धि न करना क्योंकि पंचकर्म के द्वारा शुद्धि करने से अश्मरी निर्माण के अनुकूल पदार्थ बाहर निकल जाते हैं।

(२) मिथ्या आहार विहार—इस प्रकार का आहार-विहार सेवन करना जो अश्मरी निर्माण में सहायक हो।

(३) विटामिन 'ए' रहित पदार्थों को खाना—क्योंकि यही कारण है कि यूरोप आदि देशों में अश्मरी के रोगी कम हैं। एशिया में आज भी निर्धनता व्याप्त है जिससे भोजन के ठीक न मिलने से अश्मरी के रोगी अधिक होते हैं।

(४) जल, अधिक या कम सेवन—कैल्शियम, कैल्शियम कार्बोनेट आदि चूने के लवणों की अधिकता वाले जल का अधिक सेवन अधिक गर्मी में कार्य करना, जल कम पीना चाय आदि मादक द्रव्य का अधिक पीना आदि कारण हैं।

(५) पुरुषों में अधिक वैसीकल कैलकुलस बच्चों को प्राय: अधिक होती है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक होती है। इसका कारण स्त्रियों के मूत्रप्रसेक नलिका का अधिक चौड़ा होना शीतल देशों की अपेक्षा उष्ण देशों में अधिक पाये जाते हैं।

पूर्व रूप—अश्मरी के पूर्व रूप में बस्ति पीड़ा, अरोचक, मूत्रकृच्छ होता है। जिस व्यक्ति के अश्मरी होती है उसका मूत्र मस्त बकरे की सी गन्ध वाला होता है।

लक्षण—

प्राय: मूत्राशय अश्मरी के सामान्य लक्षण भिन्न-भिन्न रोगी में भिन्न-भिन्न लक्षण पाये जाते हैं।

वेदना—अश्मरी का सर्व प्रमुख लक्षण वेदना है विशेषकर मूत्रत्याग के शीघ्र बाद ही शिश्न के अग्र भाग पर वेदना होती है। (देखें चित्र १०१)

मूत्र में रक्त मिलना (रक्त मूत्रता)—भी होती है रुधिर मिला होने के कारण मूत्र का रंग बदला होता है।

रोगी उस बात को बताता है कि मूत्र त्याग के समय मूत्राशय के रिक्त होने के पूर्व ही मूत्र सहसा रुक जाता है। यदि वह शरीर स्थिति को बदले तो पुन: मूत्र स्राव होने लगता है।

यदि मूत्र मार्ग में अश्मरी अटक जाती है तो वेदना होती है तथा उसके इधर उधर चले जाने पर अथवा मूत्र के साथ निकल जाने पर शांत हो जाती है।

मूत्र रुक-रुक कर आना—जब अश्मरी से अवरोध उत्पन्न होता है तो मूत्र धारा विदीर्ण होती है और मूत्र थोड़ा थोड़ा करके आता है। यह अश्मरी का निश्चित लक्षण है।

मूत्र द्वारा अश्मरी के छोटे-छोटे टुकड़े मूत्र के साथ आना।

वातादि भेद से लक्षण—

(१) वातिक—अश्मरी की आकृति घनी एवं खर, विषम, कंटकित होती है। कंटकित होने से रुधिर स्राव अधिक होता है। इसमें वेदना अधिक होती है।

(२) पैत्तिक—अश्मरी की आकृति लम्बाई लिये हुए कुछ गोल होती है। मधु के रंग की तरह होती है। इससे वस्ति में दाह चोष आदि पैत्तिक लक्षण होते हैं।

(३) श्लैष्मिक—अश्मरी की आकृति बड़ी श्लक्ष्ण, बड़े आकार की और श्वेत रङ्ग की एवं मुर्गी के अण्डे के सदृश्य होती है। यह बहुत कम पाई जाती है।

(४) शुक्राश्मरी—केवल युवावस्था में होती है जो दबाने पर विलीन हो जाती है। इससे मूत्रकृच्छ्रता Pain in bladder, orchitis हो जाता है।

रोग निर्णय—

निम्न उपाय करें—

(१) ध्वनि परीक्षा—इस परीक्षा के लिए रोगी को लिटाकर सिर नीचे की ओर तथा नितम्ब में तकिया लगा- ऊंचा कर मूत्राशय की दीवाल खाली होने से चिपकी न रहे इसको दूर करने के लिये कुछ पानी भरदें, तत्पश्चात् ध्वनि शलाका विसंक्रमित करके मूत्र मार्ग में डाले तथा उसको इधर नीचे घुमायें। शलाका जब अश्मरी से टकरायेगी तो धातवीय (Metalic) ध्वनि उत्पन्न होगी।

(२) एक्सरे के द्वारा इसमें ९५ % सफलता मिलती है।

(३) सिस्टोस्कोपी इसके द्वारा मूत्राशय में अश्मरी को देखा जाता है।

(४) उदर की ओर से स्पर्श परीक्षा करते समय गुद द्वारा स्पर्श किया जाता है।

(५) मूत्र परीक्षा से रक्त, पस या भिन्न-भिन्न प्रकार के कण मिलते हैं।

चिकित्सा—

अश्मरी की चिकित्सा दो प्रकार की जा सकती है— (१) औषधि चिकित्सा (२) शस्त्र कर्म द्वारा

चिकित्सा सूत्र—

वातज अश्मरी—स्नेह पान उचित

पित्त प्रधान में—त्रिदोषज चिकित्सा प्रधान

कफज—वातज-अश्मरी स्नेहन, स्वेदन, निरूहण, उत्तरवस्ति, पुल्टिस अभ्यङ्ग उचित है

बड़ी अश्मरी—शस्त्र कर्म के द्वारा दूर होती है।

चिकित्सा—

(१) शुंठियादि क्वाथ—सोंठ के मन्दोष्ण क्वाथ में थोड़ा सा शहद मिलाकर देने पर लाभ करता है।

(२) एलादि चूर्ण—छोटी इलायची के दाने, पाषाण भेद, शुद्ध शिलाजीत, छोटी पिप्पली इन्हें समप्रमाण में लेकर चूर्ण करले। इस चूर्ण को १ से २ माशे तक लेकर २ तोला भर कच्चे चावल के धोवन के साथ पिये। लाभ होता है।

(३) गोक्षुर बीज चूर्ण—गोखरू के बीजों का चूर्ण ४ माशे शहद में मिश्रित कर बकरी के दुग्ध अनुपान करने से लाभ होता है।

(४) वरुणादि क्वाथ—वरुण की छाल, सोंठ, गोखरू के बीज, मूसली, कुलथी, कुशा की जड़, काश की जड़, ऊख की जड़, शरमूल और दर्भ मूल इन सबको समप्रमाण में लेकर कूटकर २ तोला लेकर ३२ तोला जल में क्वाथ कर १/८ भाग शेष रहने पर २ तोला शक्कर ४ रत्ती यवक्षार मिलाकर देने से लाभ होता है।

(५) पाषाण भिन्नो रस—शुद्ध पारा १ तोला, शुद्ध गंधक २ तोला, शुद्ध शिलाजीत १ पल लेकर।

प्रथम पारद और गंधक की कज्जली बनाकर उसमें शु० शिलाजीत मिलाकर अच्छी प्रकार घोटलें। उसके बाद श्वेत पुनर्नवा के स्वरस या क्वाथ वासा के पत्तों का स्वरस तथा श्वेत अपराजिता का स्वरस के साथ पृथक-पृथक तीन दिन तक भावितकर गोला बनाकर शरावसम्पुट में बन्द कर बालुका यन्त्र में बन्दकर लघुपुट की आंच देकर सिद्ध कर दें, फिर खरल में पीस कर रखलें, इस रस को २ रत्ती लेकर दें, दूध या कुलथी के क्वाथ से लाभ होता है।

(६) पाषाणवज्रो रस—शुद्ध पारद १ पल, शुद्ध गंधक २ पल लेकर कज्जली बनाकर श्वेतपुनर्नवा की जड़ के क्वाथ के साथ एक दिन खरल करके शराव सम्पुट में बन्द कर 'भूधर यन्त्र' में तीन प्रहर तक पाक करके, स्वांग-शीतल सम्पुट से सिद्ध कर खरल करें। इस रस को १ रत्ती लेकर १ मासे गुड़ मिलाकर कुलथी क्वाथ से अनुपान करने पर लाभ होता है।

—शेषांश पृष्ठ ६६८ पर देखें।

मूत्राशयशोथ

विशेष सम्पादक—कविराज श्री गिरिधारीलाल मिश्र ए., एम. बी. एस., आयु० वाचस्पति
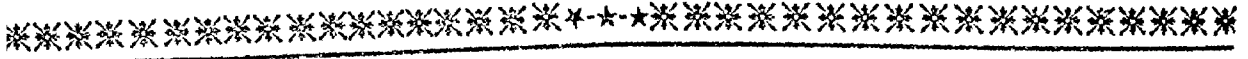
मूत्राशय शोथ जीवन के लिए खतरनाक तथा बहुत कष्ट दायक रोग है। वस्ति (मूत्राशय) में चाहे कितने ही जीवाणुओं से युक्त या कैसा ही मूत्र बहे कोई भी विकार तब
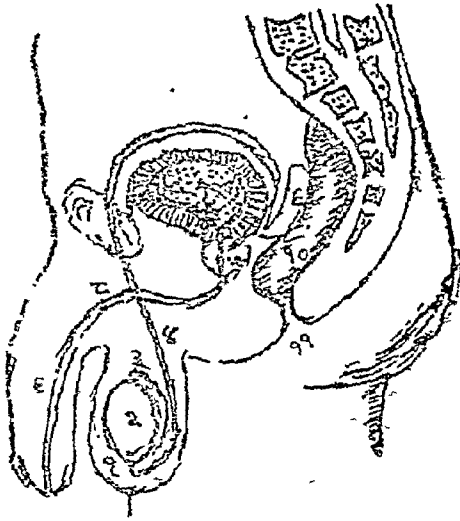
चित्र—१०३

तक नहीं होता जब तक कि मूत्राशय पर कोई आघात (Trauma) न लगे या मूत्रप्रवाह बन्द न हो जाय। मूत्राशय में पूयजनक जीवाणु संक्रमण के प्रतिरोध की बहुत शक्ति होती है इस कारण मूत्राशय शोथ निम्न में से किसी प्रवर्तक कारण पर निर्भर करता है—

कारण—आरम्भ से ही मूत्राशय में संक्रमण कम होता है तथा इसका कारण मूत्राशय में कुछ मूत्र का बचा रहना व मूत्राशय का सम्पूर्णतः खाली न होना है।

(१) मूत्राशय की विपुटी (मूत्राशय का मुड़ जाना-वक्रता Diverticulum) मूत्रमार्ग के निकुंचन, पौरुष ग्रन्थि वृद्धि, वृद्धावस्था में मूत्राशय की निर्बलता, विभिन्न स्नायु नाड़ी विकार जिनसे मूत्राशय अकर्मण्य हो मूत्र को रोकना है। स्त्रियों में सगर्भता, गर्भाशय भ्रंश और सिस्टोसील के कारण मूत्र रुका रह सकता है तथा मूत्र प्रवाह के लिए कैथिटर डालने से ही संक्रमण सहज में पहुंच जाता है।

(२) आगन्तुक शल्य—जैसे मूत्राशय की या बाहर से प्रविष्ट वस्तुयें (कैथिटर) आदि
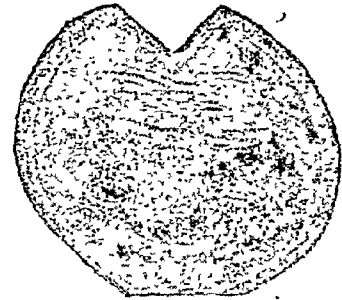
चित्र—१०४

मूत्राशय का अर्बुद—इससे संक्रमित होकर एक छोटा अर्बुद और उत्पन्न हो रहा है।

(३) मूत्राशय के अर्बुद पैपीलोमा, कारसीनोमा विशेष कर अर्बुद में परिगलन और व्रणोत्पत्ति होना।

(४) मूत्राशय शोथ प्रायः किसी न किसी प्रकार का जीवाणु मिलता है पर मुख्यतः

(क) मूत्र के अम्ल होने पर—वैसिलस कोलाई, क्षय-रोग का और गोनो कोकाई होता है।

(ख) स्वाभाविक मूत्र में वैसीलस कोलाई और स्ट्रेप्टोकोकाई तथा—

(ग) क्षारीय मूत्र में स्टैफिलोकोकाई और—वैसीलस प्रोटियस (B. Proteus) होता है।

(५) समीपवर्ती अवयवों से विशेषतः गर्भाशय ग्रीवा शोथ से, बृहदान्त्र या गुदा में नई वृद्धि होने से, गुदा में भगन्दर होने से भी संक्रमण सम्भव है।

रोग प्रकार - मूत्राशय शोथ मुख्यतः दो रूपों में मिलता है तीव्र और चिरकारी।

तीव्र मूत्राशय शोथ (Acute Cystits)—मूत्र का बार-बार त्याग दर्द के साथ होता है (मूत्रं शकृन् मुञ्चति मेहते च) तथा मूत्र त्याग करने के बाद भी तुरन्त फिर मूत्र
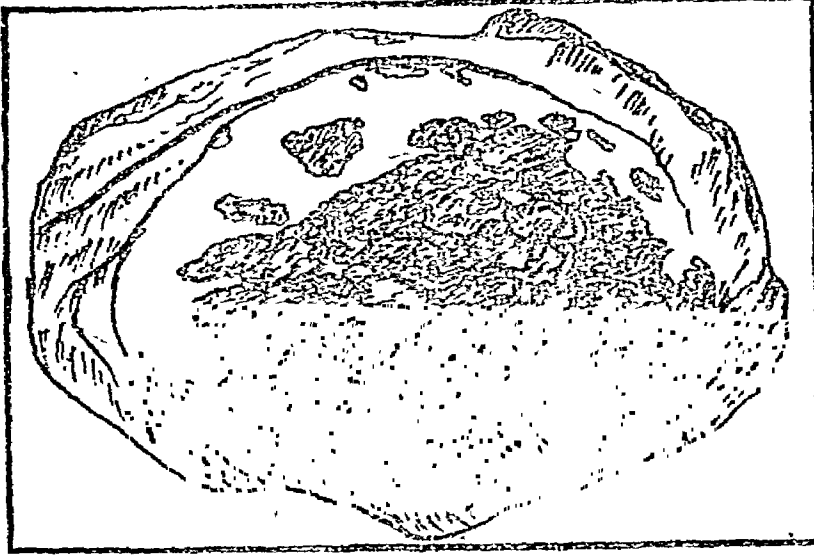
चित्र—१०५
तीव्र मूत्राशय शोथ
(रक्तस्राव से युक्त तीव्र शोथ प्रदर्शित किया है)

त्याग की इच्छा रहती है। शूल के कारण वस्ति के त्रिकोण (Trigone) में अधिरक्तता और व्रणशोथ होता है। मूत्र में अल्पमात्रा में पूय आती है तथा रोग की उग्रता में मूत्र में रक्त भी आता है। पहले मूत्र अम्ल रहता है परन्तु जल्दी ही क्षारीय हो जाता है। नाभि के निचले भाग में दर्द तथा स्पर्श की असह्यता रहती है। यदि मूत्राशय की शोथ का कारण अश्मरी हो तो दर्द शांत नहीं होता अपितु मूत्र त्याग के पीछे और भी तेज हो जाता है क्योंकि मूत्राशय की भित्तियां सूजी होने के कारण सीधे रूप में अश्मरी के सम्पर्क में आती हैं। मूत्रमार्ग के ह्रस्व होने के कारण यह रोग स्त्रियों में अधिक होता है। साधारणतया इसका कारण एस्कीरिया कोलाई होता है। स्ट्रिप्टो कोकस फिकेलिस स्टेफिलोकोकस ओरियस, प्रोटियस वलेरिस स्यूडोमोनास, पायोसीनिया—इन सबसे रोग उत्पन्न हो सकता है। वस्ति की श्लेष्मकला लाल हो जाती है तथा शोथ के कारण फूल जाती है तथा उसमें स्थान स्थान पर व्रण बन जाते हैं। शरीर भी अस्वस्थ रहता है। इस रोग में ज्वर भी हो जाता है।

जीर्ण मूत्राशय शोथ (Chronic Cystitis)—तीव्र-वृक्कशोथ व तीव्रमूत्राशय शोथ से भी हो सकता है अथवा स्वतः शनैः-शनैः प्रारम्भ होता है। प्रायः यह पूयजनक जीवाणु जन्य होता है और अवरोध अश्मरी, अर्बुद विपुटी अथवा शल्य से सम्बन्धित रहता है तीव्रमूत्राशयशोथ से लक्षण मृदु होते हैं। मूत्र में पूय बड़ी मात्रा में आती है और मूत्र त्याग की अधिकता से मूत्रमार्ग और मूत्राधार में वेदना, स्वास्थ्य का ह्रास आदि लक्षण होते हैं। मूत्रक्षारीय होता है इसमें श्लेष्मा (Mucus) बड़ी मात्रा में रज्जु रूप होता है। मूत्रक्षारीय होता है जो स्ट्रिप्टो स्ट्रेफिलोकाई प्रोटियस वल्गेरिस के कारण होता है तथा ऐस्कीरिया कोलाई संक्रमण होने पर मूत्र अम्लीय होता है। दर्द तथा अन्य लक्षण तीव्र मूत्राशयशोथ की अपेक्षा कम होते हैं।

सापेक्ष निदान (Differentiul Diagaosis)—मूत्राशय शोथ के अन्य स्थानीय रोगों के लक्षण भी मिलते हैं अतः विभेदक परीक्षा द्वारा निदान करना चाहिए—

(क) मधुमेह में बहुमूत्रता होती है पर बहुमूत्रता के साथ वेदना नहीं होती।

(ख) पौरुष ग्रन्थि वृद्धि में रात्रि में मूत्र बार-बार होता है पर उपद्रव न होने पर मूत्र स्वच्छ और पूय कोशिकाओं से रहित होता है।

(ग) मूत्राशय अश्मरी से वेदना और मुहुर्मुहु मूत्र त्याग होता है किन्तु उपद्रव रहित रोगियों में मूत्र निर्जीवाणुक होता है। मूत्राशय में अश्मरी होने से उत्पन्न मूत्राशय शोथ में सामान्य मूत्राशयशोथ के लक्षणों के साथ में मूत्र त्याग की समाप्ति पर बहुत तीव्र वेदना होती है जो कि पीछे कुछ समय तक रहती है। बस पर चढ़ने या ऊँचा चढ़ने पर दर्द बढ़ जाता है (धावन लंघन प्लावन, पृष्ठयानाध्वगमनैश्च रक्त वेदनं भवति) मूत्र में प्रायः रक्त आता है (क्षोभात्क्षते मूत्रयतीह सास्त्रं) कई रोगियों में मूत्र इतना अल्प आता है कि अणुवीक्षण यन्त्र से पता चलता है।

(घ) मूत्राशय में नई वृद्धि या व्रण से उत्पन्न मूत्राशय शोथ में विटप भाग में दर्द होता है। मूत्र त्याग करने में और चलने फिरने से इस दर्द का कोई सम्बन्ध नहीं होता। मूत्र में कैंसर के सैल्स व क्षय के जीवाणु होने से सिस्टस्कोप या रेडियोग्राफ से निर्णय किया जाता है।

चिकित्सा—यथासम्भव कारण का पता लगाकर उसको दूर करना चाहिए। रोगी को शैय्या विश्राम तथा तरल
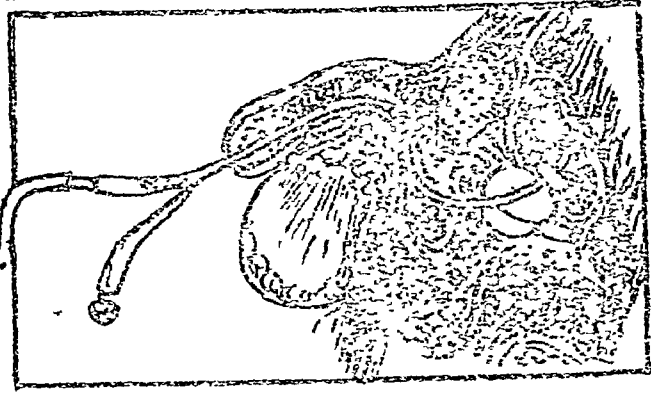
चित्र १०६—मूत्राशय में स्वयं ही स्थिर रहने वाला कैथीटर इस प्रकार लगा रहता है।

पदार्थ यव जल (बार्ली वाटर) यवमण्ड देना चाहिए। मूत्र संवर्धन (Urine Culture) और सुग्राहिता की जांच कराकर कारण के अनुसार चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। मूत्रावरोध या अन्य प्रवर्तक कारणों को दूर करना चाहिए। मूत्र के अम्लिक होने पर क्षारीय मिश्रण (Alkaline Mixture) व आयुर्वेदीय यवक्षार पानी से दिया जाता है। ऐस्कीरिया कोलाई के लिये सल्फा-डियाडीन, स्ट्रिप्टोमायसिन अथवा फ्यूर'डैन्टिन दिये जाते हैं। कोकल संक्रमण में पैनीसीलीन, हैक्जेमीन या सोडियम ऐसिड फोस्फेट देते हैं। वैसीलस कोलाई, वैसीलस प्रोटिस वल्गेरिस पर क्लोरोमायसीटीन देने का तथा एकीफ्लोविन से धोने का अच्छा प्रभाव होता है। दर्द के लिए मार्फिया की वर्ती का प्रयोग व गर्म पानी में बिठाना चाहिए मर्करी औक्जीसायनाईड १/४००० से १/८००० से धोवें पीछे लवण के पानी से धोवें। मूत्राशय को गर्म पानी में बोरिक एसिड से धोना भी उत्तम है। आचार्य चरक व वाग्भट्ट ने भी वस्ति चिकित्सा देने का निर्देश दिया है—

क्षीरेण वस्ति मधुरौषधैः स्यम्तैलेन वा स्वादुफलोत्थितेन

—चरक

वस्तिकर्मचाभीक्ष्णं विशेषेणोत्तर वस्तिः—अष्टाङ्ग संग्रह

आयुर्वेद में—मूत्राशयशोथ की अवस्था का समावेश मूत्रकृच्छ्र या मूत्राघात अवस्था में होता है। वेदनाशमनार्थ वातहर तेल अभ्यंग, स्वेद और उपनाह करना चाहिए। दशमूल, एरण्ड, बला, पुनर्नवा, शतावरी कुलथी, जौ इनको पीने के लिये देने का विधान है। मूत्र में जलन होने पर तृणपंचमूल, गोखरू, शतावरी, विदारी, कसेरु का क्वाथ, मधु और शर्करा के साथ देते हैं। मूत्र प्रवर्तन के लिए यवक्षार, श्वेतपर्पटी सौवर्चल के साथ या इलायची बीज के साथ प्रसन्ना व सुरा से देने का विधान है—क्षीराम्बुमद्येक्षुरसैः। खीरे ककड़ी के बीज इनको चावलों के पानी से पिलावें।

कुशावलेह, गोक्षुराद्यवलेह, गोक्षुरादि गुग्गुल, वज्रक्षार, श्वेतपर्पटी, विदारीघृत वृहद्वातचिन्तामणि आदि का अन्तः प्रयोग तथा उशीरादि तेल नाभि के नीचे सारे भाग में सामने और पीछे मलना चाहिए। दूध का पथ्य दें।

मूत्राशय का यक्ष्मा (Tuberculosis of Urinary Bladder)

मूत्राशय का यक्ष्मा सदैव मूत्रपथ के अन्य रोगों के संक्रमण द्वारा होता है। पुरुषों में जननेन्द्रियों, पौरुषग्रन्थि और वृक्क संक्रमण से होता है। सर्वप्रथम गवीनी द्वार पर शोथ होकर फिर वहां यक्ष्मिकायें (Tubercle) बनती हैं जिनके फूटने से व्रण बनते हैं। क्षतजन्य गवीनीद्वार संकुचन से गोल्फीछिद्र (Golfhole) गवीनी द्वार बनता है। दीर्घकालिक रोगियों में मूत्राशय भित्ति की तन्तुमयता (Fibrosis) होने से मूत्राशय की मूत्रधारण क्षमता घट जाती है।

लक्षण—मूत्राशय में क्षोभ (Irritation) से मूत्रत्याग आवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। आगे चलकर वेदना तथा मूत्रकृच्छ्रता भी होने लगती है।

यक्ष्मा के अन्य लक्षण—शरीरभारक्षय, रात्रिस्वेद और ज्वर आदि लक्षण प्रकट होते हैं। मूत्र में क्षय के जीवाणु न मिलने पर भी गिनीपिग परीक्षण धनात्मक होते हैं।

चिकित्सा—प्रतिक्षय रसायनी चिकित्सा लाभदायक है। प्राथमिक यक्ष्मा क्षत का अपहरण क्षय ग्रस्त वृक्क का जिस तरह वृक्कोच्छेदन किया जाता है उसी तरह अपहरण आवश्यक है। मूत्राशय में धारिता में विशेष ह्रास पर शेषांत्र मूत्राशय प्लास्टी (Ileocystoplasty) करनी पड़ती है।
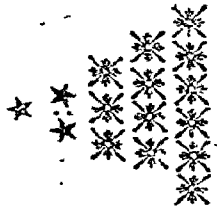
मूत्रमार्ग का निकोचन (Stricture of Ur

— विशेष-सम्पादक
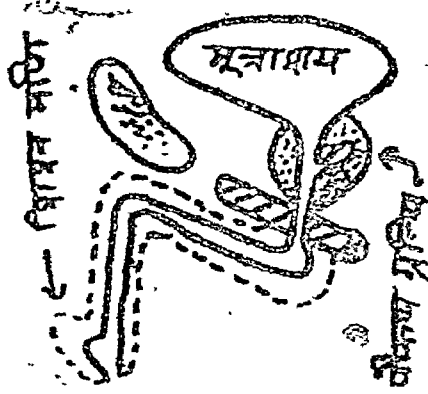
चित्र — १०७

(१) जन्मजात सहज निकोचन (Congenial Stricture) । यह पौरुषग्रंथिस्थ मूत्रमार्ग में कपाटिकाओं की उपस्थिति के कारण हो सकता है ।

(२) अभिघातज निकोचन (Traumatic Stricture) यह अधिकतर कन्द्रीय मूत्रमार्ग में होता है। निकोचन प्रायः एक होता है ।

चित्र — १०८

सड़क पर आघात लगने की एक विशिष्ट स्थिति जिसके कारण कि मूत्र प्रसेकनलिका का विदरण प्रायः चित्र क्रमांक १०९ के स्थलों पर होता है और बाद में व्रण भरने पर नलिका में निकोचन चित्र क्रमांक ११२ के अनुसार हो जाता है ।

(३) गोनोमेह जन्य या शोथज निकोचन (cocal inflammatory)—केन्द्रीय मूत्रमार्ग में स्थित होते हैं । केन्द्र सबसे निचला भाग होने के कारण वहां पूय एकत्र हो जाती है । शोथज निकोचन वलयाकार, लगाम के समान होते हैं । यह पूर्ण निकोचन भी हो सकता है और अपूर्ण निकोचन भी पूर्ण निकोचन द्वारा मूत्र नहीं निकलता, अपूर्ण होने पर निकल सकता है ।
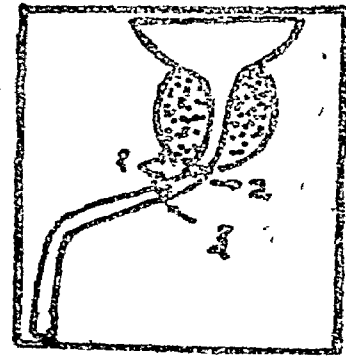
चित्र — १०९

मूत्र प्रसेक नलिका के विदर के सर्वाधिक सम्भावित .
१. त्रिकोणीय बन्धन, २. श्रोणि के अन्दर विदर
३. शिश्न मूल स्थल

लक्षण—मूत्र त्याग में कठिनाई होती है जो धीरे बढ़ती जाती है । मूत्र की धार धीरे-धीरे पतली हो जाती है, दो धाराएं निकल सकती हैं । मूत्र त्याग समय बल लगाना पड़ता है । मूत्र त्याग के बाद बूंद-बूंद टपकती रहती हैं ।

निदान—मूत्र त्याग में कठिनाई और मूत्र की धार के पतले हो जाने का इतिवृत्त निदान में सहायक हैं एक्सरे द्वारा मूत्रमार्ग के चित्रण से निकोचन का ... हो जाता है ।

चिकित्सा—बूजियों से विस्फारण (Dilatation with bougies)—ही मुख्य चिकित्सा है । कूटमार्ग (False Passage) न बन जाय एतदर्थ मध्यम ...
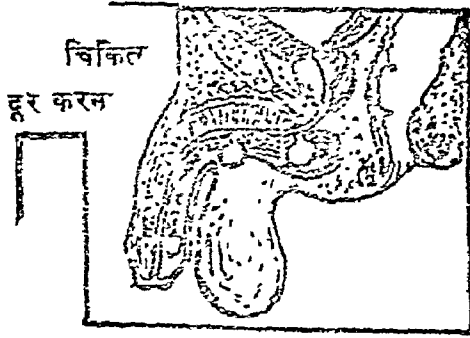
चित्र—११०
त्रप्रसेक नलिका के समीपस्थ प्रायः होने वाली विद्रधियां जोकि मूत्रप्रसेक नलिका में फूटने तथा इनके व्रणपूरित होने के पश्चात् नलिका में निकोच उत्पन्न हो जाते हैं।

चित्र—११२
मूत्रप्रसेक नलिका दर्शक यन्त्र द्वारा देखी गई मूत्रमार्गनिकोचन की विभिन्न स्थितियां
अ बारीक निकोचन ब—सामान्य प्रकार का संकोच स—ऊपर की ओर का लटकने वाला संकोच द—निकोचन के साथ एक और कृत्रिमनलिका बन गयी है जो नं०१ से प्रदर्शित है।

सुजाक के कीटाणु
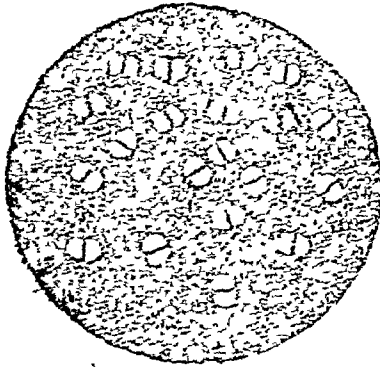
इनके कारण पूयमेह उत्पन्न होकर पश्चात् मूत्र-मार्ग निकोचन हो जाता है।

बूजियों से प्रारम्भ करते या पहले पतली बूजी प्रविष्ट जाती है। मूत्रमार्गदर्शी (Urethroscope) द्वारा ली बूजी प्रविष्ट की जासकती है। निकोचन का विस्फारण ा बल लगाये धीरे-२ करना चाहिए। क्योंकि उद्देश्य कोचन को चौड़ा करने का है न कि उसको फाड़ देने । प्रत्येक विस्फारण के बाद कैथिटर, ज्वर को रोकने लिए पेनिसिलिन या स्ट्रिप्टोमाइसिन का इन्जेक्शन ा देना उचित है।

उच्छेदन—लघु निकोचन का उच्छेदन करने के बाद मार्ग का पुनर्निर्माण सम्भव है।

आभ्यन्तर मूत्रमार्ग छेदन (Internal Urethrotomy)—यूरेथ्रोटोम यन्त्र से कड़े और नम्य निकोचन को विभक्त कर पश्चात् बूजियों से विस्फारण करें।

बाह्य मूत्रमार्ग छेदन (External Urethrotomy)—व्हीलहाउस का शल्यकर्म किया जाता है जिसमें निकोचन को मूलाधार में बाहर से विभक्त किया जाता है और कणिकाओं से उसका आरोहन होता है।

जोहनसन का मूत्रमार्ग संधान या प्लास्टी—निकोचन के विस्तृत होने पर यह उपयुक्त शल्यकर्म है। मूत्रमार्ग की अभ्युदर भित्ति को निकोचन पर—तथा उसके कुछ आगे और पीछे तक विभक्त कर दिया जाता है और उसकी त्वचा को सावधानी से सी दिया जाता है जिससे अधोमूत्र मार्गता की दशा उत्पन्न हो सकती है। तीनमास बाद डैनिस ब्राउन की अधोमूत्रमार्गता के सुधार की विधि से मूत्रमार्ग का पुनर्निर्माण करना होता है। इसके परिणाम उत्तम होते हैं और रोगी पुनः पुनः विस्फारण से बच जाता है।

(शल्य विज्ञान की पाठ्य पुस्तक से साभार)

मूत्रत्याग की असंगतियाँ......

आयुर्वेद वाचस्पति कविराज डा० गिरिधारीलाल मिश्र ए०एम०बी०एस०, साहित्यायुर्वेद रत्न
विशेष सम्पादक—'धन्वन्तरि मूत्र रोग चिकित्सांक'
अधीक्षक चिकित्सक—केदारमल स्मारक आयुर्वेदिक धर्मार्थ चिकित्सालय, तेजपुर (असम)

मूत्राशय मांसपेशीकृत अङ्ग है जो मूत्र संग्रह का काम करता है। इसमें ४००-५०० मि.लि तक मूत्र को धारण करने की क्षमता होती हैं। मूत्र त्याग के पश्चात् रिक्त हो जाने पर यह त्रिकोणाकार होता है और श्रोणि के भीतर रहता है। मूत्राशय की रचना का वर्णन प्रथम खण्ड में आ चुका है अतः पुनः विषय का पिष्टपेषण न करते हुये मूत्रत्याग की क्रिया और उसकी असंगतियों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

मूत्र त्याग क्रिया—मूत्राशय का कार्य मूत्र संग्रह करना है। मूत्राशय के भर जाने की संवेदना अभिवाही तन्त्रिकाओं द्वारा मेरुरज्जु में और वहां से मस्तिष्क में पहुंचती है। मूत्र त्याग की सुगमता न होने पर वहां से मूत्राशय के शिथिलन के लिए संवेग जाते हैं और मूत्राशय को रिक्त करने के लिए मस्तिष्क के संवेग मेरुरज्जु में होते हुए परानुकम्पी तन्त्रिकाओं में पहुँचते हैं और निस्सारक पेशी का संकोच और संवरणी का शिथिलन होने से मूत्र त्याग होता है। मूत्र त्याग एक प्रतिवर्त क्रिया है जिसका नियन्त्रण मेरुरज्जु के दूसरे, तीसरे और चौथे त्रिक खण्डांश में स्थित केन्द्र द्वारा होता है। मेरुरज्जु के आघात में यह नियन्त्रण नष्ट हो जाता है किन्तु मेरुरज्जु की स्तब्धता के अन्त होने पर त्रिक केन्द्रों द्वारा नियन्त्रण पुनः स्थापित होता है।

मूत्र त्याग की असंगतियां—

मस्तिष्क और मेरुरज्जु के कई रोगों में मूत्राशय का कार्य अस्त-व्यस्त हो जाता है। विशेषतया (१) टेबीज डार्सेलिस और प्रसृत काठिन्य में (२) तथा मेरुरज्जु के आघातों और (३) अयुत मेरुदण्ड में ऐसा होता है।

(१) प्रसृत काठिन्य में मूत्र त्याग बार-बार होता है किन्तु मूत्र त्याग प्रारम्भ करना कठिन होता है औ समाप्त करने के पश्चात् भी बूंद-बूंद निकलता रहता है

(२) मेरुरज्जु के आघातों से मूत्राशय को रिक्त कर वाली तन्त्रिकाओं का घात होता है जिससे मूत्राशय निष्क्रिय विस्फार होता है और आप्लावी मूत्र अस (Over flow Incontinence) हो जाती है।

(३) अयुक्त मेरुदण्ड से कभी कभी यही अवस्था हो

मूत्र असंयति (Incontinence of urine) कई कारण होते हैं—वृद्धों में प्रमस्तिष्क घनास्रता, मूत्र शय की संवरणी का आघात जैसाकि पुरस्थोच्छेदन पश्चात् हो जाता है। स्त्रियों में गर्भाशय भ्रंश सिस्टोसील (Cystocele), मेरुदण्ड तथा प्रसृत क। की विप्लावित दशाओं में मूत्र के अवधारण के मूत्राशय के विस्फार से भी आप्लावी मूत्र असंयति हो है जिसमें मूत्र त्याग पर नियन्त्रण नहीं रहता है। शिकायत करे कि मूत्र निरन्तर टपकता रहता है त विटप भाग के दबाने से या मूत्र शलाका के गुजरने मूत्राशय खाली दिखाई, तो वास्तविक मूत्र का न होता है और मूत्र त्याग बार बार करना पड़े, थोड़ी भी रोका न जा सके तब मूत्र का बार बार (Increased Frequency) होता है।

मूत्र का न रुकना—यह या तो वास्तविक मूत्र न रुकना होता है अथवा मूत्र का बार-बार आना होता जब मूत्र स्वयं ही बनने के साथ बूंद-बूंद टपकता रहत इसके साथ मूत्र अतिस्राव या अलीकमूत्र के न रुकने अवस्था को नहीं मिलाना चाहिए जो कि मूत्र के रुके

से मूत्राशय के अत्यधिक फैलने के कारण मूत्र का अतिस्राव होता है—

मूत्रजठर—चिरंधारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते ।
मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥

अलीक रूप में मूत्र का न रुकना (False incontinence)—इसमें मूत्राशय भरा रहता है और शलाका प्रवेश से आराम मिलता है ।

मूत्र का बार-बार आना—रोगी मूत्र को रोक सकता है परन्तु मूत्र त्याग की इच्छा बहुत प्रबल होती है तथा यह बार-बार और कई बार इतनी प्रबल होती है कि मूत्र त्याग के लिए जाते-जाते कुछ बूंद कपड़ों में निकल जाती हैं । प्रत्येक व्यक्ति का मूत्र त्याग का समय भिन्न-भिन्न होता है । साथ ही ली हुई द्रव्यों की मात्रा पर निर्भर करता है पर साधारणतया ३-४ घण्टे के पीछे मूत्र आता है । पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह समय लम्बा होता है और वे ८-१० घंटे तक मूत्र को रोक सकती हैं—

पारतन्त्र्याद वैशारकात्सततमुपचारानुरोधात्—चरक

भय से मूत्र का निकलना किसी भी प्रकार का सहसा मानसिक क्षोभ, उत्तेजना, क्रोध, भय, हंसना, खांसना भी मूत्र को प्रवृत्त कर देता है ।

मूत्र का बार-बार आना कई कारणों से होता है—सर्वप्रथम मूत्र की रात और दिन की मूत्र की मात्रा को देखना चाहिये । मधुमेह, उदकमेह, या चिरकालीन वृक्क शोथ में मूत्र के अधिक आने से मूत्र का बार-बार आना होता है । कुछ व्यक्तियों में उदकमेह, मधुमेह सामान्य रोग हैं जिनमें मूत्र बार-बार आता है पर वृद्ध व्यक्तियों में चिरकालीन वृक्क शोथ और पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि अधिक सम्भावित कारण है । पौरुषग्रन्थि की वृद्धि की ओर तब ध्यान जाता है जब रोगी को मूत्र त्याग के लिए रात में बार बार जाना पड़ता है । दिन-रात का मूत्र मापा जाये और फिर कारण समूहों पर विचार किया जावे तो निम्न कारण होते हैं—

(१) स्थानिक विक्षोभ—मूत्राशय में विक्षोभ हो जिसका कारण मूत्रग्रन्थि वृद्धि जो प्रायः वृद्धावस्था में सामान्य कारण है । वृक्क का विक्षोभ जो कि अश्मरी, क्षय वृक्क वस्ति शोथ के कारण होता है ।

(२) चिरकालीन वृक्क शोथ, व्रण होना, अर्बुद अश्मरी, औक्जेलिक एसिड का आना, गर्भाशय का दबाव मूत्राशय पर पड़ना, मूत्र में बहुत अम्लता होना ।

(३) मूत्राशय में मूत्र का घट्ट बनना, कृमि, निरुद्ध प्रकश, अर्श, भगन्दर गुदभ्रंश, वस्तिभाग की शोथ, मूत्राशय और मूत्रमार्ग के बीच में स्कन्दि (Carbuncle) प्रायः औरतों में यह कारण ध्यान में नहीं रहता ।

(४) निरन्तर बने रहने वाले कारण—इस अवस्था के साथ बहुत कम होते हैं जैसे हिस्टिरिया, कामवासना की अधिकता, जब कारण छूट भी जाते हैं तब भी कई दिनों बार-बार मूत्र त्याग की आदत बनी रहती है ।

मूत्रावधारण (Retention of urine)—इसका अमूत्रता से भेद करना चाहिए कई रोगों में जैसे—मूत्रमार्ग अश्मरी, पौरुषग्रन्थिवृद्धि, मूत्रमार्ग निकुञ्चन, अर्बुद, अङ्गघात आदि में यह उपद्रव रूप होता है तथा रोग की प्रमुख चिकित्सा होने पर यह उपद्रव स्वतः शांत हो जाता है ।

******

निशा मूत्र असंयति [शैय्या में मूत्रत्याग (Nocturnal Incontinence)]

यह अवस्था प्रायः बच्चों में मिलती है । बच्चे बहुधा रात्रि को विस्तर भिगो देते हैं । मूत्र त्याग के नियन्त्रण की शक्ति बच्चे में सामान्यतः २-२॥ वर्ष की आयु तक आ जाती है किंतु कभी-कभी ऐसा नहीं होने से बच्चा रात में विस्तर पर निद्रा में ही मूत्र त्याग करता है और यदि इसकी चिकित्सा न की जाय तो किशोरावस्था व युवावस्था तक यह स्थिति बनी रह सकती है ।

कारण—(१) बहुधा बच्चों में इसका कारण मानसिक उत्तेजना है । ऐसे बालक का मानस संस्थान कुछ निर्बल तथा विक्षोभशील होता है। इस प्रकार के बच्चे प्रायः मोटे और मन्द बुद्धि वाले होते हैं तथा अभिभावकों द्वारा दण्ड दिये जाने पर भयभीत रहते हैं और रात में मूत्र त्याग करते हैं ।

(२) उदर में कृमि हों तो भी (थ्रेडवर्म, सूत्रकृमि) शय्या में मूत्र निकल जाता है ।

(३) मूत्राशय में अश्मरी, मूत्राशय शोथ, शिश्नमुण्ड-

शोथ, वृक्क का यक्ष्मा, निरुद्ध प्रकश, मार्ग द्वार में व्रण, फास्फेटमेह, जीवाणुमेह, सूत्रकृमि संक्रमण, गवीनी की की सहज अस्थानता आदि कारण भी हो सकते हैं।

चिकित्सा—इस रोग के ठीक होने की बहुत अधिक सम्भावना है। चिकित्सा बहुत कुछ कारण पर आश्रित है। मूत्र को रोकना एक आदत है जिसे बचपन में उत्पन्न किया जा सकता है। स्थानिक कारण और प्रत्यावर्तित कारणों को दूर करना चाहिए। बच्चों को दण्ड नहीं देना चाहिए। अक्सर बच्चे अपनी कठिनाइयों के लिए चिन्तित रहते हैं जहां इसकी चिन्ता या बैचेनी बच्चे को बहुत हो वहां पर बच्चे को स्नेह से समझाना चाहिये उसे इसके लिये भर्त्सना या दण्ड नहीं देना चाहिए। बच्चे के मन में यह विश्वास जमाना चाहिए कि यह अवस्था बद हो जायेगी। उसे एक तिथि पट देना चाहिए तथा उसे निर्देश देना चाहिए कि जिस दिन शैय्या मूत्र न हो, उस दिन उस पर निशान लगावे तथा उसे इसमें सफलता मिलने पर पारतोषिक देना चाहिए।

बच्चे को सोते समय दूध देना बन्द कर देना चाहिए, सायंकाल के पीछे पानी पिलाना बन्द कर देना चाहिये तथा रात में सोते समय मूत्र त्याग करवा कर सुलाना चाहिये तथा रात में भी बच्चे को उठाकर मूत्र करवा देना चाहिए एवं बच्चे के मानस संस्थान की निर्बलता को दूर करने की औषधियां देनी चाहिए।

आयुर्वेद में—सारस्वत चूर्ण, ब्राह्मवच, शंखपुष्पी, सुवर्ण गोघृत मधु का प्रयोग इसके लिये करते हैं। कुमारकल्याण रस, स्वर्ण सिन्दूर, अश्वगन्धाघृत, का प्रयोग भी इसमें करते हैं।

उदर में कृमि हों तो कृमि नाशक योग देने चाहिए—नागार्जुन रस, कृमिघ्न चूर्ण व कमीला, खुरासानी अजवायन, विडङ्ग चूर्ण का प्रयोग इसके लिए प्रशस्त है। राई का चूर्ण बना लेना चाहिए और भोजन के बाद एक छोटी चम्मच पानी से देना चाहिए। सोते समय तिल का लड्डू खाने को देना चाहिए।

पेटेन्ट आधुनिक औषधियों में Amitriptilin (Sarotina) १० मि. ग्रा. एक गोली रात को देते हैं या इस दवा से बने Tryptizal syrup के २ चम्मच सुबह शाम २ बार देते हैं। Tr. Belladonna 3ml. दिन में ३ बार दें या Probanthine 15 ml रात को एक बार या दिन में २ बार देते हैं। Ephedrine (इफेड्रीन) भी इसमें काम करता है। इसका सूचीवेध १ दिन छोड़कर 1 c.c देते हैं। आयुर्वेद का शूलान्तक इन्जेक्शन (मार्तण्ड) भी इसमें लाभ करता है। 1 c. c. इन्जेक्शन सायंकाल देना चाहिये। पहले ३ दिन लगातार दें। फिर १ इन्जेक्शन सप्ताह में तथा फिर तीन सप्ताह तक प्रति सप्ताह १-१ इस प्रकार कोर्स देने से आराम हो जाता है।

मूत्राशय की विपुटी (Diverticulum of Bladder)

मूत्राशय की विपुटी उसके पेशीस्तर के किसी दुर्बल स्थान द्वारा श्लैष्मिक कला की हर्निया होती है जिससे एक कलावृत थैली बाहर को निकल जाती है। सहज विपुटी भी हो सकती है, कई छोटी छोटी विपुटी भी चिरकार अवस्था की दशा में बन सकती हैं जैसे पुरस्थ वृद्धि में। बिना अवरोध के भी एक बड़ी विपुटी हो सकती है और बढ़कर मूत्राशय के समान आकार की हो जाती है। ये प्रायः बालक अवस्था में उत्पन्न होती है और बढ़कर आकार में मूत्राशय के समान हो सकती हैं।

लक्षण—कभी कभी मूत्र त्याग के अधिक होने से मूत्र त्याग कष्ट और मूत्र अवधारण हो जाता है। मूत्राशय शोथ और विपुटी में अश्मरी बन सकती है। विपुटी से मूत्राशय में छिद्र के संकुचित होने के कारण मूत्र का पूर्ण त्याग नहीं होता।

निदान—सिस्टोस्कोपी या सोडियम आयोडाइड विलयन के मूत्राशय में भरने के पश्चात् मूत्राशय का एक्सरे चित्र लेने से निदान का निश्चय किया जा सकता है।

उपद्रव—मूत्राशय शोथ, अश्मरी निर्माण, वृक्क संक्रमण, जलापवृक्कता और मूत्राशय के कैंसर आदि होते हैं।

चिकित्सा चिरकारी अवरोध संबन्धित विपुटियों की चिकित्सा अवरोध की चिकित्सा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विपुटियों के भीतर उपस्थित अश्मरियों को अभिजघन मूत्राशयच्छेदन करके निकाल देना चाहिये। बड़ी विपुटियों का जिनमें मूत्र भर जाता है जहां तक सम्भव हो पर्युदर्या बाह्य उच्छेदन उचित है।

सूत्रमार्ग और मूत्राशय की जन्मजात विकृतियां

विशेष-सम्पादक श्री गिरिधारीलाल मिश्र

(१) अधिमूत्रमार्गता (Epispadias)—शिश्न के पृष्ठ तल पर एक विबर में खुला हुआ मूत्रमार्ग होता है जिससे मूत्र त्याग होता है। इस विकृति को सुधारने के लिये प्लास्टिक सर्जरी का उपयोग किया जाता है।

डूप्ले (Duplay) शस्त्रकर्म द्वारा किनारों का उच्छेदन करके उनको एक कैथीटर पर मिलाकर सी दिया जाता है जिससे मूत्रमार्ग का स्वरूप सन्तोपजनक हो जाता है। इसके साथ विकृत मूत्राशय भी होने पर गवीनियों का श्रोणि वृहदान्त्र में प्रतिरोपण किया जाता है।

(२) अधोमूत्र मार्गता (Hypospadias)- अधिमूत्र मार्ग की अपेक्षा यह विकृति अधिक पायी जाती है और यह जनन पुटको (Genital folds) की अपूर्ण संयुक्ति (fusion) का फल होता है। इसमें मूत्रमार्ग के नीचे छिद्र होता है जिससे मूत्र त्याग होता है। मूत्रमार्ग का शिश्नबन्ध के क्षेत्र में (Glandular hypospadias) शिश्न के अभ्युदर पृष्ठ पर अथवा मूत्राधार में अन्त हो सकता है जिससे लिंग नीचे की ओर झुका रहता है।

चिकित्सा—शल्यकर्म द्वारा बालक के स्कूल जाने योग्य होने से पूर्व इस दशा को सुधारा जाता है। प्रथम अवस्था में तान्तव उत्तक का उच्छेदन करके लिंग को सीधा किया जाता है जिससे मूत्रमार्ग का अस्थानिक द्वार और भी पीछे हट जाता है। दो अवस्था वाले अर्थात् दो बार में किये जाने वाले शस्त्रकर्म में नया मूत्रमार्ग बनाया जाता है। मूत्र के निकलने के लिये जब तक शस्त्रकर्म के क्षत का पूर्ण विरोहन न हो जायें, मूलाधार मूत्रमार्गछेदन (Perineal urethrostomy) या अभिजघन मूत्रमार्गछेदन (Supra pubic cystostomy) द्वारा नया मार्ग बना दिया जाता है। नया मूत्रमार्ग त्वचा की पत्ती (Strip) से बनाया जाता है जिसको Diwis brownis method कहते हैं। रबड़ नली के चारों ओर त्वचा आरोप(Melondovi's method) द्वारा या लिंग के अधोपृष्ठ की त्वचा से ही (Ombrodannis method) मूत्रमार्ग का निर्माण किया जाता है।

(३) पश्च मूत्रमार्ग कपाटिकाओं (Posterior urethral valves) के कारण अवरोध— इन क्षुद्र कपाटिकाओं के कारण इतना अधिक अवरोध हो सकता है कि वृक्क क्षति हो सकती है, वृक्क संक्रमण और जलापवृक्कता हो सकती है। यह मूत्रोत्सर्जन तन्त्र की अत्यन्त गम्भीर अपसामान्यता है जिसकी यह दशा अचिकित्स्य थी किन्तु अब अन्तर्दर्शक (Endoscope) यन्त्र की सहायता से कपाटिकोच्छेदन की नवीन विधि के सफल परिणाम हुये हैं।

(४) निर्बन्ध यूरेकस (Persistent urachus)—मूत्राशय से नाभि तक एक नालव्रण (Fistulous tract) पथ के रूप में उपस्थित हो सकता है अथवा अपूर्णतया रुद्ध होने पर अधोनाभि प्रदेश तक पुटी के समान दीखता है।

चिकित्सा— व्रणनाल पथ या पुटी का उच्छेदन किया जाता है। मूत्रमार्ग में यदि कोई अवरोध हो तो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

मूत्राशय अस्थानता अथवा मूत्राशय की बहिर्मुखता (Ectopia Vesicae or Extraversion of Bladder)—मूत्राशय की अग्रभित्ति और नाभि की उदर अग्रभित्ति अनुपस्थित होती है और अपूर्णता द्वारा मूत्राशय की पश्चभित्ति सामने निकली रहती है जिस पर गवीनियों के द्वारों से मूत्र की बूंदें निकलती रहती हैं। साथ ही बच्चे को अधिमूत्रमार्गता होती है और जघन संधानिक की अनुपस्थिति, वृषण ग्रन्थि का अपूर्ण अवरोह और वृषण कोष तथा शिश्न का अपूर्ण विकास होता है। मूत्र के लीक करने से यह दशा बड़ी कष्टदायक होती है।

चिकित्सा— अवग्रह वृहदन्त्र (Sigmoid Colon) में गवीनियों का प्रतिरोपण (Transplantation) है। बच्चे ४-५ वर्ष के पश्चात् यह शल्यकर्म किया जा सकता है। इसके पश्चात्–मूत्राशय की श्लैष्मिक उपकला का उच्छेदन और अभ्युदर हर्निया (Ventral hernia) तथा अधोमूत्रमार्गता का सुधार किया जाता है। गवीनियों के प्रतिरोपण के दीर्घकालिक परिणाम संतोपजनक नहीं होते।

मूत्राघात या मूत्रावरोध

वैद्यरत्न श्री जयनारायण गिरि 'इन्दु', बी०ए० [आनर्स], डी०एस०सी० ए-वाई [आयुर्वेद बृहस्पति], आयु०रत्न]
धजवा, पो० नूरचक [मधुवनी]

मूत्राघात का अर्थ है मूत्र का अभाव। इस स्थिति में रोगी को मूत्र आता ही नहीं है। उसे मूत्र का निर्माण ही नहीं होता। मूत्रावरोध उस स्थिति को कहते हैं जिसमें मूत्राशय में मूत्र तो भरा रहता है लेकिन इच्छा करने पर भी मूत्र का विसर्जन नहीं होता है। मूत्रावरोध की स्थिति अत्यन्त ही कष्टकर और कारुणिक होती है। इसे अंग्रेजी में Renal colic की संज्ञा दी गई है। आयुर्वेद में मूत्राघात के तेरह भेद हैं। यथा—वातकुण्डलिका, अष्ठीला, वातवस्ति, मूत्रातीत, मूत्रजठर, मूत्रोत्संग, मूत्रग्रंथि, मूत्रशुक्र, उष्णवात, मूत्रसाद, विड्विघात, वस्तिकुण्डल और कुण्डलीभूत। शाब्दिक अर्थानुसार मूत्राघात और मूत्रावरोध के अर्थ ऊपर लिखित हैं किन्तु मूत्रावरोध भी मूत्राघात के अन्तर्गत ही आता है। उसकी चिकित्सा एक ही है।

मूत्रावरोध के विभिन्न कारण होते हैं जिन्हें हम उग्र और जीर्ण वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पुरुषों में प्रोस्टेट ग्रन्थि की विवृद्धि, मूत्र नलिका संकोच या संकीर्णन उग्र मूत्र नलिका प्रदाह और टेबिस डोर्सेलिस उग्रावस्था के कारण होते हैं। वनिताओं में पश्चादावनत स्थानच्युत गर्भाशय या श्रोणि अन्तर्गत अर्बुद, हिस्टीरिया और डिस्सेमिनेटेड स्क्लेरोसिस और शिशुओं में मूत्रनलिका बहिर्द्वार की निरन्ध्रता और निरुद्ध प्रकश, मूत्राशयिक या मूत्रनलिका स्थित अश्मरी के कारण मूत्रावरोध के उग्रावस्था की स्थिति प्रतिभासित होती है।

अमूत्रता और अल्पमूत्रता निम्नांकित स्थितियों में पायी जाती है—

१. अल्प मात्रा में जल पीने से अमूत्रता की स्थिति उत्पन्न होती है।

२. शरीर में जलाल्पता, अल्परक्त दाव, वृक्कनलि-[illegible] होना, वृक्कपाक तथा हृत्क्रिया-मांद्य (हार्ट फेल्योर)। इन सभी अवस्थाओं में वृक्कों में रक्त कम मात्रा में पहुंचता है या वृक्कों में निःस्यन्दन दाव (फिल्टरेशन प्रेशर) घट जाता है जिससे वृक्क गुच्छिकाओं से मूत्र छनने का कार्य मन्द पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में अमूत्रता स्वाभाविक ही है।

३. वृक्क, यकृत या हृदय रोगों में शरीर में शोथ हो जाता है और शरीर के विभिन्न स्थानों पर जल का संचय होने लगता है। इस स्थिति की उत्पत्ति लवण संचालक हार्मोन (एल्डोस्टरोन) जो अधिवृक्क वाह्यक में बनता है तथा मूत्रारोधी हार्मोन जो पश्चपीयूषी में बनता है, द्वारा की जाती है। यह स्थिति अल्पमूत्रता को उत्पन्न करती है।

इस रोग में मूत्रकृच्छ चिकित्सा में वर्णित सभी योग लाभकारी हो सकते हैं। कुछ सरल, सिद्ध और अनुभवित योग अधोलिखित हैं—

(१) कमल की जड़ और तिली को गोमूत्र में पीस कर सेवन कराने से मूत्र निष्कासित होने लगता है।

(२) कलमी शोरा ३ तोला, ढाक के पुष्प १ तोला, चूहे की मेंगनी १ तोला पानी के साथ पीस पेड़ू पर लेप करें। प्रति आधा घण्टा बाद बदलें।

(३) १ अंजीर को ३ माशे कलमीशोरा मिलाकर दें

(४) उटंगन [बंगला में ओकड़ा] के बीज और मिश्री के समभाग मिलित चूर्ण को २-३ माशे की मात्रा में लस्सी के साथ प्रयोग करावें।

(५) इलायची २ भाग, धमासा, रेंडीमूल, हर्रे और पाषाण भेद १-१ भाग लें। जौकुट कर चतुर्थांश क्वाथ सिद्ध करें और उसमें गोखरू, ककड़ी के बीज और इन्द्र जौ का चूर्ण मिला सेवन कराने से मूत्रावरोध दूर हो जाता है।

(६) भैंस के कान की मैल नाभि पर लेप करें।

(७) मूत्रमार्ग में कपूर की वर्तिका बनाकर रखें।

मूत्र रोग चिकित्सा

(८) रोगी को नारियल के डाभ का पानी पर्याप्त मात्रा में पिलाना चाहिये।

(९) अरारोट को पानी में खूब पतला कर के आग पर उबाल कर उसमें कागजी नीबू का रस और मिश्री मिलाकर पिलावें।

(१०) चन्दनासव २ चम्मच + उशीरासव २ चम्मच + पानी ६ चम्मच मिलाकर दिन में तीन बार देते रहें।

(११) वैद्यनाथ कम्पनी का "मूत्रल पाउडर" यथा-विधि प्रयोग करायें।

(१२) इन्द्रिय मार्ग में जूं डाल दें।

(१३) डाबर निर्मित "यूरा" महागुणप्रद है।

(१४) अनार के रस में हरा गोखरू १ तोला, इलायची के बीज का चूर्ण ३ रत्ती मिलाकर मूत्राघात में दें।

(१५) कलमी शोरा ४० तोला, फिटकरी ५ तोला, नौसादर २॥ तोला सबको लोहे के तवे पर डाल कर अग्नि का ताप देकर द्रव बनावें। फिर केले के पत्तों पर द्रव को उडेल कर पर्पटी निर्माण कर लें। मात्रा १० रत्ती अनुपान—ताजा जल के साथ। इसी योग को क्षार पर्पटी भी कहते हैं।

एलोपैथिक चिकित्सा

(१) रोगी को वस्तिशलाका (कैथेटर) डालकर मूत्र निकाल दें।

(२) प्रोस्टेट ग्रन्थि प्रदाह जनित मूत्रावरोध में Strepto Penicillin 1 gram का प्रतिदिन मांसपेशी में सूचीवेध करें और Ledermyin या Resteclin Capsul प्रत्येक ६ घण्टे पर दें।

(३) कार्बाकोल का इन्जेक्शन मांसान्तर्गत।

(४) लैसिक्स १-१ टेबलेट आवश्यकतानुसार दें।

(५) Aminophyllin 10 c. c. + Dextrose 25% 100 ml का सूचीवेध शिरान्तर्गत लगायें।

(६) जलाल्पता (Dehydration) की स्थिति में डैक्स्ट्रोज ५ प्रतिशत की बोतल ड्रिप मेथड से शिरान्तर्गत दें। हृदय के रोग से ग्रसित रोगियों में सैलाइन प्रयोग में अति सावधानी रखनी चाहिये। मूत्र की मात्रा बढ़ाने के लिये निम्न योग भी उपकारी हैं—

सोडा सल्फ ४.२% या २५ ग्राम,
शर्करा ६-१२॥% या ३४-७१ ग्राम
नार्मल सैलाइन ०.९% का पा०/सी. सी. ५६८
विधि—आ० अ० (आवश्यकतानुसार) ४० बूंद प्रति मिनट की गति से I. V. दें।

(७) निम्न मिश्रण परमोपयोगी हैं—

पौट. एसिटास—ग्रे. १०/ग्राम ०.६
पौट. साइट्रास—ग्रे. १०/ग्राम ०.६
पुनर्नवा सत्व—मि. ३०/सी. सी. २
डाइयूरेटिन—ग्रे. ४/ग्राम ०.२५
मुलहठी सत्व—मि. ३०/सी. सी. २
शार्कर—मि. ६०/सी. सी. ४
जल—औ. १/सी. सी. ३० तक
उपर्युक्त औषधि दिन में ३ बार दें।

नोट—पारद के योगों यथा Neptol (M. & B). या Mersalyl (B. D. H) आदि का प्रयोग भूलकर भी नहीं करना चाहिए। इसके प्रयोग से वृक्कों की अपार क्षति सम्भव है।

प्राकृतिक चिकित्सा

साधारणतः पेडू पर गीली मिट्टी की पट्टी कई बार थोड़ी-थोड़ी देर पर देने से मूत्रावरोध दूर हो जाता है। परन्तु यदि इससे लाभ न होता दिखाई दे तो सिर पर ठण्डे पानी से भीगा और निचोड़ा तौलिया रखकर गर्म जल का कटि स्नान देर तक लेना चाहिए। नमक मिले गर्म जल से भीगी बड़ी पट्टी पेडू, मूत्राशय और लिंग पर लगाने और उसे १-१ घण्टे बाद बदलते रहने से भी लाभ होता है। इस रोग में सर्वप्रथम एक गरम जल का एनीमा देकर आंतों की सफाई अवश्य करा दें। इस रोग में चक्रासन लाभकारी सिद्ध होता है।

होमियोपैथिक चिकित्सा

कैंथारिस (यह अफ्रीका में होने वाली एक मक्खी के चूर्ण से बनती है)—पेशाब का वेग रहता है और लगातार

—शेषांश पृष्ठ २८८ पर ।

डा० दाऊदयाल गर्ग ए०एम०बी०एस०, आयुर्वेद वृहस्पति, 'सम्पादक–धन्वन्तरि'
गुलजार नगर, रामघाट रोड, अलीगढ़।
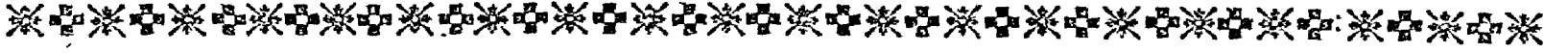
कभी कभी अचानक मूत्राघात मूत्र प्रसेक नलिका में आक्षेप (spasm) होने से या प्रदाह जनित शोथ के कारण होता है। शनैः शनैः मूत्राघात होने के अनेकों कारण हैं। इस मूत्राघात का निश्चित कारण जानने हेतु लिंग एवं आयु भेद से निदान में सहायता मिलती है जैसे कि बचपन में मूत्रावरोध मूत्रपथ में अश्मरी के अवरोध के कारण, मूत्रपथ में किसी विजातीय पदार्थ के अवरोध के कारण, मूत्र प्रसेक नलिका में जन्मजात विकृति के कारण (देखें चित्र) प्रकश (phimcosis) या शिश्न में किसी बंधन के कारण हो सकता है। स्त्रियों में ऐसे गर्भाशय अर्बुद के कारण, जिनका कि दवाव मूत्राशय ग्रीवा पर पड़ता है, योषापस्मार (हिस्टेरिया) के दौरे में, मूत्रत्याग करते ही क्षोभजनित प्रत्यावर्तित क्रिया के कारण हो सकता है, नवयुवकों में या मध्यवय में मूत्रावरोध मूत्र प्रसेक नलिका संकोच, पूयमेह (सुजाक), श्लैष्मिक कला में प्रदाह, एकदम शीत लग जाने पर मूत्रप्रसेक नलिका में आक्षेप (spasm) के कारण हो सकता है। वृद्धावस्था में मूत्रावरोध पौरुष ग्रंथि वृद्धि के कारण या मूत्राशय की निष्क्रियता के कारण हो सकता है। अश्मरी, जलापवृक्कता, ऐसा अर्बुद जो मूत्र पथ पर दवाव डालें, सुषुम्ना या मस्तिष्क पर आघात जनित मूत्राशय का पक्षाघात, या श्रोणि प्रदेश में किये गये किसी वृहद शल्य कर्म के पश्चात् जनित प्रत्यावर्तित क्रिया के फलस्वरूप किसी भी वय में मूत्रावरोध हो सकता है।

इन उपरोक्त कारणों से हुये मूत्रावरोध की चिकित्सा मुख्यतः शल्यकर्म है लेकिन कोई भी चिकित्सा करने से पर्व रक्तगत यूरिया अवश्य ज्ञात करलें। यदि यह १०० मि० लि० में ७० मि. ग्राम या इससे भी अधिक है तो समझ लें कि वृक्क के कार्य में अवरोध उत्पन्न हो गया है जिसके कारण कोई भी आपरेशन जीवन के लिए घातक रहेगा। ऐसी अवस्था में कैथीटर द्वारा मूत्राशय को रिक्त करलें। उसके कुछ काल पश्चात् कोई आपरेशन करना सुरक्षित रहता है। आक्षेप (स्पाज्म) की स्थिति में गर्म जल स्नान या उदर पर गर्म सेंक से भी लाभ होता है। हिस्टेरिया या नाड़ी जन्य अन्य स्थितियों की तदनुसार चिकित्सा करें। मूत्राशय निष्क्रियता या अन्य किसी भी मूत्राघात में कुपीलु एवं धुस्तूर के मिश्रित योग या बिजली की मशीन का एक पोल भगास्थिसंधि के ऊपर, दूसरा पोल उदर पर नाभि के नीचे लगाकर चिकित्सा करें।

यदि आपके पास रोगी यह शिकायत लेकर आता है कि उसे दीर्घकाल से मूत्र त्याग नहीं किया है, मूत्राशय भी परीक्षा करने पर तनावयुक्त नहीं है, कैथीटर डालने पर मूत्र नहीं निकलता या बहुत थोड़ा मूत्र निकलता है तो इस स्थिति को पूर्ण मूत्राघात (Anuria) कह सकते हैं। यह एक बहुत गम्भीर अवस्था है तथा इस पूर्ण अमूत्रता का निदान करने से पूर्व कैथीटर अवश्य प्रविष्ट करना चाहिये। पूर्ण अमूत्रता के दो कारण या दो भेद हैं — १. मूत्र पथ में किसी अवरोध के कारण २. वृक्कों के कार्यावरोध के कारण वृक्कों में मूत्र का निर्माण ही नहीं होता जिससे मूत्राशय रिक्त रहता है और मूत्र त्याग नहीं होता। इस बाद वाली स्थिति को ही वास्तविक अमूत्रता या वास्तविक मत्राघात कहा जाता है।

१. अवरोधजन्य मूत्राघात—इसमें वृक्क सामान्यतः स्वस्थ होते हैं लेकिन दोनों मूत्र वाहिनी नलिकाओं में निम्न

कारण से अवरोध हो सकता है—

अ—वृक्काश्मरी द्वारा दोनों मूत्र गवीनी नलिकाओं में अवरोध।

ब—एक मूत्र गवीनी नलिका में वृक्काश्मरी के कारण अवरोध तथा उसकी प्रत्यावर्तित क्रिया के परिणामस्वरूप दूसरी मूत्र गवीनी नलिका में आक्षेप (spasm) के कारण।

स दोनों मूत्र गवीनियों का अवरोध सल्फोनामाइड क्रिस्टल्स (विशेषत: सल्फाडायजिन, सल्फाथियाजोल या अन्य किसी सल्फा ग्रुप की औषधि का दीर्घकाल तक सेवनोपरान्त) के वृक्क से स्रवित होने के कारण भी हो सकता है। यही कारण है कि प्रत्येक सल्फा औषधि को सेवन करते समय उसके साथ साथ सोड़ा-बाईकार्ब या एल्कलाइजर भी अवश्य देने का निर्देश रहता है।

द—मूत्राशय शीर्षाधार पर कोई अर्बुद

ई—जन्म जात विकृति में एक ही मूत्र गवीनी नलिका होती है और वह किसी कारण अवरुद्ध हो जाय।

जब अवरोध केवल एक मूत्र गवीनी नलिका में होता है तो मूत्र स्वच्छ, अल्प आपेक्षिक घनत्व वाला, तथा एल्व्यूमिन रहित होता है। ऐसी अवस्था में कोई विशेष लक्षण उत्पन्न नहीं होता लेकिन दीर्घ काल तक एकही वृक्क के अधिक कार्यरत रहने के कारण दूसरे वृक्क की वृद्धि हो जाती है तथा पश्चात् काल में उससे जलापवृक्कता उत्पन्न हो सकती है। यदि किसी कारण से दोनों मूत्र गवीनी नलिकाओं में अवरोध होता है तो उससे गुप्त यूरीमियां (Latent uraemia) की स्थिति पैदा होती है। उसके लक्षण हैं—रुग्ण "लगभग एक सप्ताह से मूत्र नहीं हुआ" यह शिकायत लेकर आता है, उसे मामूली अवसाद लेकिन १०-१२ दिन होने पर बेचैनी, नेत्र तारक संकुचित, शरीर का तापक्रम सामान्य से कम, जिह्वा शुष्क गहरी बादामी तथा शरीर में चींटी जैसी रेंगना जैसा प्रतीत होना आदि, कुछ स्थितियों में इतनी गम्भीर का प्रकार का वमन होता है कि उसमें आंत्रावरोध (intestinal obstruction) का भ्रम होता है। १० से १४-१५ दिन तक पूर्ण अमूत्रता रहने पर मृत्यु अचानक ही हो जाती है लेकिन रुग्ण का होशो-हवास अन्तिम समय तक ठीक रहता है।

२. अवरोध रहित पूर्ण अमूत्रता—इसके कारण हैं—

(अ) तीव्र वृक्क शोथ, अथवा जीर्ण वृक्क की अन्तिम स्थिति (मृत्यु से १२-२४ पूर्व)

(ब) मधुमेह जन्य संन्यास का एक मूत्र सम्बन्धी प्रकार।

(स) हृदयावसाद की स्थिति जिसमे कि मूत्राघात भी एक लक्षण रहता है जैसे कि औदरिक शल्य कर्म या आघात, गम्भीर अग्नि दग्ध, गम्भीर अतिसार या गम्भीर वमन के बाद तीव्र ज्वर या शोथ या अचानक रक्तचाप न्यून होने की स्थिति में।

(द) फिनोल, नाग, फोस्फोरस, तारपीन का तैल या किसी सल्फा औषधि द्वारा उत्पन्न विषाक्तता—

(इ) अत्यन्त विरल अवस्था में दोनों वृक्क रक्तवाहिनियों में रक्त के थक्का द्वारा अवरोध

(ई) रोगी में ग्रुप से मेल न खाते हुए रक्त का रोगी में आदान कराना

(ग) सिस्टोस्कोप या कैथीटर या किसी अन्य शलाका के मूत्रपथ में किसी भी कारण से प्रवेश के बाद

(ह) कुचलने वाली किसी चोट के कारण

इन उपरोक्त कारणों में से कोई भी कारण हो साधारणतया उसके लक्षण होते हैं—जो भी थोड़ा बहुत मूत्र त्याग होता है वहुत गहरे रंग का तथा अधिक आपेक्षिक घनत्व के कारण अति सघृक्त (Concentrated) होता है और उसमें एल्व्यूमिन, निर्मोक (कास्ट्स) हो सकते है जो कि प्रदर्शित करते है कि अमूत्रता की यह स्थिति वृक्क के रुग्ण होने से है। अचानक वमन, अतिसार या अधिक पसीना आना हो सकता है। इसके अतिरिक्त तीव्र यूरीमिया के लक्षण भी हो सकते हैं जिसे कि आप इसके प्रकरण में अन्य स्थल पर देखें।

आघात—किसी दुर्घटना में पैर के गम्भीरतया कुचल जाने के बाद मूत्राघात हो सकता है। इसमें हृदयावसाद के कारण मूत्र की मात्रा एकदम काफी कम होजाती है। यह मूत्र गहरे बादामी रङ्ग के निर्मोक से युक्त होता है तथा उसमें एल्व्यूमिन की भी काफी मात्रा होती है। प्राय: इसके बाद पूर्ण मूत्रावरोध हो जाता है जिससे गम्भीर वमन एवं तृष्णा उत्पन्न होती है और तत्पश्चात् ७-८ दिनों में मृत्यु हो जाती है।

साध्यासाध्यता—अमूत्रता की स्थिति एक गम्भीर अवस्था है जिसकी कि गम्भीरता बहुत कुछ अमूत्रता उत्पन्न करने वाले कारण पर निर्भर करती है। अवरोधजन्य अमूत्रता में यदि एक ओर अवरोध है लेकिन दूसरी ओर का वृक्क पूर्ण स्वस्थ है तो यह सर्वाधिक सुसाध्य स्थिति है। यदि अवरोध दोनों मूत्र गवीनियों पर है तथा वह दूर नहीं होता या दूर नहीं किया जा सकता तो जिस समय भी अवरोध उत्पन्न हुआ है उसके १०-१२ दिनों में रुग्ण की मृत्यु निश्चित है। अवरोध रहित अमूत्रता में या तो कुछ ही दिनों में सुधार प्रारम्भ हो जाता है या कुछ ही दिनों में मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—

गर्म वायु, गर्म चादर स्नान या अन्य प्रस्वेदकों के प्रयोग से त्वचा को उत्तेजित कर उससे पसीना निकाल कर विषमयता की स्थिति काफी हद तक टाली जा सकती सकती है। अवरोधरहित तीव्र अमूत्रता की स्थिति में मुख द्वारा द्रवों का अधिक प्रयोग करावें या ५%डैक्स्ट्रोज विलयन को शिरा द्वारा प्रविष्ट करें। इस डैक्स्ट्रोज विलयन में ४% शक्ति वाला आधे से १ पिन्ट (१ पिन्ट=२० औंस) सोडियम सल्फेट विलयन अथवा डैक्स्ट्रोज सालूशन आधा सक्रोज विलयन मिला सकते हैं जो कि प्रायः शरीर भार के अनुपात में प्रायः १मि.लि. प्रति पौंड होना चाहिये। इन स्थितियों में जबकि रक्तगत लवणों की मात्रा न्यून हो जैसे कि प्रायः दीर्घकाल तक सल्फा औषधियों के सेवन के पश्चात् या गलत ग्रुप का रक्तादान कराने के पश्चात् होता है तो क्षारीय औषधियों का सेवन कराना उपयुक्त रहता है। तीव्र आतिसारक औषधियों द्वारा रेचन कराके भी शरीर विषों का निस्कासन किया जा सकता है। कमर पर कपिंग ग्लास द्वारा कपिंग करने पर स्थानीय प्रदाह कम होता है और उससे सुधार लाया जा सकता है। सौपुम्निक संज्ञाहरण द्वारा या प्रोकेन को सुषुम्ना के दोनों ओर प्रक्षेपण द्वारा वृक्कों में जाने वाले संकोचोत्पादक नाड़ी सूत्रों को निष्क्रिय करके भी अच्छा लाभ प्राप्त किया जा सकता है।-वृक्कों पर से वृक्कावरण को हटाकर अच्छा लाभ प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि इससे वृक्कों की कार्याधिक्यता के कारण स्वयं की आकार-वृद्धि के लिये पर्याप्त सुधारात्मक स्थिति प्राप्त होती है जिससे कि वृक्कों के कार्य में सुधार आता है। यदि यह अमूत्रता सल्फा औषधि सेवन के कारण है तो मूत्र गवीनी कैथीटर द्वारा सोडियम बाई कार्बोनेट के २.५% शक्ति के विलयन को प्रविष्ट करायें जिससे मूत्र गवीनियों में रुकी शर्करा हट जाती है।- अन्यथा वृक्कोच्छेदन की आवश्यकता होती है। वैसे अवरोधजन्य अमूत्रता की स्थिति में उपयुक्त प्रकार का शल्य कर्म किया जाना चाहिये।

आयुर्वेद मतानुसार मूत्राघात

आयुर्वेद में मूत्राघात १३ प्रकार के माने जाते हैं। सुश्रुत ने ११ प्रकार के मूत्राघात बताये हैं जिनमें मूत्रोत्सादको मान कर १३ हो जाते हैं। चरक ने वाताष्ठीला और माना है। यह प्रकार निम्न हैं—

१. वात कुण्डलिका—रूक्षता से या मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों को धारण करने से वस्ति में आश्रित वायु मूत्र को साथ में लेकर अर्थात् रोक कर विरुद्ध गति हो कर वर्तुलाकार बन कर गति करती है जिससे मूत्र थोड़ा-थोड़ा वेदना सहित एवं धीरे-धीरे प्रवृत्त होता है। इस अवस्था को वातकुण्डलिका कहते हैं। यह अति कष्टसाध्य है।

२. वाताष्ठीला—गुदा और मूत्राशय के मध्य में स्थित अपान वायु स्थिर, ऊंची उठी हुई, अष्ठीला (पत्थर) के समान कठोर, स्थिर, ऊंची उठी ग्रन्थि उत्पन्न होती है जिसके कारण मलमूत्र-वायु का अवरोध होता है, मूत्राशय में आध्मान होता है, वस्ति में (वस्ति प्रदेश में) तीव्र वेदना होती है। सुश्रुत ने इसे केवल अष्ठीला कहा है।

३. वात वस्ति—मूत्र के वेग को बलात् धारण करने से वस्ति-स्थित अपान वायु वस्ति मुख को बन्द कर देती है जिससे मूत्र की रुकावट होकर अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य वात वस्ति रोग उत्पन्न होता है। इसमें वस्ति (मूत्राशय) और कुक्षि में वेदना होती है।

४. मूत्रातीत—मूत्र के प्रवृत्तोन्मुख वेग को रोक कर जब मनुष्य पुनः प्रवृत्त करना चाहता है तब उसका मूत्र प्रवाहित नहीं होता। यदि आता भी है तो धीरे-धीरे थोड़ा थोड़ा करके बार-बार और रुकरुक कर आता है।

५. मूत्रजठर—वात जन्य उदावर्त के कारण मूत्र के वेग रुक जाने से कुपित अपान वायु उदर में अतिशय

रूप से व्याप्त हो जाती है जिससे नाभि के नीचे तीव्र वेदना युक्त आध्मान होता है। इसमें उदावर्त के कारण मूत्र एवं मलवाही स्रोत बन्द हो जाते हैं।

६. मूत्रोत्संग—विमार्गगामी अपान वायु के कारण मूत्र प्रवाहण करते समय वस्ति में या मूत्र प्रसेक नलिका में अथवा मेहन मणि (शिश्नाग्र) में मूत्र सहसा रुक जाये, अथवा प्रवाहण करते समय रक्त सहित थोड़ा-२ धीरे-२ वेदना रहित मूत्रोत्सर्ग होता है तो इसे मूत्रोत्सङ्ग कहते हैं।

७. मूत्र क्षय—रूक्ष एवं क्लान्त (थकित) शरीर वाले पुरुष की वस्ति में स्थित वात-पित्त मिलकर कष्टप्रद दाह एवं वेदना उत्पन्न करते हैं जिसे मूत्रक्षय या मूत्र संक्षय कहते हैं।

८. मूत्र ग्रंथि—वस्ति द्वार के अन्दर गोल, छोटी, स्थिर, वेदनासहित, मूत्रमार्ग को रोकने वाली तथा अश्मरी के अन्य लक्षणों से युक्त ग्रन्थि पुरुषों में सहसा उत्पन्न हो जाती है। इसे मूत्र ग्रन्थि कहते हैं। चरक ने सि० स्थान के अध्याय ६/४० में इसे रक्तयुक्त बतलाया है।

९. मूत्र शुक्र—जो मनुष्य मूत्र के वेग को धारण करके सम्भोगरत होता है उसमें वीर्य के साथ मूत्र भी सहसा प्रवृत्त होता है अथवा कभी मूत्र से पहले तो कभी मूत्र के बाद वीर्य प्रवृत्त होता है। इसे मूत्रशुक्र कहते हैं। इस रोग में मूत्र का वर्ण राख सदृश होता है।

१०. उष्णवात—व्यायाम, यात्रा, आतप आदि से त्रस्त या कुपित वायु से आवृत पित्त वस्ति में पहुँच कर वस्ति, मेहन तथा गुदा आदि में जलन करता हुआ मूत्र को प्रवृत्त कराता है। इसे उष्णवात कहते हैं। इसमें मूत्र का वर्ण हल्दी जैसा पीला, या रक्त मिश्रित होने से रक्ताभ तथा कभी-२ केवल रक्त का ही उत्सर्ग होता है। यह कठिनाई से प्रवृत्त होता है।

११. मूत्रौकसाद—यह दो प्रकार का होता है—(अ) पित्तजन्य—जब मूत्र विशद (पिच्छिल के विपरीत), पीत-वर्ण, दाहयुक्त एवं बहल, घट्ट होता है, सूखने पर गोरोचन के समान वर्ण का चूर्ण जैसा हो जाता है।

(ब) कफ जन्य—जब मूत्र पिच्छिल, घट्ट, श्वेत, वर्ण का होता है तथा कठिनाई से प्रवृत्त होता है, सूखने पर शंख के चूर्ण के समान होता है। यह कफ जन्य होता है।

इस प्रकार से यह मूत्राघात के बारह भेद कहे गये हैं। मूत्रकृच्छ्र सुश्रुत ने आठ प्रकार के बताये हैं। मूत्राघात में मूत्रप्रवृत्ति नहीं होती लेकिन मूत्रकृच्छ्र में मूत्र प्रवृति तो होती है लेकिन अत्यन्त कठिनाई एवं वेदना के साथ एवं अल्प मात्रा में होती है। इसके आठ भेद निम्न प्रकार हैं—

वात-पित्त-कफ से तीन, चौथा सन्निपात से, पांचवा अभिघात से, शकृत के कारण छठा, अश्मरी और शर्करा से सातवें एवं आठवें प्रकार का होता है। इनके पृथक-पृथक लक्षण निम्न प्रकार हैं—

१. वातजन्य मूत्रकृच्छ्र में वायु मुष्क, मेहन, मूत्राशय को पीड़ित करके कठिनाई से थोड़ा थोड़ा मूत्रोत्सर्ग करता है, फटने के समान वेदना होती है अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है जैसे मुष्क, मेहन, वस्ति (मूत्राशय) फट जायेंगे।

२. पित्तजन्य—मुष्क, मेहन, वस्ति में अग्निदग्धवत दाह, हल्दी की भांति पीताभ या उष्ण रक्ताभ मूत्र आता है।

३. कफजन्य—मुष्क, मेहन, वस्ति में भारीपन, स्निग्ध श्वेत एवं अनुष्ण (किंचिदुष्ण) मूत्र का त्याग रुग्ण करता है। रोगी को मूत्र त्याग के समय हर्ष (रोमांच) होता है।

४. सन्निपातज—रोगी दाह, शीत, वेदना से पीड़ित नाना वर्ण का (अर्थात् दोषों की उल्बणता के आधार पर पीत, रक्त अथवा श्वेताभ) बार बार अतिकष्टपूर्वक मूत्र त्याग करता है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि अंध-कार में प्रवेश कर रहा है अर्थात् आंखों के आगे अंधेरा सा छा जाता है।

५. अभिघातज मूत्रकृच्छ्र—मूत्रवाही स्रोतों में किसी शल्य के आघात से अथवा चोट लग जाने पर अतीव वेदना से युक्त मूत्राघात या मूत्रकृच्छ्रता उत्पन्न होती है। इसमें वात वस्ति के समान लक्षण होते हैं।

६. यदि मल का अवरोध होता है तो वायु विपरीत-गामी होकर शूल, आध्मान एवं मूत्रोत्सङ्ग उत्पन्न करता है।

७, ८—अश्मरी एवं शर्करा से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र—इन दोनों के कारण और लक्षण समान होने के कारण सुश्रुत ने इनका वर्णन एक साथ किया है। कफ से पित्त का परिपाक होने के समय वायु से टुकड़े टुकड़े होने पर कफ के छोटे-छोटे टुकड़े शर्करा नाम से पुकारे जाते हैं। इनके कारण हृदय में पीड़ा, कम्पन, कुक्षि में शूल, अग्नि-मन्दता, मूर्च्छा और तीव्र मूत्राघात होता है। यदि मूत्र के वेगपूर्वक उत्सर्जन से इस शर्करा का निष्क्रमण हो जाता

है तो वेदना भी शांत हो जाती है। लेकिन यह वेदना उसी समय तक शांत रहती है जब तक कि शर्करा की कोई बड़ी टुकड़ी मूत्र स्रोत (मूत्र गवीनी नलिका) में पुनः नहीं फंसे। इसको शर्कराजन्य मूत्राघात कहते हैं। शर्करा ही बड़ी होकर अश्मरी कहलाती है। कारण एवं लक्षण एक समान हैं।

चिकित्सा—

मूत्राघात चिकित्सा—कषाय, कल्क, औषधियों से सिद्ध घृत, भक्ष्य, लेह, दुग्ध, क्षार, मद्य, आसव, स्वेदजनन द्रव्य, उत्तरवस्ति और अश्मरीनाशक विधियों से इसकी चिकित्सा करनी चाहिये। मूत्रजन्य उदावर्त के योगों को इसमें प्रयोग करें। ककड़ी, खीरे आदि के बीजों का कल्क १ तोले में थोड़ा सा सैंधानमक मिलाकर कांजी के साथ पीवें। सौर्वचललवणयुक्त सुरा का पान करे। केशर को मधु से चाटकर ऊपर से रात को बनाकर ओस में रखकर ठण्डा किया शर्बत पीयें।

अनार का रस, इलायची, जीरा, सोंठ, किंचित् नमक सुरा में मिलाकर रोगी को पिलावें। विदारिगन्धादि वर्ग, गोखरू मूल या गोखरू को दूध में मिला कर तथा दूध से चौगुना पानी मिलाकर क्षीरपाक विधि से पाक करे तथा जब दूध मात्र शेष रहे तो शीतल करके शर्करा एवं मधु मिलाकर पीने से वात एवं पित्तजन्य मूत्राघात नष्ट होता है।

मूत्र वेदना की शान्त्यर्थ गधे और घोड़े की लीद को कपड़े में निचोड़ कर पिलावें। यह सुश्रुतोक्त योग है लेकिन आज के इस युग में इसका प्रयोग श्रेयस्कर प्रतीत नहीं होता।

नागरमोथा, हरड़, देवदारु, मूर्वा, मुलेठी समान मात्रा में लेकर पीसकर चटनी जैसी बनाकर १॥-२ माशे की मात्रा में चाटने से मूत्र दोषों का निवारण होता है। अथवा मूत्र वेदना की शांति के लिये हरड़-बहेड़ा आंवला समान मात्रा में मिला बारीक चूर्ण कर थोड़ा सा नमक मिलाकर शीतल जल से ही लें।

मुनक्का का कल्क १ तोला भर लेकर जल में भिगो कर रात भर पड़ा रहने दें तथा प्रातःकाल ही इसे ठण्डा ठण्डा ही पीये तो मूत्र की वेदना शांत होती है। कटेरी का स्वरस आधा तोले की मात्रा में प्रातः पीने से भी मूत्र दोषों का निवारण होता है। अथवा ताजे आंवलों को कुचल कर, निचोड़कर उनका ४ तोला रस निकाल कर इसमें मधु मिलाकर पान करने से मूत्रजन्य वेदना की शांति होती है। आंवले के स्वरस में छोटी इलायची का चूर्ण मिलाकर पीने से भी यही लाभ होता है। ताड़ की ताजी जड़ को खीरे के रस या शालि चावलों के ठण्डे पानी से पीसकर पिये या खीरे को दूध के साथ प्रातःकाल पिये तो मूत्र दोषों का निवारण होता तथा वेदना शांत होती है।

काकोल्यादि मधुर गण से सिद्ध दूध में घृत मिलाकर पीने से मूत्र दोषों एवं अश्मरी का निवारण होता है। बला, गोखरू, कौंच के बीज, तालमखाना, शालि चावल, जल गण्डीर (या दूर्वा), देवदारु, चित्रक मूलत्वक्, बहेड़े की गुठली—इनको सुरा से पीसकर सुरा के साथ ही पीवे तो मूत्र दोषों का शोधन होकर अश्मरी नष्ट होती है।

पाटला के क्षार को जोकि जल में सात बार नितार कर बनाया गया हो, उसमें थोड़ा सा तैल मिलाकर लेने से, अथवा नरसर, पाषाण भेद, दर्भ (दाभ), ईख, खीरा, ककड़ी एवं विजयसार को दूध में पकाकर ठण्डाकर उसमें यथेच्छ शर्करा मिला घी मिलाकर पीने से मूत्रदोषों का निवारण होता है। कुछ आचार्य विजयसार के स्थान पर खीरा या ककड़ी के बीजों का निर्देश करते हैं क्योंकि विजयसार मूत्रल तो है नहीं जबकि खीरा एवं ककड़ी के बीज मूत्रल हैं।

पाटला, यवक्षार, पारिभद्र, तिल इनके क्षारोदक में दालचीनी, इलायची, पीपल का चूर्ण मिलाकर चटनी के समान चाटे।

मूत्र दोषों से पीड़ित मनुष्य को स्नेहन और स्वेदन दे कर पश्चात् विरेचन देवें। इस प्रकार शोधन कर्म के पश्चात् उत्तरवस्ति देने से लाभ होता है। अति सम्भोग के कारण जिस पुरुष को रक्त सहित या केवल रक्त ही मूत्रमार्ग से उत्सर्जित होता है उसे मैथुन से निवृत्त कराकर बृंहण कर्म करायें तथा उपरोक्त विधि से मुर्गे की वसा या तैल से उत्तरवस्ति दें।

मधु १ भाग, खालिस देशी घी दो भाग, शर्करा, मुनक्का का चूर्ण १-१ भाग, कौंच, पीपल, तालमखाना प्रत्येक आधा आधा भाग, मिलाकर एक डण्डे से खूब मथे।

इसको लगभग १ तोला की मात्रा में चाटने से मूत्र दोष जो अन्य औषधों से शांत नहीं होते इससे शांत होते हैं लेकिन इसके सेवन से पूर्व वमनादि से शरीर की शुद्धि कर लेनी चाहिए। वन्ध्या स्त्री को भी इस योग का सेवन कराने से गर्भधारणा होती है।

सुश्रुतोक्त बलाघृत के सेवन से मनुष्य मूत्रदोषों से मुक्त हो जाता है। वंशलोचन एवं शर्करा का चूर्ण समान मात्रा में मिलाकर शहद से चाटकर पीछे से दूध पीने से मनुष्य मूत्रदोषों एवं शुक्रदोषों से मुक्त हो जाता है। अति संभोग के कारण क्षीण मनुष्य को यह योग ओजस्वी एवं बलवान बनाता है। सुश्रुतोक्त महाबलाघृत में शर्करा एवं वंशलोचन मिलाकर चटाने से वात कफ पित्त से दूषित शुक्रवाले, रक्त दूषित दोषों का निवारण होता है। यह जीवनीय, बृंहण एवं बलवर्धक है। मेध्य एवं स्त्री सेवन करे तो उसे पुत्र प्राप्ति होती है।

मूत्रकृच्छ्रता चिकित्सा—

वातादि भेद से सुश्रुतोक्त अश्मरी चिकित्सा को उसकी स्नेहन आदि विधि सहित प्रयोग करें। गोखरू, पाषाण भेद, कुम्भी (जल कुम्भी), हाऊबेर, कटेरी, इला, शतावरी, रास्ना, वरुण, विदारि-गन्धादि गण की औषधियों से घृत को सिद्ध कर पिये—इसीसे उत्तरवस्ति एवं अनुवासन वस्ति देवें तो वातजन्य मूत्रकृच्छ्र शांत होता है। गोखरू के स्वरस में गुड़, दूध और सोंठ के साथ तैल सिद्ध कर अनुवासन एवं उत्तरवस्ति देने तथा पान कराने से वातज मूत्रकृच्छ्रता का निवारण होता है।

पित्तजन्य मूत्रकृच्छ्रता के निवारणार्थ तृणोत्पलादि, काकोल्यादि, न्यग्रोधादि गण से सिद्ध घृत या दुग्ध को पान करावें, उत्तरवस्ति एवं अनुवासन वस्ति देवें। पित्तज मूत्रदोषों के निवारणार्थ ईख, दूध एवं द्राक्षा से युक्त योगों द्वारा विरेचन दें।

कफजन्य मूत्रकृच्छ्र में सुरसादि, ऊषकादि, मुस्तादि, वरुणादि गण से सिद्ध तैल तथा इन्हीं गणों से सिद्ध यवागू (लपसी) का प्रयोग करायें।

सान्निपातिक मूत्रकृच्छ्रता में दोषों की उल्वणता देख कर तदनुसार यथोचित चिकित्सा करें।

अभिघातज मूत्रकृच्छ्र निवारणार्थ सद्योव्रण की चिकित्सा करें। तात्पर्य यह है कि अभिघात से जो भी अङ्ग विकृत हुआ है उसके अनुसार उचित चिकित्सा करें।

शकृज्जन्य मूत्रकृच्छ्र स्वेदन, अवगाहन, अभ्यंग, वस्ति, चूर्ण क्रिया विधि से वातनाशक चिकित्सा करें।

अश्मरीजन्य एवं शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र में अश्मरी एवं शर्करा की विधि से चिकित्सा करनी चाहिये। यह विधियां इनसे सम्बन्धित प्रकरणों में देखें।

❖ ※ ❖

× मूत्राघात या मूत्रावरोध × पृष्ठ २८२ का शेषांश

पेशाब करने की इच्छा भी रहती है लेकिन पेशाब नहीं होता है। इसके अतिरिक्त बेचैनी, हिमांग (अर्थात शरीर बर्फ सा शीतल रहे) किंतु भीतर जलन प्रतीत हो तो यह औषधि अमृत से जरा भी कम उपकारी सिद्ध नहीं होती।

ओपियम—मूत्राशय बिल्कुल सुन्न पड़ जाना जिसके परिणामस्वरूप पेशाब नहीं होना, किसी भी नवीन रोग में अथवा डरकर या प्रसव के पश्चात् पेशाब बन्द हो जाय तो इस औषधि से इच्छित लाभ प्राप्ति होती है। मूत्राशय पेशाब से भरा रहने पर भी उससे रोगी को कुछ भी मालूम नहीं होता—ये ओपियम के ही कार्यक्षेत्र के लक्षण हैं।

लाइकोपोडियम—पेशाब होते-होते रुक जाना अथवा रुक-रुककर पेशाब होना। पेशाब बहुत जोर से लगना किन्तु पेशाब निकलता नहीं, उसके लिए बहुत देर तक बैठे रहना पड़ता है। ये लक्षण प्रतीत होने पर लायकोपोडियम का प्रयोग निश्चित गुणकारी सिद्ध होता है।

लक्षण सादृश्य रहने पर और भी कई औषधियों का प्रयोग किया जाता है। विस्तृत जानकारी के लिए मेटेरिया मेडिका का अध्ययन करें। ※

रोग परिचय—

मूत्रकृच्छ्रः स यः कृच्छ्रान्मूत्रयेद् वस्तिरोधकृत् ॥

अर्थात् मूत्रकृच्छ्र वह रोग है जिसमें रुग्ण कष्टपूर्वक मूत्र विसर्जन करता है और वस्ति का रोधन करता है। मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात का अन्तर स्पष्ट करते हुये विजयरक्षित लिखता है—

मूत्रकृच्छ्र मूत्राघाततयोश्चायं विशेषः, मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयितं, ईषद् विबन्धः मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान् कृच्छ्रत्वमल्पमिति ।

मूत्रकृच्छ्र में मूत्र कष्टपूर्वक विसर्जित होता है लेकिन मूत्राघात में मूत्र आता ही नहीं। आंग्ल भाषा में इसे Incontinence of urine कहते हैं।

रोगोत्पत्ति—

(१) जलचर जीवों का मांस अधिक मात्रा में सेवन करने से।
(२) तीक्ष्ण, रूखे व कच्चे अन्न के सेवन से।
(३) अजीर्णादि रोगों के होने से।
(४) अतिमद्य सेवन से।
(५) नृत्य करने से।
(६) घोड़ा, ऊंट आदि की सवारी करने से।
(७) भोजन पर पुनः भोजन करने से।
(८) अत्यधिक परिश्रम करने से।
(९) मल के वेग को रोकने से।
(१०) वीर्य को रोककर रखने से।
(११) पथरी (अश्मरी) के होने से।
(१२) मूत्रोष्णवात (सुजाक) के होने से।
(१३) वृक्क प्रदेश में अकस्मात् आघात से।
(१४) विभिन्न जीवाणुओं के उपसर्ग के फलस्वरूप मूत्रनलिका प्रदाह।

सम्प्राप्ति—रोगोत्पत्ति के वर्णित कारणों से कुपित दोष (वात, पित्त, कफ) विजातीय तत्वों में परिणत होकर वस्ति और मूत्रमार्ग में अवरोध, प्रवाह, शोथ, क्षत आदि उत्पन्न कर इस व्याधि को उत्पन्न कर देते हैं।

लक्षण—

सम्प्राप्ति के अन्तर्गत तो हम जान ही लिये हैं कि वात, पित्त, कफ अपने कारणों से कुपित होकर मूत्राशय में अपना प्रभाव डालते हैं, जिसके कारण मूत्र में वेदना होती है। इस व्याधि में पेशाब करने की इच्छा बार बार होती है लेकिन पेशाब होता नहीं। यदि होता भी है तो बूंद-बूंद करके। मूत्रावरोध थोड़ा होता है लेकिन दर्द अधिक होता है, जिससे रोगी बेचैन हो जाता है।

आयुर्वेद विज्ञान के प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन के पश्चात् हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन आयुर्वेद महारथियों ने इसके आठ भेद बतलाये हैं। यथा—

(१) वातज मूत्रकृच्छ्र।
(२) पित्तज मूत्रकृच्छ्र।
(३) कफज मूत्रकृच्छ्र।
(४) सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र।
(५) प्रहारज [आघातज] मूत्रकृच्छ्र।
(६) मलावरोधज मूत्रकृच्छ्र या पुरीष निग्रहजन्य मूत्रकृच्छ्र।

(७) शुक्रावरोधज मूत्रकृच्छ्र।

(८) अश्मरीजन्य अर्थात् पथरी से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र।

(१) वातज मूत्रकृच्छ्र—जांघ, लिंगेन्द्रिय तथा मूत्राशय की सन्धियों में पीड़ा हो, मूत्र बूंद-बूंद करके तीव्र वेदना के साथ विसर्जित हो तो समझना चाहिये कि आपका रोगी वातज मूत्रकृच्छ्र की पीड़ा से पीड़ित है। यह दृष्टव्य है कि इस कोटि के मूत्रकृच्छ्र में मूत्र विसर्जन की इच्छा मूत्र त्याग के पश्चात् भी बनी रहती है। मूत्र का रङ्ग अलसी तेल के सदृश भासित होता है।

(२) पित्तज मूत्रकृच्छ्र—पित्त के प्रकोप के कारण इस कोटि के मूत्रकृच्छ्र के रोगी का मूत्र पीताभ अथवा रक्ताभ तथा अत्यन्त उष्ण मूत्र लिंगेन्द्रिय से बड़ी तड़कपूर्वक निष्कासित होता है। यह प्राय: व्रण शोथात्मक अवस्थाओं (Inflammatory conditions) में होता है।

(३) कफज मूत्रकृच्छ्र—लिंगेन्द्रिय और मूत्राशय दोनों भारी हों और शोथयुक्त हों, मूत्र में फेन आवे, मूत्र थोड़ा-थोड़ा दर्द के साथ विसर्जित हो तो समझें कि आपका रोगी कफज मूत्रकृच्छ्र की व्यथा से व्यथित है। इस प्रकार के मूत्र में वेदना नाममात्र की रहती है।

(४) सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र—उपर्युक्त तीनों लक्षणों से युक्त जो मूत्रकृच्छ्र हो वही सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र है। यह कृच्छ्रसाध्य माना जाता है।

(५) प्रहारज मूत्रकृच्छ्र—मूत्रवाही स्रोतों के शल्य चिकित्सा के कुपरिणामस्वरूप प्रयुक्त क्षत होने अथवा अभिघात लगने से इस प्रकार के मूत्रकृच्छ्र का प्रादुर्भाव होता है। इस कोटि के मूत्रकृच्छ्र में वातज मूत्रकृच्छ्र के समस्त लक्षण वर्तमान हों तथा मूत्र अवरुद्ध हो जाये, तो प्रहारज मूत्रकृच्छ्र का लक्षण माना जाता है। यह भयंकर होता है। इससे बचना दैववशात् ही समझना चाहिये।

(६) मलावरोधज मूत्रकृच्छ्र या पुरीष निग्रहजन्य मूत्रकृच्छ्र—मल के वेग को रोकने से वायु कुपित हो जाती है और वह मूत्राशय तथा उदर में जाकर अफरा उत्पन्न कर देती है। जांघों में पीड़ा हो और पेशाब कष्ट से उतरता हो, तो यह लक्षण मलावरोधज मूत्रकृच्छ्र या पुरीष निग्रहजन्य मूत्रकृच्छ्र का है। इस कोटि के मूत्रकृच्छ्र में मूत्रविसर्जन के पश्चात् रोगी कुछ शान्ति का अनुभव करता है।

(७) शुक्रावरोधक मूत्रकृच्छ्र—इस कोटि के मूत्रकृच्छ्र में वीर्य मिश्रित मूत्र अत्यन्त कष्टपूर्वक विसर्जित होता है और मूत्राशय में वेदना की अनुभूति होती है। इस प्रकार के मूत्रकृच्छ्र का जन्म वीर्य रोकने से होता है। सम्भोग कार्य में रत मानव जब स्खलित अवस्था में आने को होता है, उससे पूर्व ही योनि से अपना लिंग निकालकर मैथुन क्रिया बन्द कर देता है। अथवा हस्तमैथुन करते समय स्खलित होने से पूर्व ही किसी की आहट पाकर इस अप्राकृतिक कर्म को छोड़ देने से शुक्राशय से विचलित हुआ शुक्र वस्तिमुख और मूत्रमार्ग में पहुंचकर मूत्र नलिका के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। और इस प्रकार मूत्रकृच्छ्र की उत्पत्ति हो जाती है।

(८) अश्मरी अर्थात् पथरीजन्य मूत्रकृच्छ्र—यह अति दारुण है। पथरी तथा शर्करा का स्थान मन्त्रास्थान है। पथरी पित्त से पकती है, वादी से सूखती है और कफ के कारण खिसती हुई शर्करा बन जाती है। यह मूत्र को रोकती है, जिससे रोगी के हृदय में पीड़ा, शरीर में कम्प, कुक्षि में शूल, मन्दाग्नि और बेहोशी होती है।

स्मरण रहे सुजाक, जरायु की विकृति तथा आंव भी कभी कभी मूत्रकृच्छ्र का कारण बन जाती है।

दोषानुसार मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा—

(१) वातज मूत्रकृच्छ्र—इस कोटि के मूत्रकृच्छ्र में अभ्यंग, स्नेहन, स्वेदन, उपनाह, उष्ण प्रलेप एवं उत्तर वस्ति (कैथीटर) का प्रयोग हितकारक सिद्ध होता है। अभ्यंग हेतु वातनाशक तैल यथा—महानारायण तैल का प्रयोग प्रशस्त है। गिलोय, पुनर्नवा एवं पाषाण भेद का क्वाथ अवश्य सेवनीय है।

(२) पित्तज मूत्रकृच्छ्र—इस मूत्रकृच्छ्र में शीतल वारि का परिषेक, शीतल वारि का अवगाहन, शीतल पेय का सेवन विधेय है। रोगी को नारियल का दाभ (पानी), खीरा के बीज, तण्डुलोदक का प्रयोग सुविधानुसार अवश्य कराना चाहिए। दूध में घृत एवं शर्करा डालकर पिलाना चाहिए।

(३) कफज मूत्रकृच्छ्र—इस प्रकार की मूत्रकृच्छ्रता में क्षारयुक्त उष्ण औषधियों का प्रयोग, स्वेदन, गरम सेंक, निरूहवस्ति और वमन कर्म का प्रयोग करना चाहिये। मट्ठे का सेवन अपूर्व गुणप्रद सिद्ध होता है। गोमूत्र

५० मि० लि०, केले के काण्ड का स्वरस ५० मि० लि० तथा छोटी इलायची का सूक्ष्म चूर्ण ५ ग्राम मिलाकर बार-बार पिलाने से आश्चर्यजनक उपकार होता है। यव से निर्मित यवागू का प्रयोग भी हितावह है।

(४) सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र—वात, पित्तज एवं कफ की प्रबलता के अनुसार उपर्युक्त विधि से चिकित्सा कर्म का सम्पादन करना हितकर है।

(५) प्रहारज मूत्रकृच्छ्र—उपनाह एवं सुखोष्ण सेंक कल्याणकारी सिद्ध होता है। सुखोष्ण गोदुग्ध में मिश्री एवं गोघृत डालकर पिलाना चाहिए। आमलकी (आंवला) और इक्षुरस दोनों को समान मात्रा में मिला कर पिलाना भी उपकारी सिद्ध होता है।

(६) मलावरोधक मूत्रकृच्छ्र या पुरीषनिग्रह जन्य मूत्रकृच्छ्र—विरेचन कर्म, वस्ति कर्म, स्वेदन कर्म का प्रयोग अवश्य कराना चाहिये। रोगी को गोखरू क्वाथ में ६ ग्राम जवाखार डालकर सेवन कराना चाहिये। इस व्यवस्था से रोगी का मूत्र तत्काल विसर्जित होकर उसे शांति मिलती है।

(७) शुक्रावरोधक मूत्रकृच्छ्र—आस्थापन, अनुवासन एवं उत्तरवस्ति का प्रयोग शमनकारक है। मूसली, शतावरी के बीज एवं अष्टवर्ग के चूर्ण २५ ग्राम की मात्रा में गरम दूध के साथ प्रतिदिन सेवन कराया जाना चाहिये। मधु के साथ शिलाजीत का प्रयोग भी परम लाभकारी है। आचार्यों ने इस कोटि के मूत्रकृच्छ्र से व्यथित रोगी को अत्यन्त यौवनवती नारी से सम्भोग करने का परामर्श दिया है।

(८) अश्मरी अर्थात् पथरीजन्य मूत्रकृच्छ्र—रोगी को तत्काल ही उत्तरवस्ति (कैथीटर) द्वारा मूत्र विसर्जन करा देना चाहिये। गोखरू, अमलतास, दाभ, जवासा, पाषाण भेद तथा हरड़ का समभाग क्वाथ ५ तोला में २॥ तोला मधु मिलाकर नित्य प्रयोग करना फलप्रद सिद्ध होता है।

मूत्रकृच्छ्रतानाशक अनुभवित योग—

(१) पुनर्नवा (लाल) के पत्र को कालीमिर्च के साथ पिलावें।

(२) पुनर्नवा (लाल) तथा श्वेत चन्दन दोनों को समभाग एकत्र कर जौ कुट कर लें। तत्पश्चात् दो तोला चूर्ण को ४- तोला जल डालकर अग्नि पर चढ़ावें। चतुर्थांश क्वाथ रहने पर उसे उतार दें। इसमें ८ रत्ती कलमीशोरा मिलाकर रोगी को प्रयोग करने हेतु दें।

(३) कौंद्रर्य (वरसंग) के मूल का रस २ तोला में छोटी इलायची के बीज का चूर्ण १ माशा मिलाकर देते रहें।

(४) तृण पंचमूल क्वाथ (कुश, काश, सरपत, दर्भ यानी दाभी और ईख के मूल का समभाग क्वाथ) मात्रा ५ तोला, ताजा गोदुग्ध १० तोला और मिश्री २ तोला आपस में मिलाकर नित्य सेवन करने से पित्तज मूत्रकृच्छ्रता में आराम हो जाता है।

(५) यवक्षार पंचांग, कलमीशोरा, शीतल चीनी, बड़ी इलायची इन चारों पदार्थों को समभाग लेकर चूर्ण कीजिये। २-३ माशे चूर्ण गोखरू के काढ़े के साथ दिन में चार बार सेवन करायें तथा गरम वस्तुओं से परहेज करावें।

(६) अमलतास का गूदा, धनियां, धमासा, शतावर, पाषाण भेद और हर्र समभाग लेकर चतुर्थांश क्वाथ सिद्ध कर रोगी को सेवन कराने से लाभ होगा।

(७) अलसी [तिसी] ६० ग्राम, खीरा के बीज ५० ग्राम, धनियां, गोखरू, बिहीदाना, ईसबगोल और बबूल का गोंद ३५-३५ ग्राम, आंवला [सूखी] २५ ग्राम और शीतलचीनी १५ ग्रा. लेकर सबको जौकुटकर शीशी में भर रखें। मात्रा १२ ग्राम से ३५ ग्राम तक लेकर १/४ लिटर जल में रात्रि में भिगो दें। प्रातः मल छानकर उसकी ३ मात्रायें बना, प्रत्येक मात्रा के साथ ३० ग्राम मिश्री मिला, दिन में ३ बार सेवन करायें। अत्यन्त गुणकारी प्रयोग है।

(८) शतावरी, कुशमूल, काशमूल, विदारीकन्द, इक्षु-मूल, शालिमूल, नाग केशर प्रत्येक समभाग। इनका क्वाथ मधु व चीनी दोनों मिलाकर देने से उत्तम कार्य करता है।

—कविराज श्री अत्रिदेव गुप्ता विद्यालंकार

(९) शीतलचीनी, चन्दन चूरा, सत बिरोजा, छोटी इलायची व असली वंशलोचन बराबर-बराबर लेकर चूर्ण बना लें। ४ माशा की मात्रा से चूर्ण फांक कर ऊपर से शुद्ध शिलाजीत २ माशा, गाय या बकरी का दूध-दही की लस्सी के साथ लें। यदि मूत्र लगकर जलन करके आता हो तो साथ में ४ रत्ती कलमीशोरा भी लें।

—श्रीमती डा० विमला अग्रवाल (बुलन्दशहर)

(१०) छोटी कटेरी का स्वरस ७ तोला, यवक्षार ६ माशा, मधु २ तोला सम्पूर्ण का मिश्रण बनाकर नित्य पीने से समस्त मूत्रकृच्छ्र तथा पथरी रोग निश्चयत: ठीक होते हैं।

(११) श्वेत स्फटिका भस्म १ माशा, फटे दूध का जल १० तोला में घोलकर पीने से निःसन्देह मूत्र कृच्छ में आराम होता है।

(१२) तिलनाल क्षार ४ रत्ती, श्वेत पुनर्नवा क्षार ४ रत्ती, वरुणा की छाल के ५ तोला क्वाथ में घोलकर नित्य पिलाने से अश्मरी नष्ट होकर अश्मरीजनित मूत्रकृच्छ का नाश होता है।

(१३) गुड़ ५ तोला, रसोन स्वरस, कटेरी स्वरस, घृतकुमारी स्वरस, ताजे फटे दूध का जल प्रत्येक २॥ तोले सबका मिश्रण कर अच्छा घोल तैयार कर लें और नित्य पीवें। इससे मूत्रकृच्छ शीघ्र दूर हो जाते हैं।

—प्राणाचार्य श्री हर्पुल मिश्र जी (रायपुर)

(१४) हरीतक्यादि क्वाय— हरड़त्वक् चूर्ण २ तोला, अमलतास का गूदा २ तोला, जवासा का चूर्ण २ तोला, गोखरू चूर्ण २ तोला, पाषाण भेद २ तोला। समस्त द्रव्यों को १६ गुना जल डालकर क्वाथ करें। जब अष्टमांश क्वाथ शेष रह जाय तब छानकर २॥ से ५ तोले की मात्रा में नित्य पीने से मूत्रकृच्छ में लाभकर सिद्ध होता है।

(१५) वृहद् वरुणादि क्वाय—वरुण की छाल, गोखरू, सौंठ, मूसली, कुल्थी प्रत्येक १-१ तोले, तृण पंचमूल ५ तोले, सबका चूर्ण कर १६ गुने जल में क्वाथ विधि से क्वाथ तैयार कर लें। मात्रा ४ तोला, यवक्षार ६ माशा, शक्कर १ तोला मिलाकर नित्य प्रातः पीवें। इसके प्रयोग से मूत्रकृच्छ मूत्रशर्करा, पथरी आदि आराम हो जाते हैं।

(१६) हजरुल यहूद भस्म ४ रत्ती, यवक्षार ४ रत्ती, कच्चे नारियल के पानी के साथ पीने से दो-तीन घण्टे में मूत्र विसर्जित होकर मूत्रकृच्छता का नाश होता है।

(१७) रोगण्यादि गुटिका—लघु कण्टकारी फल, श्वेत जीरक, शुद्ध गंधक, कुमारी रस में फूंका हुआ कलमी शोरा। सभी समान भाग। इन सबका वस्त्रपूत चूर्ण बना कर गेंदे के पत्तों के रस में सात बार घोटकर झड़बेर बराबर गुटिका बनालें। मात्रा—२-४ गुटिका। प्रातः दोपहर और सायं जल के अनुपान से दें। यह सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ मे कल्याणप्रद है। मूत्रकृच्छ के अतिरिक्त मूत्रावरोध, कामला, अश्मरी आदि रोगों में भी यह उपकारी है।

(१८) क्षार पर्पटी—कलमी शोरा ४० तोला, फिटकरी ५ तोला, नौसादर २॥ तोला सबको लोहे के तवे पर डालकर अग्नि का ताप देकर द्रव बनावें। फिर केले के पत्तों पर द्रव उडेल कर पर्पटी निर्माण कर लें। मात्रा १० रत्ती। अनुपान—ताजा जल नित्य सेवन करें। यह मूत्राघात, मूत्रकृच्छ और अश्मरी पर लाभप्रद योग है।

(१९) 'गोखरू' का आयुर्वेदिक इन्जेक्शन बच्चों को १ मि. लि. और बड़ों को २ से ३ मि. लि. की मात्रा में प्रतिदिन मांसान्तर्गत अथवा २५ मि. लि. ग्लुकोज़ में मिला कर शिरान्तर्गत देकर अमित यश का अर्जन किया जा सकता है।

(२०) गोक्षुरादि गुग्गुल—गोखरू का चूरा आठ गुने जल में औटाकर आधा शेष बचने पर छान लें। इसी जल में बराबर गूगल डालकर पुनः औटावें। इसके बाद इसी में सोंठ, कालीमिर्च, नागरमोथा, हर्रे की छाल, बहेड़े की छाल और आंवला, प्रत्येक चौथाई-चौथाई भाग लेकर महीन चूर्ण कर डाल दें। जब सब पदार्थ परस्पर मिलकर इकड़ हो जांय तब उसे उतार कर घृत के चिकने पात्र में रख दें। यह गोक्षुरादि गुग्गुल मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, प्रमेह, वातरक्त, शुक्रदोष नाशक अमोघ औषधि है।

मात्रा—२ माशे जल के साथ। यदि जल के बदले गोक्षुरादि क्वाथ का प्रयोग किया जाय तो और उत्तम है। इसकी निर्माण विधि योग संख्या २१ के रूप में अधोलिखित है—

(२१) गोक्षुरादि क्वाथ—बड़े गोखरू, किरवारे की गिरी, दाभ की जड़, कास की जड़, जवासा, आंवला, पथरचटा (पाषाण भेद) और हर्रे की छाल इन प्रत्येक दवाओं का क्वाथ करें। इसे मधु के साथ प्रयोग करावें। यह मूत्रकृच्छ के लिये रामबाण है।

(२२) मूत्ररोधान्तक वटी—हजरुल यहूद भस्म ४ तोला, स्फटिका भस्म, यवक्षार, अपामार्ग क्षार, तिलनाल क्षार, कण्टकारी क्षार, वरुणा का घनसत्व, गोपाल कर्कटी (कचरिया) मूल चूर्ण, कलमीशोरा, प्रत्येक ४-४ तोला, नौसादर, कन्घी की जड़ का चूर्ण, बेर की मींगी का चूर्ण, तृणपंचमूल चूर्ण, एरण्ड मूल चूर्ण, पाषाण भेद चूर्ण, पुन-

नंवा की जड़ का चूर्ण, गोखरू घनसार, आंवला घनसार, इलायची बीज, सत्वशिलाजीत प्रत्येक २-२ तोला। कांतलोह भस्म, शृङ्ग भस्म, नागभस्म, मुक्ताशुक्ति भस्म, शम्बूक भस्म प्रत्येक १-१ तोला।

निर्माण विधि—समस्त द्रव्यों को खरल में डालकर छोटी कटेरी के स्वरस की सात भावना देकर चार-चार रत्ती की गोलियां बनालें, फिर छाया में सुखा स्वच्छ शीशी में भर कर डांट लगाकर रखें। मात्रा ५ से १० वर्ष के बच्चों को १ गोली। वयस्क स्त्री पुरुषों को नित्य २ गोली से ४ गोली ताजे जल से निगलवावें। यह मूत्रकृच्छ, मूत्राघात, अश्मरी रोग में आशुगुणकारी है।

—प्राणाचार्य श्री हर्षुल मिश्र (प्रयोग कर्त्ता)

(२३) सत्यानाशी का रस २॥ तोला ले कर इसे लोहे की कड़ाही में डालकर अग्नि पर रखें और इसमें कलमीशोरा १ तोला डालकर पकावें। जब सारा रस सूखकर केवल कलमीशोरा बच जाये, तब कड़ाही नीचे उतार कर शीतल होने दें। अब यह पका हुआ कलमीशोरा २ माशा, मिश्री १ तोला और नीबू का रस आधा तोला, तीनों को ४ तोले पानी में मिलाकर पीने से कैसा ही मूत्रकृच्छ क्यों न हो, एक सप्ताह में ठीक हो जाता है। पथ्यापथ्य पर ध्यान देना चाहिये। यह नितान्त उपयुक्त प्रयोग है।

—वैद्य श्री खेमराज शर्मा छांगाणी
'रसायन' से साभार

(२४) सहजने (शोभाञ्जन) के १२ ग्राम गोंद का चूर्ण नित्य दही के साथ ७ दिन तक खाने से मूत्रकृच्छ मिटता है।

(२५) भोजनोत्तर चन्दनासव का प्रयोग इस रोग में गुणकारी है।

एलोपैथिक चिकित्सा—

मूत्रकृच्छता के परिणामस्वरूप वेदना होने पर स्पाजमोसिवाल्जिन या न्यूरोट्रासिण्टीन में से किसी एक की गोली दिन में ३ बार दें। असह्य पीड़ा की अवस्था में १/१०० ग्रेन की एट्रोपीन सल्फेट का इन्जेक्शन चर्म में लगायें। मूत्र की क्षारीयता बनाये रखने के लिये १० ग्रेन सोड़ा-बाई-कार्ब को शीतल जल के साथ दिन भर में ३-४ बार देना चाहिये। आवश्यकता प्रतीत होने पर कैथीटर की सहायता से मूत्र निकाल देना चाहिये। अनिद्रा की स्थिति में Phenobarbiton का प्रयोग किया जा सकता है। पीड़ा-स्थल पर गरम सेंक लाभप्रद होता है। मूत्रमार्ग की सूजन की अवस्था में जीवाणुघ्न औषधियों का प्रयोग करना उपयोगी है और इस दृष्टि से Resteclin (Squibb), Terramycin (Pfizer) or Achromycin (Lederle) का प्रयोग मुख द्वारा किया जा सकता है। मूत्रकृच्छ में निम्न योग लाभकारी है—

एक्सट्रैक्ट कसकेरा लिक्विड	१५ बूंद
टिंक्चर हायोसाइमस	१५ बूंद
पोटास साइट्रास	२० बूंद
टिंक्चर वेलाडोना	८ बूंद
सीरप	६० बूंद

जल कुल ४ औंस। ऐसी एक मात्रा को ३ भागों में विभाजित कर दिन में ३ बार दें।

मूत्रकृच्छ की प्रत्येक अवस्था में "कार्बकोल" का इन्जेक्शन देकर लाभ उठाया जा सकता है।

होमियोपैथिक औषधि के रूप में केन्थरिस क्यू १० बूंद दिन में ३-४ बार देने से उत्तम फलप्रद है।

मूत्रकृच्छ में पथ्य—

गोदुग्ध, गेहूं की रोटी, दलिया, खिचड़ी, छिलकेयुक्त मूंग की दाल, मिश्री, पालक, बथुआ, मेंथी, चौलाई, कद्दू, करेला, परवल, नारङ्गी, अनार, ईख, मधु, मौसम्बी, नीबू, पुनर्नवा आदि।

—वैद्य रत्न श्री जयनारायण गिरि "इन्दु"
बी०ए० (आनर्स), डी०एस०सी०ए-वाइ
(आयुर्वेद वृहस्पति), आयुर्वेद रत्न
धजवा, पो० नूरचक (मधुबनी)।

रक्तमेह या रक्तमूत्रता

डा० दाऊदयाल गर्ग ए०एम०बी०एस०, आयुर्वेद बृहस्पति, सम्पादक-'धन्वन्तरि'.
गुलजार नगर, रामघाट रोड, अलीगढ़।

जब भी कोई रुग्ण रक्त मिश्रित मूत्र त्याग की शिकायत करे तो उससे प्रश्न द्वारा यह सुनिश्चित करना चाहिए कि मूत्र में रक्त प्रारम्भ में आता है या अन्त में आता है या धूम्र वर्ण का मूत्र आता है जोकि रक्तमिश्रित मूत्र का द्योतक है। मूत्र में हीमोग्लोबिन भी आ सकती है इसका भी ध्यान रखना चाहिये। स्त्रियों में मासिक धर्म के समय मासिक धर्म का रक्त मूत्र में मिल सकता है जिससे रक्तमूत्रता का भ्रम होता है। इसके निवारण हेतु कैथीटर द्वारा मूत्र उपलब्ध कर परीक्षा करनी चाहिए। यदि रक्त चमकीले लाल रंग का है तथा मूत्र त्याग के प्रारम्भ में ही आता है तो अधिक सम्भावना उसके मूत्र प्रसेक नलिका या पौरुष ग्रन्थि से आने की है। ऐसी स्थिति में मूत्र पथ पर किसी आघात का या पूयमेह का इतिहास प्राप्त होगा। पौरुष ग्रन्थि के शोथ या उसमें विद्रधि होने पर स्थानीय दर्द या स्पर्शासह्यता ज्ञात होगी तथा गुदा में दाह भी हो सकता है। मूत्र पथ में अर्बुद, तथा पुरुषों के अधिक संभोगरत होने के कारण भी रक्तमूत्रता हो सकता है।

यदि रक्त मूत्रत्याग के अन्त में आता है तथा प्रायः रक्त के थक्के जमे हुए आते हैं तो यह मूत्रवह संस्थान के किसी अवयव से आ सकता है। इस प्रकार की रक्तमूत्रता प्रायः निम्न कारणों से होती है—

१. तीव्र मूत्राशय शोथ के प्रारम्भ में—इसका पूर्ण विवरण आप अन्य लेख में देखेंगे। इसमें रक्तस्राव मामूली होता है।

२. मूत्राशय में अश्मरी—इस अवस्था में रक्तस्राव किसी परिश्रम के कार्य करने के पश्चात् या व्यायाम करने के पश्चात् अधिक होता है, रक्त की मात्रा भी अधिक होती है, शूल होता है जोकि मूत्र त्याग के अन्त में असह्य हो जाता है तथा यह शूल शिश्नाग्र के अन्त तक पहुँचता है। प्रायः मूत्राशय शोथ के भ्रम में मूत्राशय स्थित अश्मरी का निदान नहीं होता, जोकि एक्स-रे परीक्षण, मूत्राशय शलाका (sound) या सिस्टोस्कोप नामक उपकरण द्वारा परीक्षा किये जाने पर ज्ञात होती है एवं सुनिश्चित होती है।

३. मूत्राशय के अर्बुद—इसमें, तथा प्रायः पैपिल्लोमेटा (मूत्राशय अर्बुद) (देखें चित्र—१०४) में रक्तस्राव की मात्रा अधिक होती है। अर्बुद के टूटे हुए टुकड़े भी आ सकते हैं और इससे मूत्राशय शोथ उत्पन्न हो सकता है। कैंसर में तो रक्त की मात्रा और भी अधिक होती है, बहुत कम-कम देर पश्चात् ही होता है तथा औषधि उपचार से भी विशेष लाभ नहीं होता। इस स्थिति में लगातार दर्द होता है। कभी-२ मूत्राशय में कैंसर या अर्बुद का ज्ञान हाथ से मूत्राशय-स्थल को दबा कर या गुदा में अंगुली प्रविष्ट कर परीक्षा के द्वारा किया जा सकता है। समीपस्थ अङ्गों से अर्बुद का प्रसार, तथा आंत्रपुच्छ शोथ या संग्रहणी जन्य अंत-व्रणों से शोथ का प्रसार मूत्राशय में होने से भी रक्तमूत्रता हो सकती है जिसकी कि सुनिश्चिति सिस्टोस्कोप से ही होती है।

चित्र—११३
घातक मूत्राशयार्बुद [मूत्राशय का कैंसर] की क्रमशः वर्धमान चार स्थितियां, जिनके कारण कि प्रायः रक्तमूत्रता होती है।

४. पौरुषग्रन्थि की वृद्धि में भी रक्त-मूत्रता हो सकती जोकि या तो पौरुष ग्रन्थि वृद्धि में .. (congestion)

के कारण या मूत्राशय ग्रीवा के पास इस ग्रंथि की किसी शिरा के टूट जाने के कारण होती है।

चित्र—११४
मूत्रप्रसेक नलिका या मूत्राशय के निम्न भाग पर विदर के कारण मूत्र एवं रक्तस्राव से पूरित स्थल, जिसके कारण कि प्रायः रक्तमिश्रित मूत्र आता है।

५. रक्तमूत्रता निम्न कारणों से भी हो सकती है लेकिन यह कारण प्रायः कम ही मिलते हैं—मूत्राशय का राजयक्ष्मा, स्कर्वी, परप्यूरा।

६. ईजिप्ट तथा दक्षिणी अफ्रीका में प्रायः सिस्टोसोमियेसिस (एक प्रकार का आंत्र कृमि) की मादा मूत्राशय में स्थान ग्रहण कर वहां अण्डे देती है जिससे रक्तमूत्रता होती है।

रक्तमिश्रित मूत्र —

यदि रक्त मूत्र में मिला हुआ आता है तथा जिसके कारण कि मूत्र का वर्ण धूम्राभ हो जाता है तो यह प्रायः वृक्क से आता है। इस स्थिति में भी मूत्र में रक्त की उपस्थिति की सुनिश्चितता हेतु निश्चित रक्त परीक्षण करके कर लेनी चाहिए जिससे कोई भ्रम नहीं रहे। वृक्क की विभिन्न परीक्षायें करके तथा अन्य लक्षणों से वृक्क सम्बन्धी रक्तस्राव के विभिन्न निम्न कारण उपलब्ध हो सकते हैं।

१ वृक्क शोथ—तीव्र वृक्क शोथ में प्रायः निर्मोक (Casts) प्राप्त होती हैं। अनुतीव्र वृक्क शोथ या जीर्ण वृक्कशोथ में व्यायाम या किसी परिश्रम के कार्य के पश्चात मूत्र में रक्त आता है। वृक्कशोथ के साथ उच्च रक्तचाप होने के कारण भी रक्तमूत्रता होती है। (उच्च रक्त-चाप में रक्तस्राव नाक से या मस्तिष्क से भी हो सकता है।) जीवाणुजन्य अनुतीव्र हृदयावरण शोथ के कारण उत्पन्न infarction में भी रक्त मूत्रता हो सकती है। किसी एक या दोनों वृक्क में क्षय के कारण भी रक्त मिश्रित मूत्र आ सकता है (इसका पूरा विवरण वृक्क यक्ष्मा शीर्षक अन्य लेख में देखें)। तीव्र मूत्र गवीनी श्रोणि शोथ या मूत्र गवीनी में पूयोत्पत्ति के कारण उत्पन्न शोथ, कुछ आंत्रकृमियों के कारण भी वृक्क से रक्त मिश्रित मूत्र आ सकता है।

२. गम्भीर प्रकार के दाहयुक्त शोथ—साधारण शोथ से मूत्र में प्रायः शुक्लि (एल्ब्यूमिन) मिश्रित आती है लेकिन यही शोथ तीव्र हो जाने पर रक्त मूत्रता भी उपलब्ध होती है।

(अ) सर्वाधिक कारण हृदयावसाद (दाहिनी ओर का) है। इसमें थोड़ा, लेकिन नमकीला तथा प्रथम एल्ब्यूमिन युक्त एवं पश्चात् में रक्त की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ एल्ब्यूमिन की मात्रा भी बढ़ जाती है। दीर्घकालीन रुग्णों में हायलाइन कास्ट उपलब्ध होते हैं।

(ब) उभयपक्षीय जलापवृक्कता में मूत्र से भरे मूत्राशय को कैथीटर प्रवेश करके एकदम खाली कर देने से भी यकायक शोथ उत्पन्न होकर रक्तमूत्रता होती है। इसके पश्चात् मूत्रकृच्छ्रता या मूत्राघात (अमूत्रता) भी हो सकती है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर चिकित्सकों को चाहिए कि मूत्राशय को एकदम रिक्त कभी न करें अपितु उसे धीरे-२ कई बार में रिक्त करें।

(स) वृक्क की शिरा में कोई थक्का रुकने के कारण तीव्र प्रदाह उत्पन्न हो सकता है। यह प्रायः माला गोलाणुओं (strepto coccus) के संक्रमण के कारण उत्पन्न होता है। इसमें मूत्र में यकायक ही रक्त आने लगता है और इसके साथ साथ ही वृक्क आकार में बड़ा एवं स्पर्शासह्यता भी होती है।

(द) उर्वास्थि भग्न आदि स्थितियां – जब रोगी दीर्घ काल तक बिस्तरे में पड़ा रहता है उसके पश्चात् जब उसको चलना प्रारम्भ कराया जाता है तो उसके दूसरे

तीसरे दिन प्रायः प्रदाह उत्पन्न होकर मूत्र में रक्त आने लगता है। इस स्थिति मे कमर में दर्द, प्रसरणशील शूल, रक्त मूत्रता आदि लक्षण होते हैं जिनका कि शमन रुग्ण कुछ दिनों के लिए पुनः पूर्ण शय्या विश्राम लेने पर हो जाता है।

३. वृक्क रक्त वाहिनियों के अवरोध युक्त या अवरोध रहित स्थिति में वृक्कावरण शोथ होने पर कुछ-कुछ समय के अन्तर से प्रदाह सहित रक्त मूत्रता होती है।

४. वृक्काश्मरी या शर्करा होने पर वृक्क शूल सह-रक्तमूत्रता होती है। (वस्तृत विवरण अन्य प्रकरणों मे देखें)

५. रक्त की कुछ स्थितियां जैसे कि स्कर्वी, परप्यूरा, मलेरिया।

६. कतिपय औषधियों के कारण भी रक्तमूत्रता हो सकती है जैसे कि सैलीसिलेट, फिनोल, सल्फा पायरिडिन, सल्फाथियाजोल, हैक्सामिन, कैंथाराइड्स (दक्षिण अफ्रीका में पाई जाने वाली एक प्रकार की मक्खी का चूर्ण) तारपीन का तैल आदि।

७. वृक्क के अर्बुद यथा कार्सीनोमा, सारकोमा, हाइपरनाफ्रोमा तथा बहुपुटीय वृक्कशोथ, या मूत्र गवीनी श्रोणि मे कार्सीनोमा या पैपिल्लोमा होने पर। इस स्थिति में प्रायः शूल तो होता ही नहीं और रक्तस्राव लगातार समयान्तर से हो सकता है।

८. नवयुवकों में प्रायः वृक्क के एक छोटे से भाग मे शोथ होने पर (Patchy nephritis) मामूली या गंभीर प्रकार की रक्तमूत्रता जिसके साथ कि साधारण या गंभीर का एक या दोनों ओर शूल भी रहता है हो सकती है। इस स्थिति में वृक्कोच्छेदन करने से रक्त मूत्रता प्रायः समाप्त हो जाती है (लेकिन वृक्कोच्छेदन प्रायः करना नहीं चाहिए)

९. हीमो ग्लोबिनूरिया से प्रायः रक्तमूत्रता का भ्रम हो जाता है लेकिन यह वास्तविक रक्तमूत्रता नहीं है। इसकी सुनिश्चिति मूत्र में रक्त परीक्षा करने पर मूत्र में हीमोग्लोबिन तो मिलने लेकिन रक्त की प्लेटलेट (Blood platelets) न मिलने पर होती है।

१०. वृक्क के आघात—वृक्क का कुचलना या फटना (यह प्रायः कमर के बल गिरने पर होता है या कोई गंभीर दुर्घटना होने जैसे रेल दुर्घटना, या सड़क पर दुर्घटना। ऐसा भी हो सकता है कि आघात का कोई बाह्य चिह्न यथा खुरचट आदि न हो लेकिन वृक्क कुचल या फट जाये जिससे दीर्घ काल पश्चात् साधारण चोट लगने पर उसके लक्षण उभर आयें। वृक्क के आवरण में बहुत अधिक रक्तस्राव होने के बावजूद भी रक्तमूत्रता नहीं हो लेकिन इस स्थिति में वृक्क स्थान पर मन्द ध्वनि (dull sound) तथा तनावयुक्त शोथ होगा। इन स्थितियों में तुरन्त शल्यकर्म करके रक्तस्राव को येनकेन प्रकारेण रोकना आवश्यक है तथा यदि बहुत अधिक रक्तस्राव हो गया है तो रुग्ण को रक्तादान भी आवश्यक है। लवण जल निक्षेप तो अत्यावश्यक है ही।
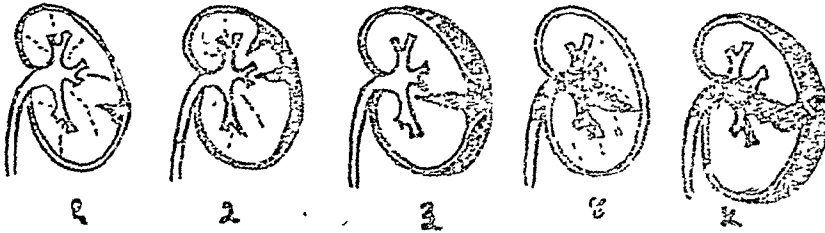
चित्र संख्या—११५

वृक्क पर आघात लगने पर वृक्क में रक्तस्राव की पांच विभिन्न अवस्थायें, जिनमें से कि चौथी एवं पांचवीं अवस्थाओं में वृक्क छिद्र मूत्र गवीनी श्रोणि तक पूर्ण होने के कारण वृक्क से रक्तस्राव गवीनी नलिका में होकर मूत्रा-

चिकित्सा—

कारण एवं लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। रक्तमेह में यदि रक्त किस स्थान से आ रहा है तथा वहां से किस कारण आरहा है यदि यह सुनिश्चित हो जाय तो उस रोग की या उस अङ्ग की यथोचित चिकित्सा करनी चाहिए। साधारणतः विटामिन सी, विटामिन के के योग देने चाहिए। कौएगुलिन सिवा या क्लौडिन के इन्जेक्शन देने चाहिए। शिरान्तर्गत ग्लूकोज, सामान्य लवण विलयन, डैक्स्ट्रोज आदि का प्रयोग करें। अधिक रक्तस्राव की अवस्था में रोगी का ग्रुप ज्ञात कर उसी रक्त के दाता का रक्त आदान कराये जिससे उसकी जीवन रक्षा हो सके।

आयुर्वेदानुसार रक्त मूत्रता को रक्तपित्त में सम्मलित किया गया है। इसके लिये किसी पिच्छिल द्रव यथा शाल्मली पुष्प अथवा पंच वल्कल के शीत कषाय की अथवा गेरू २ तोले, रसौत २ तोले, फिटकरी २ तोले, तूतिया
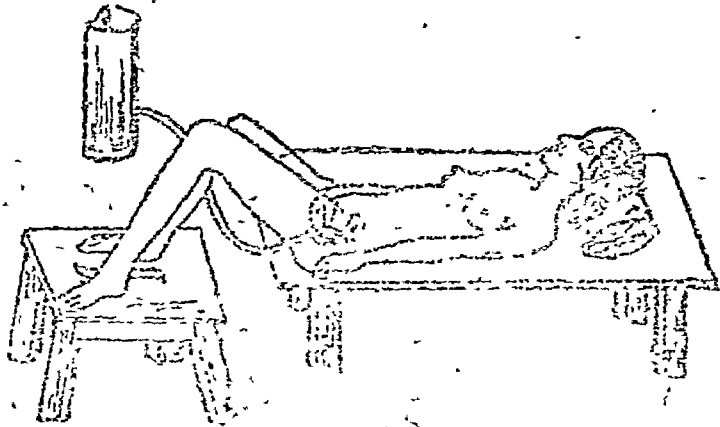
चित्र—११६

२ मासे का पीसकर १ सेर जल में मिलाये हिम से उत्तर वस्ति या पिचकारी देने से लाभ होता है। पथ्यार्थ पेया का सेवन कराना चाहिए। बलाबल देखकर दोष से संशोधनार्थ वमन करायें०। अधोग रक्तपित्त में क्योंकि निदान उष्ण और रूक्ष होता है इस कारण प्रथम पेया द्वारा आदि द्वारा तर्पण करना होता है। यदि वमन कराना अभीष्ट हो तो प्रथम वमन द्वारा संशोधन कराके तत्पश्चात पेया सेवन करायें। मूत्र मार्ग द्वारा प्रवृत्त रक्तमूत्रता में प्रायः जीव रक्त ही होता है इस कारण जीव रक्त है या दूषित रक्त है इस परीक्षा के चक्कर में न पड़ कर उसके रोकने की चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये। कुछ आयुर्वेदिक योग इस प्रकार हैं—

—काकोदुम्बर (कठूमर या कठगूलर) के फल के रस में शहद मिलाकर पिलायें।

—अडूसा पंचांग अथवा केवल पत्तों के क्वाथ में प्रियंगु, संगजराहत (सेलखड़ी), श्वेतांजन (सफेद सुरमा), लोध्र का चूर्ण और मधु मिला कर पान करावें।

मूत्र मार्ग से रक्त की अतिप्रवृत्ति पर शीत तथा स्तम्भक औषधियों की उत्तर वस्ति दें अथवा पंचतृणमूल से सिद्ध दूध का पान करायें। तत्पश्चात् प्रियंगु, फिटकरी, लोध्र तथा रसांजन (रसौत) को समभाग में मिश्रित कर आधा मासा चूर्ण को अडूसे के पत्र स्वरस अथवा मधु में मिला सेवन करायें। यदि शस्त्र के आघात से किसी भी जगह से रक्तस्राव हो रहा है तो इस चूर्ण का उस स्थान पर अवचूर्णन अच्छा लाभ प्रदान करता है।

—दूर्वाद्य घृत (भैष० रत्नावली) की उत्तर वस्ति उत्तम है। सप्तप्रस्थ घृत (भैष० र०) का ३ माशे से ६ माशे तक का आन्तरिक प्रयोग उत्तम है।

—भैषज्य रत्नावली का उशीरासव २ तोला की मात्रा में दिन में तीन बार सेवन करावें। यदि मूत्र में जलन होवे तो चन्दनासव १-१॥ तोले और मिलालें।

पथ्य—वमन तथा लंघन लाभदायक हैं। पुराने साठी धान्य, शालि धान्य, कोदों, जौ, मूंग, मसूर, चना, अरहर, मोठ की दाल, सब प्रकार के कषाय रस वाले द्रव्य, गौ तथा बकरी का दूध, घृत, भैंस का घी, चिरौंजी, कदलीफल (केला), चौलाई, परवल, कोहड़ा के शाक, ताड़ के पके फल (खजूरा), अनार, आंवला, सौंफ, नारियल, डाभ का पानी पीना, कसेरू, सिंघाड़ा, कैथ, कमलकन्द (कमल ककड़ी), फालसा, निम्ब पत्र, चिरायता, तरबूज, सत्तू, दाख, मिश्री, मधु, गन्ने का रस आदि का सेवन। शीतल जल से स्नान, शतधौत घृताभ्यङ्ग आदि उपयुक्त हैं।

अपथ्य—व्यायाम मार्ग गमन, धूप का सेवन, वेग रोध, किसी तेज धक्का लगने वाली सवारी में बैठना, स्वेदन, रक्तमोक्षण, धूम्रपान, मैथुन, कुलथी, गुड़, बैंगन, उड़द, सरसों, मद्य सेवन, लहसुन, कटु अम्ल एवं लवण रस वाले पदार्थ, विदाहकारी द्रव्य हानिकर हैं।

० वमन हेतु मुलैठी के क्वाथ में मधु एवं लवण मिलाकर पिलावें। सत्तू के घोल में मैनफल का ६ मासे चूर्ण यथोचित मधु एवं शर्करा मिलाकर पिलावें। शालपर्णी आदि लघु पंचमूल के क्वाथ में बनाई गई पेया पिलावें।

मूत्र की विभिन्न स्थितियां और उनका प्रतिकार

डा० जयनारायण गिरि 'इन्दु' (मेडीकल जर्नलिस्ट)

१. मूत्र में शर्करा की उपस्थिति—

(क) चन्द्रप्रभा वटी ५ ग्राम, शिलाजित्वादि लौह ५ ग्राम, हेमनाथ रस ५ ग्राम, जामुन की गुठली का चूर्ण २५ ग्राम, मेंथी का चूर्ण २५ ग्राम।

उपर्युक्त पांचों औषधियों को चूर्ण करके खरल में डालकर घोट लें और उसे बड़े साइज के कैपसूलों में भर लें। प्रातः सायं १-१ कैपसूल पानी के साथ दें। शर्करा का आना बन्द हो जाता है।

(ख) मधुमेहारि कैपसूल—

कीकर का गोंद ३ तोला, कीकर का फूल, पत्ता, छाल, फली और जड़ की छाल १-१ तोला, करंज की गिरी निबौली, सालम मिश्री, सतपोदीना, दोनों तुलसी, सत्यानाशी का पंचांग, पुनर्नवा मूल, बकायन का पंचांग, सनाय, कुटकी, निशोथ, रेवन्दचीनी, घीकुवांर, कूठ, हल्दी, रास्ना, काकड़ासिंगी, देवदार, बला, अतिबला, कौंचबीज, पाढल अरणी, गिलोय, एरण्ड, पाषाणभेद, सफेद अर्क, लाल अर्क, शतावरी, अपामार्ग पंचांग, धतूरा, भारंगी, झड़बेर, जौ, कुलत्थ, ढाक के बीज ये प्रत्येक चार-चार तोला लेवें और सबको खूब कूट पीसकर चार सेर गोमूत्र में भिगो देवें। रात भर पड़ा रहने देवें। सवेरे सबको मसलकर छान लें और लोहे की कड़ाही में भर कर चूल्हे पर चढ़ा दें। फिर उसमें गुड़मार का चूर्ण एक पाव, शिलाजीत दस तोला, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, मिर्च, पीपल, पीपलामूल, भिलावा, कत्था, शीशम के बीज भी १-१ तोला कूट पीसकर मिला दें। मन्द अग्नि से पाचन करें। जब अवलेह जैसा बन जावे तब उसमें अभ्रक भस्म, त्रिवंग भस्म, शृंग भस्म, ताम्र और वैक्रान्त भस्म चार चार माशा मिला दें और पकाते-पकाते खूब गाढ़ा कर दें। अन्त में आधा सेर मेढ़ासिंगी के फलों का चूर्ण मिलाकर कूटते-कूटते सूक्ष्म चूर्ण बना दें। धूप में भी सुखाकर कुटाई की जा सकती है, अन्त में १-१ माशा यह चूर्ण कैपसूल में भर लें। प्रातः, दोपहर, सायं और सोते समय एक-एक कैपसूल गरम पानी से सेवन करें। सौ दिन में पूर्ण और स्थाई लाभ हो जाता है। रक्त की चीनी सदा के लिये नष्ट हो जाती है। यदि इसमें अग्निस्थायी हिंगुल, अग्निस्थाई हरताल, अग्निस्थायी यशदभस्म आठ-आठ माशा और मिला दी जाय तो सभी प्रकार के उपद्रवों से युक्त असाध्य मधुमेह को समूल नष्ट कर देता है, यह ध्रुव सत्य है।

—कविराज श्री बी.एस. प्रेमी शास्त्री एम.ए.एम.एस.

(वैद्य रत्न श्री जयनारायण गिरि 'इन्दु' द्वारा सम्पादित 'धन्वन्तरि' के "कैपसूल अङ्क" से साभार)

(ग) कैथ के फल के गूदे को सुखाकर छाया सुखाकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को ३ से ६ माशे की मात्रा में मधु से सुबह शाम नियमित सेवन करायें।

(घ) यूनानी की कुर्स जियाबेतिस २-२ टिकिया प्रातः तथा सायं छाछ से दें।

(ङ) डाइबनीज (फीजर) या डायनाबोल (हैक्स्ट) टेबलेट या इन्सुलिन का इंजेक्शन रोगी की स्थिति के अनुसार दिया जाना चाहिये।

२. मूत्र में एल्ब्युमिन की स्थिति—

[क] चन्द्रप्रभा वटी १० ग्राम, वृहत् वंगेश्वर रस ५ ग्राम, त्र्यूषणादि गुग्गुल ५ ग्राम।

तीनों औषधियों को खरल कर कैपसूल में भर लें। और प्रातः सायं १-१ कैपसूल पानी के साथ दें। प्रयोग से एल्ब्युमिन की मूत्र में उपस्थिति समाप्त हो जायगी।

[ख] चन्द्रप्रभा वटी १० ग्राम, लौह भस्म ५ ग्राम, पूर्णचन्द्र रस १० ग्राम।

सबको खरल करके कैपसूलों में भर लें। रक्ताल्पता रोग में एल्व्युमिन की शिकायत होने पर उपयोगी है। उसके प्रयोग से रक्ताल्पता भी दूर होती है और मूत्र में एल्व्युमिन का आना भी रुक जाता है।

[ग] तारकेश्वर रस १५ ग्राम, पुनर्नवादि मण्डूर ५ ग्राम, शिलाजित्वादि लौह १० ग्राम।

इसे खरल कर कैपसूलों में भर लें। प्रातः सायं १-१ कैपसूल पानी के साथ प्रयोग करने से तीव्र या जीर्ण वृक्क शोथ में लाभ होता है और एल्व्युमिन का आना बन्द हो जाता है।

[घ] स्ट्रेप्टो पैन्सलीन आधा ग्राम, १० दिन तक मांसान्तर्गत देना हितावह है।

३. मूत्र में रक्त की उपस्थिति—

[क] वरुणाद्य लौह १५ ग्राम, प्रदरान्तक लौह १५ ग्राम, पुष्पानुग चूर्ण १५ ग्राम।

सभी को खरल में डालकर एक संग कर लें और बड़े साइज के कैपसूलों में भर लें। २-२ कैपसूल दिन में दो या तीन बार जल अथवा उशीरासव के साथ दें।

[ख] कामदुधारस १५ ग्राम, रक्तपित्तान्तक लौह १५ ग्राम।

इसे कैपसूल में भर लें और प्रातः सायं रात्रि में १-१ या २-२ कैपसूल उशीरासव के साथ दें। रक्तमूत्रता को दूर करके इस विकृति को दूर करता है।

[ग] कैल्शियम सैन्डोज १० सी. सी. का शिरान्तर्गत सूचीवेध करें और क्रिस-४ की सूई प्रतिदिन मांस में दें। मुख द्वारा कैपलिन अथवा स्टीप्टोविट का प्रयोग आशुफलदायक है।

४. मूत्र में पीव की उपस्थिति—

[क] वृहद् वात चिन्तामणि रस ५ ग्राम, प्रवाल पिष्टी १५ ग्राम।

इसे कैपसूलों में भर लें। प्रातः सायं प्रयोग से मूत्राशय शोथ में पीव की उपस्थिति पर लाभप्रद है।

[ख] सोमनाथ रस ५ ग्राम चन्द्रप्रभा वटी १५ ग्रा.।

इसे खरल कर कैपसूलों में भर लें। इसके नियमित सेवन से पाइलाइटिस रोग नष्ट होते हैं और यह विकृति भी दूर हो जाती है।

[ग] गन्धक रसायन, प्रवाल पिष्टी १०-१० ग्राम।

इसे खरल कर कैपसूलों में डाल दें। इसके अवस्थानुसार प्रयोग करने से मूत्र नली शोथ रोगों में उपकार होता है तथा मूत्र में पीव आना बन्द हो जाता है।

५. मूत्र में स्नेह की उपस्थिति—प्रमेह चिन्तामणि रस ५ ग्राम, सर्वेश्वर रस १० ग्राम।

उपर्युक्त दोनों औषधियों को कैपसूलों में भर लें। यह मूत्र में स्नेह आने पर उपकारी है।

६. मूत्र में फास्फेट आने पर—सोमेश्वर रस १० ग्राम मेहवज्र रस १५ ग्राम।

खरल कर इसे कैपसूलों में भर लें। प्रातः सायं १-१ कैपसूल जल के साथ प्रयोग कराने से मूत्र में फास्फेट आना बन्द हो जाता है।

७. मूत्र में आक्जलेट—चन्द्रप्रभा वटी, शुक्रमातृका वटी १० ग्राम।

इसे खरल कर कैपसूलों में भर लें। अवस्थानुसार इसके प्रयोग से मूत्र में आक्जलेट की उपस्थिति समाप्त हो जाती है।

८. मूत्र में हीमोग्लोबिन—शतमूलादि लौह, सोमनाथ रस, प्रवाल पिष्टी प्रत्येक ५-५ ग्राम, आनन्द भैरव रस १० ग्राम।

उपर्युक्त चारों औषधियों को खरल में भली प्रकार घोटकर कैपसूलों में भर लें। इसके प्रयोग से मूत्र में हीमोग्लोबिन का आना बन्द हो जायगा।

९. मूत्र में यूरेट—सर्वेश्वर रस १० ग्राम, पूर्णचन्द्र रस ५ ग्राम। खरल कर छोटे साइज के कैपसूलों में भर लें। मूत्र में यूरेट की उपस्थिति में गुणदायक है।

१०. मूत्र का गंदलापन—स्वर्ण वंग, रजनी चूर्ण २ ग्राम, सत्व गिलोय ५ ग्राम।

इन तीनों को खरल कर कैपसूलों में भरें। आवश्यकतानुसार १ से २ कैपसूल भोजनोत्तर चन्दनासव को समान भाग जल मिलाकर अनुपान के रूप में सेवन करायें।

—डा० जयनारायण गिरि 'इन्दु'
(मेडीकल जर्नलिस्ट)
धजवा, पो० नूरचक (मधुवनी)

प्रोस्टेट ग्रन्थ्यार्बुद

श्री डा० गजेन्द्र सिंह छौंकर ए०एम०बी०एस०
ॐ आयु रक्षक फार्मेसी,
सादाबाद, जिला मथुरा (उ० प्र०)

प्रोस्टेट कैन्सर (Carcinoma of Prostate)–प्रोस्टेट वृद्धि के रोगियों में २०% के लगभग में कैन्सर पाया जाता है। ६० से ७० वर्ष की आयु में इसके रोगी देखने को मिलते हैं। प्रोस्टेट वृद्धि और कैंसर दोनों साथ-साथ भी हो सकते हैं पर अधिकतर वृद्धि के बाद ही कैंसर होता है और यह धीरे-धीरे बढ़ता है।

प्रोस्टेट कैंसर के प्रारूप—तीन प्रकार का होता है–नैदानिक प्रच्छन्न, गुप्त। नैदानिक (Clinical)—में मूत्राशय की ग्रीवा पर अवरोध हो जाने से लक्षण प्रकट होते हैं और मूत्रावधारण हो जाता है।

प्रच्छन्न (Occult) छिपा हुआ किन्तु सक्रिय होता है, कोई लक्षण नहीं उत्पन्न होते, किन्तु वह अस्थियों में स्थलान्तरण के रूप में अपने को प्रकट करता है।

गुप्त (Latent)– छिपा हुआ और निष्क्रिय होता है केवल ऊति परीक्षा पर उसका ज्ञान होता है। गुप्त मन्द-वर्धी, वृद्धियां कई वर्ष तक बिना लक्षण के पड़ी रहती हैं। बहुत सी शव परीक्षाओं से पता लगता है कि ८० वर्ष से ऊपर के १५ % व्यक्तियों में गुप्त कार्सिनोमा होता है।

लक्षण—सामान्यतया प्रोस्टेट के पीछे के भाग में कैंसर का प्रारम्भ होता है और कैंसर के अगल-बगल और ऊपर के भाग में फैलता है। इसका स्थानिक विस्तार शुक्राशय में पहुँच कर वहां व्रण बना देता है श्रोणि की तन्त्रिकाओं के अन्तः सरित (infiltrated)होने पर शिश्न मूत्राधार, पीठ और उरु में तीव्र वेदना रहती है। प्रारम्भ में लक्षण सदृश पुरस्थ विवर्धन के होते हैं अर्थात, दिन और रात में मूत्र त्याग अधिक होना और मूत्र त्याग में कठिनाई होना, मूत्राघात और मूत्रावरोध होता है। बहुत दिनों तक इस का निदान नहीं हो पाता। रोगी का मूत्र बन्द होने पर प्रोस्टेट वृद्धि की परीक्षा के समय व वृद्ध अवस्था में शल्यकर्म के पश्चात् ग्रन्थि परीक्षण से इसका ज्ञान होता है। इस रोग का प्रधान लक्षण जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है मूत्राघात और मूत्रावरोध है पर रोग का कटिप्रदेश की अस्थियों में प्रसरण हो जावे तो कमर में दर्द होती है साथ ही गृध्रसी (Sciatica, अथवा ग्रन्थि कर्म क्षय (फोस्टिलेजिमा) की शिकायत भी रोगी करता है। क्वचित कैंसर की प्रसरणशीलता अस्थि में होने से रक्त पतला होजाता और पांडुता और कृशता के लक्षण भी होते हैं।

परीक्षण—कैंसर वाली प्रोस्टेट ग्रन्थि पाषाणवत् कठिन होती है। निदान के लिये रक्त तथा ऐक्सरे परीक्षा तथा सिस्टोस्कोपी परीक्षा की जाती है। रक्त में एसिड फास्फेट्स का प्रमाण बढ़ा हुआ मिलता है। मूत्रशोथ को रिक्त करवा कर मलाशय द्वारा अंगुली परीक्षा से निदान हो सकता है। पुरस्थग्रन्थि का सामान्य आकार बढ़ा मिलता है तथा उसमें कठोरता परिस्पर्श्य होती है। सिस्टोस्कोप से मूत्राशय की ग्रीवा या त्रिभुजा के आक्रांत होने का पता चल जाता है। श्रोणि और मेरुदण्ड की एक्सरे परीक्षा में अस्थि निक्षेप(deposits) तथा घनीभूत क्षेत्र दृष्टिगोचर होते हैं। प्रोस्टेट से छोटा टुकड़ा सूई द्वारा बायोप्सी परीक्षण से भी निश्चित निदान होजाता है।

चिकित्सा—यह रोग असाध्य है। अधिकतर-रोगियों को उन के जीवन के अन्त तक स्टिलवेस्ट्रोल (Stilboestrol), ५-१५ मिलीग्राम दिन में ३ बार लेना होता है। इसकी दैनिक मात्रा २५ मिलि तक ले जाने से इस रोग की तीव्रता को कम किया जा सकता है। कुछ रोगियों में ईस्ट्रोजन क्रिया की वृद्धि के लिए वृषणोच्छेदन कर दिया जाता है। इस चिकित्सा से रोगी को विश्वास मिलता है और बहुत से रोगी कई वर्षों तक जीवित रहते हैं। चिर अवधारण वाले रोगियों में पारमूत्र मार्ग उच्छेदन (Transurethral resection) आवश्यक होता है।

डॉ० महेन्द्र कुमार शर्मा एम०ए०, ए०एम०बी-एस० (लखनऊ), प्रवक्ता काय-चिकित्सा
डा० दिनेशचन्द्र गुप्ता बी.ए.एम.एस., रेजीडेन्ट मैडीकल आफीसर
ललितहरि राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत (उ० प्र०)

※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※※
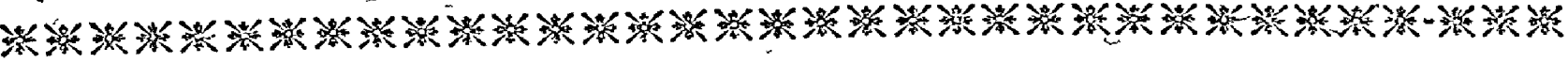
इस अवस्था में शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों व इन्द्रियों की कार्यमन्दता के साथ साथ शारीरिक क्रियाओं को सम्पन्न कराने वाली ग्रंथियां भी अपना समुचित सहयोग देना बन्द करने लगती हैं। मानव शरीर की पौरुष (अष्ठीला) ग्रन्थि भी उक्त विकृति का अपवाद नहीं है। पुरुषों

चित्र—११७
पौरुष ग्रंथि की मूत्रवह एवं प्रजनन संस्थान के अंगों के साथ स्थिति

चित्र ११८—पौरुष ग्रन्थि

में यह ग्रंथि मूत्र स्रोतस के ऊपरी सिरे तथा मूत्राशय के निम्न द्वार को घेरे हुए लगभग २०-२५ ग्राम भार की, चैस्टनट सदृश ४ × ३ × २.५ से.मी. आकार की तथा एक मध्य एवं दो पार्श्व खण्डों से युक्त होती है। इसके दोनों
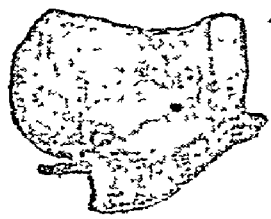
चित्र—११९
वृद्ध पौरुष ग्रन्थि पर शिरा-जाल

ओर के स्रोत मूत्रस्रोत में खुलते हैं। यह ग्रंथि ग्रन्थिल ऊतकों (Glandular Tissue) को घेरे हुये मांस सूत्रों से बनी होती है एवं सौत्रिक तन्तुओं के कैपसूलों से ढकी रहती है। वास्तव में इसी ग्रंथि के द्वारा मूत्राशय का निम्न द्वार (Sphincter) बनता है। इस ग्रन्थि का पतला स्राव शुक्र का सहायक स्राव होता है जो शुक्राणुओं को गति प्रदान करता है। लगभग ५०-५५ वर्ष से ऊपर के वृद्ध पुरुषों में यह ग्रन्थि आकार में कुछ बड़ी हो जाती है, जिसे पौरुष-ग्रंथि वृद्धि कहते हैं। आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के अन्तर्गत इसका वर्णन मूत्राघात में वर्णित मूत्राष्ठीला एवं मूत्र ग्रन्थि के नाम से मिलता है।
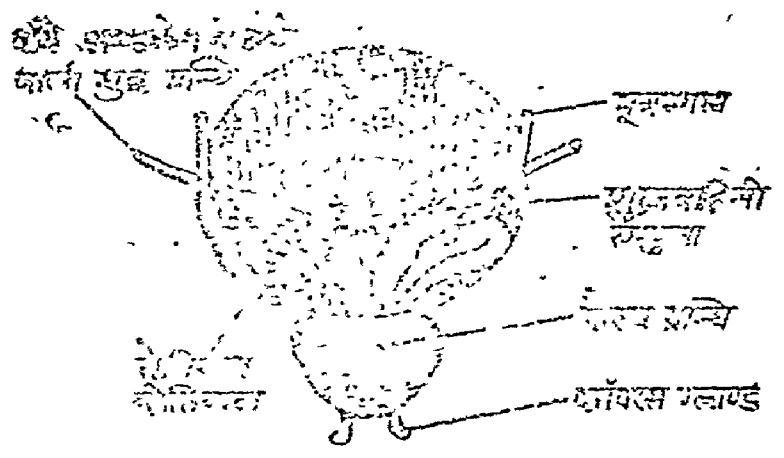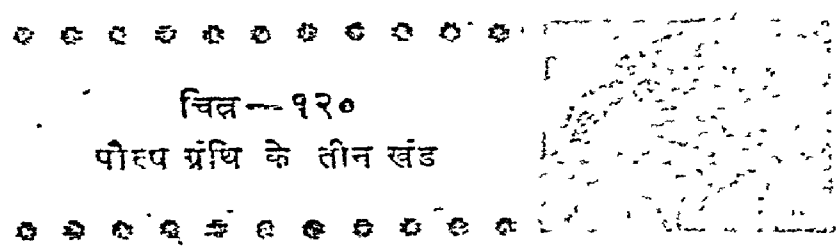
चित्र—१२०
पौरुष ग्रंथि के तीन खंड

कारण एवं रोगकारिता—

वृद्धावस्था में पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि का मुख्य कारण हार्मोन-असन्तुलन होता है। इस आयु में प्रायः पुरुष हार्मोन-टेस्टोस्टेरोन की उत्पत्ति कम हो जाती है तथा
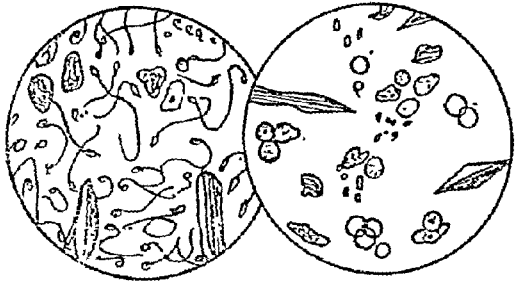
चित्र –१२१
शुक्राणु (बायें) एवं पौरुष ग्रन्थिस्राव (दायें) का सूक्ष्मदर्शकीय चित्र

स्त्री हार्मोन ईस्ट्रोजन की उत्पत्ति अपेक्षाकृत उतनी कम नहीं हो पाती है। इस प्रकार स्वभावतः होने वाले हार्मोन-असन्तुलन से प्रायः दो प्रकार की वृद्धि होती है—

(१) स्नायु तन्तु वृद्धि (Fibro--adenoma of Prostatic enlargement)

(२) पौरुष ग्रन्थि वृद्धि (Carcinoma or Middle Lobe (mostly) enlargement)

ग्रन्थि के पार्श्व खण्डों एवं स्नायु तंतु की वृद्धि से मूत्रोत्सर्ग हेतु जोर लगाने पर मूत्राशय पर भार वढ़ जाता है। फलस्वरूप दोनों पार्श्व खण्ड अन्दर की ओर पास-पास आ जाते हैं जिससे मूत्राशय का निम्न द्वार वन्द हो जाता है एवं इसी के कारण मूत्र निकलना भी वन्द हो जाता है।

पौरुष ग्रन्थि वृद्धि में आकृति विषम एवं कठिन हो जाती है। प्रायः मध्य खण्ड प्रभावित होता है। जो प्रसेक संकोचनी में ऊपर की ओर बढ़ती है। रोगी के मूत्रोत्सर्ग के समय जोर लगाने से मूत्राशय के अन्दर का भार वढ़ जाता है तथा खण्ड नीचे की ओर झुककर प्रसेक संकोचनी को वन्द कर देता है। अतः मूत्र अवरुद्ध हो जाता है। आयुर्वेद के अनुसार इस रोग का कारण प्रवृद्ध वात एवं कफ से रक्त दुष्टि बताया है।

लक्षण—

(१) बहुमूत्रता—पौरुष ग्रन्थि के मूत्रमार्ग या मूत्राशय के अन्दर की ओर आ जाने से सर्व प्रथम रात्रि में मूत्र प्रवृत्ति अधिक (लगभग ३-४ बार) होती है। मूत्र अवरोधनी के खिंच जाने से मूत्र त्याग की इच्छा वार-वार उत्पन्न होती है।

(२) कामशक्ति लोप– प्रारम्भ में पुरुष की कामशक्ति कुछ वढ़ जाती है लेकिन ग्रन्थि के कुछ बड़े होने पर कामशक्ति लुप्त हो जाती है।

(३) मूत्रकृच्छ्र—मूत्र करते समय काफी देर के बाद बूंद बूंद करके उतरती है। मूत्र की धार निर्बल हो जाती है। आगे दूर न गिर कर बिल्कुल नीचे गिरती है।

(४) मूत्राघात—अत्युष्णपान, मद्यपान, अतिशीत सेवन, दीर्घयात्रा या दीर्घकाल तक आराममय विस्तर पर पड़े रहने से मूत्राघात हो जाता है। जिसके फलस्वरूप तीव्र उदरशूल जोकि वंक्षण की ओर गमन करता है, पाया जाता है।

(५) रक्त मूत्र—ग्रन्थि के मध्य खण्ड से सम्बन्धित रक्तवाहिनियों में विस्फार के कारण मूत्र के साथ शुद्ध रक्त आने लगता है। इस अवस्था को रक्त मूत्रता कहते हैं।

निदानार्थ परीक्षा—

(१) उदरगत परीक्षण—मूत्राशय तनावयुक्त मिलता है। वृक्क स्पर्शगम्य हो जाते हैं।

(२) गुद परीक्षण—ग्रन्थि की वृद्धि स्पष्ट चिकनी, कठिन एवं मध्य परिखा का अनुभव किया जा सकता है। गुदपेशी पौरुष ग्रन्थि से अलग स्पर्शगम्य होती है।

(३) आयु प्रायः ५५ वर्ष से ऊपर एवं लक्षण धीरे-धीरे उत्पन्न होते हैं।

(४) अन्तिम अवस्था में देर तक मूत्र रुके रहने से वृक्कों द्वारा यूरिया पूर्णरूपेण न निकल पाने पर उसके रक्त में मिल जाने से यूरीमिया (मूत्र-विषमयता) उत्पन्न हो जाती है।

निश्चयात्मक परीक्षण—

(१) मूत्र परीक्षा—विशिष्ट गुरुत्व कम हो जाता है।

(२) रक्त परीक्षा–यूरिया की उपस्थिति पाई जाती है।

(३) मूत्राशय दर्शी नाड़ी यन्त्र द्वारा परीक्षण—पौरुष ग्रंथि के खंड के आकार की जानकारी।

(४) गोणिका चित्र—वृक्क के कार्य, जलापवृक्कता की जानकारी।

(५) मूत्राशय दर्शी नाड़ी चित्र—ग्रन्थि के बढ़ जाने के कारण टोपी के आकार का अवकाश मिलता है।

(६) प्रोस्टेट कैंसर में सीरम एसिड फास्फेट में के. ए. यूनिट से अधिक मिलता है।

सापेक्ष निदान—

१—मूत्राश्मरी—इसमें गुद परीक्षण में ग्रन्थि का अनुभव नहीं होता है।

—मूत्र परीक्षा में शर्करा, फास्फेट, आक्जीलेट आदि की उपस्थित पाई जाती है।

—यह प्राय; अपेक्षाकृत युवा एवं तरुणावस्था में पाई जाती है।

—इसमें दाहयुक्त अत्यधिक तीव्र उदरशूल पाया जाता है।

चिकित्सा—

१. सर्व प्रथम रोगी को वेदनाशामक औषधि दें।

२. पौरुष ग्रन्थि के शोथ को कम करने के लिये पौरुष ग्रन्थि को दबायें।

३. पौरुष हॉर्मोन टेस्टोस्टीरोन देते हैं।

टेस्टोस्टेरोन इंजेक्शन २५ मि. ग्राम मांसपेशीगत सप्ताह में दो बार। या

टेबलेट मिथायल टेस्टोस्टेरोन ५ मि. ग्राम गोली दिन में ३ बार।

४. कैंसर की अवस्था में स्टिलबेस्ट्रोल ५ मि. ग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार देने से तथा धीरे धीरे बढ़ा कर प्रतिदिन २५ एम.जी. देने से रोग की तीव्रता को कम किया जा सकता है।

५. मूत्र विस्रावण नाड़ी यन्त्र (Self retaining catheter) द्वारा मूत्र निकाल लें। हालांकि यह रोग असाध्य है एवं केवल शस्त्र चिकित्सा ही इस रोग के उन्मूलन के लिये प्रयोग करते हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा—

१—गोक्षुर मूल दूध में पकाकर शर्करा एवं मधु से दें। [सुश्रुत संहिता]

२—शुद्ध शिलाजीत ४ डेसी.ग्राम, शक्कर ६ ग्राम, दशमूल कषाय २५ से ५० मिलीलीटर के साथ देने से अष्ठीला आदि रोगों में लाभ मिलता है [योग रत्नाकर]।
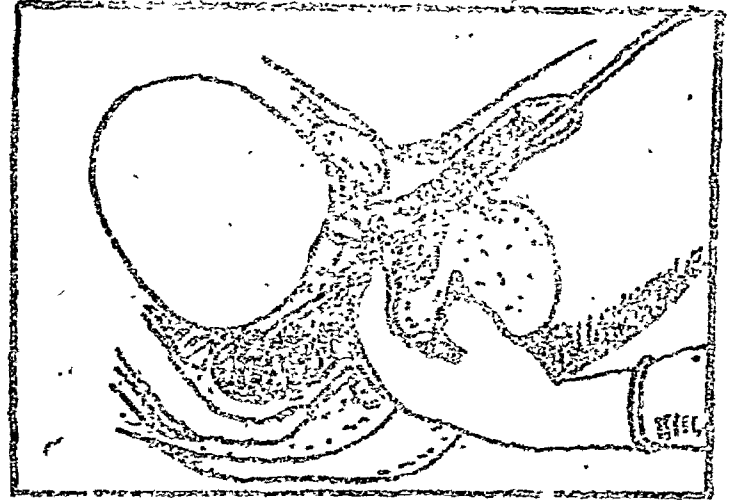
चित्र १२२—पौरुष ग्रंथि वृद्धि के कारण उत्पन्न मूत्रावरोध की चिकित्सार्थ कैथीटर प्रविष्ट कर मूत्राशय को रिक्त करें। यदि इस वृद्धि के कारण कैथीटर प्रवेश में कठिनाई पड़े तो चित्र में दिखाये अनुसार गुदा में अंगुली प्रविष्ट कर कैथीटर को सहारा देकर मूत्राशय में पहुँचायें।

३—बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में इस प्रकार के रोगियों पर वरुण शिग्रु क्वाथ २५ से ५० मि० लि० तड़के समय तक देने से आशातीत लाभ मिलता है।

४—त्रिफला + नमक ५-५ ग्राम व द्राक्षासव १५ से २५ मिली. प्रातः सायं दें।

५—गरम जल से कमर तक अवगाहन मूत्र प्रवृत्ति में लाभदायक होता है।

शल्य चिकित्सा—यह रोग शल्य प्रधान है। औषधि चिकित्सा से लाभ न होने पर कुशल शल्यज्ञ के पास परामर्श के लिये भेजना चाहिये। इस रोग में निम्न विधियों से शल्य कर्म किया जाता है—

१—मैक्कर्थी विधि २—फ्रेयर विधि
३—मिलिन की विधि ४—यङ्ग विधि

उपरोक्त वर्णित विधियों में से यंग विधि (Perineal Prostectomy) केवल अमरीका में ही की जाती है एवं भारतवर्ष में इस विधि से यह शल्य कर्म प्राय: नहीं किया जाता है। अन्य विधियों में प्राय: फ्रेयर विधि द्वारा इस रोग की चिकित्सा की जाती है।

पौरुष ग्रन्थि वृद्धि की चिकित्सा

श्री डा० जयकुमार 'सुधाकर'

प्राचीनाचार्यों के अनुसार प्राय: सभी रोगों में स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, लंघन आदि कई क्रियायें बतलाई है जो देश काल और रोगी की अवस्थानुसार चिकित्सक को करवानी चाहिए। इस रोग में रोगी को ८-१० दिन तक अन्नाहार बिलकुल बन्द करके फलाहार देना चाहिए।

चित्र १२३
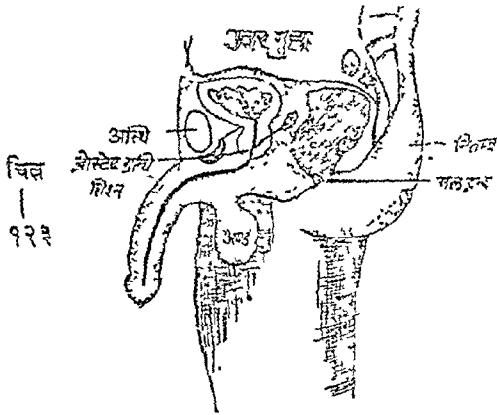
सायंकाल के बाद तरल पेय, फल नहीं देने चाहिये। पीने के लिये गरम पानी और यदि रोगी को कोष्ठबद्धता (कब्ज) हो तो अन्य रेचक औषधियों की अपेक्षा गरम पानी का एनिमा ही श्रेयस्कर है। प्रतिदिन प्रात काल १० मिनट तक कटि स्नान के पश्चात् रोगी घूमे।

खाने के लिए रोगी को—

सोडावाई कार्ब, यवक्षार, मूलकक्षार, नवसार, शीतल-चीनी और शंख भस्म ४-४ रत्ती लेकर इन सबकी ४ पुड़िया बनाकर १ सुबह ७ बजे, दूसरी १२ बजे, तीसरी सायं ५ बजे और चौथी रात में १० बजे १-१ तोला सारिवाद्यासव एवं चन्दनासव में २ तो. पानी मिलाकर दें।

पेडू पर टेसू के फूल बांधना भी श्रेयस्कर है। यदि इससे पेशाब साफ न उतरे तो रबर के कैथीटर द्वारा रोगी की पेशाब उतारनी चाहिये, जहां तक हो सके धातु के कैथीटर का प्रयोग नहीं करें क्योंकि इससे ६०% रोगियों को पेशाब में खून आने लगता है। यदि रबर का कैथीटर २-३ दिन तक लगाने की जरूरत पड़ जावे तो कोई हानि नहीं है। सिर्फ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जब भी कैथीटर लगावें, गरम पानी से साफ कर लें। जहां औषधियां पेशाब उतारने में असफल हो जाती हैं वहां पेडू पर काली मिट्टी की पट्टी बांधने से कुछ ही घण्टों में पेशाब उतर आती है।

यदि पेशाब बूंद बूंद आती हो तो वैद्य रत्न में लिखित निम्न योग चावल के जल या गुड़ के साथ दें—

घटक द्रव्य—इलायची, पाषाणभेद, शिलाजीत, पिप्पलादि। यदि पेशाब में खून आता हो तो ऊपर वाले योग में स्फटिका भस्म ४ रत्ती मिलाकर रोगी को देवें।

कोष्ठबद्धता (कब्ज) की अवस्था में यदि एनिमा सम्भव न हो सके तो उष्ण जल से ३ ग्राम की मात्रा में त्रिफलादि चूर्ण देना श्रेयस्कर है।

चन्दन चूरा, चन्द्रप्रभा वटी, गोक्षुरादि गुग्गुल, आरोग्यवर्धनी, वंगभस्म, नागभस्म, वंगेश्वर, कांकायन गुटिका, लोहभस्म, श्वेत पर्पटी, पुनर्नवा की जड़ का चूर्ण आदि रोगी की अवस्थानुसार दें।

रात्रि में टी कंप भी रोगी के लिये उचित है। इसके लिये एक लम्बे और ६ इंच चौड़े कपड़े को लेकर पानी में भिगोकर निचोड़ लेना चाहिये। इसके बाद पेडू में चारों तरफ लपेट कर जननेन्द्रिय एवं पौरुष ग्रन्थि के ऊपर से लेते हुए पीछे की ओर ले जाके ऊपर से सूखा ऊनी वस्त्र अच्छी तरह लपेट देना चाहिये।

आजकल के वैज्ञानिक लोग इस रोग पर 'खेरीन' नामक इन्जेक्शन प्रयोग करते हैं। 'प्रोस्टेटीन एक्स' नामक औषधियां भी श्रेयस्कर है। 'स्पीमेन फोर्ट' गोलियां भी प्रात: सायं २-२ गोली पानी के साथ दें।

पथ्यापथ्य—इस रोग में पुराना चावल, जौ, गेहूं, मूली, गाजर, दूध, परवल गन्ना का रस, सन्तरा, मौसम्मी, कोमल नारियल, हरड़ आदि वस्तुयें देनी चाहिए। शराब, आलू, बैंगन, लालमिर्च, तैल, खटाई आदि नहीं देनी चाहिए। मैथुन सदा वर्जित है।

पौरुष ग्रन्थिशोथ एवं वृद्धि

डा. प्रकाश चन्द्र गंगराडे

अक्सर पौरुष ग्रन्थि के बढ़ने अथवा उसमें सूजन आने की तकलीफ वृद्धावस्था में ही होती है। पौरुष (प्रोस्टेट) ग्रन्थि हमारे शरीर में महत्वपूर्ण कार्य करती है। किशोरावस्था से युवावस्था के परिवर्तन, प्रजनन शक्ति,
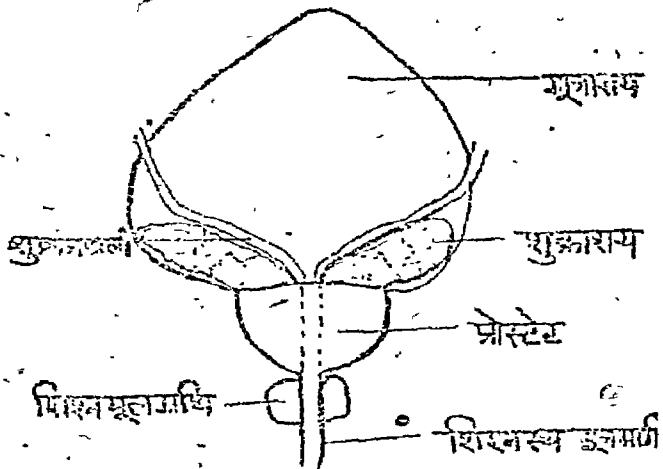
चित्र -- १२४
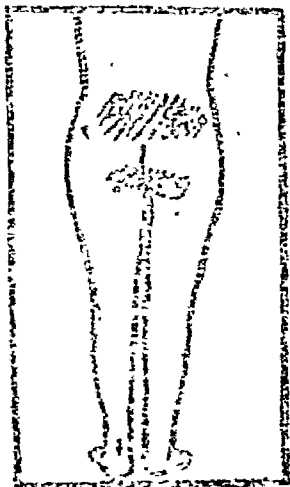
चित्र---१२५

जीर्ण पौरुष ग्रन्थि शोथ में दर्द के स्थान---
इसके साथ ही नीचे जंघाओं में भी हल्का-हल्का दर्द अधिक जीर्ण अवस्था में रहता है।

स्वर में मोटापन इसी की बदौलत होता है। ३ सेंटीमीटर व्यास वाली शंकु रुप की यह ग्रंथि मूत्राशय के द्वार पर चिपकी मिलती है। इसी ग्रंथि के बीच में से होकर मूत्र-नली शिश्न तक जाती है। किसी कारणवश जब इसमें

शोथ या सूजन आजाती है तो मूत्राशय का मार्ग रुक जाता है और मूत्र शरीर से बाहर न निकल पाने के कारण यूरीमिया (मूत्र विष) की तकलीफ होने लगती है।

हारमोन---असंतुलन की वजह से पौरुष ग्रंथि में शोथ
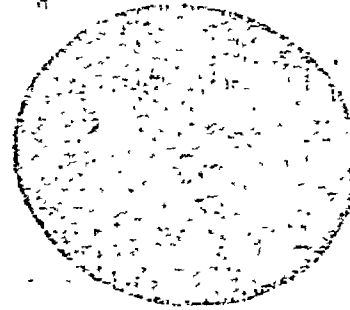
चित्र---१२६
पौरुष ग्रंथि स्राव की अविकृतावस्था का सूक्ष्मदर्शकीय चित्र
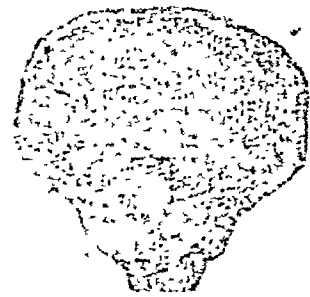
चित्र---१२७
पौरुष ग्रन्थि वृद्धि के कारण उत्पन्न अवरोध से मूत्राशय में भित्ति सूत्रों का उभार हो गया है।
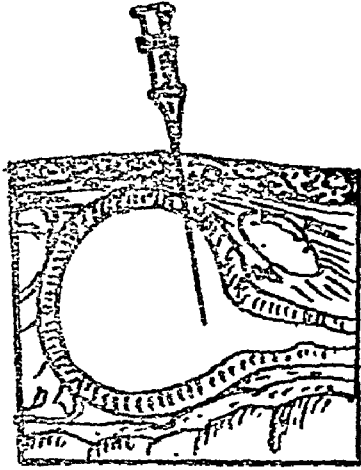
चित्र—१२८

पौरुष ग्रन्थि शोथ के कारण उत्पन्न मूत्रावरोध की आत्ययिक अवस्था (इमर्जेन्सी) में, जबकि मूत्राशय मूत्र से पूरित होने के कारण रोगी दुखी हो और कैथीटर प्रवेश आदि सभी उपाय फेल हो गये हों तो इस प्रकार से कटिवेदनी सूचिका को सीधे ही मूत्राशय में प्रविष्ट कर उसका मूत्र रिक्त कर रोगी को राहत पहुंचायें।

आना मुख्य रूप से माना जाता है। इसके अलावा गोनोकोक्कस, स्ट्रेप्टो कोक्कस, स्टेफिलो कोक्कस, आंतों के कीटाणु, पथरी और गुदा के अनेक रोगों के कारण व कैथीटर के अनुचित प्रयोग करने से यह हो जाया करता है।

इस के आरम्भिक लक्षणों में बार बार रात में पेशाब आना, रोग ग्रस्त स्थान पर सख्त दर्द और जलन होना, मूत्र करते समय उसकी धार दूर न गिरकर बिलकुल नीचे गिरना, बूंद-बूंद कर उतरना, काम शक्ति का लोप होना व मूत्र बंद हो जाना प्रमुख हैं। गुदा के अन्दर अंगुली प्रवेश कर चिकित्सक आसानी से बढ़ी हुई प्रोस्टेट ग्रन्थि पता कर सकते हैं।

आजकल ५० वर्ष से ऊपर की उम्र के लगभग ३०% पुरुषों को इस रोग की शिकायत होजाती है। उनमें से तीन में इसका मुख्य कारण कैंसर होता है। आरम्भिक कैंसर के उपचार में सर्जरी से लाभ हो सकता है। इस ग्रंथि को आपरेशन से निकाल देने पर जीवन अवधि घटती नहीं।

एलोपैथी चिकित्सा पद्धति में इस रोग के उन्मूलन के लिए अक्सर सर्जरी का प्रयोग किया जाता है। औषधियों में हार्मोन का प्रयोग होता है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा में रोगी के लक्षण तथा अवस्था के अनुसार चन्द्रप्रभावटी, गोक्षुरादिगुग्गुल, चन्दन चूरा, बंग भस्म, आरोग्यवर्धनी, नाग भस्म, कांकायन गुटिका, श्वेत पर्पटी, लोहभस्म, पुनर्नवा की जड़, गोक्षुर मूल, त्रिफला चूर्ण आदि का प्रयोग किया जाता है।

होम्योपैथिक चिकित्सा विज्ञान में लक्षणों के अनुसार सैबाल सैरुलेटा, कोनियम, सिमिसिफयूगा, फेरम पिक्रेटम, चिमाफिला, स्पाजिया तथा थूजा का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जाता है।

शिश्न का अर्बुद और उसका उपचार

कविराज आचार्य श्री हरिवल्लभ मन्नूलाल द्विवेदी सिलाकारी शास्त्री, चिकित्सक चक्रवर्ती, आयुर्वेद बृहस्पति,
स्वार्थी निरंजन-निवास, कोतवाली रोड, सागर (म० प्र०)

शिश्न का अर्बुद अधिक भयानक कष्ट कारक होता है। यह अर्बुद इस जन्म के कुकृत्य एवं पूर्व जन्म में किए हुए दुष्कर्मों का फल है। यह कई कारणों से होता है, किंतु उनमें से जो प्रधान कारण हैं, वे निम्न हैं—
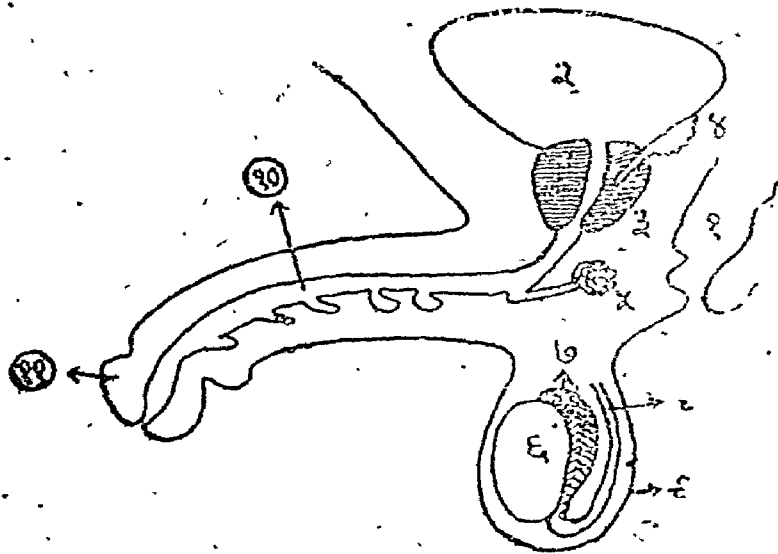
चित्र—१२९

मूत्रवह संस्थान एवं पुरुष प्रजननांग

१. मलाशय	२. मूत्राशय	३. पौरुष ग्रंथि
४. शुक्राशय	५. कूपर ग्रंथि	६. वृषण ग्रंथि
७. उपांड ग्रंथि	८. शुक्ररज्जु	९. त्वचा
१०. मूत्र प्रसेक नलिका	११. शिश्न मुण्ड	

कारण—१. अत्यधिक सम्भोग करने से, शिश्न मुंड के चर्म के फट जाने से, उत्पन्न घाव की उपेक्षा करने से शिश्न का अर्बुद उत्पन्न होता है।

२. उपदंश का उपचार उचित नहीं होने पर अथवा स्थाई उपचार न करने से यह उत्पन्न होता है।

३. अधिक काल तक अयोनि अथवा पशुयोनि में या मुष्टि-मैथुन करना।

४. स्वल्प सुख के लिए लिङ्ग के ऊपर उत्कट द्रव्यों द्वारा तैयार भिन्न-२ प्रकार के लेप, तिला या तैल आदि
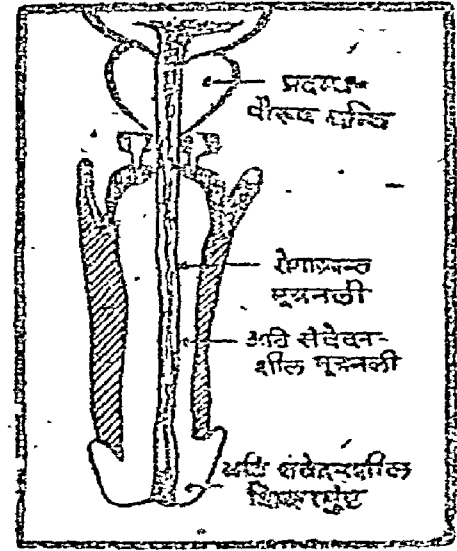
चित्र --१३०

शिश्नार्बुद उत्पत्ति में सहायक कतिपय रोग

के उपयोग करने से भी शिश्न के अर्बुद की उत्पत्ति होती है।

५. गर्भ निरोध के लिए नाना प्रकार के अस्वाभाविक प्रयोग और मैथुन करना।

६. सुपारी (शिश्न-मुंड) के नीचे की ग्रन्थियों का स्राव जो सुपारी को चिकना रखती है। यदि यह स्राव सुपारी के नीचे एकत्रित हो जाय और बाहर न निकले तो उस स्थान पर खराश पैदा होने लगती है। काफी समय तक इस स्राव के रहने से शिश्न का अर्बुद (कैंसर) उत्पन्न हो जाता है। सुपारी के मांस को हटा (लौटा) कर यदि प्रतिदिन स्वच्छ जल से धो दिया जावे तो अर्बुद होने की सम्भावना नहीं रहती।

लक्षण—शिश्नार्बुद की प्रथमावस्था—प्रारम्भ में लिंगमणि के किसी एक भाग में एक छोटी सी फुंसी अथवा घाव होता है। साधारणतः पहले इस पर ध्यान नहीं दिया जाता। शनैः शनैः यह फुन्सी बढ़ कर फूलगोभी का रूप धारण कर लेती है। आरम्भ में इसमें किसी

प्रकार की पीड़ा नहीं होती। किन्तु जब इसकी वृद्धि होती है, तब वृद्धि के साथ ही पीड़ा प्रारम्भ होने लगती है और दिन प्रतिदिन कष्ट बढ़ता जाता है। कभी कभी लिङ्गमणि के किसी भाग में फेन के समान सफेद फुन्सी अथवा घावों की वृद्धि होती है। शनैः शनैः यह घाव बढ़ने लगता है तथा अन्तः प्रविष्ट हो जाता है। इस घाव को थोड़ा सा दबा देने मात्र से रक्त बहने लगता है।

द्वितीयावस्था—इस अवस्था में अर्बुद इतने बड़े हो जाते हैं कि लिङ्गमणि का चर्म खोला या बन्द नहीं किया जा सकता। शनैः शनैः इस घाव का क्षय होने लगता तथा इसके साथ साथ लिङ्गमणि गलने लगता है और साथ ही रक्तस्राव होने लगता है। एक या दो वर्ष के भीतर सम्पूर्ण शिश्न (लिंग) गलकर नष्ट हो जाता है। शिश्न क्षय के साथ-साथ निम्न उपद्रव उत्पन्न होने लगते हैं—सर्व प्रथम रक्तस्राव में वृद्धि होजाती है, थोड़ा सा आघात लगने से अधिक रक्तस्राव होने लगता है। घाव में जलन एवं पीड़ा होने लगती है, कभी कभी घाव पर सफेद पर्त (पपड़ी) जम जाती है। धीरे धीरे कष्ट में अभिवृद्धि होती जाती है।

तृतीयावस्था में रोगी अधिक अशक्त हो जाता है। यक्ष्मा रोगी के समान नियमित रूप से ज्वर होने लगता है। इस अवस्था में रोगी का सम्पूर्ण शिश्न नष्ट हो जाता है। मूत्र निकलने के लिये केवल अल्प मार्ग खुला रहता है। धीरे धीरे रोगी के चलने-फिरने की शक्ति क्षीण हो जाती है।

चतुर्थ अवस्था सम्पूर्ण रूप से शिश्न के नष्ट होजाने के बाद भी अधिकतर रोगी जीवित रहते हैं। इस दशा में रोगी के अण्डकोष में घाव हो जाता है। यह घाव बढ़ कर उदर की मांसपेशी को भी आक्रांत कर देता है। शनैः शनैः मूत्राशय के दोनों पार्श्व आक्रांत हो जाते हैं। इस अवस्था में रोगी को पेशाब करते समय काफी कष्ट होता है, धीरे धीरे रोगी का कष्ट बढ़ता जाता है। अत्यधिक कष्ट के कारण रोगी मूर्च्छित भी हो जाता है।

उपचार—

(१) रोगी की अवस्था के अनुसार प्रथम विरेचन, वस्ति और उत्तर वस्ति देकर उदर तथा मूत्राशय शुद्धि के पश्चात् निम्न उपचार करना चाहिए—

(२) प्रथमावस्था में—चन्द्रप्रभावटी १ माशा, त्रिफलागुग्गुल १ माशा, रसमाणिक्य २ रत्ती, सबको मिलाकर एक मात्रा तैयार कर लेनी चाहिए।

अनुपान—त्रिफला क्वाथ २॥ तोला में मधु १॥ तोला मिलाकर लेना चाहिए।

समय—दिन में चार बार तक। अथवा रोगी और रोग की अवस्थानुसार व्यवस्था बनाकर देना।

(३) भोजनोपरांत—सारिवाद्यासव २ तोला, उशीरासव २ तोला ताजा जल ४ तोला मिलाकर दिन में दो बार सेवन कराना चाहिए।

(४) द्वितीयावस्था में—काञ्चनारगुग्गुल १ माशा, गंधक रसायन ४ रत्ती, वंग भस्म २ रत्ती। तीनों को मिलाकर एक मात्रा कर लेना।

अनुपान—गोदुग्ध मिश्री युक्त एक पाव।

समय—प्रातः १० बजे तथा रात्रि में १० बजे, दो बार देना।

(५) उत्तरवस्ति—त्रिफलाक्वाथ में स्वल्प मात्रा में फिटकरी चूर्ण डालकर कैथीटर द्वारा मूत्रेन्द्रिय मार्ग से मूत्राशय प्रक्षालन करना (देखें चित्र १०६)

(६) तृतीयावस्था में—ताम्रभस्म २ रत्ती, स्वर्णमालिनीवसन्त २ रत्ती, वङ्गभस्म २ रत्ती, चोपचीनी चूर्ण १ माशा। सबको मिलाकर एक मात्रा बनाकर उपयोग करना चाहिए।

अनुपान—त्रिफलाक्वाथ में मधु मिलाकर, दिन में तीन बार सेवन करना चाहिये।

(७) चतुर्थावस्था में—त्रिफला गुग्गुल १ माशा, रसमाणिक्य २ रत्ती, बंग भस्म २ रत्ती। तीनों को मिलाकर एक मात्रा तैयार कर लेना चाहिए।

अनुपान—मधु गो दुग्ध मिश्री मिलित १॥ पाव।

समय—दिन में तीन बार। अथवा—आवश्यकतानुसार

(८) भोजनोत्तर—महामंजिष्ठादि क्वाथ २॥ तोले, मधु २ तोले।

(९) दशांगलेप में हल्दी चूर्ण मिलाकर घृत के साथ शिश्न पर लेप लगाना चाहिए।

(१०) वेदना की दशा में—नीमपत्र तथा त्रिफला के गरम क्वाथ से सेक करना चाहिए।

आहार में—नमक, खटाई, मिरच, गुड, शीत एवं वायुकर पदार्थों का सर्वथा त्याग करना चाहिये। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन तथा मिस्सी रोटी नमक रहित घी के साथ और गौ दुग्ध सेवन करना चाहिये।

"वृक्कार्बुद का उपचार" और "शिश्न का अर्बुद और उसका उपचार" इन दोनों लेखों के उपचार में लिखित शास्त्रोक्त औषधियों के योग शार्ङ्गधर संहिता तथा रसयोगसागर में कथित हैं। इन ग्रन्थों में देखकर वैद्य बन्धु निर्माण कर सकते हैं अथवा विश्वसनीय प्राचीन फर्म द्वारा निर्मित क्रय कर सकते हैं। योग परम्परागत एवं ६० वर्ष से स्वयं चिकित्सा काल में व्यवहृत अनुभूत हैं। आर्ष आयुर्वेदाचार्यों का मत है कि—"या क्रिया व्याधिहरणि सा चिकित्सा निगद्यते"

अनुभूत योग—

मधुमेह में—शुद्ध शिलाजीत २ तो., नागभस्म २ तो., जामुन गिरी ४ तो., गूलर बीज ४ तो., बिल्व पत्र ५ तो. गुड़मार पत्र ५ तोले। विधि—करेला विल्वपत्र तथा गुड़मार पत्र के रस या क्वाथ में एक दिन मर्दन कर रख लेना।

मात्रा—१ से १॥ माशा से २ माशा पर्यन्त, अवस्थानुसार। अनुपान—वरुणादि क्वाथ अथवा ताजा जल।

समय—दिन में दो से चार बार तक, आवश्यकतानुसार। समस्त मधुरपदार्थ त्याग कर जौ की रोटी, मूंग की दाल, मसूर की दाल, परवल, करेला, मेंथी का साग सेवन कराना। कथन है—"विनापिभेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते"।

अश्मरी पर—शुद्ध शिलाजीत, हजरुलयहूद भस्म, वंग भस्म, यवक्षार, इलायची बीज, पांचों समानभाग और इन सबके बराबर गोखरू लेना चाहिए।

विधि—सबको कूटछान कर पञ्च तृणमूल तथा गोखरू में खूब घोंट कर जंगली बेर बराबर गोली बना सुखाकर रखलें। मात्रा—१ से २ गोली तक। अवस्थानुसार। अनुपान—के गोखरू के क्वाथ में यवक्षार तथा मिश्री मिलाकर देना। दिन में चार बार तक, आवश्यकतानुसार। रोगी को दाना फङ्ग दो रत्ती वजन का तांबे में जड़वाकर पहनना चाहिये। गुड़, लालमिरच, तेल, खटाई, गरम मसाले, गर्म चीजें बन्द कर, केवल पुरातन चावल तथा दूध देना चाहिये।

******

शिश्न मुण्ड शोथ (BALANITIS)

शिश्न मुण्ड शोथ स्थानीय अन्य रोगों के उपद्रव रूप में होता है जिसमें शिश्न मुण्डच्छद (Prepuce) के अन्तःपृष्ठ और शिश्न की त्वचा का शोथ होता है। आक्रांत
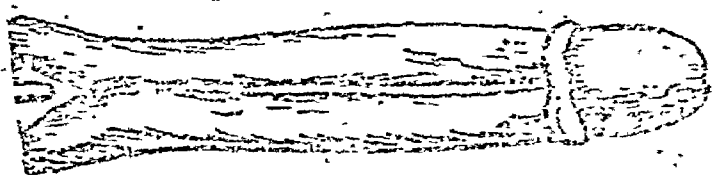
चित्र—१३१

स्थान में वेदना और पूययुक्तस्राव निकलता है।

रोग का कारण उपदंश, सुजाक, अश्मरी, निरुद्ध प्रकश आदि सकते हैं।

चिकित्सा—रोग के कारण के अनुसार ही की जाती है। शिश्न की त्वचा के शोथ पर व्रणरोपक, शोधघ्न औषधियों का प्रयोग किया है, रोग की उग्रावस्था में मुण्डच्छद को ऊपर से छिन्न करके जैन्शियन वायोलेट या २ प्रतिशत मर्क्यूरोक्रोम को शिश्नमुण्डच्छद पर लगाया जाता है। पारद विलयन से धोया जाता है।

आयुर्वेद में—त्रिफला क्वाथ से सेक कर धोकर, जात्यादि तैल लगाना उत्तम है। उपदंश, सुजाक अश्मरी आदि कारणों की उनके अनेक लक्षणानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

परिवर्तिका अवपाटिका निरुद्ध प्रकश

वैद्यरत्न डा० जय नारायण गिरि "इन्दु"
धजवा (मधुबनी)

परिवर्तिका—

परिवर्तिका को आंग्ल भाषा में फाइमोसिस कहते हैं, यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें लिगाग्र चर्म लिगाग्र पर पीछे की ओर किसी कारणवश परावर्तित नहीं किया जा सकता। इस रोग के लक्षणों पर विहंगम दृष्टि से विचार करते हुए महर्षि सुश्रुताचार्य ने संकेत किया है—

सवेदनः सदाहश्च पाकं च व्रजति क्वचित।
मारुतागन्तु सम्भूताम् विद्यात्तां परिवर्तिकाम् ॥
सकण्डूः कठिनाश्चापि सैव श्लेष्म समुत्थिता ॥

अर्थात् इस रोग में लिंग का चर्म ऊपर की ओर चढ़ जाता है तथा सुपारी (मणि) के नीचे ग्रंथि रूप में होकर लटकता रहता है। कभी कभी उसमें दाह, और पीड़ा भी परिलक्षित होते हैं। यदि इस रोग में खुजली चलना तथा कठिनता प्रतीत हो तो ऐसी स्थिति में इसे कफजनित परिवर्तिका समझना उचित है। भोज ने अपनी संहिता में सुश्रुताचार्य के उपर्युक्त कथन से सहमति व्यक्त की है—

मणेरधोमेढ्र चर्म व्यानस्तु परिवर्त्तयेत् ।
सशूलतोद दाहार्थैर्विज्ञेया परिवर्तिका ॥
श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्प वेदना।
(भोज संहिता : निदान स्थान)

परिवर्तिका के कारणों का उल्लेख करते हुए सुश्रुत का कहना है—

मर्दनात् पीड़नाच्चापि तथैवाप्यभिघाततः ।
मेढ़ चर्म यदा वायुर्भजते सर्वगतश्चरः ॥
तदा वातोपसृष्टं तु चर्म प्रति निवर्त्तते।
मणेरधस्तात कोषश्च ग्रंथिरूपेण लम्बते ॥

यानी हस्तादि द्वारा मर्दन करने से, अधिक दवाने से तथा चोट लगने से (मैथुन के समय झगड़ा होने अथवा बलात्कार सम्भोग की चेष्टा के परिणामस्वरूप अभिघात लगने) सर्व शरीर संचारी व्यान वायु जब लिंग के चर्म में प्रविष्ट होती है तब वायु से आक्रांत होकर चर्म ऊपर की ओर उठ जाता है और परिवर्तिका की उत्पत्ति हो जाती है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञों के मतानुसार परिवर्तिका जन्मजात और अर्जित ये २ प्रकार के हो सकते हैं—

जन्मजात परिवर्तिका—साधारणतः यह लम्बित संकीर्ण लिगाग्रत्वक् सूक्ष्म मूत्रनलिकाबहिछिद्र या लिगाग्र तथा लिगाग्र चर्म के बीच अभिघात के कारण उत्पन्न होता है। यह अधिकतया पायी जाती है। मूत्रकृच्छ्रता, मूत्रत्याग में कठिनाई, मूत्र त्याग के पश्चात् भी बूंद बूंद करके मूत्र का निष्कासन और मूत्र नलिका की सूजन तथा लिगाग्र का पीछे की ओर नहीं फिरना आदि इसके मुख्य लक्षण हैं।

अर्जित परिवर्तिका—यह अस्थायी रूप में पूयमेह, कोमल क्षत आदि जनित प्रदाह के कारण या स्थायी रूप में इन क्षतों के अच्छा होने पर क्षतांकजनित अभिघात या तनाव के कारण उत्पन्न हो सकता है। इस अवस्था की कैंसर में परिणति होने की शंका रहती है। निरुद्ध प्रकश और शिश्न की कलापुटक या फ्रीनम में फटन आदि भी पाये जाने सम्भव हैं।

चिकित्सा—विश्व में सर्वप्रथम शल्य चिकित्सा के

प्रतिष्ठापक महर्षि सुश्रुत ने परिवर्तिका चिकित्सा के सम्बन्ध में कहा है—

परिवृत्तिं घृताभ्यक्तां सुस्विन्नमुपनाहयेत् ।
ततोऽभ्यज्य शनैश्चर्मचानयेत् पीडयेन्मणिम् ॥
प्रविष्टे च मणौचर्म स्वेदयेदुपनाहनैः ।
त्रिरात्रं पंचरात्रं च वातघ्नैः साल्वणादिभिः ॥
दद्याद्वातहरान् वस्तीन स्निग्धान्यन्नान भोजयेत् ॥

—सुश्रुत संहिता, चि० २० श्लोक ४०-४१

परिवर्तिका चिकित्सार्थ प्रभावित लिंग में घृत लगा कर भली भांति स्वेदन करके उपनाह अर्थात् पुल्टिस बांधनी चाहिए । एतदर्थ गुड़ और गेहूं के आटे को पानी व घी से थोड़ा-थोड़ा डालकर आग पर पकाकर लूपरी बांधी जा सकती है । अलसी को दरदरा कूटकर उसमें थोड़ा गुड़ और अलूना घी और पानी डालकर आग पर पका लेई सी बनाकर कवोष्ण ही व्रणों पर बांधना हितावह सिद्ध होता है । उपनाह कर्म के उपरान्त घी की मालिश करके शिश्नमुंड दबाते हुए चर्म को धीरे धीरे नीचे उतारना चाहिए । मणि के अन्दर प्रविष्ट होने पर चर्म को शाल्वण स्वेद (चक्रदत्त में वातव्याधि चिकित्सान्तर्गत वर्णित) द्वारा तीन या पांच दिन स्वेदन करना चाहिये । वातनाशक वनस्पतियों का प्रयोग [जैसे दशमूल का काढ़ा करके उसमें अरण्डी का तैल डालकर वस्ति (एनिमा) लगाना व इन्हीं से व्रण धोना] करना चाहिए । एलोपैथिक चिकित्सकों के अभिमतानुसार चार लाख यूनिट का प्रोकेन पेनिसिलिन प्रतिदिन मांसान्तर्गत देना चाहिए । एतदर्थ Pronapen (Pfizer) या Crys 4 (Squibb) का इन्जेक्शन दिया जाना चाहिए । सूजन नहीं रहने पर खतना (Circumcision) कर देना चाहिए। लिङ्गमणि से आगे की ओर चमड़ी को खींचकर और दूसरे हाथ से लिङ्गमणि को बचाते हुए फाजिल चमड़ी को काट दिया जाता है । इसके बाद लिंगाग्रचर्म की श्लैष्मिक कला और चर्म को कैटगट के ४-६ सींवन द्वारा सींकर पेनसिलिन २ लाख या पेसलीन गाज का ड्रेसिंग उसी में बांध देते हैं जो कैटगट के गल जाने पर ८-१० रोज बाद खुद खुलकर गिर जाता है । इस स्थान को आपरेशन के बाद प्रतिदिन स्प्रिट अथवा डिटाल से सफाई करते रहना चाहिए ।

अवपाटिका

इस व्याधि में शिश्नमुण्ड के ऊपर के चर्म का खोल यानी लिंग चर्म फट जाता है । एलोपैथ इस स्थिति को Tear in the Prepuce कहते हैं । इस रोग के कारणों की विवेचना सुश्रुत के द्वारा निम्न रूप में की गई है—

अल्पीयः खां यदा हर्षाद बाला गच्छेत् स्त्रियं नरः ।
हस्ताभिघातादथवा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥

इसके लक्षण भी सुश्रुत में निम्न रूप से वर्णित हैं—

मर्दनात् पीड़नाद्वापि शुक्र वेग विघाततः ।
यस्यावपाटयेत चर्मतान् विद्यादवपाटिकाम् ॥

— सु० नि० अ० १३

अर्थात् जब कोई मनुष्य अल्प योनिच्छिद्र वाली अल्प वयस्का स्त्री के साथ प्रहर्ष (कामोत्तेजना का वेग) पूर्वक सम्भोग या बलात्कार करता है उससे अथवा लिंग वर्द्धनार्थ तिला लगाते समय या हस्तमैथुन करते समय हाथ के अभिघात (चोट) से चर्म के ऊपर चढ़ जाने से किंवा चर्म के मर्दन (रगड़ने) और पीड़न (भींचने) से तथा उपस्थित शुक्रवेग को रोकने से शिश्न का चर्म फट जाता है । यही अवपाटिका है ।

अवपाटिका (tear in the prepuce) की चिकित्सा परिवर्तिका के समान ही करनी चाहिये । परिवर्तिका के समान ही स्वेदन और उपनाह की क्रिया/सम्पादित करनी चाहिये । क्षत की स्थिति का प्रेक्षण कर वात, पित्त और कफ में से जिस दोष की प्रधानता प्रतिभासित हो, तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ।

अवपाटिकां जयेदेवं यथा दोषं चिकित्सकः ।

—सुश्रुत चि. २०

यदि रोगी चिकित्सा हेतु विलम्ब से आवे और शिश्न चर्म में व्रण बन जाये और पूय की उपस्थिति दीख पड़े

तो "एक्रीफ्लेविन लोशन" का प्रयोग कल्याणकारी है। पूय की दशा में उचित सफाई और एण्टीबायोटिक्स भैषजों का मौखिक प्रयोग निश्चित रूप से लाभकर है।

निरुद्ध प्रकश

निरुद्ध प्रकश को आंग्ल भाषा अथवा एलोपैथों की भाषा में Paraphimosis कहते हैं अथवा phimosis। महर्षि वाग्भट्ट के अनुसार मणि का विकास निरुद्ध होने से इस रोग को "निरुद्ध मणि" भी कहते हैं। माधव निदान के मधुकोष टीकाकार लिखते हैं—

"निरुद्ध प्रकशत्वान्निरुद्ध प्रकशः।"

अर्थात् शिश्न चर्म द्वारा मणि ढक जाने से शिश्नमणि पर प्रकाश पड़ना निरुद्ध (बन्द) हो जाता है, अतः इस का नाम "निरुद्ध प्रकश" है। महर्षि सुश्रुताचार्य ने इसके कारणों और लक्षणों पर प्रकाश डालते हुये कहा है—

> वातोपसृष्टमेवं तु चर्म संश्रयते मणिम्।
> मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ॥
> निरुद्ध प्रकशे तस्मिन्मन्दधार सुवेदनम्।
> मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्न च विदीर्यते ॥

अर्थात्, वात से दूषित शिश्नचर्म मणि को पूर्णरूपेण आच्छादित कर लेता है तथा चर्म से ढकी वह मणि मूत्र निष्कासन मार्ग को बन्द कर देती है तथा मूत्र मार्ग के बन्द होने पर पीड़ा के बिना ही मूत्र हल्की धार के रूप में निकलता है, किन्तु शिश्नमुण्ड खुलता नहीं। इस प्रकार वात प्रकोप से उत्पन्न तथा किंचित् पीड़ादायक यह रोग "निरुद्ध प्रकश" होता है। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति मतावलम्बी इसके दो भेद मानते हैं (१) जन्म जात और (२) जन्मोत्तर। जन्मजात का कारण गर्भवृद्धि दोष है। जन्मोत्तर का कारण बच्चों में शिश्नचर्म के बार बार खुजलाने, पकड़ कर खींचने तथा नखक्षत होते हैं। युवाओं में इसका प्रधान हेतु पूयमेह होता है। वृद्धावस्था में इस रोग का प्रधान कारण मूत्राशय की पथरी, मूत्रमार्ग शोथ तथा पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि हो सकती है।

विश्व के प्रथम शल्य प्रस्तोता सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा विधि निम्न रूप से सम्पादित करने का विधान इङ्गित किया है—

> निरुद्ध प्रकशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम्।
> दारवीम् वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत् ॥
>
> परिषेके वसा मज्ज शिशुमार वराहयो।
> चक्र तैलं तथा योज्यं वातघ्न द्रव्य संयुतम् ॥
>
> त्र्यहात् त्र्यहात् स्थूलतरां सम्यङ्नाडीं प्रवेशयेत्।
> स्रोतो विवर्धयेदेवं स्निग्धमन्नं च भोजयेत् ॥
>
> भित्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यः क्षतवदाचरेत्।

—सु० चि० अ० २०

यानी, निरुद्धप्रकश में दोनों ओर छिद्र वाली लोहे, लकड़ी या लाख की बनी नली पर घी लगाकर शिश्नमार्ग के अन्दर प्रवेश करना चाहिये। शिश्नमुण्ड के परिषेक के लिये मगर तथा सूअर की चर्बी और मज्जा तथा वात-नाशक द्रव्यों से युक्त तेल (कोल्हू का तेल) का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार २, ३ दिन के बाद क्रमशः मोटी नली भली भांति प्रवेश कर स्रोत (मार्ग) को बढ़ाना चाहिये तथा स्निग्ध अन्न खिलाना चाहिये अथवा सेवनी को बचाते हुये शस्त्र कर्म कर सद्यःक्षत विधि के अनुसार उपचार करना चाहिये। आधुनिक चिकित्सानुसार ०.१% एड्रीनलीन युक्त १०% शक्ति का स्थानिक संज्ञा और पीड़ाहर कोकेन के घोल का लेप पीड़ित स्थान पर लगाकर १०-१५ मिनट उसके संज्ञाहर प्रभाव की प्रतीक्षा की जाती है। यदि सूजन बहुत अधिक है तो सुई चुभाकर और गाज से दाबकर अधिकाधिक पानी उसमें से निकाल दिया जाता है। उसके बाद गाज से पकड़कर चमड़ी को आगे की ओर खींचते और अनरौल करते हुये बलपूर्वक प्रत्यानयन करते हैं। सफल नहीं होने पर संकोचक बलय या पट्टी को काट देते हैं। जिसके बाद प्रत्यानयन क्रिया सुगम हो जाती है। कुछ दिनों के पश्चात् सुविधानुसार खतना (Circumcision) किया जा सकता है।

निरुद्ध प्रकाश (PHIMOSIS)

डा. जी. आर. भाटी. डी. सी एच, डी. आर. एस. (लंदन) एम. ए. एम. एस (लाहौर)
एम एस. सी. (ए.) (झांसी), आयुर्वेदरत्न (प्रयाग), आयुर्वेद मनीषी (जयपुर),
आयुर्वेद महोपाध्याय (हैदराबाद), पाली (राजस्थान)

'निरुद्धप्रकश" को "निरुद्धप्रकाश" भी कहा जा सकता है परन्तु आर्षग्रंथों के उद्‌भट विद्वानों ने इसका नामकरण निरुद्ध प्रकश ही करना ठीक समझा है। आयुर्वेद के अधिकृत ग्रन्थों में इसका विवरण अधिक विस्तार से नहीं मिलता जितना एलोपैथिक ग्रंथों में मिलता है। कारण प्राचीन युग में लोगों के सात्विक रहन सहन तथा ब्रह्मचर्य के विधिवत् पालन से यह रोग अधिक होता ही नहीं था और एक अधिक प्रचलित रोग न होने के कारण इस पर ज्वर अतिसार आदि रोगों जैसा विस्तारपूर्वक प्रकाश नहीं डाला गया है।

पं० भावमिश्र ने अपने ग्रंथ भावप्रकाश में जो संक्षेप में लेकिन साधिकार इस पर लिखा है उसमें इसके बारे में थोड़े ही में सब कुछ आ जाता है अर्थात् निदान से लेकर चिकित्सा तक उसमें समा जाती है। वे लिखते हैं—

> वातोपसृष्टे मेढ्रे तु चर्म संश्रयते मणिम्।
> मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोत्रो रुणद्धि च॥
> निरुद्धप्रकशे तस्मिन्मन्दधारमवेदनम्।
> मूत्रं प्रवर्त्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते न च॥
> निरुद्धप्रकशं विद्यात्सरुर्ज वात संभवम्॥

अर्थात् शिश्न में कुपित वात का संचार होकर के वह वात चर्म द्वारा शिश्नमणि को अपने अन्दर कर लेता है तथा शिश्नमणि को आवृत करके मूत्र द्वार तक पहुंच जाता है। इसके फलस्वरूप मूत्र पतली धार से ही पीड़ा करते करते निकलता है। शिश्नमणि प्रयत्न करने पर भी चर्म के बाहर नहीं निकलता। इस स्थिति को निरुद्धप्रकश कहते हैं और यह वातजन्य रोग है। वे आगे लिखते हैं—

> निरुद्धप्रकशे नाड़ीं लौहीमुभयतोमुखीम्।
> दारवीं जतुकृतां वा घृताक्तां सम्प्रवेशयेत्॥
> परिषिञ्चेद्वसा मज्जां शिशुमार वराहयोः।
> चक्रतैलं तथा योज्यं वातघ्न द्रव्यसंयुतम्॥
> त्र्यहात्स्थूलतरां सम्यक् नाड़ी मार्गे प्रवेशयेत्।
> स्रोतो विवर्द्धयेदेवं स्निग्धमन्नंच भोगयेत्॥
> भित्त्वा वा सेवनी मुक्त्वा सद्यः क्षतवदाचरेत्।

अर्थात् चिकित्सक लकड़ी, लोह या अन्य किसी वस्तु का बना दुतरफे मुख वाले नाड़ी यंत्र को चिकना कर शिश्नचर्म के छिद्र में प्रवेश करे और बाहर से भी किसी चिकने पदार्थ (चर्बी, घृत, मज्जा एवं चक्रतैलादि) से सिंचन करते हुए प्रतिदिन पिछले दिन से कुछ मोटा नाड़ी यंत्र शिश्नचर्म ढीला करने हेतु प्रयोग कुछ दिन जारी रक्खे तथा रोगी को बलकारक स्निग्ध पदार्थ सेवन कराते जाय। यदि यह क्रिया सफल न हो और पूर्ण जानकारी (शल्यकर्म करने की मय यंत्र शस्त्रादि के) हो तो शिश्नचर्म को आगे खींचकर चर्म को काट दें और कटे स्थान की विधि अनुसार चिकित्सा करें। यह है संक्षेप में चिकित्सा का आयुर्वेदिक वर्णन। अब हम आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की तरफ मुड़ते हैं।

"निरुद्धप्रकश" अथवा "फाइमोसिस" दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार को "जन्मोत्तर" तथा दूसरे प्रकार को "सहज" कहते हैं। प्रथम अथवा जन्मोत्तर निरुद्ध प्रकश बालक युवा तथा वृद्ध तीनों को होता है। शिशु तथा बालकों में किसी को शिश्नचर्म कच्छू तथा

दबाता है तथा शिश्नचर्म को आगे की ओर खींचता रहता है। ऐसा करने तथा मर्दन, पीड़न एवं खुजली के फलस्वरूप शिश्नचर्म में व्रण तथा शोथ उत्पन्न हो यह रोग हो जाता है। उधर बड़ों में औपसर्गिक पूयमेह (सुजाक) तथा सौफ्ट सोर (सैंकर) आदि रोग उनके गलत कर्मों तथा अन्य अनेक असावधानियों के फलस्वरूप होने से भी शिश्नमणी के आगे शोथ के साथ चर्म बढ़ता जाता है जिससे इस रोग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अलावा इसके भी बस्तिगत् अश्मरी (पथरी), मूत्रमार्ग संकोच, अष्ठीला वृद्धि तथा शिश्नचर्म में व्रणों की उत्पत्ति तथा अस्वच्छता इत्यादि अनेक छोटे मोटे कारणों से शिश्नचर्म में क्षोभ तथा खुजली एवं व्रण उत्पत्ति होकर (चर्म के निरंतर मर्दन करते रहने तथा उसको आगे खींचते रहने से) यह रोग उत्पन्न हो जाता है। ये हैं अधिकांश कारण "जन्मोत्तर" निरुद्ध प्रकश के।

अब दूसरे प्रकार अर्थात् "सहज" निरुद्धप्रकश पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं। यह जन्म समय से ही गर्भ में रहते किसी दोष के कारण उत्पन्न हो जाता है। यदि मूत्रत्याग करने का शिशु या बालक का छिद्र बहुत छोटा न हो तथा माता पिता सावधान या जानकार न हों तो इस रोग का पता बाल्यावस्था तक चलता ही नहीं है। बाद में कहीं जाकर युवावस्था के आरम्भ में पता चलता है जबकि रोगी का शिश्नोत्थान (लिङ्ग का उत्तेजित होना) होने लगता है तथा रोगी लिंग का मर्दन करता है। हस्तमैथुन की कुटेव से भी लिंग का उत्तेजन तथा मर्दन होता है और तब शिश्नमणि पर से चर्म के न हटने (जन्मजात छोटा मुख होने से) रोग का पता चलता है। मैथुन करने पर भी चर्म मणि से पीछे नहीं हटता है जिसके फलस्वरूप एक तरफ न तो मैथुन का पूर्ण आनन्द रोगी को प्राप्त होता है और दूसरी तरफ उसको शिश्न में पीड़ा तथा शोथ का अनुभव होता है। शिश्नमणि के ऊपर सबके एक प्रकार का श्वेतरंग का मैल भी उत्पन्न होता रहता है जिसको स्वस्थ पुरुष तो पानी से प्रक्षालन कर सकता है परन्तु निरुद्ध प्रकश रोगी चर्म मुख के न खुलने से नहीं धो पाता। इससे वहां उसके सतत बने रहने पर पीड़न तथा क्षोभ होने के फलस्वरूप मर्दन आदि करने से एक कर्कटार्बुद (कैन्सर) सा

यही नहीं अपितु निरुद्ध प्रकश रोग होते हुए स्त्री के साथ मैथुन करने पर रोगी को दो अन्य रोग भी हो सकते हैं। वे हैं "अवपाटिका" तथा "परिवर्तिका" रोग। अवपाटिका योनि छिद्र में उत्तेजित लिंग को प्रवेश करने पर शिश्नचर्म का फटना, चिरना संभव हो जाता है कारण शिश्नमणि उससे आच्छादित जो रहता है। इस प्रकार उमंग एवं कामांधता में उस चर्म के कट, फट चिरजाने को अवपाटिका रोग कहते हैं। इसका उपचार भी योग्य अनुभवी शल्य चिकित्सक से लेना चाहिये अन्यथा इससे अनेक रोग होकर यौवन अथवा जीवन बर्बाद हो सकता है।

दूसरा रोग जो निरुद्ध प्रकश के रोगी को हो सकता है, वह है "परिवर्तिका" रोग। मैथुनावस्था में लिंग का जबरन मर्दन करके योनि में प्रवेश करने से उसमें पीड़न होकर उसका चर्म परस्पर आच्छादित रगड़न के द्वारा नीचे इकठ्ठा होकर गांठ का सा रूप धारण कर लेता है। इसको परिवर्तिका रोग कहते हैं। इसका भी अगर अवपाटिका सा शीघ्र शल्य चिकित्सक से उपचार न हो तो शिश्नमणि और रोगों से आक्रांत होकर रोगी को मूत्रत्याग तथा मैथुनादि में भयंकर कष्ट प्रदान करता है।

चिकित्सा— यदि माता पिता को रोगी की शिशु या बालावस्था में रोग का भान हो जाय तो किसी अनुभवी शल्य चिकित्सक जिसके पास कि ऐसे रोग को ठीक करने के समस्त उपकरण तथा औषधियां हों, से विधिपूर्वक चिकित्सा लेनी चाहिये। चिकित्सक को प्रथमावस्था में मूत्र छिद्र के आसपास कोई स्निग्ध पदार्थ प्रवेश करके चतुराई पूर्वक रोगी को कम से कम पीड़ा पहुंचाते हुए शिश्नचर्म को धीरे-२ चौड़ा करके ऊपर की ओर चढ़ाना चाहिए। यदि काफी दिन ऐसा प्रयोग करने पर लाभ नजर आवे तो धीरे धीरे शिश्नचर्म को चौड़ा कर ऊपर चढ़ाते रहना चाहिये।

यदि उपरोक्त प्रयोग कामयाब न हो तो पीछे लिखे आयुर्वेदीय पद्धति से किसी नाड़ी अथवा संदंश यंत्र की सहायता से शिश्नमणि पर उसको घुमाकर लिंगमणि से चर्म को दूर करना चाहिए तथा साथ ही साथ किसी उष्ण स्निग्ध पदार्थ का सिंचन भी जारी रखना चाहिये। यदि

—शेषांश पृष्ठ ३२०पर देखें।

वृषण-अधिवृषण शोथ

श्री डा० वेदप्रकाश शर्मा ए.एम.बी-एस.
I/C राज. आयु. चिकि., फीरोजाबाद (आगरा)

वृषण शोथ (Orchitis)—कर्णमूल ग्रन्थिपाक (Mumps) के साथ जब वृषण पाक होता है उस समय वृषण ग्रंथि में शूल होता है, वह फूल जाती है किन्तु उसमें पूयोत्पत्ति नहीं होती। वृषण में रक्त द्वारा संक्रमण होता है, उसमें लसिकाओं की भार मार हो जाती है जिसके उपरान्त तन्तूत्कर्ष होकर कोषक्षय हो जाता है जो आगे चलकर वन्ध्यत्व क्लैव्य का कारण बनता है। ३० प्रतिशत रोग दोनों वृषणों में होता है और शोथ तथा पाक होकर उभयपार्श्वी रोग से पुरुष में बन्ध्यता हो जाती है। एक ग्रन्थि में पाक होने पर क्लैव्यता नहीं होती। तरुणों में कर्णमूल ग्रन्थिपाक के साथ वृषणपाक मिलता है पर बालकों में यह उतना नहीं मिलता।

चित्र। १३२
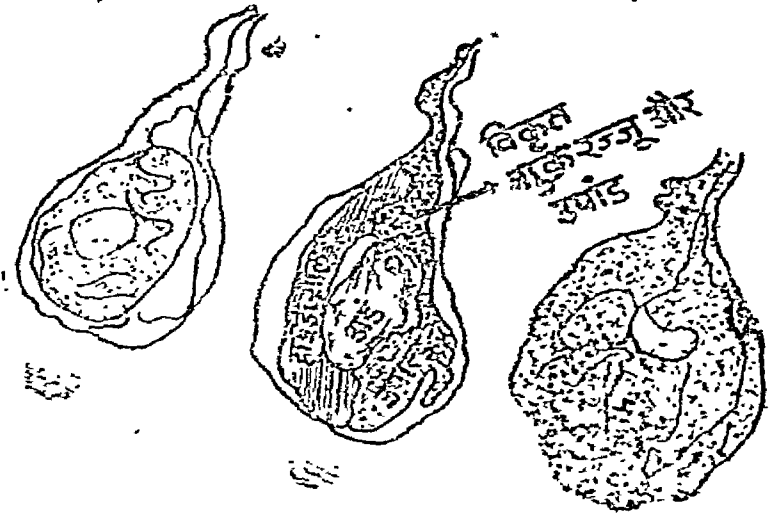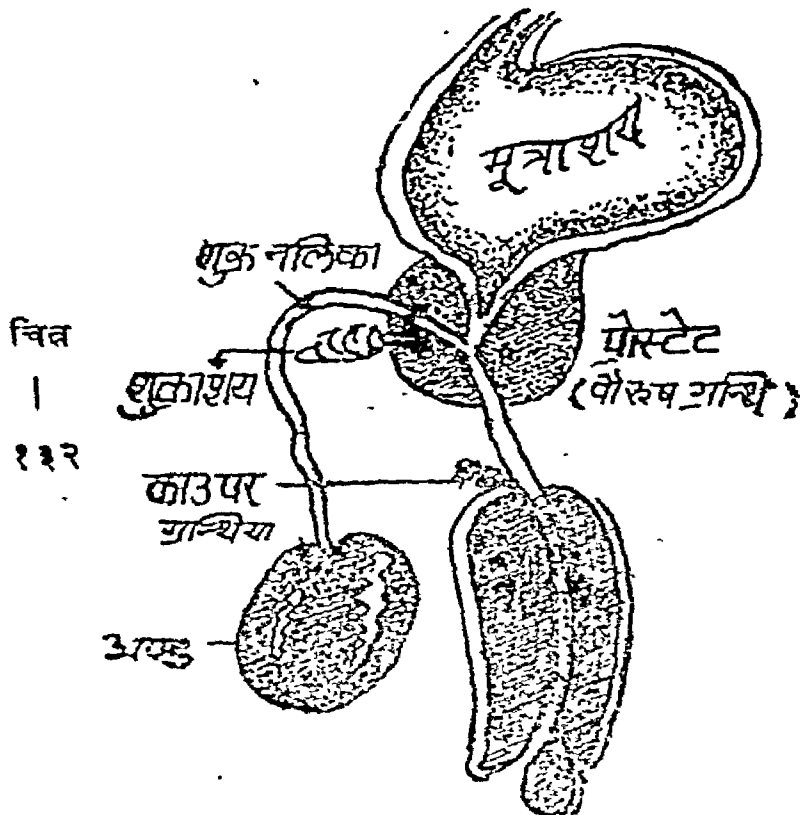
अधिवृषण शोथ (Epdidymitis)—अधिवृषण शोथ गोनोरियाजन्य मूत्रमार्ग शोथ या अस्त्रप्रयोग व पुरस्थोच्छेदन के पश्चात् हो सकता है। साधारणतया गोनोकोकस, स्टेफिलोकोकस और इस्कीरिया कोलाई रोग का कारण होते हैं। किसी व्यक्ति को जब गोनोमेहजन्य उपसर्ग लग जाता है तो २-२॥ मास पश्चात् अधिवृपणों में पाक प्रारम्भ होता है। वृपण सूज जाते हैं, शूल होता है, वृपण रज्जु भी मोटी हो जाती है, (चित्र १३३) विवर्धित और स्पर्शासह होता है, पूय आती है, रोग शीतकम्प के साथ अकस्मात् प्रारम्भ होता है, ज्वर बढ़ जाता है।

चित्र—१३३

अधिवृषण का यक्ष्माजन्य शोथ—संक्रमण पौरुष ग्रंथि अथवा शुक्राशयों से शुक्रवहा द्वारा पहुंच सकता है। प्रथम अधिवृषण का निम्न ध्रुव आक्रान्त होता है फिर सारे अधिवृषण को आक्रान्त करने के पश्चात् वृषण में फैल सकता है। अधिवृषण कड़ा हो जाता है। किलाटीभवन (Caseation) और मृदु होने पर वृषण कोष के निम्न और पार्श्व भाग में एक नाड़ी व्रण (Sinus) वन जाता है। चिकित्सा न करने पर रोग उभयपार्श्वी हो सकता है, रोग के विस्तार शुक्रवहा मोटी और पविल (Nodular) हो जाती है। शुक्राशय भी विवर्धित और परिस्पर्श्य हो जाते हैं। शुक्रवाहिनियों (Vasa deferens) के अधिच्छद को बहुत हानि पहुंचती हैं। व्रण वस्तु के संकोच करने पर उनके सुषिरक मुड़ जाते हैं जिसके कारण शुक्रवहन में गड़बड़ी होकर क्लैव्यता हो आती है।

तीव्रावस्था व्यतीत होने पर जीर्णावस्था प्रारम्भ होती है जो वर्षों रहती है। तन्तुत्कर्ष इस अवस्था का प्रधान लक्षण है। जिसके कारण ऊति का शनैः शनैः क्रमिक नाश होता रहता है।

चिकित्सा—कई मास तक यक्ष्मा रासायनी चिकित्सा आवश्यक है। एक ओर के रोग में अधिवृषणोच्छेदन और रोग बढ़ने पर वृषणोच्छेदन करना उचित है।

वृषणार्बुद (Tumours of Testis)

डा० प्रेमशंकर शर्मा ए.,एम.बी-एस, इन्चार्ज—राज. आयु. चिकि. तसीमो वाया धौलपुर (राज०)
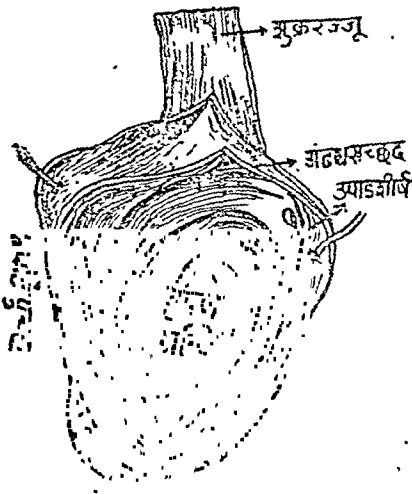
चित्र—१३४

दस वर्ष के बालक से ३० वर्ष के युवक में यदि गुप्त वृषणता या कोई लिंगसूत्री विकृति हो, तो वृषणार्बुद पाये जातेहैं। दुर्दम अर्बुद वृषण के अन्दर उत्पन्न होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) सेमिनोमा (Seminoma)—सूक्ष्म शुक्राणुजन नलिकाओं (सेमीफेरस ट्यूब्यूल्स) में उत्पन्न होते हैं। अर्बुद कड़ा, ठोस, एक समान आकृति वाला व धीरे धीरे वृहदाकार हो सकता है।

(२) टेरटोमा (Tertoma)—ये जनन कोषाओं से बनते हैं, जिनमें पेशी, तान्तव ऊतक और उपास्थि कोशिकाएं होती हैं और रक्तस्राव क्षेत्र भी हो सकते हैं।

(३) कोरियन उपकलार्बुद (Chorion Epithelioma)—यह वृषण का सबसे दुर्दम अर्बुद है जो अनावरोहित वृषण में अधिकतर होते हैं।

लक्षण—जब भी वृषणार्बुद बनने लगता है, वृषण बढ़ने लगते हैं, पर वेदना का सर्वथा अभाव रहता है। अर्बुद चिकना, ठोस और एक समान तथा भारयुक्त होता है। वृषण रज्जु धमनी (स्परमेटिक आर्टरी) के प्रारम्भ पर स्थित परामहाधमनी पर्वों (पेरा एओरटिक नोड्स) में स्थानान्तरण होता है, जिससे नाभि से एक ओर उदर में एक प्ररूपक (Typical) पिंड बन आता है। कुछ रोगियों में क्षीणता (Cachexia) भी होती है।

जब अन्तस्तरीय कोशिकाओं में अर्बुद बनता है, तो लड़कों के कम उम्र में ही दाढ़ी-मूंछ आ जाती हैं। स्तनों की वृद्धि भी साथ साथ पायी जाती है।

चिकित्सा वृषणोच्छेदन और वृषणरज्जु का उच्च बन्धन (Ligation) किया जाता है तथा परामहाधमनी पर्वों की गम्भीर 'एक्स-रे' चिकित्सा की जाती है। यह विषय शल्य चिकित्सा (Surgery) का है। अतः शल्य शास्त्र की पुस्तकों में वृहद् वर्णन द्रष्टव्य है।

मूत्र रोग चिकित्सा

प्रकीर्ण—प्रकरण

(पंचम खण्ड)

चरक
के
आधार पर

वैद्य श्री वेणी माधव अ० शास्त्री भिषगाचार्य, एच०पी०ए०, एम०ए०, पी-एच०डी०
काय चिकित्सा विभागाध्यक्ष—शासकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, ग्वालियर

मूत्र सम्बन्धी प्राकृत विकृत शारीर —
भ्रूणिकी (Embryology)—

......संसर्ग शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसंप्रयोगात्तदा गर्भोऽभिनिवर्त्तते । च.शा.३।३

शुक्र शोणित संयोग जब अन्तर्गर्भाशयगत होता है तथा यथाकाल चेतनावान् अणुरूप मनोवेग भी संयुक्त होता है, तब गर्भ धारण हुआ अनुभव किया जाता है, परीक्षा से मान्य भी किया जाता है। इस गर्भावस्था का विकास क्रमशः शुक्र शोणित के साथ नित्य सम्बन्ध रखने वाले जाति सूत्रों (Chromosomes) के अनुसार होता है। इसी क्रम को महर्षि चरक ने शारीर ३ खुड्डिका गर्भावक्रान्ति कहकर मातृज एवं पितृज अवयवों के विकास क्रम के निरूपण सहित वर्णित किया है। यथा—

यानि खल्वस्य गर्भस्य मातृजानि, यानिचास्य मातृतः
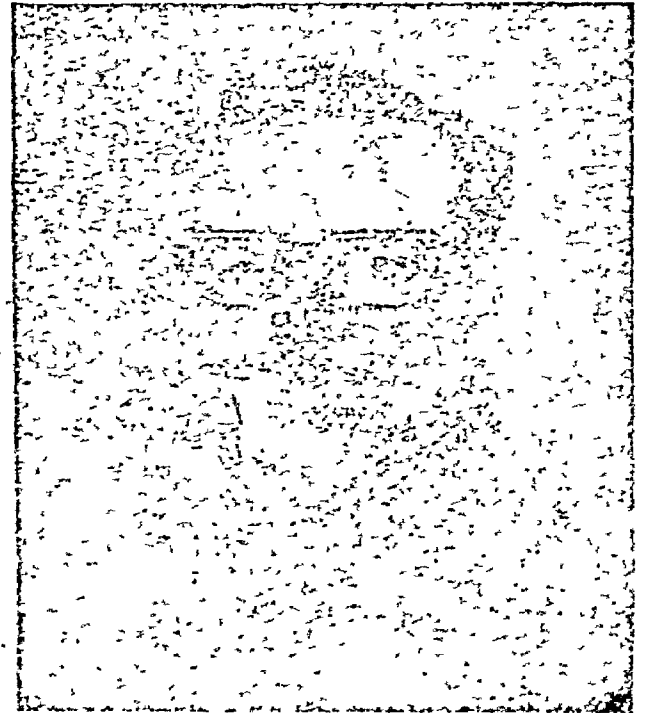
संभवतः संभवन्ति, तान्मनुव्याख्यास्यामः—त्वक् च, लोहितं च, मांसं च, मेदश्च, नाभिश्च, हृदयं च, क्लोमं च, यकृच्च प्लीहा च, वृक्कौ च, वस्तिश्च, पुरीषाधानं च। माशयश्च पक्वाशयश्चोत्तर गुदंचाधार गुदं च क्षुद्रांत्रं च स्थूलांत्रं च वपा च, वपावहनचेति। एवमेव—केशश्मश्रुनखलोम दन्तास्थि सिरास्ना युधमन्वः शुक्रं चेति पितृजानि।
—च०शा० ३।६-७

मातृज अवयवों में वृक्क, वस्ति, वपा, वपावहन, मेद एवं पितृज अवयवों में धमनी का विकास प्रकट किया है।

पुनः इस विकास क्रम को जोकि जाति सूत्रों के परिणाम से नियन्त्रित है महर्षि चरक ने भौतिक विकास क्रमानुसार महती गर्भाशय क्रान्ति अध्याय में—'गर्भस्तु खल्वन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमि विकारश्चेतनाधिष्ठानम् तः' कहा है। उक्त मातृज एवं पितृज अवयव विकास को भी पुन. प्रकारान्तर से महाभूत विकार मानकर निरूपित किया है। यथा—

मातृजादयोऽप्यस्य महाभूतविकारा एव। तत्रास्याकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च, वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः, अग्न्यात्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिरौष्ण्यं च, अबात्मकं रसो रसनं शैत्यं मार्दवं स्नेहः क्लेदश्च, पृथिव्यात्मकं घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्चेति। च०शा० ४।१२

भौतिक भ्रूण विकास क्रम मे अप्धातु एवं अग्निधातु का परमाणविक (Molicular) सम्बन्ध मूत्र के साथ निर्दिष्ट है। इसी क्रम में आनुवंशिक रचना क्रिया विकारों तथा व्याधि परम्परा के लिये भी निर्देश दिया गया है जोकि मूत्र विकारों के संदर्भ में स्मरणीय है तथा लेखक के विचार से चिकित्सा विज्ञान के इतिहास में प्रथम पंक्ति में स्थापित करने योग्य वैज्ञानिक स्थापना कही जा सकती है। आज का विश्व आनुवंशिक व्याधियों के मूल में Chromosomes का सम्बन्ध १६वीं सदी के आरंभ में जान पाया है, जबकि महर्षि चरक ने बीज, बीज भाग तथा बीजभागावयव के शुक्रशोणित दोष से विकृति होने का संकेत स्थूल मतानुसार ईसा से ५ हजार वर्ष पूर्व दिया है। यहां क्रमशः—

१—बीज [शुक्र (Sperm) + शोणित (Ovum) है]।

२—बीजभाग [मातृज-पितृज अवयवों से वर्णसूत्र (Chromosom) है]।

३—बीजभागावयव [जाति सूत्रों के गुण सूत्र (Genes) है]।

जैव रासायनिक शारीर
(Biochemical Physiology)

तत्र यद्विशेषतः द्रव सर मन्द स्निग्ध मृदु पिच्छिलं रस रुधिर वसा कफ पित्त मूत्र स्वेदादि तदाप्यं रसो रसनं च। यद्विविक्तं यदुच्यते महान्ति चाणूनि स्रोतांसि तदान्तरिक्षं शब्दः श्रोत्रं चेति।—च० शा० ७।१३

अङ्ग प्रत्यङ्ग कर्म एवं क्रिया गुणकर्म विज्ञान द्वारा अप् महाभूत एवं आकाश महाभूत तथा गति सम्बन्धी "उन्मेषनिमेषाकुञ्चन प्रसारण गमन प्रेरण धारणादि कर्म सम्बन्ध से वायु महाभूत का भी जैवरासायनिक शारीर सम्बन्ध मूत्र एवं मूत्र रोगों से स्थापित है।

क्रिया विज्ञान (Physiology)—

आयुर्वेदज्ञों ने विकसित देह को 'दोषधातुमल मूलं हि शरीरम्' कहा है। इस आधार से वात-पित्त-कफ तीन दोष तथा रसादि शुक्रान्त ७ धातुएं तथा स्वेद, 'मूत्र, पुरीष ३ मल धारण पोषण एवं पालन करते हैं। इनकी विकृति से ही शरीर एवं उसके घटक भाव रचना क्रियात्मक दृष्टि से विकृत होकर रोगी बनते हैं।

दोष—वात के प्राण, व्यान, समान एवं अपानभेद मूत्र निर्माण और विसर्ग तथा प्राकृत विकृत कर्म सम्पादन के लिये उत्तरदायी हैं।

पित्त के पाचक भेद का मूत्र निर्माण एवं विसर्ग से सम्बन्ध है।

कफ के क्लेदक एवं अवलम्बक भेद का मूत्र से सम्बन्ध है।

धातुएं—रस, मांस, मेदस्, रक्त धातुओं का मूत्र के रचना क्रिया व्यापार एवं सम्बन्धित अवयवों से नित्य सम्बन्ध है। विशेषकर मेदो धातु का मूत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि मेदोवह स्रोतस् के मूल रूप में वृक्क एवं वपावहन निरूपित है। च० चि० ५।८

मल—मूत्र का कार्य क्लेदवाहन लिखा है। स्वेद का कार्य क्लेद विधृति लिखा है। उक्त दोनों कार्य एक दूसरे के पूरक हैं।

रचना शारीर सम्बन्ध—

(१) महर्षि चरक ने विमान स्थान अध्याय ५ में मूत्र वह स्रोतस् के शारीर वर्णन में वृक्कद्वय तथा वस्ति लिखा है। पाठान्तर से वृक्क को वंक्षण शब्द से भी निरूपित किया है। सम्बन्धित अवयवों में गवीनी, वस्तिशिर ग्रन्थि (Prostate gland) भी लिखा है। अवयवों में मेढ्र, वस्ति, वृक्क, गवीनिका मूत्रवह स्रोतस् के साथ सम्बन्ध स्थापित है। यहां तक कि मूत्र की मात्रा का भी शारीर संख्या के प्रसङ्ग में ४ अञ्जलि मूत्र मात्रा होती है, के रूप में वर्णन किया है। मूत्रवह स्रोतस् का वर्णन अत्यन्त ही सुस्पष्ट रूप से किया गया है। यथा—मूत्रवह नां स्रोतसां वस्ति मूलं वंक्षणौ च। —च० वि० ५।८

मूत्रवह स्रोतोदुष्टि का स्वरूप—

(१) अतिप्रवृत्ति—जैसे बहुमूत्र या मूत्रवेग नियन्त्रणाभाव।

(२) संग - जैसे मूत्रावरोध, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रोत्सङ्ग, मूत्रजठर।

(३) ग्रन्थि—जैसे वस्तिशिर ग्रन्थिवृद्धि (Enlarged prostate) या अन्य अर्बुद होने पर।

(४) विमार्गगमन—जैसे शोथ होने पर या छर्दि रोग (Uraemia) में स्रोतोदुष्टिका स्वरूप निरूपण महर्षि चरक ने निम्न प्रकार किया है—

अति प्रवृत्तिः संगो वा शिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टि लक्षणम्॥
—च० वि० ५।२४

स्रोतस् की सूक्ष्म एवं स्थूल रचना का स्वरूप निरूपित करते हुये महर्षि चरक ने लिखा है कि—

स्वधातु समवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतान सदृशानि च॥

इनमें से वृत्त, स्थूल, अणुत्व, दीर्घत्व, प्रतान सदृशत्व सभी स्थितियां मूत्रवह स्रोतस् के वस्ति, गवीनी, मेढ्र एवं वृक्कीय रचनाओं में पाई जाती हैं। इस क्रम में यह आयुर्वेदीय Histopathology of urinary tract का वर्णन है।

मूत्रवह स्रोतोदुष्टि के सिद्धान्त एवं कारण—

स्रोतोदुष्टि के सिद्धान्तों का अत्यन्त ही सुगम एवं प्रत्यक्ष वर्णन महर्षि चरक ने निम्न प्रकार किया है—

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः॥
—च० वि० ५।२३

स्रोतोदूषक इस सामान्य सिद्धान्त की मूत्रवह स्रोतस के प्रसंग में व्याख्या करते समय गूढ़ एवं निहितार्थ का अध्याहार दोषगुण समान आहार विहार तथा धातु विपरीत गुण आहार विहार के रूप में संदर्भित कर देने पर अति स्पष्ट हो जाता है। दोष शब्द से यहां उन सभी दोषों से तात्पर्य है जो मूत्र निर्माण, धारण, संग्रह एवं संवहन से सम्बन्धित हैं। जिनका उल्लेख पूर्व में किया गया है। इसी प्रकार धातु विपरीत गुण से मूत्र के प्रसङ्ग में उन सभी धातुओं का ग्रहण किया जायगा जो मूत्र निर्माण में सहायक होती हैं, उनके विपरीत आहार विहार मूत्रवह स्रोतस् की भी दुष्टि करता है। इस विषय में अधिक सुस्पष्ट करते हुए आचार्य चरक ने उन कारणों का विशेष उल्लेख भी किया है जो मूत्रवह स्रोतस् की दुष्टि में सीधे कारणभूत होते हैं। यथा—

मूत्रि तोदक भक्ष्य स्त्री सेवनान्मूत्र निग्रहात्।
मूत्रवाहिनी दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च॥
—च० वि० ५।२०

दूषित स्रोतस् के लक्षण—

जिन लक्षणों को देख सुनकर चिकित्सक निश्चित कर सकता है कि मूत्रवह स्रोतस् ही दूषित हुआ है। यथा—

प्रदुष्टानां तु खल्वेतेषामिदं विशेष विज्ञानं भवति तद्यथा—अतिसृष्टं, अतिबद्धं, प्रकुपितं, अल्पाल्पं, अभीक्ष्णं वा बहलं, सशूलं मूत्रमन्तं दृष्ट्वा मूत्र वहान्यस्य स्रोतासि प्रदुष्टानीति विद्यात्। —च० वि० ५।८

अति मात्रा में अवरोध होकर अति कठिनता से थोड़ा थोड़ा, बार बार, गंदला, पीड़ा के साथ यदि मूत्र प्रवृत्त हो रहा हो तो बिना किसी प्रयोगशाला एवं उपकरण की सहायता के यह निश्चित जान लें कि मूत्रवह स्रोतस् में दुष्टि है।

सम्बन्धित रोग—प्रमेह, मूत्राघात, मूत्रातीत, मूत्रजठर, मूत्रोत्संग, मूत्रक्षय, उष्णवात, अष्ठीला, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, अतिसार, वमन, रक्तपित्त, शोथ, उदर रोग, वात कुण्डलिका, विड्घात, वस्ति, कण्डू, मूत्रौकसाद प्रमुख हैं।

मूत्र रोगों की चिकित्सा के सिद्धांत—

मूत्रवह स्रोतोदुष्टि के लिये मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा का प्रयोग निर्देश महर्षि चरक ने विमान ५।२८ में किया है। मूत्रवेग निग्रह के प्रसङ्ग में नवेगान्धारणीय सूत्र ७।७ में स्वेदन, अवगाहन, अभ्यङ्ग, अवपीडक सर्पिष्पान (भोजन से पूर्व या भोजन के बाद उत्तम मात्रा में घृतमान) त्रिविध वस्तिकर्म निरूह, अनुवासन एवं उत्तरवस्ति प्रयोग का विधान किया है। यह चिकित्सा क्रियात्मक मूत्र एवं मूत्रवह स्रोतो विकृति के लिये प्रत्यक्ष फलप्रद है। किन्तु मूत्र निर्माण क्रिया एवं रचना विकृति के लिये पृथक चिकित्सा क्रम निर्देश च० चि० २६।४५ से ५८ तक किया है। इस क्रम में दोषानुसार चिकित्सा का विधान किया गया है। मूत्र रोग चिकित्सा में प्रयुक्त द्रव्य भी दोषानुसार वर्गीकृत कर चरक संहिताकार ने निर्दिष्ट किये हैं। मार्गदर्शनार्थ कुछेक द्रव्य एवं कर्म दोषानुसार मूत्र एवं मूत्रवह स्रोतस् पर क्रियाकारी संकलित हैं—

वातप्रधान रोगों में—अभ्यंग, स्नेहन, निरूहण, स्नेहोपनाह, उत्तरवस्ति, सेक, लघुपंचमूल, मांसरस, पुनर्नवा, एरण्ड, शतावरी, बला, पाषाणभेद, कुलत्थ, कोल, यव, वराहवसा, ऋक्षवसा, लवण, तैलफल।

पित्तप्रधान मूत्र रोगों में—सेक, अवगाह, शीतप्रदेह, ग्रीष्म ऋतुचर्या निर्दिष्ट आहार एवं विहार, स्नेह एवं क्षीरवस्ति, दुग्ध एवं तज्जन्य विकृतियां, द्राक्षा, विदारीकन्द, इक्षुरस, घृत, शतावरी, कास, कुश, गोक्षुरु, शाली, कशेरु, मधु, शर्करा, कमल, शृंगारक, सरकंडा, शीतल जल, ककड़ी, खीरा, अडूसा, मुलैठी, तण्डुल—धावन, आमलकी।

कफप्रधान मूत्र रोगों में—यवक्षार, स्वेद, वमन, निरूह वस्ति, तक्र, उष्ण तीक्ष्ण ओषध, अन्नपान, तिक्तौषध सिद्ध तैल अभ्यंग एवं पान, त्रिकटु, गोक्षुरु, एला, दार्वी, मधु, गोमूत्र, कदली, बकायन, चौलाई, प्रवालचूर्ण, सप्तच्छद, आरग्वध, धव, करंज, कुटज, गुडूची।

इस प्रकार एक क्रम में महर्षि चरक द्वारा प्रतिपादित मूत्र रोग विवरण हमें सफल एवं सरल विकृति विज्ञान का ज्ञान कराने में सक्षम है। केवल सन्दर्भ एवं प्रसंग पुरस्सर अनुशीलन की अपेक्षा शेष रहती है जो कि स्नातकीय एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में ढूढ़ने पर भी प्राप्त नहीं होती। जो पाठक इस क्रम में कोई अपूर्णता अनुभव करें कृपया लेखक को मार्गदर्शन अवश्य करें। इस संक्षिप्त सिद्धान्त निरूपण का विस्तार मूत्ररोग विज्ञान के एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आधारभूत सामग्री बनने की पूर्ण पात्रता रखता है। ०

※ ※ ※

✢ निरुद्ध प्रकश ✢ ※ पृष्ठ ३१४ का शेषांश ※

ऐसा करने पर चर्म मणि को छोड़ता जाय तो ठीक वर्ना "रोन्डेज" (इवांस कं. का) या "हाईजेल" टाटा फिशन कं. का इन्जेक्शन मंगवा उसको वाटर फार इन्जेक्शन में घोल शिश्नचर्म पर चर्मान्तर्गत सूचीवेध करना चाहिये—थोड़ा-२ काफी स्थानों पर। ऐसा करने से चर्म शिश्नमणि से हटने लगेगा। स्नेहन एवं स्वेदन कर पट्ट बंधन (मूत्र छिद्र को खुला रखते हुये)-कर देना जरूरी होगा। शोथ एवं पीड़ा हरने के लिये किसी ब्रोडस्पेक्ट्रम एन्टी बायोटिक का इन्जेक्शन कर दें। रोगी को लिंगमर्दन, पीड़न आदि सहित संभोग न करने को कह दें।

अगर उपरोक्त दूसरी विधि से भी शिश्नमणि चर्म के आच्छादन से आवश्यकतानुसार मुक्त न हो तो फिर जानकार पठित शल्य विशेषज्ञ से ही चर्म को कटवा देना चाहिये ताकि अन्य कोई नई व्याधि उत्पन्न न हो जाय और रोगी के स्वास्थ्य एवं जीवन को खतरा न पैदा हो। ध्यान रहे, केवल कुछ पुस्तकों को पढ़कर या किसी से कुछ सुन कर तथा उचित यंत्र शस्त्रों के अभाव में कोई चिकित्सक ऐसा शल्य कर्म न कर बैठे क्योंकि यह एक सरल तथा सामान्य कार्य नहीं है। कहीं कहीं कुछ परंपरागत पद्धति के अच्छे जानकार गोंवाई खानदानी वैद्य, हकीम या नायते आदि भी इस कर्म को बिना किसी खतरे के सम्पादित कर देते है। इनसे लाभ उठाना चाहिये। मुसलमानों में जो खतना या मुसलमानी बाल्यावस्था में होती है वह भी लगभग ऐसी ही क्रिया है। इससे भी लाभ उठाया जा सकता है।

मूत्र रोगों की सरल चिकित्सा

आचार्य डा. महेश्वरप्रसाद 'उमाशंकर', चीफ सर्जन—एम. हॉस्पीटल, मंगलगढ़ (समस्तीपुर) बिहार।
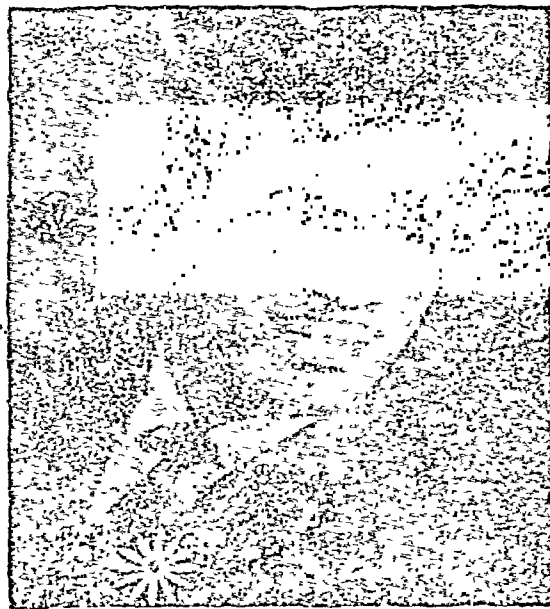
मूत्र रोग अनेक हैं तथा उनकी चिकित्सार्थ औषधियां भी अनेक हैं। फिर भी मुख्य-२ रोगों तथा उनकी चिकित्सार्थ औषधियों का संक्षिप्त सार रूप विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(अ) आयुर्वेदिक चिकित्सा—

त्रिदोष सिद्धान्त पर आधारित यह पद्धति विश्व में अपना सानी नहीं रखती।

बहुमूत्र (Polyuria)—

थोड़ा-थोड़ा मूत्र अधिक बार होना—

सर्व प्रथम वमन-विरेचन कर देह शुद्धि करें। इसके बाद—

(१) यशदभस्म (रस तरङ्गिणी)—१२५ से २५०मि. ग्रा. प्रातः सायं दूध-घी, मिश्री या मलाई के साथ चटायें।

(२) सुवर्णमाक्षिकभस्म(रसतरङ्गिणी)–१२५ से ३७५ मि०ग्रा० दिन में ३ बार दूध, मधु, गुलकन्द, गिलोय का सत्व या त्रिफला जल से सेवन करायें।

(३) अभ्रकभस्म (रसतरङ्गिणी)— १२५ से २५०मि. ग्रा. दिन ३ बार शिलाजीत एवं मधु पिप्पली या हल्दी, पिप्पली और मधु के साथ दें।

(४) हेमनाथ रस (भैषज्य रत्नावली)–१२५ से २५० मि. ग्रा. दूध-मिश्री या धात्री घृत के साथ सुबह शाम दें।

(५) अश्विनीकुमार रस (औषधि गुण धर्म)–१२५ से २५० मि०ग्रा० दिन में दो बार हल्दी-मधु से दें।

(६) वृहद धात्री घृत (भैषज्य रत्नावली)—५ से १० ग्राम दिन में दो बार चटायें।

(७) शु० शिलाजीत (भैषज्य रत्नावली)—२५० मि. ग्रा. छोटी इलायची के दाने और वंशलोचन एवं मधु के साथ सुबह शाम दें।

(८) वृहद् वंगेश्वर रस (रसेन्द्रसार संग्रह)—१२५ से २५० मि० ग्राम गाय के दूध से दिन में २ बार दें।

मूत्र की उत्पत्ति अधिक होने पर—

सर्व प्रथम हलका विरेचन दे कोष्ठ की शुद्धि करें। तब—

(१) वंगभस्म (आयुर्वेद प्रकाश)–१२५ से २५० मि. ग्रा. तक दिन में दो बार मलाई-मिश्री बादाम की खीर मक्खन मिश्री या ईसबगोल की भूसी-मिश्री के साथ खिलायें।

(२) नागभस्म (रसतरङ्गिणी)–६५ से १२५ मि.ग्रा. दिन में २ बार मधु, दूध, मक्खन, मिश्री हल्दी या आंवला और मधु से चटायें।

(३) जातिफलादि वटी (धन्वन्तरि)–६५ से १२५ मि. ग्रा. दिन में दो बार गुड़मार के अर्क या चूर्ण अथवा गाय के दूध के साथ सेवन करायें।

मूत्रकृच्छ्र—

सर्वप्रथम पेडू पर पहले गर्म और फिर शीतल जल की गद्दीदार पट्टी रक्खें। फिर रोगी को कमर से ऊपर तक गर्म जल की नाद में बैठावें। तब—

(१) मूत्रकृच्छ्रान्तक रस (रस चण्डांशु)–१ ग्राम सवेरे मिश्री एवं मट्ठा या लस्सी के साथ सेवन करायें। जरूरत पड़ने पर दुबारा या दिन में दो बार दें।

(२) चन्दनादि अर्क (रसतन्त्र सार व सिद्ध प्रयोग संग्रह)—२५ से ५० मि.लि. दिन में तीन बार पिलायें।

(३) यवक्षार (रसतरङ्गिणी)—६५ से १२५ मि ग्रा. जल से दिन में दो बार दें।

(४) शिलाजीत (रसतरङ्गिणी)–५०० मि.ग्रा. बराबर बंग भस्म, छोटी इलायची के दाने एवं पीपल चूर्ण के साथ दिन में २ बार दें।

(५) उशीरासव (भैषज्य रत्नावली)—१५ मि. लि. से ३० मि.लि. बराबर जल के साथ मिलाकर भोजन के बाद दिन में दो बार पिलायें।

(६) प्रमेहगज केशरी (वैद्यक सारसंग्रह)— १२५ मि. ग्रा. ३७५ मि. ग्रा. जल या गुड़मार के अर्क के साथ दिन में दो बार दें।

मूत्रावरोध एवं मूत्राघात—

सर्व प्रथम रोगी को आराम से लिटा देवें। तब—

(१) संगे यहूद भस्म (हिजरलयहूद)यूनानी हिकमत–२५० मि ग्रा. से ५०० मि. ग्रा. शर्बत-बजूरी या शक्कर के जल के अनुपान से हर १ घंटा पर कुल २-३ बार देवें। मूत्रमार्ग की पथरी को भी चूर्ण कर लाभप्रद है।

(२) शीतल पर्पटी (स्व० पं० बंशीधर)—७५० मि. ग्राम से १५०० मि.ग्राम प्रातः जीरे के चूर्ण के साथ खिला कर ऊपर से शीतल जल पिलायें। जरूरत पड़ने पर एक घंटा के बाद दूसरी खुराक दें।

(३) त्रिकण्टकादि काढ़ा (भैषज्य रत्नावली)–५० मि. लि. काढ़ा बराबर मधु मिलाकर तुरन्त पिलायें। जरूरत पड़ने पर दो घंटे बाद दूसरी मात्रा देवें।

(४) गोक्षुरादि अवलेह (आर्यभिषक्)–२५ से ५० ग्राम प्रतिदिन प्रातःखाकर ऊपर से गाय का दूध पिला दें।

(५) गोक्षुरादि गूगल (शार्ङ्गधर सं.)–२५० मि.ग्रा. से ५०० मि.ग्रा. दिन में २-३ बार दूध या जल के साथ सेवन करायें।

उपदंश से उत्पन्न वस्ति शोथ—

अष्टमूर्ति रसायन—सन्दर्भ ग्रंथ–औषधि गुण धर्म-शास्त्र। मात्रा १२५ मि. ग्रा से २५० मि. ग्रा. तक अदरक के रस में भली भांति घिसकर मधु में मिश्रित कर दो बार प्रतिदिन चटा करके देवें। इसके सेवन से उपदंश से उत्पन्न हुए वस्ति (मूत्राशय) की सूजन जिससे मूत्र नहीं उतरता तो सभी विकार दूर होकर मूत्र आने लगता है। साथ ही स्वर्णक्षीरी मूल छाल १ ग्राम पीसकर खिलायें।

सुजाक से उत्पन्न मूत्र वाहिनी की सूजन—

सर्व प्रथम कटि प्रदेश तक स्वेदन तथा वमन विरेचन कराकर देह की शुद्धि करें। तब—

(१) चन्दनासव या चन्दन तैल (भैषज्य रत्नावली)—१५ से ३० मि.लि. सम भाग जल मिलाकर प्रातः-सायं पिलायें। जीर्ण रोग में आधी मात्रा देवें।

(२) सारिवाद्यासव (भैष. रत्ना)–१५ से ३० मि लि. दुगुना जल मिला भोजन के बाद दिन में दो बार पिलायें।

(३) प्रमेहांतक वटी (आयुर्वेद निबन्ध माला)—५०० मि.ग्रा. की (दो वटी) प्रातः २ ग्राम कतीरा गोंद और जल तथा दोपहर और शाम में जल के साथ खिलायें।

वस्ति की निर्बलता से मूत्राघात—

(१) बृहद् वंगेश्वर रस (रसेन्द्र सारसंग्रह)–१२५ से २५० मि.ग्रा. गाय के दूध से दिन में दो बार पिलायें।

(२) कांस्यभस्म (रस रत्न समुच्चय)–१२५ से २५० मि. ग्रा. तक मधु या गुलकन्द से दिन में २ बार दें।

(३) शिलाजीत शुद्ध (भैष० रत्ना०)—२५० मि.ग्रा. बराबर छोटी इलायची के दाने के साथ सुबह शाम दें।

(४) अभ्रकभस्म (रस रत्न समुच्चय)—६५ से १२५ मि. ग्रा. मधु से चटाकर ऊपर से इलायची के दाने, गोखरू और गाय का दूध मिला पिला दें।

समस्त प्रमेह—

(१) त्रिफला चूर्ण (चरक)—२ से ५ ग्राम समभाग हल्दी और दुगुने भाग मिश्री के साथ दिन में १ या २ बार खिलायें।

(२) न्यग्रोधादिचूर्ण (योग रत्नाकर)—३ से ६ ग्राम दिन में २ बार मधु के साथ चटाकर ऊपर से त्रिफले का काढ़ा पिला देवें।

(३) चन्द्रप्रभावटी (शार्ङ्गधर संहिता)–२५० मि.ग्रा. से ५०० मि. ग्रा. दो बार प्रतिदिन १२ ग्राम गिलोय के स्वरस और ६ ग्राम मधु से सेवन करायें।

(४) लोध्रासव (गद निग्रह)—१५ से ३० मि. ग्रा. बराबर जल के साथ भोजन के बाद दिन और रात में पिलायें।

(५) बृहद् वंगेश्वर रस (रसेन्द्रसार संग्रह)–१२५ से २५० मि. ग्रा. गाय के दूध से दिन में दो बार सेवन करायें।

(६) वसन्त कुसुमाकर रस (रस योग सागर) १२५ से ३७५ मि.ग्रा. दूध-मिश्री, मलाई अथवा मक्खन-मिश्री के साथ सेवन करायें।

(७) रौप्यभस्म (रसरत्न समुच्चय)—६५ से १२५ मि. ग्रा. तक दिन में दो बार १२ ग्राम ईसबगोल की भूसी को ५०० ग्राम गाय के दूध में खीर बनाकर उसमें ५०० ग्राम मिश्री मिलावें। तब रौप्य भस्म को इस खीर के साथ दें।

(८) शुक्र मातृका वटी (शुक्र विकार जन्य प्रमेह हर) भैष० रत्ना०—१२५ से २५० मि. ग्रा. दिन में दो बार बकरी के गर्म दूध या मीठे अनार के रस के साथ सेवन करायें।

मूत्र प्रसेक नलिका में व्रण—

सर्वथम नीबू के पत्तों के कपड़छन काढ़े से मूत्रप्रसेक नलिका का प्रक्षालन, पिचकारी एवं सेंक करें। तब

(१) उष्ण वातघ्न चूर्ण (रस तन्त्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रह)—५ से १० ग्राम सुबह में दूध की लस्सी के साथ सेवन करायें।

(२) प्रमेहान्तक वटी (आयुर्वेद निबन्ध माला)—५०० मि.ग्रा. दिन में ३ बार जल से देवें।

(३) मूत्रकृच्छान्तक रस (रस चण्डांसु)— १ ग्रा. प्रातः मिश्री और मठ्ठा या लस्सी के साथ सेवन करायें। साथ ही कुलथी का काढ़ा पिलायें।

(४) चन्द्रप्रभावटी (शार्ङ्गधर संहिता)—२५० से ५०० मि. ग्रा. दो बार प्रतिदिन शीतल मिर्च और गोखरू के काढ़ा के साथ देवें। साथ ही मुलहठी चूर्ण ३ ग्राम दें।

(आ) एलोपैथी चिकित्सा—

बहुमूत्र (Polyuria)

(१) पिच्यूटरी पोस्टेरियर लोव (Pitiutary Posterior lobe) (बी०आ०) एक एम्पुल प्रतिदिन मांस में एक दो बार सूई लगायें।

(२) बीजेक्टल Bejectal (अब्बट) सॉल्यूशन नं० १ के साथ सॉल्यूशन नं० २ भली-भांति मिलाकर १ मि.लि. मांस में सप्ताह में २-३ बार सूई लगायें। सावधान! विटामिन बी. के अति संवेदनशील रोगियों में इसकी सूई मत लगायें।

(३) बीट्रिऑन Beetrion (फ्रेंको-इण्डियन) एक कैप्सुल प्रतिदिन ३ बार जल से निगलवायें। सावधान! मूल घटक के एलर्जी वाले रोगियों में इसका प्रयोग न करें।

(४) बीकोसुल्स Becosules (फाइजर) एक कैप्सूल या सीरप ५ मि. लि. प्रतिदिन सेवन करायें।

(५) फेनोसिन ट्रिसल्फा Fenocin Trisulpha (फाइजर) एक टिकिया हर ६ से १२ घंटे पर पर्याप्त जल से खिलायें।

मूत्र कमी होने पर (Dehydration)

(१) डेक्स्ट्रोज विद नॉर्मल सेलाइन सॉल्यूशन (बी. आई. या अन्य) ५०० से १००० मि. लि. इन्फ्यूजन विधि से बूंद-बूंद करके शिरा में अन्तःक्षेपित करने से मूत्र से रिक्त वस्ति में पुनः मूत्र उत्पन्न होकर मूत्र आने लग जाता है।

(२) इलेक्ट्रल पाउडर Electral Powder (एफ.डी. सी.) इसे १ लिटर जल में घोलकर १-२ छोटे चम्मच बार-बार दिन में कई बार पिलाते रहें।

मूत्र रुक जाने पर (Retention of Urine)—

(१) कैफीन सोडि बेंजोएट Caffeine Sodi Benzoate (बी० आई) १ से २ मि० लि० मांस में सूई लगभग दिन में १-२ बार लगायें।

(२) साइट्रासॉल Citrasol (बी० सी०) एक से दो छोटे चम्मच बराबर जल मिलाकर दिन में २-३ बार पिलायें।

वस्ति शोथ —

(१) ऑंडिसिलीन (एल्केम) आवश्यकतानुसार २५० मिग्रा.से १ ग्राम की मात्रा में कैप्सूल, शर्बत या इंजेक्शन दवा रूप में मांस में सूई का प्रयोग करें। सावधान! पेनिसिलीन के अति संवेदनशील रोगियों में इसका प्रयोग न करें।

(२) कैम्पिसिलीन (कैडिला) ५०० मि० ग्रा० के कैप्सूल हर ८ घंटे पर या आवश्यकता के अनुसार निगलवायें अथवा ड्राई सीरप में चिह्नित अंश तक उबाला ठंडा जल भली-भांति घोलकर २.५ मि०लि० से १० मि० लि० हर ६ घंटे पर बच्चों को पिलायें। सावधान! पेनसिलीन के अति संवेदनशील रोगियों में इसका प्रयोग न करें।

मूत्र में शर्करा आना —

रेस्टिनॉन (हेक्स्ट) पहले दिन ६ टिकियां, दूसरे दिन ४ टिकियां दो तीन मात्राओं में बांटकर खिलायें। इसके १-२ टिकियां दो बार प्रतिदिन भोजन के तुरन्त बाद थोड़े से जल से दें।

(२) डायोनिल (हेक्स्ट)— शुरू में ५ मि. ग्रा की एक टिकिया एक मात्रा के रूप में नाश्ता के बाद दें और क्रमशः २·५ से ५ मि ग्रा. हर सप्ताह में बढ़ाते हुए जरूरत के अनुसार अधिकतम १५ मि. ग्रा. प्रतिदिन तक ले जायें। सावधान ! इस दवा को बच्चों, मधुमेह की मूर्च्छा, यकृत या वृक्क की विकृति एवं गर्भावस्था में मत देवें।

(३) आर्टोसिन (बी-नॉल) जरूरत के अनुसार ०·५ से १ ग्राम (आधी से १ टिकिया) प्रतिदिन खिलायें। सावधान ! इसे गर्भवती, मधुमेह जन्य अम्लता तथा रक्तनलिकाओं के टूट-फूट में मत प्रयोग करें।

(४) इन्सुलिन (फाईजर) जरूरत के अनुसार उचित मात्रा में इसका इन्जेक्शन लगायें। यही दवा बूट्स कम्पनी की भी आती है। जरूरत के अनुसार ४० या ८० यूनिट मांस में सूई हर २४ घंटे पर लगायें। सावधान ! सूई लगाने के तुरन्त बाद ही रोगी नाश्ता कर ले। अतः नाश्ता पहले से ही अपने पास रखले।

वृक्क शोथ—

(१) पेण्टिड्स (साराभाई) १-१ टिकिया आवश्यकतानुसार (२ या ४ लाख यूनिट की) हर ६ घण्टे पर खिलायें।

(२) क्रिस-फोर (साराभाई) एक वायल जरूरत के अनुसार हर १२ से २४ घंटे पर मांस में सूई लगायें।

(३) डेल्टाकॉर्टिल (फाईजर) १ टिकिया भोजन के बाद दिन में ३ बार खिलायें तो वृक्कों की शोथ दूर हो।

(४) अमीनोफायलिन (बी डब्ल्यु०) १ से २ टिकिया ३ बार प्रति दिन खिलायें तथा ऊपर से लिक्विड एक्स्ट्रैक्ट ऑफ पुनर्नवा आधा से २ छोटे चम्मच पिलादें।

(५) मेड्रिबोन (रोश) इस रोग की सफल औषधि है। आवश्यकता के अनुसार ५०० मि ग्रा. की एक टिकिया २-३ बार प्रतिदिन खिलायें। बच्चों को इसके ड्रॉप्स २ बूंद प्रति किलो शरीर भार के अनुपात से प्रतिदिन पिलायें।

(६) यूरोबायोटिक (फायजर)—१-१ कैप्सूल ३ बार प्रतिदिन निगलवायें।

(७) जेण्टिसीन (निकोलस)—३ मि. ग्रा. प्रतिकिलो शरीर भार के अनुपात से प्रतिदिन मात्राओं में बांटकर दें। तीव्र दशा में ५ मि. ग्रा. प्रति किलो शरीर भार के अनुपात से प्रतिदिन करके दें। दो सप्ताह तक प्रयोग करें।

वृक्क शूल या अश्मरी—

(१) रोगी को पीठ तक गर्म जल के टब में १० मिनट तक बैठायें या पीठ पर गर्म ईंट का सेंक करें।

(२) मॉर्फीन एण्ड एट्रोपीन (बी. आई.) एक ऐम्पुल त्वचा में सूई लगायें।

(३) पेथिडीन हाइड्रोक्लोराइड (बी. आई.) ५० मि. ग्रा. की एक टिकिया खिलायें या तीव्र दशा में इसका इंजेक्शन मांस में लगायें।

(४) आक्सैलजिन (कैडिला) १-२ टिकिया दर्द के समय खिलायें।

(५) बेनेमिड (एम. एस. डी.) यूरिक एसिड से बनने वाली पथरियों को बनने से रोकने तथा उसको चूर्णकर निकालने के लिए इसकी आधी टिकिया तीन बार प्रतिदिन खिलायें।

बार बार मूत्र त्याग होने पर—

(१) एलिग्जर वैलेरियन ब्रोम (एलेम्बिक) जरूरत के अनुसार १ से २ छोटे चम्मच ३ बार प्रतिदिन पिलायें। यदि इतनी मात्रा से लाभ न हो तो धीरे-२ मात्रा बढ़ाकर २॥ छोटे छोटे चम्मच ३ बार प्रतिदिन पिलायें। बच्चों को वयस्कों की आधी मात्रा दें।

(२) मैक्रावेरिन (ग्लैक्सो) १ से २ मि. लि. मांस या धीरे-२ शिरा में प्रतिदिन इंजेक्शन लगायें तथा इसी की १ से २ टिकिया दिन में १-२ बार खिलायें।

(३) लिक्विड एक्स्ट्रैक्ट ऑफ अर्गट १० से २० बूंद ३० मि. लि. ताजा जल में मिलाकर २-३ बार प्रति दिन पिलायें।

(४) शारीरिक दुर्बलता, आमाशय एवं यकृत के दोष और दिमागी कमजोरी के कारण अधिक मूत्र आने पर वीजेक्टल (अव्वट) वयस्कों को १ मि. लि. मांस या धीरे धीरे शिरा में सप्ताह में २-३ बार सूई लगायें।

(५) पिटोसिन (पार्क डेविस) प्रतिदिन आधा से १ मि. लि. (५ से १० ऑक्सीटॉसिन यूनिट) का एक इंजेक्शन मांस या त्वचा में लगायें। इससे मूत्रेन्द्रिय की मांस पेशियों में यथोचित नियन्त्रण शक्ति आकर बार बार मूत्र त्याग होने की शिकायत दूर होती है।

ओजोमेह—

(१) स्पीमेन या स्पीमेन फोर्ट (हिमालया ड्रग) २-२ टिकिया मधु से चटा कर ऊपर से गाय का गर्म दूध मलाई या जल दिन में ३ बार पिला देवें। ओजोमेह, प्रमेह, शुक्रमेह नाशक है।

(२) फोर्टेज (एलार्सिन) २-२ टिकिया मधु से चटा कर ऊपर से गर्म दूध दिन में ३ बार पिला दें।

(३) बंगसिल (एलार्सिन) दो टिकिया मधु से चटा-कर तीन बार प्रतिदिन ऊपर से गाय का गरम दूध पिला देवें।

(४) बी० एच० पिल्स (गैम्बर्स) मात्रा एवं प्रयोग विधि बंगसिल के समान।

(५) निओ (चरक) दो टिकिया दिन में २-३ बार गरम दूध या जल से दो सप्ताह तक सेवन करायें।

मूत्रमार्ग के संक्रमण—

(१) इमोक्सिन (यूनिल्वाइड्स) वयस्कों को २५० मि० ग्राम के कैपसूल तीन बार प्रतिदिन तथा बच्चों को १२५ मि० ग्राम तीन बार प्रतिदिन खिलायें।

(२) इयुफोसिलीन (इयुफोरिक) इसके कैपसूल्स और ड्राई सीरप बिकते हैं। तीव्र दशा में प्रयोग के लिए २५० और ५०० मि.ग्राम एवं १ ग्राम के वायल्स आते हैं। आवश्यकतानुसार २५० मि. ग्राम से १ ग्राम हर ६ घण्टे पर प्रयोग करें।

(३) मेरिजेण्टा (मर्करी) वयस्कों जिनका शारीरिक भार ६० किलो से अधिक हो ८० मिग्राम हर ६ घण्टे पर तथा ६० किलो से कम शारीरिक भार वाले को ६० मिग्राम हर ८ घन्टे पर तथा बच्चों को १ से १.६ मिग्रा. प्रति किलो शरीर भार के अनुपात से हर ८ घन्टे पर दें। शिशुओं को २ से २।। मिग्राम प्रति किलो शरीर भार के अनुपात से हर ८ घन्टे पर तथा नन्हें शिशुओं को ३ मि. ग्राम प्रति किलो शरीर भार के अनुपात से दो बार प्रति-दिन करके सभी को कम से कम ७ दिनों तक प्रयोग करें। यह सूई लगाने के लिए ४० मिग्राम प्रति मिली. की शक्ति के दो मिली. के कांच कुप्पी में मिलता है। सावधान! इसे गर्भावस्था, अतिसंवेदनशीलता, वृक्कशोथ आदि में नहीं प्रयोग करें।

(४) पायरिडैसिल (इथनॉर) एक से दो गोली (सौ से दो सौ मिग्राम) भोजनों के बाद ३-४ बार प्रतिदिन खिलायें। इसकी एनएफटी गोली भी आती है जिसमें नाइट्रोफुरंण्टोइन भी मिला रहता है। प्रयोग विधि व मात्रा पूर्ववत् है।

योगासन चिकित्सा—

मधुमेह—गोमुखासन करें। गरम या ठण्डे जल का एनिमा लें। रात भर कमर पर भीगी पट्टी लगाये रखें। प्रतिदिन पांच मिनट तक सम्पूर्ण शरीर का वाष्प स्नान करायें। तब अल्प ठन्डे जल में कमर स्नान, मेढ़ स्नान या योनि स्नान दस मिनट तक करें। पथ्य में फल ताजी सब्जी और कच्चा ताजा दूध सेवन करायें। सप्ताह में १-२ बार उपवास करें।

वृक्कशूल, अश्मरी—भुजंगासन करें। तब गोमुखा-सन करें। इसके बाद सर्वांगासन करें। दो चार दिनों तक नीबू या नारंगी रस मिले जल को बार बार पिलायें। प्रतिदिन दो बार एनिमा से कोष्ठ की शुद्धि करें। महीना में एक बार सम्पूर्ण शरीर का वाष्प स्नान करें। ७ या १५ दिन पर एक बार उपवास करें। नारियल या खजूर का ताजा मीठा रस, फलों और सब्जियों का रस, मठा आदि पथ्य में दें।

शुक्रमेह—(१) गरम जल का एनिमा करें।
(२) पादांगुष्ठासन करें।

मूत्र का न बनना अथवा अल्प बनना—

अर्ध मत्स्येन्द्रासन करें। साथ ही प्रतिदिन वृक्कों पर गरम ठंडी सेक देवें तथा जब तक पूर्ण लाभ न हो जाय गरम जल का एनीमा भी लगाते रहें। पैरों का गरम जल का स्नान भी करें। सप्ताह में एक बार सम्पूर्ण शरीर का वाष्प स्नान करें तथा रात को कमर पर भीगी पट्टी लगावें। दिन में ३-४ बार गरम जल में कागजी नीबू का रस निचोड़ कर पीवें। फलों का रस या मट्ठा या दूध में जल मिलाकर पथ्य में देवें।

★★★★

मूत्रवह संस्थान के रोगों पर ...

पथ्य-व्यवस्था

आचार्य डा. गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' भिषगाचार्य

श्री गोपीनाथ जी 'गोपेश' आयुर्वेद जगत के जाने माने लेखक हैं। आपके पथ्य व्यवस्था पर उत्तमोत्तम लेख पढ़कर हमारी इच्छा हुई कि मूत्र रोगों की चिकित्सा पर भी आपका पथ्य व्यवस्था लेख प्रकाशित करें। आपने हमारे आग्रहानुसार लेख भेज कर अनुगृहीत किया है। —विशेष सम्पादक

वैद्यवर श्री बसवराज ने अपने "बसवराजीयम्" नामकग्रंथ के नवम प्रकरण में मूत्रवह संस्थान के रोगों का वर्णन किया है। वहां इन रोगों का वर्णन है—प्रमेह, मूत्र-कृच्छ्, मूत्राघात एवं अश्मरी। ये रोग प्रायः मूत्राशय से सम्बन्धित हैं। कहा गया है—

मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च।
मूत्रदोषाश्च ये वापि बस्तौ चैव भवन्ति हि॥

डा० बिगलो का कथन है कि दवाओं का प्रभाव और बीमारी, ये दोनों एक दूसरे के साथ इतने मिल गये हैं कि मन को उन्हें अलग करने में कठिनाई मालूम होती है। आयुर्वेद में भी औषधि की अपेक्षा पथ्य का महत्व प्रकट किया है। औषधि के अतिरिक्त भी कई उपचार हैं। उन्हें हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. शारीरिक उपचार—इसमें व्यायाम, संवाहन विद्युत्प्रकाश, सूर्य प्रकाश आदि से शरीर के विकारों को नष्ट किया जाता है।

२. मानसोपचार—मनोविकलन, प्रार्थनोपचार और विश्वासोपचार मानसोपचार कहे जाते हैं।

३. आहारोपचार—आहार के हितकर एवं अहितकर दो भेद किये गये हैं। मात्रायुक्त, अग्निबलानुसार सेवित आहार जिसके सेवन से दोष धातु, मल प्रकृतिस्थ रहते हैं हिताहार कहलाता है। इसके विपरीत जो आहार हीन या अति मात्रा में किया गया हो अग्नि बल के अनुसार सेवन न किया गया हो एवं जिसके सेवन से दोष, धातु, मल प्रकृतिस्थ नहीं रहते वह अहिताहार कहा गया है। रोगोपचार के प्रसंग में अहिताहार रोगकारक होने से अपथ्य कहा गया है एवं तद्‌तद् रोग निवारक सामर्थ्ययुक्त हिताहार को पथ्य कहा गया है। हमें यहाँ पर मूत्रवहसंस्थान के प्रमुख रोगों में प्रयुक्त उपयोगी पथ्य आहार का वर्णन करना है एवं मन के लिए अनुकूल हितकारी पदार्थों को चक्रपाणिदत्त ने पथ्य कहा है।

(चरक. सू. २४।२५)

१. प्रमेह—

श्यामाककोद्रवोद्दालगोधूमचणकाढकी।
शालिमुद्गकुलित्थाश्च मेहिनां देहिनां हिताः॥

—योग रत्नाकर

गेहूं, जौ, चना, कोदों, चावल, मकई, बाजरा, मूंग, अरहर, चना, मसूर, कुलथी, तिल आदि प्रमेह में हितकर हैं। ये धान्य पुराने हितकर हैं क्योंकि नवीन धान्य गुरु एवं कफकारक होने से प्रमेह में पथ्य नहीं है—

धान्यं सर्वं नवं स्वादु गुरु श्लेष्मकरं स्मृतम्।
तत्तु वर्षोषितं पथ्यं यतो लघुतरं हि तत्॥

—भा. प्र. नि. ८।६१

अन्नों में जो प्रमेह मात्र में हितकारक है—

मेदोघ्नाः बद्धमूत्राश्च समाः सर्वेषु धातुषु।
यवास्तस्मात्प्रशस्यन्ते मेहेषु च विशेषतः॥

—योग रत्नाकर

प्रातराश निमित्त गर्मी के दिनों में जौ का सत्तू और सर्दी के दिनों में चने का सत्तू १००-१५० ग्राम थोड़े पानी में घोलकर नमक मिलाकर पीना चाहिये। त्रिफला के

जल में रात को जौ या चना भिगो सुबह निकाल सुखा कर भोजन में काम लेना लाभदायक है क्योंकि त्रिफला के लिये कहा गया है—

त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठहरा सरा।

कोदों चावल और कुलथी की दाल मधुमेह में विशेष पथ्य है। बहुमूत्र में मसूर की दाल लाभदायक है।

पालक, बथुआ, मेंथी, परवल, बैंगन सहिजन की फली मूली, गाजर, टमाटर, द्रोणपुष्पी व गुडूची पत्रों का शाक प्रमेह में उपयोगी है। करेला प्रमेह में अत्यन्त उपयोगी है। शलगम का शाक भी लाभप्रद है। तिक्तशाक विशेषतया हितकारक है।

फलों में जामुन के फल हितकारी हैं। होमियोपैथी में मधुमेह के लिए जामुन का रस "सिजीजीयम जेम्बोलिनम मदर टिंचर" के नाम से काम में लिया जाता है। गाजर, नारङ्गी, अंगूर, कैथ, सिंगाडा, खजूर, अंजीर, मुनक्का, सेव, किशमिश, आंवला, पक्व गूलर फल आदि हितकर हैं। केला स्वप्न मेह में एवं बहुमूत्र में उपयोगी है। एक केला खाकर आमलकी स्वरस में शर्करा मिलाकर पीने से बहुमूत्र में लाभ होता है। वृद्ध मनुष्य वार-वार पेशाब जाते हों तो नित्य छुआरे खिलाने चाहिए।

इसके अतिरिक्त सैंधव नमक, मरिच, हरिद्रा, जीरा, इलायची, धनियां, इंगुदी का तेल, मधु, गोदुग्ध (अल्प मात्रा में) आदि भी हितकर हैं। रक्त मेह में शतावरी सिद्ध दुग्ध श्रेष्ठतम पथ्य है। इसी प्रकार तृणपंचमूल सिद्ध दुग्ध भी हितकर है। दुग्ध सिद्ध करते समय मात्रा इस प्रकार रखें—क्वाथ्य द्रव्य मिलित २५ ग्राम, दूध २०० ग्राम, जल ८०० ग्राम, शेष २०० ग्राम।

प्रमेह कफ प्रधान रोग है अतः व्यायाम, उवटन, विजयसार या खदिरसार के जल से अवगाहन, परिषेक, स्नान, खस, दालचीनी, इलायची, अगर, चन्दन का लेप इसमें हितकारी है—

व्यायामयोगैः विविधैः प्रगाढै—
रुद्वर्तनैः स्नान जलावसेकैः।
सेव्यत्वगेलागरुचन्दनाद्यै—
विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः॥
—चरक चि. ६।५०

व्यायामस्नानमभ्यंगं प्रमेहेषु हितं सदा।
—वसवराजीयम्

व्यायामजातमखिलं भजन मेहान् व्यपोहति।
पादत्रच्छत्ररहितो भिक्षाशी मुनिवद् यतः॥
योजनानां शतं गच्छेदधिकं वा निरन्तरम्।
मेहाञ्जेतुं वने वाऽपि नीवारामलकाशनः॥
—चक्रदत्त प्रमेह ५९-६०

विशेषतया शुक्रमेह में विचारों की शुद्धता भी आवश्यक है। इस निमित्त कहा गया है—

शान्तवीररसाध्यायी शुक्रमेही सुखं वसेत्॥
— भै. र. शुक्र १९

शुक्रमेह में अर्जुन चन्दनसाधित दुग्ध का उपयोग करना चाहिए। ओजोमेह में बचासाधित दुग्ध लाभप्रद है। सिकतामेह विदग्धाजीर्ण जन्य हो तो अजीर्ण का ध्यान रखें। इसमें चित्रक का प्रयोग अवश्य करना चाहिए एवं पर्याप्त जल पान से भी रोग निवारण होता है। पूयमेह में गिलोय अलसी का फांट हितकारी है। नीलमेह में अश्वत्थ साधित दुग्ध, मजिष्ठमेह में मधुयष्ठि साधित दुग्ध लाभप्रद है।

प्रमेह यद्यपि लंघनसाध्य व्याधि है पुनरपि शुक्रमेहादि प्रमेह पीड़ित रोगियों में यदि बृंहण की आवश्यकता हो तो अवश्य पौष्टिक आहार देना चाहिए—

स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः
कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च।
संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं
संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥
—चरक चि. ६।१५

किन्तु यह ध्यान अवश्य रहे कि यह पौष्टिक आहार उग्र न हो। ऐसे आहार में आमलकी, सिता, गो दुग्ध, सिंघाड़ा, चिरौंजी आदि उपयुक्त हैं।

अपथ्य—

दधिमधुगुडसर्पि क्षीरमम्लं च हिंगु
लवण लशुन निद्रासङ्गमं मत्स्यमांसम्।
तिलसर्षपशुण्ठिनारिकेलाम्बु पिष्टं
बृहतिपनसकन्दं मेहिनां शत्रुवर्गः॥
—वसवराजीयम्

आचार्य सुश्रुत ने कहा है—"द्वौ प्रमेहौ भवतः सहजो

ऽपथ्यनिमित्तश्च 'सुतरां' हेतोरसेवा विहिसा यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा" के अनुसार अपथ्य का त्याग नितांत आवश्यक है। चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट ने निम्नांकित कारण प्रमेह के कहे हैं—

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१. कफ मेद मूत्र जनक आहार	१. शीतस्निग्ध अन्नपान	१. मेदमूत्रकफकर आहार
२. नवान्नधान्यति सेवन	२. दिवास्वप्न	२. अनुपयुक्त शयन
३. दधि सुरा	३. अव्यायाम	३. नवान्नधान्य
४. आस्यासुखं	४ मेध्यद्रव्य	४. सुरा, गोरस, इक्षु।
५. अतिस्वप्न	५. आलस्य	५. आनूपमांस
६. अव्यायाम		६. आलस्य
७. ग्राम्यानुपौदक मांस		
८. शरीर शुक्ति		

'इक्षुर्मूत्रजननानां श्रेष्ठम' —चरक सू० २५।४० और 'प्रभूतिक्रिमिमज्जासृङ्मांसमेदोकरः गुडः' (चरक सू० २७।२३८) के अनुसार प्रमेह में इक्षु और गुड़ अपथ्य है। तिल स्वादु, स्निग्ध होने से अपथ्य हैं, यह बहुमूत्र में उपयोगी हैं। योगरत्नाकरकार ने अपथ्य कहे हैं—

सदासनं दिवा निद्रा नवान्नानि दधीनि च।
मूत्रवेगं धूम्रपानं स्वेदं शोणितमोक्षणम्॥
सौवीरकं सुरां सूक्तं तैलं क्षारं घृतं गुडम्।
अम्लेक्षुरस पिष्टान्नानूपमांसानि वर्जयेत्॥

शुक्रमेही इन अपथ्यों का परित्याग करें—

अभिष्यंदि दीर्घजरं तीक्ष्णं पानान्नमेव च।
सन्तापं मैथुनं मद्यं लङ्घनञ्चातिजागरम्॥
दिवा निद्रां शुचं क्रोधमालस्यञ्चातिचिन्तनम्।
असताञ्च तथा सङ्गं शुक्रमेही विवर्जयेत्॥
—भै०र० शुक्रमेह०

रक्तमेह में लवण, क्षार, ताम्बूल आदि तीक्ष्ण विदाहि द्रव्य तथा पूयमेह में सुश्रुतोक्त नवधान्यादिवर्ग सदैव अपथ्य है। संक्षेपतः प्रमेह में तिक्तकषायरसात्मक पदार्थ पथ्य हैं और मधुराम्लरसात्मक पदार्थ अपथ्य हैं। कन्दशाक अपथ्य हैं।

२. मूत्रकृच्छ्र—

आहार

वर्ग	पथ्य	अपथ्य
१. धान्यवर्ग	पुरातन रक्त शालि, यव, मुद्ग।	माष, तिल, सर्षप, चणक।
२. गोरस	गोदुग्ध, गोघृत, गोदधि गोतक्र	महिषी दुग्ध एवं प्रायः दुग्ध भी
३. फलवर्ग	द्राक्षा, खजूर, नारियल, आमलकी, अनार, मुसम्मी, अनन्नास, पपीता	छुहांरा, जामुन, करीरफल, कपित्थ आम, केला, विल्व
४. शाकवर्ग	परवल, चौराई, ककड़ी, लौकी, सफेद कोहड़ा (पुराना), मूली के पत्ते।	वृंताक, करेला, आलू, कर्कोटक
५. इक्षुवर्ग	इक्षुरस, सिता, शर्करा	नवीन गुड़
६ अन्य	कपूर, इलायची, कच्चे नारियल का पानी, धनिया, मधु, तण्डुलोदक, गोमूत्र	हींग, अदरक, ताम्बूल, मत्स्य, मांस, लवण, मद्य

विहार

	पथ्य	अपथ्य
	अभ्यङ्ग (वात कफज में), शीत परिषेक अवगाहन लेप (पित्तजन्य में), स्वेदन (वातकफज में), वस्ति, उत्तरवस्ति	श्रम, मैथुन, हाथी घोड़े ऊँट की सवारी, वेगावरोध, धूप, तेज हवा।

मूत्रकृच्छ्र में शीतवीर्य वाले द्रव्य प्रायः हितावह हैं। कषाय रस प्रधान अन्नपान मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी नहीं है। अति तीक्ष्ण, विदाही, रूक्ष, अम्लपदार्थ, विरुद्धासन, विषमासन मूत्रकृच्छ्र में सदैव अपथ्य कहे गये हैं। निघण्ट में

ाम्नांङ्कित द्रव्यों को मूत्रकृच्छ्रहर कहा है—

नारिकेलफलं शीतं दुर्जरं वस्तिशोधनम् ।
तस्याम्भः शीतलं हृद्यं दीपनं शुक्रलं लघु ।
पिपासापित्तजित्स्वादु वस्ति शुद्धिकरं परम् ॥
खर्जूरं जं मूत्रलं बल्यं कोष्ठ शुद्धिकरं गुरु ।
त्रपुसं लघु शीतं च नवं तृट्क्लमदाहजित् ।
स्वादुपित्तापहं शीतं तिक्तं कृच्छ्रहरं परम् ॥
तद्बीजं मूत्रलं शीतं रूक्षं पित्तास्रकृच्छ्रजित् ॥

—आ०प्र०नि० ५।३८ से ४८

द्राक्षा पक्वा सरा शीता चक्षुष्या बृंहणी गुरु ।
स्वादुपाकरसा स्वर्य्या तुवरा सृष्टमूत्रविट् ॥

—भा०प्र०नि० ५।१११

शालयो मधुराः स्निग्धाः बल्या बद्धाल्पवर्चसः ।
अल्पानिलकफाः शीताः पित्तघ्ना मूत्रलास्तथा ॥

—भा०प्र०नि० ८।७

ज्ञेयः सोऽष्टगुणो मण्डो ज्वरदोषत्रयापहः ।
रक्तक्षुद्वर्धनः प्राणप्रदो वस्तिविशोधनः ॥
द्राक्षादिपानकं हृद्यं मूत्रलं तृड्श्रमापहम् ॥
धान्यकल्कसिताजातं पानकं शशिवासितम् ।
शीतं परं पित्तहरं मूत्रकृच्छ्रविनाशनम् ॥

—यो. र.

वातज मूत्रकृच्छ्र में अमृता शुण्ठीसाधित दुग्ध लाभप्रद है। पित्तजमूत्रकृच्छ्र में तृणपञ्चमूलसाधित शीतल दुग्ध ना लाभप्रद है। आमलकी स्वरस मधुयुक्त भी पथ्य है। ्फजमूत्रकृच्छ्र में ५-७ छोटी इलायची गोमूत्र या कदलीवरस से देनी चाहिये। त्रिदोषजमूत्रकृच्छ्र में एक हितकारी पथ्य है—

गुडेन मिश्रितं दुग्धं कदुष्णं कामतः पिबेत् ।
मूत्रकृच्छ्रेषु सर्वेषु शर्करा वातरोगनुत् ॥

अभिघातज मूत्रकृच्छ्र में सितायुक्त मन्थ, सर्पियुक्त ृतदुग्ध, इक्षुरस, आमलकी रस मधुयुक्त उत्तम पथ्य है। ुक्रविबन्धज मूत्रकृच्छ्र में तृणपंचमूल सिद्ध दुग्ध सिता ाहित पीना चाहिये। शकृद्विघातज मूत्रकृच्छ्र में इसी पथ्य ा प्रयोग करें एवं वस्ति का भी प्रयोग करें। अश्मरी न्य मूत्रकृच्छ्र में वीरतर्वादिगणसाधित शृत दुग्ध हितकारी है। दूध-जल की लस्सी, कुलथी, यवक्षार भी लाभदायक हैं। मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय होने पर कुलथी, नीबू, इमली, तृणपञ्चमूल हितकर है। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्लीय होने पर क्षार हितकर हैं।

तिलापामार्गकदली पलाशयव संभवः ।
दग्ध्वा तद्भस्म चादाय वस्त्रधातं जलैः कुरु ॥
जले शुष्के तु तत्क्षारं द्विनिष्कं मूत्रकृच्छ्रनुत् ॥

—वसवराजीयम्

अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र में अश्मरीद्रावक, स्निग्ध, मूत्रल आहार की योजना करनी चाहिये।

३. मूत्राघात—

मूत्रकृच्छ्र में मूत्र की कृच्छ्रता अधिक और विबन्ध कम रहता है और मूत्राघात में मूत्रविबन्ध अधिक और कृच्छ्रता कम रहती है।

स्नेहस्वेदोपपन्नस्य हितं स्नेहविरेचनम् ।
वस्तिरुत्तरवस्तिश्च मूत्राघाते सवेदने ॥
मूत्रकृच्छ्रेऽश्मरी रोगे यत् पथ्यं च प्रयुज्यते ।
मूत्राघातेषु सर्वेषु तद् युञ्ज्याद् देशकालवित् ॥
अन्नपानमनुग्रं यद्यन्मूलस्यानुलोमनम् ।
हितमत्र विजानीयाद्विपरीतं सुखाय न ॥

मूत्राघात में वह पथ्य गुणकारी है, जो (१) अनुग्र हो (२) मूत्रल हो।

इस निमित्त तृणपंचमूलसाधित दुग्ध सर्वोत्तम पथ्य है। इसके अतिरिक्त अन्य दुग्ध योग भी पथ्य हैं—

शृत शीतं पयो मांसी चन्दनं तण्डुलाम्बुना ।
पिबेत्सशर्करं श्रेष्ठं उष्णवाते सशोणिते ॥
त्रिकण्टकैरण्डशतावरीभिः सिद्धं पयो वातमये सशूले ।
गुडप्रगाढं सघृतं पयो वा रोगेषु कृच्छ्रादिषु शस्तमेतत् ॥

—वसवराजीयम्

मूत्राघात नष्ट करने की क्रिया कई प्रकार से शरीर में संपादित होती है—

१. मूत्रोत्सिका को अधिक संख्या में कार्य कराकर- मूत्र को बढ़ाने में गोमूत्र, चाय, काफी आदि प्रमुख हैं।

२. मूत्रोत्सिका या वृक्कों में रक्त प्रवाह बढ़ाकर- मूत्रवृद्धि करने में सुरा अद्वितीय है।

३. रक्त की आम्लिक क्रिया बढ़ाकर मूत्र को बढ़ाने वाले द्रव्य हैं—नवसादर, कलमीशोरा, अनारदाना, चावल, कुलत्थ, नीबू, इमली आदि।

४. रक्त में लवण की मात्रा बढ़ाकर मूत्रल क्रिया करने वाले समस्त क्षार हैं।

५. वृक्कों को उत्तेजित कर मूत्र बढ़ाने वाले द्रव्य हैं—चन्दन का तैल, शीतलचीनी, पपीता, खट्टा अनार, अनन्नास, पोदीना, शिलाजीत आदि।

समस्त औषध पथ्यों के दो भाग होते हैं—

(१) साक्षात् शारीरिक फलदर्शक, (२) असाक्षात् शारीरिक फलदर्शक।

इनमें साक्षात् शारीरिक फलदर्शकों के दो विभाग होते हैं—

१. व्यापक फलदर्शक, २. स्थानिक फलदर्शक।

व्यापक फलदर्शक के पुनः तीन भेद हैं—

१. उत्तेजक (Stimulants)

२. अवसादक (Sedatives)

३. परिवर्तक (Alteratives)

इसमें यथायोग्य उत्तेजक, अवसादक और परिवर्तक पथ्य की मूत्राघात में कुशल चिकित्सक को योजना करनी चाहिये। कतिपय उत्तम पथ्य हैं—

१. २०० मिली. कांजी में ३ ग्राम सैंधा नमक, १० ग्राम ककड़ी के बीजों का कल्क मिलाकर पीवें।

२. कूष्मांडस्वरस ५० मिली० में ५ ग्राम यवक्षार और २० ग्राम सिता मिलाकर सेवन करें—

शीतोऽवगाह आवस्तेरुष्णवातनिवारणः।
कूष्माण्डकरसश्चापि पीतः स क्षार शर्करः॥
—चक्रदत्त मूत्राघात १५

३. शालि चावल के २५ मिली० मण्ड में ५०० मि. ग्राम तिलक्षार मिलाकर प्रयोग करें।

४. गोपाल कर्कटी की जड़ में पीसकर सितायुक्त तर्पण बनाकर सेवन करें। इसी प्रकार मूली स्वरस, पलांडु स्वरस का तर्पण भी सेवन करें।

५. उष्णवात में तण्डुलोदक ५० मिली० श्वेत चन्दन ५ ग्राम, सिता ५ ग्राम मिलाकर सेवन करें।

६. औपसर्गिक उष्णवात में समधु तण्डुलोदक ५०—१०० मिली. या चन्दनादि अर्क शर्बत अनार मे मिलाकर पीवें।

७. पालक और लाल टमाटर का रस १०-१० मि. ली. पीने से मूत्राघात दूर होता है।

८. ५ ग्राम ईसबगोल की भुसी को भिगोकर उसमें बूरा मिलाकर पीने से उष्णवात नष्ट होता है।

९. १० ग्राम धनिया रात्रि में भिगो दें। प्रातः ठंडाई की भांति पीस-छानकर सिता मिलाकर पीने से भी उष्णवात में लाभ होता है।

१०. एक शलगम और एक कच्ची मूली साथ में ही खावें। इससे मूत्राघात में आराम मिलता है।

११. चुकन्दर को पानी में उबालें। इसके बाद शीतल हो जाने पर उसी जल में चुकन्दर को मसलकर पानी छानकर दिन में ३-४ बार २५-५० मिली. पी जाइये, उष्णवात में फायदा होगा।

पुराना शालि चावल, जौ का दलिया, मुद्गयूप, सांवा, कोदो, गौ, बकरी का दुग्ध, तक्र, दही, घृत, मिश्री, चीनी, आंवला वेदना, कूष्माण्ड, ककड़ी, खीरा, लौकी, परवल, नारियल का जल आदि दोषानुसार पथ्य रूप में प्रयुक्त करें।

शीतल मूत्रल द्रव्य और उत्तेजक मूत्रल द्रव्य में मूत्रल द्रव्यों के दो भेद होते हैं। यद्यपि शीतल मूत्रल द्रव्य अधिक परिमाण में सेवन करने पर कार्यकारी होते हैं किन्तु मूत्राघात में प्रायः ये द्रव्य ही अधिक प्रभावशाली होते हैं। औषधियां वीर्य प्रधान द्रव्य होने से प्रायः उत्तेजक मूत्रल होती हैं और आहार रस प्रधान होने से प्रायः शीतल मूत्रल होता है अतः मूत्राघात में विशेषेण पथ्याहार की महत्ता है। शास्त्र में पथ्यापथ्य इस प्रकार वर्णित है—

उर्वारुखर्जूरकनारिकेल तालद्रुमाणामपि मस्तकानि।
यथामलं सर्वमिदं च मूत्राघातातुराणां हितमादिशंति॥
विरुद्धाशन सर्वाणि व्यायामं मार्गं शीलनम्।
रूक्षं विदाहि विष्टम्भि व्यवायं वेगधारणम्।
करीरं वमनं चापि मूत्राघाती विवर्जयेत्॥

४ अश्मरी—

आचार्य सुश्रुत ने अश्मरी के दो मुख्य हेतु बतलाये हैं। (१) असंशोधन (२) अपथ्य। सुतरां अश्मरी रोग में पथ्य सेवन एवं अपथ्य निवारण नितान्त आवश्यक है।

अश्मरी वैसे त्रिदोषात्मक व्याधि है किन्तु इसमें श्लेष्मा की प्रधानता होती है क्योंकि घनत्व इसी के कारण होता है और यह क्रिया वात सम्पादित करता है तथा वात के

विना शूल भी नहीं होता एतावता वातकफशामक चिकित्सा का निर्देश दिया गया है—

कफानिलाख्यकृच्छ्रस्य क्रियाश्मर्यां प्रयुज्यते ।

वातदोषशमनार्थं दशमूल, पित्तदोषशमनार्थं चन्दनादि और कफदोषशमनार्थं न्यग्रोधादि गण द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध, यूष, यवागू, कषाय आदि की योजना करनी चाहिये ।

यद्यपि प्रोटीन की अधिकता से चावल अश्मरी में अपथ्य है किन्तु पित्ताशय की अश्मरी में या पित्ताश्मरी में पित्तघ्न एवं मूत्रल होने से एवं एकांततः पथ्यतम होने से शालि चावल पथ्य है किन्तु वे पुरातन हों । कफपित्त-शामक एवं मधुर कषाय रस होने से यव की यवागू कफ-जन्य और पित्तजन्य अश्मरी रोग में लाभप्रद है । इसी प्रकार गोधूम की यवागू वातजन्य पित्तजन्य अश्मरी में लाभदायक है ।

क्षारीय प्रतिक्रिया से कफज अश्मरी बनती है अतः चने में स्टार्च एवं फास्फोरिक अम्ल होने से, इसी प्रकार पित्त कफ शामक लघु कषाय रस होने से अश्मरी में चना परमोपयोगी है । रात में चने की दाल भिगो दें, प्रातः पीसकर शर्करा मिलाकर पानी मिलाकर एक गिलास भर सेवन करें । विटामिन 'ए' में अश्मरी प्रतिरोधक शक्ति है । चने की पत्तियों में यह विटामिन पर्याप्त होता है । सुतरां इनका शाक भी अश्मरी रोगशा-मक है । पथ्यतम मुद्गयूप कफजन्य व पित्तजन्य अश्मरी में हितावह है—

कुलत्था मुद्गगोधूमाः जीर्ण शालियवाः हिताः ।

कुलत्थ को वातकफशामक एवं अश्मरी शर्करानाशक कहा है । आचार्य सुश्रुत ने कुलत्थ को विशेषेण शुक्राश्मरी-हर कहा है । वायु ही दूषित होकर कफ को सुखा-कर अश्मरी बनाता है—यह पूर्व में कहा जा चुका है । कुलत्थ वातकफशामक है, इसमें अश्मरी भेदन व मूत्रल गुण हैं; अश्मरी की उत्पत्ति को रोकने में लाभदायक विटामिन 'ए' भी कुलत्थ में है, अतः अश्मरी के रोगी को कुलत्थ क्वाथ २५-२५ मिली. प्रातः सायं पिलाना चाहिए। कुलथी चूर्ण को ३२ गुना जल में रात्रि में भिगोकर प्रातः छानकर यथावश्यक पीने को देना चाहिए ।

अश्मरी रोग में गोदुग्ध, बकरी का दही, तक्र और भेड़ का घृत व मूत्र लाभदायक है । श्वेत गाय का दुग्ध गुरु और कफकारक होने से उपयुक्त नहीं है । अश्मरी रोग विनाशार्थ मध्याह्न में गोदुग्ध सेवन करना चाहिये—

मध्याह्ने बलदायकं रुचिकरं कृच्छ्राश्मरीछेदनम् ।।

एक-दो दुग्ध के पथ्य प्रयोग हैं—

एलाहिंगुयुतं क्षीरं सर्पिमिश्रं पिबेन्नरः ।
मूत्रदोषविशुद्ध्यर्थं शुक्राश्मरीहरं परम् ।।

—वसवराजीयम्

शतावरीमूलरसो गव्येन पयसा समः ।
पीतो निपातयत्याशुह्यश्मरीं चिरजामपि ।।

—योग रत्नाकर

दधि में अश्मरीभेदक शक्ति निहित है । त्रिदोषहर होने से आज दधि इसमें उत्तम है—'आजं दध्युत्तमं ग्राहि लघु दोषत्रयापहम् ।' पथ्य अन्न के साथ दधि अनुपान से यह द्रव्य सेवन करें—

पिबतः कुटजं दध्ना पथ्यमन्नं च खादतः ।
निपतत्यचिरादस्य निश्चितं मेढ्र शर्करा ।।

—योग रत्नाकर

कफ वातशामक होने से तक्र भी लाभप्रद है । हिंगु, जीरा और सैंधव मिलाकर सेवन करने से अश्मरीजन्य पीड़ा का भी शमन होता है । भेड़ के घृत के बारे में कहा गया है—

पाके लघ्वाविकं सर्पिः सर्वं रोगविनाशनम् ।
वृद्धिं करोति चास्थीनामश्मरी शर्करापहम् ।।

—भावप्रकाश निघण्टु

कफ वात शामक होने से भेड़ का मूत्र अश्मरी में गुणकारक है । यह स्मरण रहे कि—

'गोजाविमहषीणां च स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते ।'

नारिकेलोदक पित्ताश्मरीनाशक कहा गया है—

स्निग्धं स्वादु हिमं हृद्यं दीपनं वस्ति शोधनम् ।
वृष्यं पित्तपिपासाघ्नं नारिकेलोदकं लघु ।।

—योग रत्नाकर

वैसे लघु एवं वस्ति शोधक होने से सभी प्रकार की अश्मरी में लाभदायक सिद्ध हो सकता है । हरिद्रा नारि-केलोदक से सेवन करनी चाहिये । शोथनाशक, शूलहर एवं कफामयहर होने से अश्मरी रोग में सदैव आर्द्रक हितावह है । वातकफहर होने से क्षार सदैव इस रोग में हितकारी है—

तिलापामार्गकदलीपलाशयवसंभवः ।

—योगरत्नाकर

पुराना गुड़ लघु एवं पथ्य होने से लाभप्रद है। शर्करा, सिता वातपित्त शामक होने से वातज पित्तज रोगों में हितकारी है तथा मधु शर्करा व द्राक्षा शर्करा कफपित्त शामक होने से कफज पित्तज रोगों में लाभप्रद है। इसी प्रकार कफपित्तहर, लघु, स्वादु, कषायानुरस और योगवाही होने से मधु तो गुणकारी है ही।

'कूष्माण्डं बृंहणं शीतं गुरुपित्तास्रजित्' होने से श्वेत कूष्माण्ड इस रोग में पथ्य है। इसके स्वरस ४० मिली. में ५ ग्राम गुड़ एवं १ ग्राम यवक्षार मिलाकर पीना चाहिए। खट्टे अनार के बीज एवं ककड़ी के बीज भी अश्मरीहर हैं। खीरा, ककड़ी मूत्रल एवं कफवातहर होने से अत्यन्त लाभकारी हैं। इनके स्वरस में मधु एवं निम्बू स्वरस मिलाकर सेवन करना चाहिये। गोपाल कर्कटीमूल की पथ्यव्यवस्था प्रकट की गई है—

गोपालकर्कटीमूलं पिष्टं पर्युषिताम्भसा ।
पीयमानं त्रिरात्रेण पातयत्यश्मरीं हठात् ॥

—राजमार्तण्ड

वरुण शाक कषाय तिक्त होने से विशेषेण अश्मरीहर कहा गया है। त्रिदोषहर शाकराट्, वास्तूक पित्तकफहर, विषहर मूत्रल विटामिन 'ए' से पूर्ण तण्डुलीय और पित्तकफहर विटामिन 'ए' युक्त पालक भी इस रोग में पथ्य हैं। मेथी, धनियां, पोदीना, गाजर, लौकी, चौपतिया, चुकन्दर आदि विटामिन 'ए' से युक्त होने पर पथ्य हैं। चुकन्दर में पाये जाने वाला तत्व बीटिन है जो लाभप्रद है। पत्ता गोभी में भी विटामिन 'ए' होता है। पलाण्डु और मूली स्वरस भी शर्करासहित गुणकारक हैं।

वातपित्तहर खरबूजा भोजन के मध्य में खाने से फलप्रद है। इसी प्रकार वातपित्तशामक सेव भी पथ्य है। यह पित्ताशय की अश्मरी में विशेष रूप से लाभ करता है। वाताश्मरी में निम्बू और आम्रस्वरस तथा नारङ्गीस्वरस हितकारी है। पित्ताश्मरी में नारियल, परूषक, मातुलुङ्ग एवं कफाश्मरी में द्राक्षा, गाजर, ककड़ी विशेषेण पथ्य है। पपीते में विटामिन 'ए' ३००० इन्टर नेशनल यूनिट प्रति सौ ग्राम और विटामिन 'सी' १३० मि. ग्राम प्रति सौ ग्राम होता है। इसकी जड़ ५ ग्राम पीसकर जल मिलाकर छानकर कुछ दिन पीने से भी अश्मरी गल कर निकल जाती है। अश्मरी को नष्ट करने में कषाय रस प्रधान द्रव्य विशेष रूपेण प्रायः पथ्य कहे गये हैं। उष्ण जल का सेक एवं अवगाहन आदि भी इस रोग में हितावह है।

वातिक एवं पैत्तिक अश्मरी में अम्ल विपाक वाले द्रव्य प्रायः अपथ्य हैं तथा श्लेष्मिक अश्मरी में क्षारीय विपाक वाले द्रव्य प्रायः अपथ्य हैं। मादक एवं गुरु द्रव्य इस रोग में हानिकारक सिद्ध होते हैं।

चावल, उड़द, टमाटर आदि द्रव्य इसमें अहितकर हैं।

५. वृक्क रोग—

वृक्करोगों का प्रमेह में अन्तर्भाव होने से प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में इनका स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता है। वृक्क रोगों में वह औषधि, अन्न हितकर हैं जो मूत्र का प्रवर्तन करे, रक्त का शोधन करे, वह्नि का दीपन करे, धातुओं का पोषण करे, हृदय को सबल बनावे, कुपित दोषों की शांति कर मलों की आगे गति कराने में सहायक हो।

अर्थात् जो मूत्रल हो, रक्तप्रसाद न हो, दीपन हो, पौष्टिक हो, हृद्य हो, अनुलोमन हो।

क्योंकि मूत्रल द्रव्यों से देहगत, रक्तगत विजातीय द्रव्य एवं हानिकर विष बाहर निकल जाता है, वृक्कशोथ दूर होता है। वृक्काश्मरी में मूत्र परिमाण की वृद्धिकर मूत्रल (शीतल) द्रव्य लाभ पहुंचाते हैं। धनिया, कलञ्जिका, यवक्षार, नारियल, शीतल जलपान, दूध-जल की लस्सी, बादाम आदि की ठण्डाई, गाय-बकरी का दूध, यवयूष आदि यथाकाल बलानुसार यथावश्यक इस कार्य निमित्त परमोपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। मूत्रकृच्छ्राधिकारोक्त पथ्य भी इसमें लाभप्रद है। किन्तु अधिक शीतल पथ्य न दें।

क्योंकि रक्तप्रसादन द्रव्यों से रक्त में उत्पन्न विकृति दूर होती है, रक्त स्वच्छ होता है, रक्त का दबाव कम होता है। रक्त और इतर धातुओं में से मृत विजातीय कीटाणु दूर होकर देह सबल बनता है, रक्ताणुओं में वृद्धि होती है, रक्त में श्वेताणुओं की संख्या बढ़ जाती है अमलकी, चन्दन, इलायची, हरिद्रा, गिलोय, सोंठ, पटोल, संतरा, मौसम्मी आदि यथावश्यक इस निमित्त पथ्य कहे गये हैं।

क्योंकि दीपन द्रव्यों से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यकृत् और अन्त्र की क्रिया सुचारु होती है। आमाशय स्वल्प उत्तेजित होने पर आमाशय का रक्तस्राव बढ़ जाता है। देह घटकत्व निर्माण के प्रति आहार पर शरीर की प्रथम क्रिया इन्हीं द्रव्यों से सम्यक् बनती है। शतपुष्पा, सन्तरा, धनिया, अजवाइन, मेंथी, जीरा, हिंगु, अजमोद, पारसीक यवानिका, पपीता आदि इस कार्य हेतु लाभप्रद हैं।

क्योंकि पौष्टिक द्रव्यों से अङ्ग विशेष या सर्वाङ्ग को बल मिलता है, जीवन क्रिया उत्तेजित होती है, हृदय क्रिया बलवती बनती है, वातवाहिनियों की शक्ति बढ़ जाती है, वृक्कविकृतिजन्य निर्बलता दूर होती है, इस निमित्त आमलकी, गिलोय, शतावरी, यव, हरिद्रा, दुग्ध, खुरासानी अजवाइन, नारियल, गोखरू, शतपुष्पा, इलायची, खीरा, चन्दन आदि सदैव पथ्य हैं।

क्योंकि हृद्य द्रव्यों से रक्तवाहिनियां और हृदय सबल बनते हैं। सामान्यतः स्वास्थ्य सुधरता है, वेदना, अरति दूर हो मूत्रक्षारक क्रिया सम्पादित होती हैं, इस निमित्त फलप्रद पथ्य हैं—गेहूं का दलिया, मूंग की दाल, परवल, पालक, तण्डुलीय, दुग्ध, आमलकी, पारसीक यवानी, अजमोद, यवानिका, मधु, मीठा अनार, बिजौरा आदि।

क्योंकि अनुलोमन द्रव्यों से किसी स्थान का शोथ दूर होता है रक्त में मूत्रविष वृद्धि (वृक्क सन्यास-यूरीमिया) होने पर रक्त विषमय बन जाता है,अनुलोमन द्रव्य इस विष को निकालते हैं। रक्तरस में विरेचक, मूत्रल, स्वेदल द्रव्य प्रवेशित होकर इनमें से अनेक पदार्थों के परमाणुओं को निर्गत करा देते हैं। वातादि कुपित दोषों को अनुलोमन द्रव्य शांत करते हैं, मलों को यथामार्ग प्रवृत कर बंधों का भेदन कर उन्हें पकाकर नीचे गिराते हैं ये मृदु विरेचक होते हैं। इनसे स्रोतस शुद्ध होते हैं। क्योंकि इनके सम्यक् योग से क्रमशः पुरीष, पित्त, कफ व वात निकलते हैं इनसे अधोमार्ग का संशोधन हो जाता है। इस निमित्त मुनक्का, त्रिफला, फालसा, अन्जीर, आलूबुखारा, एरण्ड तैल, मधु, अंगूर, पपीता, गोदुग्ध, तण्डुलीय, गुलाब के फूल, विविध क्षार लाभप्रद पथ्य हैं। वृक्क प्रदाह मे जल वत् भेदोत्पादक कालादाना प्रयुक्त होता है। खरबूज, तरबूज, चन्दन के पानक भी हितकर हैं। मौसम्मी के स्वरस का कल्पविधि से सेवन करने से वृक्कशूल एवं वृक्कशोथ समूल नष्ट होते हैं। इसी प्रकार सेब और नारङ्गी भी लाभप्रद हैं।

जब तक वृक्क मूत्रोत्पादन और निष्कासन क्रिया में समर्थ नहीं होते तब तक लवण का परित्याग अत्यावश्यक है। इसे अस्वस्थ होने के कारण वृक्क बाहर नहीं निकाल पाते और वह पैरों के निचले भाग में जमा होकर शोथ उत्पन्न कर देता है।

अधिक शीतल जल, शीतल वायु, अत्यधिक परिश्रम, आर्द्र स्थान में निवास, अत्यधिक विषाद रोग को बढ़ाते हैं। पारद निर्मित रसौषधियां वृक्क रोगों में विज्ञ चिकित्सक को प्रयुक्त नहीं करनी चाहिये। गुरु, तीक्ष्ण पदार्थ सदैव हानिकारक कहे गये हैं।

दधि, केला, अमरूद, मिठाइयां, दालें, मद्य, गण्डे, मांस आदि इस व्याधि में सदैव अपथ्य हैं।

वृक्करोगों में मांस भक्षण सर्वथा अपथ्य है। मांस को पचाने में शरीर को अधिक ताप की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त ताप के कारण वृक्कों की रक्त छानने की प्रक्रिया बहुत तेज हो जाती है और मूत्रोत्सिका में ये लवण-क्षार, अतिरिक्त दबाव के कारण छनने से बच नहीं पाते और मूत्र के साथ बाहर निकल जाते हैं। अर्थात् वृक्कों की लवण सन्तुलन और अम्लक्षार क्रिया सम्यक् रूपेण सम्पादित नहीं हो पाती। इससे अस्थियां कमजोर हो जाती हैं तथा इन रासायनिक प्रक्रियाओं के असन्तुलन के कारण अन्य भी कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

—श्री वैद्य गोपीनाथ गोपेश भिषगाचार्य
चिकित्साधिकारी—राजकीय आयुर्वेद चिकित्सालय,
पचार, जिला सीकर (राज०

०—X—०

मूत्र रोगों की व्यावहारिक चिकित्सा

वैद्य श्रीनिवास शर्मा

मूत्र रोगों की अपने द्वारा किये गये प्रयोगों के आधार पर सूर्य रश्मि, प्राकृतिक, यौगिक, बायोकेमिक की सरल चिकित्सा विधि लिख रहा हूं—

(१) सूर्य रश्मि—सूर्य किरणों में सात रङ्ग होते हैं—

१. बैंजनी, २. नीला, ३. आसमानी, ४. हरा, ५. पीला, ६. नारङ्गी, ७. लाल।

सीधे सूर्य की किरणों में बराबर उचित काल तक बैठना या उचित स्थान तक पाना सम्भव नहीं होता है। अतः सूर्य की किरणों के सम्मुख सम्बन्धित रङ्ग के शीशे की प्लेट को रख देते हैं और अपेक्षित काल तक उस प्लेट पार कर बाहर आयी किरण का उपयोग अपेक्षित अवयव के लिये करते हैं। इसी प्रकार हर समय और हर अवयव पर अपेक्षित रङ्ग वाली किरण पहुंच पाना सम्भव न होने के कारण अपेक्षित रङ्ग वाली बोतलों में रखे हुए जल (सूर्य किरण संतप्त जल) का आन्तरिक प्रयोग करने से भी पूरा-पूरा लाभ पाया गया है। निम्नलिखित प्रयोग मूत्र रोगों में लाभकारी सिद्ध हुये हैं—

वृक्कशोथ—आसमानी रङ्ग का प्रकाश ३-४ बार ४-५ मिनट डालें। १२ १३ मिली. आसमानी रंगीन पानी दिन में २-४ बार पियें।

मूत्रकृच्छ्, मधुमेह, मूत्रावरोध—आसमानी रंग वाला पानी २४-२६ मि.ली. प्रातः सायं पीने से यथाशीघ्र लाभ होता है।

वृक्कशोथ—नारंगी रंग का प्रकाश ३-३ मिनट तक। ६-५ मिली. नारंगी पानी यथालाभ तक पीने से लाभ।

मूत्रदाह, पूयमेह—आसमानी रंग वाला पानी २४ से मिली. प्रातःसायं पीने से यथाशीघ्र लाभ होता है।

प्राकृतिक चिकित्सा विधि से रोगोपचार—

मूत्रावरोध या मूत्राघात होने पर—कच्चे नारियल का पानी पिलाने से लाभ पाया गया है। दूध में चौगुना पानी मिलाकर चीनी तथा कागजी नीबू के रस को डाल कर पिलाने से पूरा लाभ पाया जाता है। कलमी सोडे के गाढ़े घोल को मोटे कपड़े की पट्टी पर लेप कर बस्ति. पेड़ू प्रदेश पर रखने से भी पेशाब उतर जाता है। गुन-गुने या सहने योग्य गरम जल से टब इतना भर दें कि उसमें बैठकर कटिस्नान कर सकें तो भी मूत्रावरोध, जलन, बेचैनी दूर हो जाती है।

आयुर्वेद पद्धति से मूत्र रोगों की अनुभूत चिकित्सा—

(१) घृतकुमारी स्वरस ५ तोला एवं स्वर्जिका क्षार ५ माशा तथा शिलाजीत ६ माशा मिलाकर २ मात्रा बनाकर नियमित रूप में पीने से 'मूत्रकृच्छ्' रोग दूर हो जाता है और आराम मिल जाता है।

(२) 'श्वेत स्फटिका भस्म' १ ग्राम फटे दूध का पानी १२० मिली में घोलकर पीने से किसी भी कारण से होने वाला मूत्रकृच्छ् दूर हो जाता है।

(३) 'एलुआ चूर्ण' २ ग्राम से ४ ग्राम तक कैपसूल में रखकर गरम जल के साथ देने पर वृक्कशूल में तत्काल आराम मिलता है। लगातार प्रयोग करने से स्थायी लाभ होता है।

(४) 'गोखरू का इन्जेक्शन' [सिद्धि फार्मेसी]—मूत्र सम्बन्धी लगभग सभी विकारों में सफल सिद्ध हुआ है। यह बात अवश्य है कि स्थायी लाभ के लिए इसके १२ इन्जेक्शन अवश्य लगाने चाहिये।

(५) 'चन्दनासव' दिन में तीन बार २५ से ३० मि.

—शेषांश पृष्ठ ३३६ पर देखें।
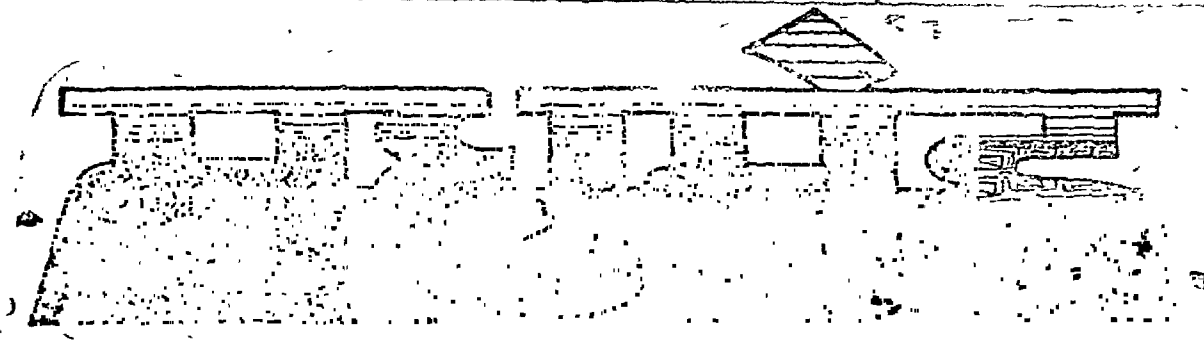
श्री डा॰ विट्ठलदास मोदी,
संचालक 'आरोग्य-मन्दिर',
गोरखपुर (उ० प्र०)

श्री विट्ठलदास जी मोदी प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति के सुप्रसिद्ध चिकित्सक हैं। गोरखपुर में आपका 'आरोग्य मन्दिर' जीवन से निराश मानवों को जीवनदान देने का आशा-केन्द्र है। आप 'आरोग्य' पत्रिका के सम्पादक भी हैं। प्राकृतिक चिकित्सा के भारत विख्यात उद्भट विद्वान् हैं। आपने मधुमेह की प्राकृतिक चिकित्सा पर लेख भेजकर अनुगृहीत किया है। —विशेष-सम्पादक 'धन्वन्तरि'

मधुमेह के रोगी को रोज सेर भर गाय के दूध का दही खिलायें, परवल, तोरई, टिण्डा, लौकी, करेला आदि की बिना नमक की हरी सब्जी दें। जो सब्जी जितनी हरी होगी वह उतनी ही फायदेमन्द होगी। आलू, घुइयां, कुम्हड़ा गोभी आदि की गिनती हरी सब्जियों में नहीं है। कुछ खट्टे फल भी दें—जैसे टमाटर, सन्तरा, मौसम्मी, अनन्नास, मकोय, जामुन आदि। साथ ही एक-दो छटांक चोकर समेत गेहूं के आटे की रोटी भी दें। रोगी के लिये छः मील नित्य टहलना आवश्यक है। इस उपचार से रोगी अच्छा हो जायगा।

असल में प्रकृति हमें जो चीज जिस रूप में देती है उसी रूप में हमें उसे ग्रहण करना चाहिये। जो आग के सम्पर्क में लाये बिना न पचने वाली हो उन्हें उतनी ही देर आग के सम्पर्क में लाना चाहिये जिससे वे पचने लायक हो जायें और जब पेशाब में चीनी आ रही है, खून में चीनी बढ़ गयी है, तब इसका मतलब है कि चीनी जिन खाद्यों से बनती है अर्थात् गेहूं चावल, दालें, चीनी कुछ दिन के लिये न ली जायें।

पूरी पाचन प्रणाली के आराम का अर्थ ही उपवास है। क्यों न एक-दो दिन उपवास के बाद भोजन में परिवर्तन करें। मधुमेह के रोगी को चाहिये कि चिकित्सारंभ में एक-दो दिन का उपवास करें और फिर एक सप्ताह खट्टे फलों और हरी तरकारी पर रहें। सुबह पाव-डेढ़पाव टमाटर या सन्तरा या जामुन खाना ठीक रहेगा। दोपहर शाम को वे हरी उबली तरकारियां आध सेर या डेढ़ पाव की मात्रा में लें। दूध एक उफान से अधिक गरम न किया जाए। जो दही का इन्तजाम न कर सकें वे तीनों बार १-१ छटांक अंकुरित मूंग या चना या मोंठ लें। दो सप्ताह ऐसे भोजन पर रहने के बाद दोपहर को १ छटांक चोकर समेत गेहूं के आटे की रोटी भी ली जा सकती है। आशा है इतने से ही यदि पेशाब में ३-४ प्रतिशत भी चीनी आती होगी तो पेशाब स्वाभाविक हो जायेगा।

उपवास और फलाहार के समय आमतौर पर लोगों को शौच नहीं होता। ऐसे समय नित्य सेर-सवा सेर गुनगुने पानी का एनीमा लेकर आंतों को साफ करते रहें।

स्वास्थ्य सुधार और पाचन प्रणाली को स्वस्थ बनाने के लिये नित्य व्यायाम करना आवश्यक है। व्यायाम से रक्त की चीनी भी उपयोग में आती अर्थात् जलती है। अतः मधुमेह के रोगी को अंग-प्रत्यंग का व्यायाम करना चाहिए। जमकर व्यायाम करना लाभप्रद है और कुछ न बने तो नित्य सुबह-शाम डेढ़-डेढ़ घण्टे टहलना चाहिये। शुरू में इतना न टहल सकें तो टहलने का समय धीरे-धीरे बढ़ायें। यदि तेज न टहल सकें तो शुरू में धीरे-धीरे टहलें। पर टहलें अवश्य।

मधुमेह रोग के निवारण में पाचन प्रणाली को स्वस्थ बनाना आवश्यक है और इस कार्य में लुई कूनेका बताया कटिस्नान बड़ा सहायक होता है। वह पाचन को तो सुधारता ही है मल निस्कासन को भी सशक्त करता है। जिन्हें कब्ज रहता हो उनके लिये तो यह स्नान अत्यन्त आवश्यक है। सुबह शाम टहलने जाने से पहले यह स्नान गरमी सर्दी देखकर दस पन्द्रह मिनट के लिए लेना चाहिए। कई मधुमेह के रोगियों की त्वचा खुरदरी हो जाती है। पसीना आवश्यक रूप से नहीं निकलता, जो शरीर में विकार वृद्धि का कारण होता है। त्वचा को स्वस्थ बनाने के लिए घर्षण स्नान अमोघ है। इसके लिए नित्य स्नान के पहले शरीर को १५ मिनट तक खुरदरे तौलिये से रगड़ना या किसी से रगड़वाना चाहिए। इसके बाद ठंडे पानी से स्नान करना चाहिए।

एलोपैथी की भूल—

डाक्टर हर मधुमेह के रोगी को उसके पास पहुंचते

ही दवा देना शुरू कर देते हैं। वे दवा द्वारा पाचन के उस रस की पूर्ति करते हैं जो पाचन प्रणाली कम या नहीं निकाल पा रही है। जिसके कारण पेशाब में चीनी आती है। फल यह होता है कि उक्त रस को स्रवित करने वाली ग्रन्थि और शिथिल हो जाती है, वह कभी स्वस्थ नहीं हो पाती और रोगी के ललाट पर जीवन भर दवा लेना लिख जाता है।

बात इतनी भी नहीं है, डाक्टर यह सोचकर कि श्वेतसारीय खाद्यों से चीनी बनती है, वह रोगी के भोजन से चावल, आलू और आटा निकाल देता है तथा यह सोचकर कि फल भी मीठे होते हैं अतः सभी फलों की मनाही कर देता है। भोजन की पूर्ति के लिए प्रोटीन वाले खाद्यों से रोगी को चीनी तो नहीं मिलेगी पर उसका भोजन असंतुलित हो जाता है। फलों के अभाव और प्रोटीनयुक्त खाद्यों की अधिकता से रक्त में अम्लता बढ़ जाती है, जो अधिकाधिक रोगों को जन्म देती है।

यह जानते हुए भी कि किसी के लिए भी चाय, काफी और सिगरेट आवश्यक नहीं हैं डाक्टर इन चीजों के लिए मना नहीं कर पाता। हां! रोगी चीनी न खाए, इसके लिए वह चाय, काफी में रोगी को चीनी के बदले सेकरीन डालना सिखा देता है। सेकरीन कोलतार से बनाया गया स्वयं में एक विष है जिसका कि प्रयोग किसी को भी रोगी बना सकता है। कई दूसरे रोग, रोगी को हो जाते हैं, पर डाक्टर सन्तोष करता है कि रोगी के मूत्र से (सेकरीन लेने की वजह से) चीनी कम या नहीं आ रही है।

मनोवेग—

मधुमेह रहन सहन की गलती से होता है, पर इसका कारण कई बार मानसिक भी होता है। मानसिक आघात भी पाचन प्रणाली की क्रिया को अव्यवस्थित करने में समर्थ है और मधुमेह पैदा कर सकता है। मानसिक असंतुलन मधुमेह के रोगी के स्वास्थ्य प्राप्त करने में बाधक होता है। अतः मनको निश्चिन्त बनायें और खुश रहें।

मधुमेह निवारक यौगिक क्रियायें —

मधुमेह निवारण के लिए चक्रासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वांगासन, मयूरासन, मत्स्येन्द्रासन, मत्स्यासन और धनुरासन, कपालभाति, उड्डियासन, नौलि और उज्जायी प्राणायाम बड़े हितकर सिद्ध हुए हैं।

पृष्ठ ३३४ का शेषांश

ली. तक लगातार एक मास तक लेने पर पूयमेह भी ठीक हो जाता है।

बायोकैमिक पद्धति से—

बायोकैमिक पद्धति की औषधियों में यद्यपि बारहों लवण कमोबेश या लक्षण की प्रधानता से कार्य करते रहते हैं तथापि 'फेरमफास' सर्वोत्तम औषधि हमारी समझ में आयी है।

लगातार मूत्रत्याग, उष्णमूत्र, मूत्राशय पीड़ा, स्त्रियों में सोमरोग, शिशु के अनियन्त्रित मूत्र त्याग पर फेरमफास की मात्रा २०० शक्ति की मात्रा दें।

वृक्क पर गवीनी वस्ति में अश्मरी होने पर—मैग्नेशियम फास, नेट्रम सल्फ, कल्केरिया फास।

पूयमेह, कृमिज बहुमूत्र में—साइलीशिया का प्रयोग बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है।

योगासन तथा यौगिक पद्धति से चिकित्सा—

मूत्राभाव या मूत्रावरोध के बराबर बने रहने की स्थिति में उत्कटासन, सिद्धासन का अभ्यास कराने से सद्यः लाभ मिलता है।

—अन्तर्धौति, दण्ड धौति और जलवस्ति का प्रयोग लाभकारी पाया गया है।

—मूत्र शोधन विधि का उपयोग भी सुखकारी होता है।

— भस्त्रिका तथा कुम्भक प्राणायाम से भी लाभ पाया गया है।

—कभी-कभी तो 'महाबन्ध' का अभ्यास बहुत ही आश्चर्यजनक लाभ दिखाता है।
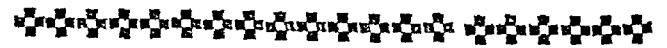
मूत्रयन्त्रों पर प्रभावकारी कतिपय वनौषधियाँ...

विशेष सम्पादक—मूत्ररोग चिकित्साङ्क—कविराज श्री गिरिधारीलाल मिश्र
प्रधान चिकित्सक—केदारमल आयुर्वेदिक होस्पीटल, तेजपुर (असम)

पुनर्नवा (Boerhavia Diffusa)—

पुनर्नवा का उल्लेख चरक-सुश्रुत आदि सभी संहिताओं में तथा सभी निघण्टुओं में उपलब्ध है तथा भारतीय चिकित्सक प्राचीनकाल से इसका प्रयोग मूत्ररोगों, शोथ, यकृत, उदररोगों में प्रचुरता से करते आ रहे हैं एतदर्थ इन्डियन फार्माकोपिया में भी इसका समावेश कर लिया गया है।

नाम-पर्याय—संस्कृत-रक्तपुनर्नवा, शोथघ्नी, शिलाटिका, कठिल्लक, हिन्दी में—लालपुनर्नवा, गदहपूरना, गुजराती—साटो, राती सारोडी, अं.—हन्दकूकी पुनर्नवा, पुनरमीक्षणं नवा, नुयते वा – जो बार-बार प्रतिवर्ष नवीन हो जाय या जो पुनः पुनः शरीर को नवीन बना दें एतदर्थ इस का नाम पुनर्नवा है।

रासायनिक संघठन—इसके पत्तों में शुष्कावस्था में पुनर्नवीन (Punarnavine) नामक कार्यकारी क्षाराभ की मात्रा ०.०१ प्रतिशत तक होती है। मूल में सम्पूर्ण क्षाराभ की मात्रा ०.०४ प्रतिशत होती है। इसके अतिरिक्त इसमें पोटासियम नाइट्रेट, सल्फेट, क्लोराइड ६.५ प्रतिशत एवं स्थिर तैल होता है।

गुण एवं उपयोग—अपने मूत्रल कर्म के लिए पुनर्नवा अति प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। पुनर्नवा एवं ट्राएन्थेमा (चित्र संख्या १३५) दोनों ही मूत्रल के रूप में बराबर है। इनकी यह क्रिया विशेषतः इनमें पाये जाने वाले पुनर्नवीन नामक अल्कलायड तथा पोटासियम् नाइट्रेट के कारण होती है। पुनर्नवीन की क्रिया प्रत्यक्षतः वृक्कों पर होती है जिससे मूत्रनलिकाओं से द्रव का पुनः शोषण नहीं होने पाता, परिणामतः मूत्रगत द्रवांश की मात्रा बढ़ती है। मूत्रल होने के साथ-साथ पुनर्नवा शोथघ्न भी है। इसका मूत्रल प्रभाव उच्चकोटि का होने से इसके प्रयोग से मूत्रपिंडों पर उत्तेजक क्रिया होती है तथा रक्त का दवाव बढ़कर सहज ही में विना कष्ट के मूत्र का प्रमाण दुगुना हो जाता है। यह मूत्रजनन प्रभाव इसकी आनुलोमिक पूर्ण मात्रा देने पर ही प्रतीत होता है। मूत्रल होने के अतिरिक्त पुनर्नवा स्रंसन (Laxative) तथा अधिक मात्रा में (६ ग्राम) देने से वामक भी होता है।

मूत्रल होने के कारण यह वृक्क शोथ, यूरीमिया, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी तथा सिकतामेह में अत्यन्त लाभप्रद है। आयुर्वेद में जलोदर के चिकित्सा क्रम में रोगी को जब जल

पुनर्नवा श्वेत
TRIANTHEMA PORTULACASTRUM LINN.
चित्र १३५
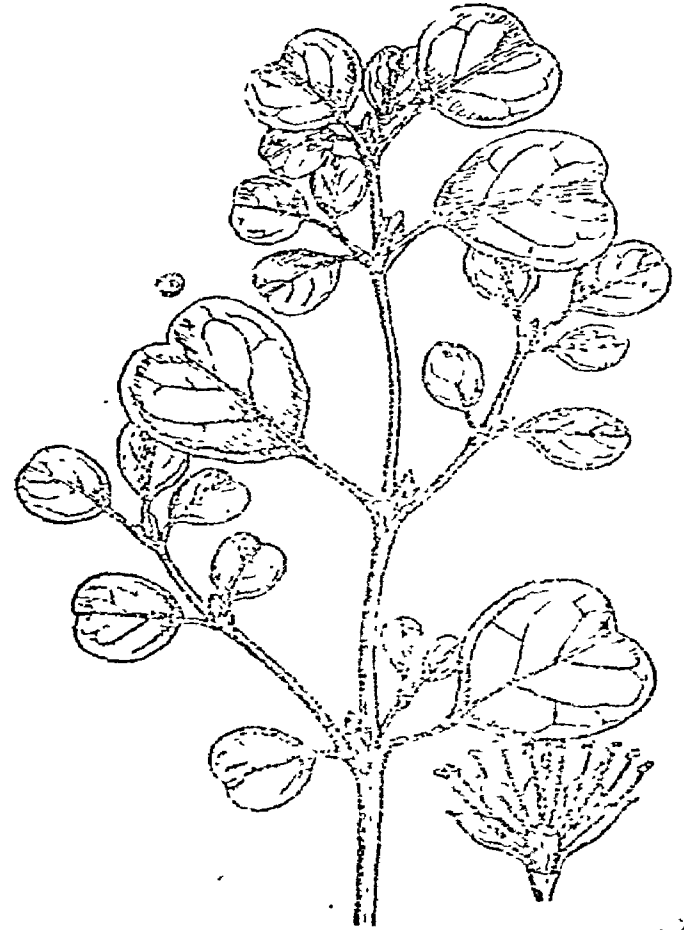
बिल्कुल नहीं दिया जाता. रोगी को प्रायः दूध पर रखा जाता है, ऐसी स्थिति में अर्क पुनर्नवा का प्रयोग करने से मूत्रल होने के कारण शरीर से द्रवापकर्षण (Dehydration) के लिये जलोदर में इसका प्रयोग जल तथा औषधि दोनों कार्य करता है। पांडु, कामला तथा पांडुजन्य सर्वांग शोथ में पुनर्नवा का प्रयोग लौह या मण्डूर भस्म के साथ करते हैं एतदर्थ पुनर्नवा मण्डूर' आयुर्वेद का सुप्रसिद्ध प्रयोग है।

पुनर्नवाघटित आयुर्वेदीय योग—

(१) पुनर्नवादि मण्डूर—४ से ८ रत्ती त्रिफला चूर्ण के साथ मधु से दें। यकृत शोथ मूत्रकृच्छ्र मे उपयोगी।

(२) पुनर्नवारिष्ट-पुनर्नवासव—२-४ तोला + बराबर पानी से भोजनोत्तर-सेवनीय। सर्वाङ्ग शोथ, वृक्करोग, पांडु, कामला, हलीमक, श्वास, कास, यकृदरोग में उपयोगी।

(३) पुनर्नवादितैल (भै. र.) पांडु, हलीमक, फुफ्फुसावरणशोथ (प्लूरिसी) में मालिश करायें।

(४) पुनर्नवाष्टक क्वाथ—सर्वाङ्ग शोथ, यूरीमिया, वृक्कशोथ, पांडुरोग में उपयोगी मूत्रल एवं उदरशोधक गुणो के लिए प्रसिद्ध है।

गोखरू (Tribulus Terrestris)—

प्राप्ति साधन—गोखरू नामक क्षुद्र वनस्पति के पक्व फल होते हैं।

नाम पर्याय संस्कृत गोक्षुर, त्रिकंटक, श्वदंष्ट्रक, हिन्दी—गोखरू, गुलखुर। फारसी- खारेखसक, खोरसेहगोशा। बंगाली – गोखरि, गुजराती—गोखरू। मद्रासी—लहान गोखुर, अंग्रेजी—स्माल कल्टोप्स (Small Caltops)।

नोट— बाजार में छोटा और बड़ा भेद से दो प्रकार का गोखरू मिलता है। बड़े गोखरू के फल छोटे की अपेक्षा बड़े होते हैं। अतः इसको बड़ा गोखरू (Pedalium Muren) कहते हैं।

चरक के विदारिगंधादि–मूत्रविरेचनीय, शोथहर, कृमिघ्न, अनुवासनोपग के प्रकरण में तथा सुश्रुत के लघु पञ्चमूल, वीरतर्वादि, कंटक पञ्चमूल, वाताश्मरी, भेदन आदि के प्रसङ्ग में गोखरू का उल्लेख आया है। लघु पंचमूल का यह भी एक उपादान है तथा आयुर्वेद की सुप्रसिद्ध औषधि है।

रासायनिक संघठन गोखरू के फल में ०.००१ प्रतिशत सुगन्धित उड़नशीलतैल, राल पर्याप्त मात्रा में नाइट्रेट (Nitrats) होता है।

प्रयुज्य अङ्ग—सामान्यतया चिकित्सा में गोखरू के फलों का ही प्रयोग किया जाता है। चूर्ण के लिए फल एवं क्वाथ के लिए मूल एवं पंचांग लिया जाता है।

गुणधर्म तथा प्रयोग—गोखरू, शीतल, मूत्रल बल्य, पौष्टिक तथा वाजीकरण (Aphrodisiac) होता है अतएव मूत्रकृच्छ्रता (Dysuria) एवं पथरी रोग में इसका प्रयोग बड़ा उपयोगी है। इसका प्रयोग पूयमेह या सुजाक में भी करते हैं।

मूत्र संस्थान की श्लेष्मकला पर इसका प्रभाव बकु (Buchu) के पत्र सदृश होती है। इसका मूत्रल प्रभाव इसमें के नाईट्रेट एवं उड़नशील तैल के कारण होता है। यह शीतवीर्य होते हुए भी वृक्कोत्तेजक है। मूत्रकृच्छ्र में इससे सिद्ध दुग्ध का प्रयोग किया जाता है। मूत्र बहुत अम्ल होने पर यवक्षार मिलाकर इसका क्वाथ देते हैं, इसका वेदना स्थान व गुण अल्प होने से इसके साथ खुरासानी अजवायन या अफीम मिलाई जाती है। मूत्रक्षारीय व दुर्गन्धित होने पर, वृक्कशोथ या वस्तिशोथ में इसके क्वाथ में शिलाजीत मिलाकर देते हैं। कामशक्ति का ह्रास स्वप्नदोष और अपने आप पेशाब हो जाना इन अवस्थाओं में इसके फल का क्षार देते हैं। गोक्षरू तथा तिल का समभाग चूर्ण हस्तमैथुनजन्य नपुंसकता में लाभदायक है।

गोक्षुरुघटित आयुर्वेदीय योग—

(१) गोक्षुरादि गुग्गुल— मूत्राघात-मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी नाशक उत्तम मूत्रल योग है।

(२) गोक्षुरादि चूर्ण—गोखरू, तालमखाना, शतावर कौंचबीज, बला नागबला सबको समभाग लेकर चूर्ण बना कर दूध से सेवन करने से अत्यन्त वाजीकरण होता है।

(३) गोक्षुरासव—इसके १ भाग चूर्ण में ५ भाग मद्यसार मिला १५ दिन बोतल में रखे फिर छान ले १० से ५०बूंद तक मूत्राघात, प्रमेह एवं सर्वांगशोथ में सेवनीय।

(४) गोक्षुरूपाक और (५)गोक्षुरादिअवलेह का प्रयोग भी मूत्ररोगों एवं कामशक्ति हीनता में किया जाता है।

कबाबचीनी (Cubeba)—

प्राप्ति साधन—कबाबचीनी पिप्पली कुल की लता के फल होते हैं जिनकी पूर्ण वृद्धि होजाने पर किन्तु पकने से पूर्व ही धूप में सुखा कर रख लेते हैं।

नाम पर्याय—संस्कृत—कंकोल, कक्कोल, कोषफल, सुगन्ध मरिच। हिन्दी—कबाबचीनी, शीतलचीनी, शीतल मिर्च, कंकोल, दुमकी मिरच। गु०—चणकबाब, तड़गिरी, अरबी—कबाब, हब्बुलउरुस। बं०—कंकला। लेटिन—क्युबेबी फ्रूक्टस (Cubebae Fructus), अंग्रेजी—क्युबेब्स (Cubebs)।

वक्तव्य चिकित्सा में कबाबचीनी का प्रसार मध्यकालीन अरबी चिकित्सकों द्वारा हुआ, मसूदी, सिहाइ एवं इब्नसीना आदि चिकित्सकों ने इसका उल्लेख किया है।

उत्पत्ति स्थान—जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया आदि देशों में प्रचुरता से होती है। इसके अतिरिक्त श्रीलंका तथा दक्षिण भारत में कहीं-कहीं इसकी उपज होती है। विशेषतः मैसूर प्रान्त में इसकी खेती की जाती है।

गुण और उपयोग—श्वासमार्ग मूत्र-प्रजनन मार्ग की श्लैष्मिक कलाओं पर उत्तेजक प्रभाव करने के कारण यह उनके स्राव की वृद्धि करता है और साथ ही जीवाणु वृद्धि रोधक भी होता है। अतः कबाबचीनी मूत्रल एवं प्रजनन मार्ग विशोधक होता है जिससे मूत्राशय प्रदाह तथा सुजाक में प्रयोग किया जाता है।

कबाबचीनी उष्ण, उत्तेजक, कफघ्न, वातघ्न प्रतिदूषक (Antiseptic), मूत्रजनन, दीपन, पाचन, रुचिकर, वृष्य, तृष्णाशामक तथा मुखदुर्गंधहर है। मूत्रल औषधि के रूप में पुराने सुजाक में २० रत्ती कबाबचीनी चूर्ण में २॥ रत्ती फिटकरी चूर्ण मिलाकर दूध से देते हैं। मूत्र जननेन्द्रिय संस्थान के रोग, बस्तिशोथ, सुजाक और सुजाक की पुरानी अवस्थाओं में शर्करा के साथ देते हैं।

यह कफ वात शामक होने से प्रायः कफ वातजन्य बीमारियों में भी प्रयुक्त होता है। श्वसन संस्थान के रोग श्वास, कास प्रतिश्याय आदि में इसके चूर्ण का धूम्रपान लाभदायक है। जीर्णश्वसनिका शोथ में इसको उष्ण जल में डालकर इसकी वाष्प सूंघी जाती है तथा प्रतिश्याय में इसके नस्य से शीघ्र आराम मिलता है। मुखपाक और कफ निस्सारक रूप में खदिरादि गुटिका जैसी गोलियां बनाकर चूसते हैं। गायक लोगों को इसको मिश्री के साथ चबाने से गला खुल जाता है। खांसी में इसके चूर्ण को मधु के साथ चटाते हैं।

स्वप्नदोष, प्रमेह और वीर्य विकारों में इसे छोटी इलायची के दाने और वंशलोचन के साथ प्रयोग करने से वीर्य की उष्णता दूर होती है तथा वीर्य गाढ़ा होता है एवं स्वप्नदोष आदि विकार दूर होते हैं।

कंकोलासव—पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र, गलक्षत, स्वरभंग, कास, *अग्निमांद्य में उपयोगी है। शारीरिक दुर्गन्ध* दूर करने के लिये इसका उपयोग उबटन के रूप में भी किया जाता है। आमाशय प्रणाली पर इसका अल्पमात्रा में प्रयोग दीपन पाचन वातानुलोमक है। अधिक मात्रा में इसका प्रयोग आमाशयान्त्र प्रदाह एवं पाचन क्रिया विकृत करता है।

चन्दन (Santalum album)—

नाम—सं०-चन्दन, श्रीखण्ड, भद्रश्री, गन्धसार, मलयज, चन्द्रद्युति। हिन्दी—चन्दन। म०—चन्दन, गु०—सुखड़, बं० —चन्दन, अं०—सन्दले अब्यज Sandal wood लेटिन—Santalum Album linn

विशेष—चन्दन लाल, सफेद, पीला भेद से तीन प्रकार का होता है। चिकित्सा में लाल और सफेद चन्दन तथा चन्दन का तैल विशेष व्यवहृत होता है।

प्राप्ति स्थान—यह भारत की ही खास उपज है, मैसूर, कुर्ग, कोयम्बटूर एवं मद्रास के दक्षिणी भागों में ४००० फीट की ऊंचाई तक उत्पन्न होता है। लगभग ६००० वर्ग मील का क्षेत्र इससे व्याप्त है जिसमें ८० प्रतिशत भाग मैसूर एवं कुर्ग में है।

रासायनिक संघठन - इसके काष्ठखार में २.५-६ प्रतिशत तक एक उड़नशील तैल, राल एवं टैनिक एसिड, अॅल्डिहाइड्स, कीटोन आदि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और उपयोग—श्वेतचन्दन, शीतल, रूक्ष, दाहशामक, पिपासाहर, ग्राही, वर्ण्य कण्डूहर, वृष्य, आल्हाद कारक, रक्तप्रसादक, मूत्रल, दुर्गन्धहर अङ्गमर्द नाशक है। इसका उपयोग ज्वर, रक्तपित्त, पैत्तिक विकार, वमन, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, रक्तमेह, श्वेत प्रदर, रक्तप्रदर, उष्णवात, रक्तातिसार और तीव्र एवं जीर्ण ज्वर, चर्मरोगों में किया जाता है। रक्त चन्दन शीतल, वल्य, सौम्य एवं ग्राही है

वाह्यलेप, शीतल, शोथघ्न, व्रणरोपक है।

चन्दन का तैल—यह श्वेत चन्दन के काष्ठ को पानी में भिगोकर परिश्रवण द्वारा या चन्दन वृक्ष के मूल से प्राप्त किया जाता है–मूत्र रोगों में विशेषतः चन्दन के तैल का प्रयोग अधिकतर होता है तथा यह उत्तम मूत्रजनन, मूत्र-मार्ग के लिए प्रतिदूषक, वृक्कोत्तेजक, त्वग्दोपहर, कृमिघ्न कफनि:सारक है। इससे वृक्कों को कोई नुकसान नहीं होता, इसका उत्सर्जन मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान तथा फुफ्फुसों द्वारा होता है। जीर्णवस्ति शोथ, गवीनी मुखशोथ वस्ति के राजयक्ष्मा उपसर्ग से यदि बार बार पेशाब होता हो तथा मूत्रकृच्छ्र एवं पेशाब में जलन होने पर चन्दन के तैल को बताशे में डालकर देते हैं। नये या पुराने सुजाक में यदि जलन अधिक होती हो तो चन्दन तैल की दिन में ३-४ बूंद बताशे में अथवा मिश्री या चीनी मे मिलाकर देते हैं। इसकी अधिक मात्रा सेवन के पश्चात् गले में खुश्की एवं प्यास तथा अधिक मात्रा में शूलवत् वेदना एवं कटिप्रदेश में भारीपन मालूम होता है।

चन्दन घटित आयुर्वेदीय योग—

चन्दनादि वटी—श्वेत चन्दन का बुरादा, छोटी इला-यची के बीज, कबाबचीनी, सफेद राल, गन्धाबिरोजा का सत्व, कत्था और आंवला प्रत्येक ४-४ तोले, गेरू २ तोले, कपूर १ तोले, रसौत ४ तोले, चन्दन तैल १ तोले में घुटाई कर ३-३ रत्ती की गोलियां बना लें। २-४ गोली दिन में ३-४ बार ठण्डे पानी से या दूध की लस्सी या शर्बत चन्दन से दे। सुजाक या मूत्रकृच्छ्र हो जाने पर पेशाब में भयंकर जलन कड़क, एवं मूत्र मार्ग से मवाद जाने पर इसके प्रयोग से शीघ्र लाभ होता है।

चन्दनासव—मूत्र रोगों में व्यवहृत होने वाला आयु-र्वेद का सुप्रसिद्ध योग है। मूत्र की जलन मूत्र रुक रुक कर आना तथा वीर्यविकार उपदंश-सुजाक आदि रोगों में ४-४ चम्मच बराबर पानी से भोजन के बाद सेवन किया जाता है। शरीर में दाह श्वेतप्रदर तथा हृदयरोग में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

चन्दन-अर्क और चन्दन का शर्बत—मूत्र रोगों एवं ग्रीष्मऋतु की दाह से बचने के लिए सुमधुर, अतीव श्रेष्ठ जायकेदार, शीत वीर्य और दिलदिमाग को तरावट देने वाला है। बहुत से लोग खासकर पित्त प्रकृति के लोग गर्मी के दिनों में इसका नित्य प्रयोग करते हैं।

चन्दनादि अर्क, चन्दनादि अवलेह, खमीरा चन्दन व चन्दन पाक आदि अन्य प्रयोग भी इसके प्रचलित हैं। त्वचा के वाह्य विकारों में इसका लेप आदि किया जाता है। इसके बीज उष्ण हैं। पेसरी के रूप में गर्भपात के लिये प्रयोग किया जाता है।

खरबूजा (Cucumis melo)—

नाम पर्याय—संस्कृत-खर्बूज, षड्भुज, दशांगल, मधु-फल, हिन्दी–खरबूजा, लालमी, अं. Sweet Melon लेटिन–कुकुमिस मेलो (Cucumis Melo)।

रासायनिक संघठन—शरीर को सशक्त बनाने वाले तत्व लौह विटामिन 'सी' अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। ग्लूकोज, कार्बोहाइड्रेट्स, प्रोटीन तथा खनिज लवण भी यथोचित मात्रा में होते हैं, छिलकों में क्षारीय तत्व की विशेषता होती है।

गुण धर्म और प्रयोग –

खरबूजा का पका हुआ मीठा फल शीतल, मधुर मूत्रल, बलकारक, कोष्ठशुद्धिकर, स्निग्ध, पित्तशामक, तृषाहर, वात और पित्त शामक, गुरु, स्निग्ध, मूत्रकृच्छ्र, उन्माद, रक्तविकार, कुष्ठ नाशक है। खारा रस वाला खरबूजा रक्तपित्त और मूत्रकृच्छ्र प्रकोपक होता है।

मूत्रविरेचनार्थ—उत्तम ताजे परिपक्व फल को घिया-कस से कसकर उसमें आवश्यकतानुसार चीनी तथा नीबू रस निचोड़कर शर्बत बनाकर पीवें। इसके सेवन से भली-भांति मूत्र विरेचन होकर कोष्ठबद्धता भी दूर होती है। वृक्काश्मरी तथा आमाशय के विकारों में लाभदायक है।

खरबूजा के बीज–पूयमेह या मूत्रकृच्छ्र में इसके बीजों को जल में पीस छानकर उसमें १०-१५ बूंद चन्दन तैल मिलाकर सेवन कराते है। बालकों के बार बार मूत्र त्याग पर बीजों को ठण्डाई के साथ पिलाते हैं।

फलों का छिलका मूत्रल तथा अश्मरीघ्न है। छिलकों को जल में पीसकर पिलाने से शीघ्र ही पेशाब खुलकर हो जाता है। गर्मी के मौसम में ठण्डे पानी में तथा सर्दी के मौसम में गुनगुने पानी में छिलकों को पीसकर पिलावें।

खरबूजा कल्प—आमकल्प की तरह खरबूजा का भी कल्प विधान से सेवन किया जाता है। यह संग्रहणी की

—शेषांश पृष्ठ ३४८ पर देखें।
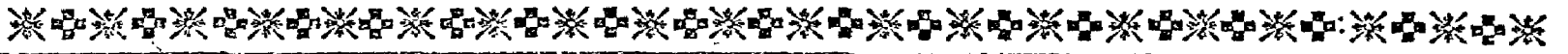
शस्त्र साध्य कष्टदायक अश्मरी (पथरी) रोग पर नियमित प्रयोग कराने से अनेक रोगियों को अश्मरी रोग से मुक्ति मिल गई। १०-१५ वर्षों से बार बार दौरा करने वाले इस रोग के असीम कष्ट को भुक्तभोगी रोगी ही जानता है। अश्मरी रोग की बहुत सी दवायें भी महीनों सेवन करने से रोग को निर्मूल नहीं कर सकीं, ऐसी विषम स्थिति में एक औषधि 'गोक्षुर' का कल्प रूप में रोगियों पर प्रयोग किया। इससे पूर्ण सफलता मिली, चिकित्सकों व जन साधारण के लिये प्राचीन वैद्याचार्यो द्वारा वर्णित 'गोक्षुर' के गुणों एवं प्रयोग पर अपना अनुभव प्रकट कर रहा हूं जिससे सफलतापूर्वक सभी लाभान्वित हो सकें।

गोक्षुर का परिचय एवं नाम—

इसका क्षुप भूमि पर फैलने वाला चने जैसे पत्तों वाला, पीतपुष्प, तीक्ष्ण कण्टकी फलों से युक्त, पथरीली एवं वन्य प्रदेशीय भूमि में उत्पन्न होता है, भारत के सभी प्रान्तों में, यह प्रसिद्ध औषधि वर्षा ऋतु में उत्पन्न होकर शीतऋतु में परिपक्व हो जाता है।

नाम—गोक्षुर त्रिकण्टक, श्वदंष्ट्रा, गोकण्टक आदि संस्कृत की पर्यायवाची संज्ञायें हैं, हिन्दी में—गोखरू, हरचिकार, बंगाली—गोक्षुरी, मराठी—सराटे, गुजराती—गोखरु लेटिन—ट्रिब्युलस टेरेस्ट्रिस।

भेद—(१) छोटा गोखरू, (२) बड़ा गोखरू।

गुण—दोनों प्रकार के गोखरू शीतल, बल्य, मधुर, बृंहण, मूत्रल तथा प्रमेह, अश्मरी मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह, आदि वृक्क और मूत्राशय एवं मूत्रमार्ग के रोगों को नष्ट करते हैं। निघण्टुकारों ने इनको त्रिदोषघ्न, रसायन और हृदयरोगनाशक बताया है।

गोक्षुर कल्प का मुख्य घटक—

इस कल्प में छोटा गोखरू ही अभीष्ट एवं प्रयोज्य है। बड़ा गोखरू हमारे औषधालय में पौष्टिक योगों में ही प्रयुक्त होता है। छोटे गोखुरू को एकाकी बिना कुछ मिश्रण किये ही छायाशुष्क करके सूक्ष्म चूर्ण बनाकर (कपड़छन या मैदे की चालनी से छानकर) हरे या नीले रङ्ग की शीशी में भर लें अथवा अन्य बर्तन या डिब्बों में सुरक्षित रक्खें।

मात्रा—चाय के चम्मच से २ चम्मच भर प्रातःकाल ताजे पानी से, २ चम्मच मध्याह्नोत्तर तथा २ चम्मच रात्रि में पानी से सेवन करें। यह क्रम कम से कम ३ महिने तक अवश्य चलना चाहिये।

मात्रा की न्यूनता एवं वृद्धि—

१ वर्ष से ३ वर्ष तक—२-२ रत्ती ३ बार शहद या दूध से।

३ वर्ष से ५ वर्ष तक—४-४ रत्ती दिन-रात में ४ बार पानी से।

५ वर्ष से १० वर्ष तक—८-८ रत्ती ४ बार पानी या मधु से।

१० वर्ष से १५ वर्ष तक—३-३ माशे ३ बार पानी से।

१५ वर्ष से ७५ वर्ष तक—५-५ माशे प्रातः मध्याह्नोत्तर व रात्रि में पानी या फलों के रस से।

गोक्षुर क्वाथ कल्प—

जब रोगी गोक्षुर चूर्ण का प्रयोग न कर सके, अनभ्यास के कारण विशेष परिस्थितियों में चूर्ण के स्थान पर गोखुरू के क्वाथ का भी प्रयोग कर सकते हैं।

क्वाथ बनाने की विधि—गोखुरू १ तोले कुचल कर १० तोले पानी में भिगोकर पकावें, ५ तोले शेष रहने पर छानकर पीवें। इस प्रकार ३ बार पीवें। इस क्वाथ के पीने से पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र आदि सभी रोग २ या ३ महिने में नष्ट हो जावे हैं।

अपथ्य गोक्षुर का कल्प करने वाले व्यक्ति को टमाटर, पालक, चावल, कुल्फा, दालें तथा गरिष्ठ पदार्थ, पकवान, मिठाइयां, अरवी, भिण्डी, रतालू, आलू, कटहल, वैंगन, केला आदि शाक, मैदा और वेसन की बनी हुई खाद्य सामग्री, लालमिर्च एवं कब्ज करने वाले पदार्थ नहीं खाने चाहिये। दूध, दही एवं चिकने पदार्थों का सेवन भी अहितकर है। शारीरिक व्यायाम, मैथुन, चिन्ता, भय, शोक आदि का परित्याग करना चाहिये। बाजरा अन्न का सेवन भी वर्जित है।

पथ्य—जौ, पुराना गेंहूं, कुल्थी, लौकी, तोरई, टिण्डे, परवल, शाक, मूली व मूली के पत्तों का शाक, नाढी शाक, गन्ने का रस, मौसमी, मिट्ठा, पपीता, मुनक्का प्रयोग अधिक करना चाहिये। गेंहूं-जौ का भुना दलिया, जौ का पानी विशेष लेना चाहिये। मूदल वस्तुओं का सेवन सदाहितावह है। लवणों में सैंधव का सेवन करना चाहिये।

गोक्षुर कल्प में सावधानी—

(१) कल्प प्रयोग से पूर्व त्रिफला, गुलकन्द गुलाब, अमलतास, सौंफ का क्वाथ, सनाय, गुलाब के फूल, निसोत का क्वाथ अथवा अनुकूल आने वाली किसी भी रेचक औषधि से पेट साफ कर लेना चाहिये।

(२) गोक्षुर कल्प के प्रयोगकाल में कभी भी कब्ज नहीं रहना चाहिये, उष्ण औषधों से रेचन नहीं लेना चाहिए, कदाचित लेना ही पड़े तो ठण्डाई, पानक शर्बत या लस्सी का अनुपान रूप में भरपूर सेवन करना चाहिये।

(३) गोक्षुर फल ताजे न मिले तो बाजार से सूखा हुआ नवीन हरियाली लिया हुआ काम में लेना चाहिये। छोटा गोखुरू ही इसमें प्रयुक्त होता है।

(४) चूर्ण बनाते समय मैदा की चलनी से या कपड़े से छानकर सूक्ष्म चूर्ण प्रस्तुत करना चाहिये। किसी स्वच्छ डिब्बा या रङ्गीन शीशी में रक्खें।

(५) गोक्षुर कल्प को प्रारम्भ में १-१ चाय के चम्मच के बराबर लेकर दिन में ३ या ४ बार ठंडे पानी से सेवन करना चाहिये। प्रौढ़ व्यक्ति को बड़े चम्मच से प्रारम्भ करना चाहिये, थोड़ा थोड़ा मुख में डालकर पानी से उतार लेना चाहिये जिससे ठसका न लगे।

(६) कल्प प्रयोग से पूर्व गुर्दों, गवीनिकाओं या मूत्राशय में विद्यमान अश्मरी या पथरी के टुकड़ों का एक्स-रे फोटो करवा लेना चाहिये, जिससे पथरी का स्वरूप, आकार, प्रकार जाना जा सके। मूंग, मटर या जौ के समान बड़ी या नुकीली कंगूरेदार पथरी दौरे के समय कष्ट देती है, कभी कभी उपेक्षा से पथरी बेर के बराबर बादाम, सुपारी और बिल्व फल के बराबर बड़ी हो जाती हैं जिससे असह्य कष्ट होता है।

(७) बड़ी पथरियों को किसी योग्य सर्जन से साधन सम्पन्न अस्पताल में शल्य क्रिया द्वारा निकलवा देना चाहिये। औषध सेवन से बड़ी पथरियों का घुलना चिरकाल साध्य या असाध्य ही है।

(८) मूंग से बेर के बराबर बड़ी पथरियां गोक्षुर कल्प से अवश्य ही घुलकर निकल जाती हैं। कभी कभी बड़े बड़े टुकड़ों के रूप में भी मूत्रमार्ग द्वारा बाहर निकलती हैं।

(९) गोक्षुर कल्प से किसी प्रकार की निर्बलता नहीं आती, अपितु इससे शारीरिक व वीर्य पुष्टि होती है तथा अन्य कोई विकार भी उत्पन्न नहीं होता।

(१०) आपरेशन से निकाली हुई पथरी से रोगी को तत्काल तो रोग निवृत्ति हो जाती हैं, परन्तु कालान्तर में पथरी बनने का क्रम चलता रहता है, जिससे रक्त में विद्यमान यूरिक एसिड आदि के कणों का गुर्दों में सञ्चय होकर पुनरपि अश्मरी बन जाती है।

(११) हमने अपने औषधालय में चिकित्सा कराने वाले अनेक रोगियों की सफल रोगमुक्ति की है। अनेक वर्ष व्यतीत होने पर भी रोग का पुनराक्रमण नहीं हुआ।

—वैद्य रणवीर सिंह शास्त्री, एम.ए., पी.एच.डी.
विद्याभास्कर, आयु, वेद-आयु.-व्याकरण-साहित्याचार्य,
अध्यक्ष—जिला वैद्य सभा आगरा-२

डा० राजदयाल गर्ग ए.एम.बी.एस., आयु.बृह.

मूत्राशय की क्ष-किरण परीक्षा
(Cystography)

यह दो प्रकार की है—

१. कैथीटर द्वारा, २. उत्सर्जन विधि।

(१) कैथीटर विधि—कैथीटर द्वारा मूत्राशय को रिक्त कर लें जिससे कि उसमें कोई अश्मरी होवे अथवा मूत्राशय भित्ति का कोई क्षत-व्रण आदि हो तो उसे ज्ञात
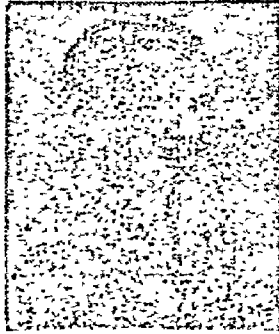
कर लें। अब शरीर के तापमान पर गर्म विलयन को मूत्राशय में उस समय तक धीरे-धीरे प्रविष्ट करें जब तक कि रुग्ण को कष्ट प्रतीत होने लगे। कष्ट प्रतीत होने पर कैथीटर को मोड़कर क्लेम्प लगाकर बन्द कर दें जिससे मूत्रप्रसेक नलिका से यह द्रव वापिस बाहर न निकले। अब ट्रेंडिलिवर्ग स्थिति में एक्स-रे चित्रण करें। इससे मूत्राशय की स्थिति स्पष्टतः ज्ञात हो जायेगी।

अब मूत्राशय को कैथीटर द्वारा रिक्त कर लें तथा रोगी को सीधा खड़ा कर पुनः एक्स-रे चित्रण करें। इससे मूत्राशय में कोई कोटर (Diverticulum) होगी तो वह ज्ञात हो जायेगी।

(२) उत्सर्जन विधि—जब मूत्रप्रसेक नलिका में संकोच के कारण या शोथ के कारण मूत्राशय में कैथीटर पहुँचाना सम्भव न हो या कष्टप्रद हो तो इस विधि का सहारा लिया जाता है। रोगी को पायलैक्टन (Pyelectan) या यूरोपैक (Uropac) २० मि. लि. का शिरान्तर्गत सूचीवेध किया जाता है तथा उसके २० मिनट बाद एक्स-रे चित्रण किया जाता है। इससे भी मूत्राशय की स्पष्ट छाया प्राप्त होती है।

मूत्रप्रसेक नलिका दर्शन (Urethrography)—

इसके लिए लीपयोडोल (Lipiodol) का ४% शक्ति का घोल जोकि जैतून के तेल में मिलाकर बनाया गया हो उपयुक्त रहता है। दूसरा विलयन नियो हाइड्रियोल फ्लूइड (Neo-hydriol fluid) भी उपयुक्त है जो कि लीपयोडोल की अपेक्षा कम पिच्छिल है और इसी कारण छोटे छोटे क्षत या नलिकायें बन जाने आदि की सम्भावना होने पर इसी का प्रयोग करना उत्तम रहता है। मूत्रप्रसेक नलिका से रक्तस्राव की अवस्था में यह परीक्षा न करें।

मूत्राशय को रिक्त करने के पश्चात् मूत्रप्रसेक नलिका के बहिर्द्वार को पूर्णतः विसंक्रमित कर लें और २० मि. लि शरीर के तापमान पर उष्ण विलयन को एक रिकार्ड सिरिंज द्वारा, जिसके आगे एक रबड़ का टिप लगा हो, जिससे वह मूत्र बहिर्द्वार पर फिट बैठ जाय और अन्दर गया द्रव बाहर निकल कर न आये, मूत्राशय में धीरे-२ प्रविष्ट करें। किसी भी समय रोगी को तनाव नहीं प्रतीत हो। पूरा द्रव चले जाने पर रोगी को मूत्र त्याग करने का प्रयास करने को कहें जिससे मूत्रप्रसेक नलिका की पेशियों का सकोच समाप्त हो जाये और खड़ी स्थिति में में एक्स-रे चित्रण कर लें।

मूत्रमार्ग एक्स-रे चित्रण—

इसकी दो विधियां है—१. उत्सर्जनविधि,
२. पश्चादावर्तन (Retrograde)

(१) उत्सर्जन विधि (Excretary method)—यह परीक्षा करने से १२ घण्टे पूर्व से रोगी को कोई द्रव आहार नहीं दें। डियोडोन (Diodone) विलयन का ३ से ८ मि. लि. की मात्रा में प्रयोग किया जाता है। यहां ध्यान रखने की बात यह है कि इस विलयन को शरीर भार के अनुपात से अधिक मात्रा का प्रयोग बच्चों में किया

चित्र—१३६
उत्सर्जन विधि द्वारा वृक्क-द्वय, गवीनी श्रोणियों एवं गवीनिकाओं का क्ष-किरण चित्र

जाता है। इसका प्रयोग शिरान्तर्गत किया जाता है लेकिन यदि किसी कारण से इसका शिरान्तर्गत प्रयोग करना सम्भव न हो सके तो इसके १० मि. लि. विलयन में इतना ही परिस्रुत जल तथा १ मि. ग्राम ह्यालूरोनीडेज (hyaluronidase) मिलाकर नितम्ब या स्कन्ध प्रदेश में अधःत्वकीय सूचीवेध करें। इसका सर्वाधिक उत्सर्जन सूचीवेध के ३० से ४० मिनट पश्चात् तक होता है। वृक्कावसाद की सम्भावना होने की अवस्था में इस परीक्षा विधि का कदापि उपयोग न करें। रोगी को अपने नित्य के कार्यकलापों से नहीं रोकें क्योंकि शारीरिक परिश्रम से उसकी आंत्र में गैस नहीं रुकेगी। गैस के रुक जाने से उनका भी छायांकन हो जाने से परीक्षण गड़बड़ा जाता है।

(२) पश्चादावर्तन विधि—अ. मूत्राशय चित्रण—उपयुक्त साइज का लाल रबड़ का कैथीटर मूत्र से रिक्त मूत्राशय में प्रविष्ट करें और मूत्राशय को परिस्रुत जल में आइडोक्सिल (Iodxyl) का २१% शक्ति के विलयन से भर दें। अब कैथीटर को बाहर निकाल लें तथा रोगी को मूत्र त्याग के लिए थोड़ा जोर लगाने को कहें या नाभि प्रदेश के नीचे हाथ से थोड़ा सा दबाव डालें और एक्स-रे ले लें। इससे मूत्राशय, मूत्रप्रसेक नलिका तथा साथ ही दोनों मूत्र गवीनियों के नीचे के भाग का साफ चित्र आता है।

ब. मूत्र गोणिका चित्रण (Pyelography)—इसमें आयु के अनुसार १ से ६ मि लि. की मात्रा में उक्त विलयन किसी एक मूत्र गवीनी में गवीनी कैथीटर द्वारा पहुंचाया जाता है तथा उसके पश्चात् एक्स-रे ले लिया जाता है। दूसरे दिन दूसरी ओर की मूत्र गवीनी का चित्रण किया जाता है। यह परीक्षा रोगी को संज्ञाहीन करके की जाती है। कामला रोगी में यह परीक्षा न करें।

सिस्टोस्कोप द्वारा मूत्राशय की परीक्षा—

इस परीक्षा को सिस्टोस्कोपी (Cystoscopy) कहते हैं। इसके द्वारा मूत्राशय की आन्तरिक भित्तियों तथा
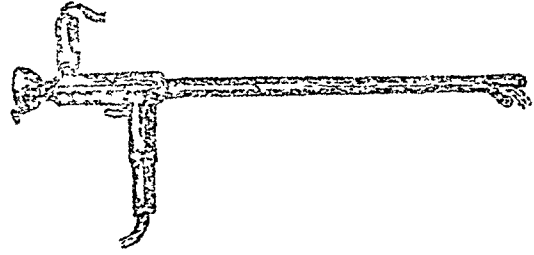
चित्र १३७—मूत्राशय दर्शक यन्त्र (सिस्टोस्कोप)
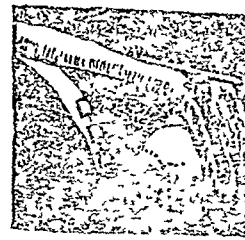
चित्र—१३८
मूत्राशय दर्शक यन्त्र सहित अश्मरी भंजक यन्त्र—अश्मरी के दोनों फलकों के बीच मूत्राशयाश्मरी दीख रही है

मूत्र गवीनियों के मूत्राशय में खुलने वाले द्वार-द्वयों का निरीक्षण किया जाता है। अगर इन्डीगो-कारमिन का ०.४% शक्ति का ७ मि.लि. का सूचीवेध शिरान्तर्गत लगाया जाये तो सामान्यतः ४-५ मिनट के पश्चात् यह मूत्र गवीनियों से मूत्राशय में उत्सर्जित होता हुआ दिखाई देगा। यदि एक ओर की मूत्र-गवीनी से इसके उत्सर्जन में देरी होती है तो समझें कि उस ओर कहीं भी अवरोध है। यदि दोनों ओर ही उत्सर्जन अधिक देरी से हो तो वृक्क अकर्मण्यता समझें। यदि मूत्र गवीनी द्वार में कोई

अश्मरी अटक रही है तो वह भी चित्र १३६ के अनुसार दिखाई देती है।

इस यन्त्र का प्रयोग मूत्राशय दर्शन के अतिरिक्त मूत्राशय के अन्दर मूत्र गवीनी द्वारों को चौड़ा करने में अश्मरी को खींचकर निकालने में भी किया जाता है। मूत्र गवीनी द्वार को चौड़ा करने के लिये सिस्टोस्कोप में एस हेतु विशेष रूप से निर्मित एक वडिश शस्त्र (विश्चूरी जैसे फलक वाला) लगा दिया जाता है। गवीनी द्वार में अटकी अश्मरी को खींचने हेतु सिस्टोस्कोप में कार्क स्क्रू जैसा इसी हेतु विशेषतः निर्मित स्क्रू लगा दिया जाता है।
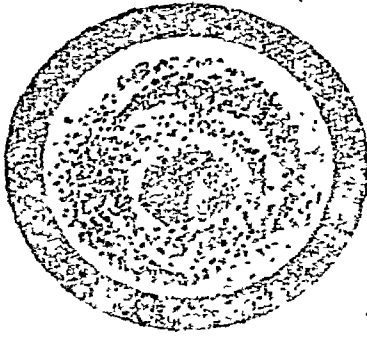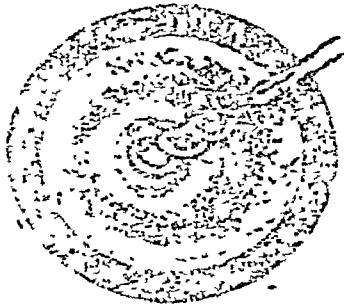
चित्र —१३६

चित्र —१४०
स्क्रू टाइप अश्मरी निष्कासक यन्त्र—अश्मरी को खींचते हुए।

इस मूत्राशय दर्शक यन्त्र (सिस्टोस्कोप) में एक अश्मरी भंजक (Lithotrite) लगा दिया जाता है जिसके द्वारा मूत्राशय में उपस्थित तथा इस यन्त्र की पकड़ में आ सकने जितनी बड़ी अश्मरी को पकड़कर अवचूर्णित कर दिया जाता है और फिर अश्मरी का यह चूरा मूत्र के साथ-साथ मूत्राशय से बाहर निकल जाता है (चित्र १३८)

चित्र १४१—मूत्राशय विदर जिसके कारण कि उदरावरण में मूत्र एकत्रित हो गया है।

मूत्र प्रसेक नलिका दर्शक यन्त्र—

इस यन्त्र के द्वारा मूत्रप्रसेक नलिका का निरीक्षण किया जाता है। मूत्रप्रसेक नलिका में प्रायः संकोच (Str ctures) पाये जाते हैं। नलिका में कूटमार्ग भी (False passages) हो सकते हैं।

जब मूत्र नलिका कुछ लम्बाई तक संकुचित हो जाती है तो उसे क्रिसेन्ट (Cresent) कहते हैं जोकि चित्र १४२ में दिखाया गया है (A) जबकि नीचे (B) में मूत्रनलिका का पूयमेहजन्य संकोच दिखाया गया है।

इस मूत्र प्रसेक नलिका दर्शक यन्त्र (Urethroscope) से नलिका में यदि कोई विदर हो तो उसे भी ज्ञात किया जाता है जैसे कि चित्र क्रमांक १०९ में दिखाया है।
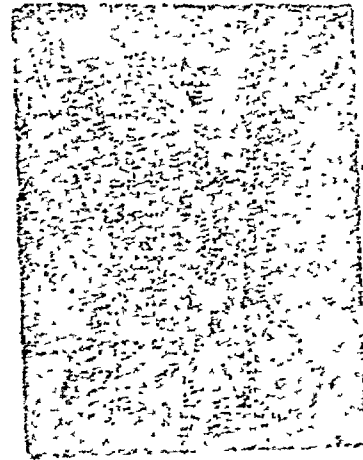
चित्र १४२—मूत्रप्रसेक नलिका निकोचन का मृत्युत्तर प्राप्त चित्र
A—लम्बा निकोचन B—छोटा निकोचन

कैथीटर

यह रबड़ के तथा धातु के दो प्रकार के आते हैं। रबड़ के कैथीटर स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए एक ही प्रकार के आते हैं। धातु के कैथीटर स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिये पृथक्-पृथक् आते हैं।

धातु के कैथीटर—

यह नलिका के स्वरूप का यन्त्र होता है जिसमें एक छिद्र अग्रभाग से कुछ हटकर होता है। इसका अग्रभाग गोल, चिकना और कड़ा होता है जो साधारण दवाव से
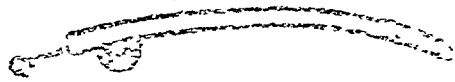
चित्र—१४३
कैथीटर धातु का स्त्री के लिये
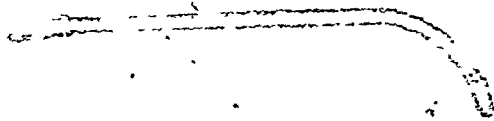
चित्र—१४४
कैथीटर धातु का पुरुष के लिए

नहीं मुड़ता। धातु के कैथीटर में भी उसी प्रकार से अग्र भाग से कुछ हटकर दो छिद्र होते हैं—१-१ दोनों ओर। धातु के कैथीटर के भीतर एक तार पड़ा रहता है जिसे 'स्टिलेट (Stylet)' कहते हैं। अगला भाग झुका होता है। तार का एक सिरा पीछे के कैथीटर के छिद्र से एक घुण्डी के रूप में बाहर निकला रहता है। कैथीटर के मूत्राशय में पहुंच जाने पर यह 'स्टिलेट' बाहर खींच लिया जाता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का मूत्राशय पास होने से प्रयोग से पूर्व कैथीटर को विसंक्रमित करना अत्यन्त आवश्यक है।

रबड़ के कैथीटर—

रबड के साधारण कैथीटर उबाल लेने से खराब हो जाते हैं। उनको उबलते हुए पानी में २ मिनट के लिये डाल दें तथा उसे निकाल स्वच्छ ठंडे जल में या किसी जीवाणु-नाशक के ठंडे हलके घोल में डाल दें। आजकल कड़े रबड़ (Gum Elastic) के कैथीटर प्रयोग में लाये जाने
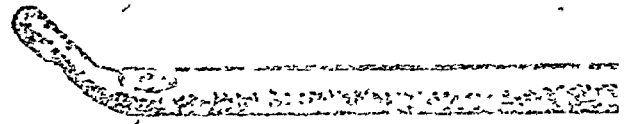
चित्र १४५—टाईमैन का कैथीटर
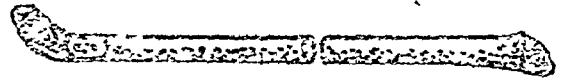
चित्र १४६—कोडी कैथीटर
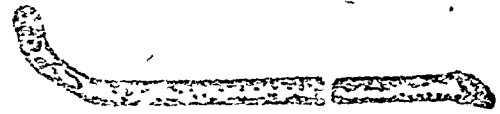
चित्र १४७—बाई-कोडी कैथीटर
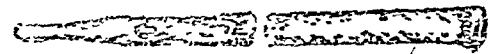
चित्र १४८—गम-इलास्टिक कैथीटर
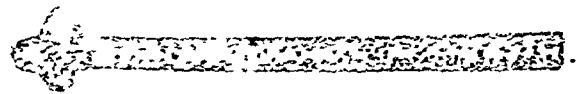
चित्र १४९—मूत्राशय में स्वयं स्थिर रहने वाला कौट कैथीटर

लगे हैं। यह उबालने से खराब भी नहीं होते तथा अपेक्षाकृत अधिक ठंडे होने से उनका प्रयोग भी आसान है।

रोगी को पलंग या मेज पर कमर के नीचे तकिया लगाकर चित्त लेटना चाहिये। रोगी को अपने घुटने सिकोड़े हुए पृथक् पृथक् रखने चाहिए। रोगी के बांयी ओर कैथीटर प्रवेशकर्त्ता को खड़ा होना चाहिये।

कैथीटर को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करने से पूर्व मूत्र प्रवेश के निकट की स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए मूत्रमार्ग के चारों ओर स्वच्छ तौलिया डाल दें। अब शिश्न को बांये हाथ में गाज (Gauze) से पकड़ें। यदि केवल हाथ से शिश्न को पकड़ा जाये तो पकड़ उतनी मजबूत नहीं रहती है। अब शिश्नाग्र की त्वचा को पीछे खिसका दें तथा शिश्नाग्र को किसी हल्के जीवाणुनाशक घोल में भीगे पिचु द्वारा स्वच्छ कर दें।
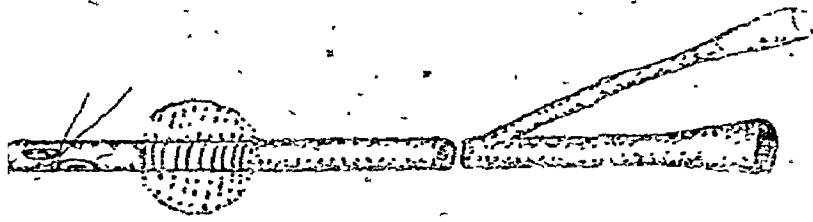
चित्र १५०—फोली-हीमोस्टेटिक बेग कैथीटर (मूत्राशय में स्वयं स्थिर रहने वाला एक अन्य प्रकार का कैथीटर)
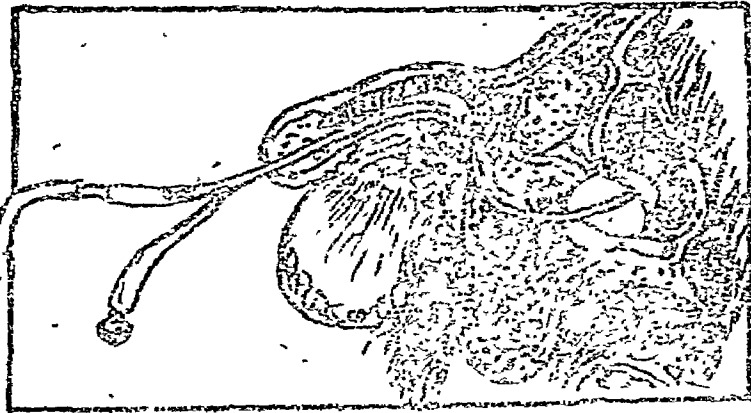
चित्र—१५१

इस चित्र में चित्र नम्बर १५० वाले कैथीटर को मूत्राशय में स्थिर रहते हुये दिखाया गया है। प्रायः इसका उपयोग मूत्राशय-विद्रावन में किया जाता है।
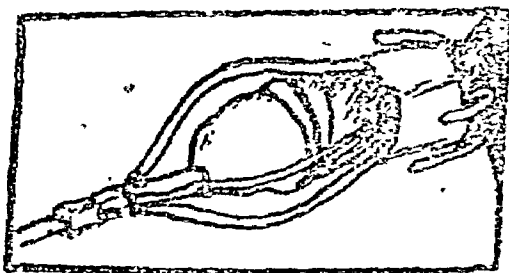
चित्र १५२—रबड़ के साधारण कैथीटर को पुरुष के मूत्राशय में टेप लगाकर स्थिर रखने की विधि

अब कैथीटर को अंगुली तथा अंगूठे द्वारा पकड़ें। पुरुषों के मूत्रमार्ग की लम्बाई लगभग ८ इन्च होती है। कैथीटर को ८ इन्च के लगभग चिकना कर लें तथा फिर उसे धीरे-धीरे मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करें और उस समय तक प्रवेश करते रहें जब तक कि वह मूत्राशय में न पहुँच जाय। कैथीटर का छिद्र रोगी की मूत्रनली की सीध में रहना आवश्यक है। कैथीटर प्रवेश करते समय कैथीटर पर अधिक बल न लगायें। प्रवेश करने के उपरान्त यदि कैथीटर रबड़ का है तो उसके मुँह पर अंगुली लगादें। अब इन्द्रिय को थोड़ा नीचे की ओर झुका दें और ऐसा पात्र रखें जिसमें कि मूत्र गिर सके और अंगुली हटा लें। यदि धातु का कैथीटर है तो 'स्टिलेट' को धीरे से खींच लें। इस बात का ध्यान रखें कि शीघ्रता में कैथीटर बाहर न आ जाय। इस तार के निकलते ही मूत्र निकलने लगेगा। कैथीटर के मुख को अपनी अंगुली द्वारा बन्द रखे रहें जिससे आपके ऊपर या आपके एवं रोगी के वस्त्रों पर मूत्र न गिरे। किसी पात्र में लगाने पर ही अपनी
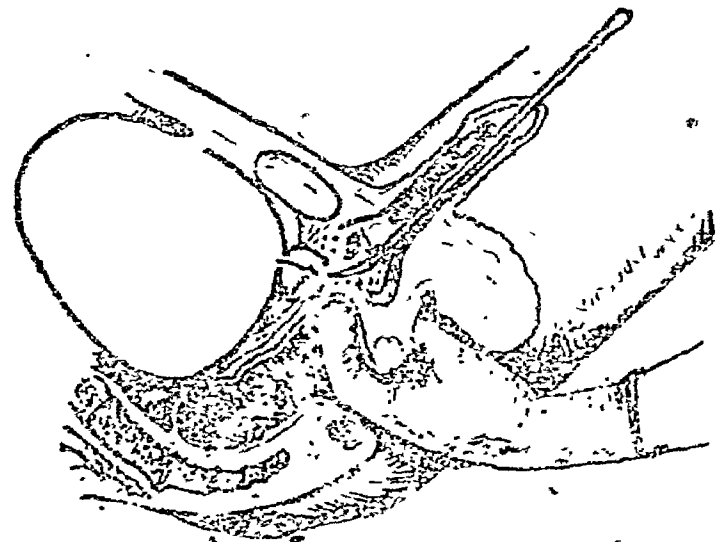
चित्र—१५३

पौरुष ग्रन्थि के कारण कैथीटर प्रवेश में कठिनाई हो तो मल मार्ग में अंगुली डालकर इस प्रकार कैथीटर को सहायता दें।

अंगुली हटायें। यदि कैथीटर मूत्रमार्ग में प्रविष्ट हो जावे किन्तु बीच में रुक जाता हो तो बल न लगायें अपितु यन्त्र को बाहर निकाल लेवें तथा स्वच्छ कर पुनः प्रविष्ट करें। इस प्रकार से २-३ बार प्रविष्ट करने पर कैथीटर प्रविष्ट हो जायेगा। यदि किसी अर्बुद या तीव्र पौरुष ग्रन्थि शोथ के कारण मूत्रमार्ग बन्द है तो फिर कैथीटर मूत्राशय में स्वतः ही प्रविष्ट न हो पायेगा। मल मार्ग में एक अंगुली चित्र १५३ में दिखाये अनुसार प्रविष्ट कर कैथीटर को सहायता देने पर कैथीटर मूत्राशय में पहुँच जायगा। यदि
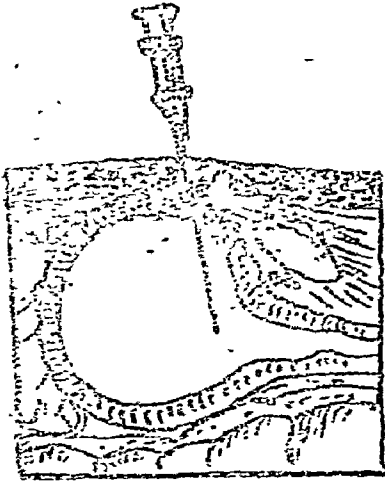
चित्र—१५४
पौरुष ग्रन्थि वृद्धि या किसी अन्य कारण मूत्राशय मूत्र से पूरित हो और कैथीटर प्रवेश के सभी उपाय विफल हो गये हों तो इस आत्ययिक अवस्था में कटिवेधनी सूचिका (लम्बर पंक्चर नीडिल) को सीधे ही मूत्राशय में प्रविष्ट करें।

शोथ के कारण मूत्रमार्ग बिल्कुल ही बन्द हो गया है तो कैथीटर प्रवेश नहीं कर पायेगा।

यह केवल अनुभव से ही ज्ञात हो सकता है कि किसी रोगी को कौन से नम्बर का कैथीटर लगेगा। साधारणतः माता का दूध पीते बच्चों को नम्बर २ का, ३-४ वर्ष के बच्चे को ३, ४, ५ नम्बर का, १२ वर्ष तक के बच्चे को नम्बर ६ का तथा इससे अधिक आयु में ७-८ नम्बर का कैथीटर प्रयोग करें।

यदि मूत्रमार्ग में किसी संक्रमण के उपस्थित होने की शंका हो यथा सुजाक में तो मूत्रमार्ग के अग्रभाग को किसी जीवाणुनाशक घोल से स्वच्छ कर लेना चाहिये। वैसे तो यह कार्य कैथीटर प्रवेश करने से पूर्व प्रत्येक रोगी में किया जाए तो अच्छा ही रहता है। इसके लिए एक बिना नीडिल की सिरिंज में जीवाणुनाशक घोल लें और हल्के से मूत्र बहिर्द्वार में लगाकर प्रविष्ट कर दें तथा १ मिनट बाद इस द्रव को खींचकर फेंक दें। इस प्रकार से ३-४ बार करें। मूत्रमार्ग के इस अग्रिम प्रक्षालन कर लेने से मूत्रमार्ग में यदि कोई संक्रमण है तो वह मूत्राशय में नहीं पहुंच पायेगा।

स्त्रियों में कैथीटर प्रवेश करने का कार्य यदि किसी स्त्री चिकित्सका के द्वारा किया जाय तो उत्तम है क्योंकि पुरुष द्वारा कैथीटर प्रवेश करने पर स्त्री लज्जा का अनुभव करती है और कैथीटर प्रवेश में पुरुष चिकित्सक को उतनी अधिक सुविधा नहीं देती। कैथीटर प्रवेश करने से पूर्व भग को पूरी तरह स्वच्छ कर लेना चाहिए तथा मूत्रमार्ग को बिना नीडिल की सिरिंज द्वारा उपरोक्त तरीके से स्वच्छ कर लेना चाहिए। स्त्रियों का मूत्रमार्ग बहुत छोटा होता है अतः प्रत्येक संक्रमण मूत्राशय में बहुत आसानी से पहुँच सकता है। इस बारे में चिकित्सक को पूर्णतः सतर्क रहना चाहिए।

—डा० दाऊदयाल गर्ग ए०एम०बी०एस०, आयु-वृह.
सम्पादक-धन्वन्तरि
गुलजार नगर, रामघाट रोड, अलीगढ़

× मूत्ररोगनाशक वनौषधियां ×

पृष्ठ ३४० का शेषांश

उत्तरकालीन स्थिति में शरीर पुष्टि तथा आमदोष निवृत्ति एवं यकृत्कार्य के उत्तेजक है। संग्रहणी के अतिरिक्त उन्माद, हृदय रोग, अश्मरी, सन्धिवात में भी उपयोगी है।

खरबूजे, ककड़ी खीरा के बीज खिलाना अश्मरी निकालने में उपयोगी है। खरबूजे के बीजों को जल में पीस कर शरीर पर लेप करने से 'लू' से रक्षा होती है।

विशेष—खरबूजा खाली पेट नहीं खाना चाहिए बल्कि भोजन पचने पर खाना चाहिए तथा खाने के पूर्व खरबूजा शीतल जल में भिगोकर रखना चाहिए इसके खाने के बाद चीनी का शर्बत बनाकर पीने से यह शीघ्र हजम होजाता है। इसके खाने के पश्चात् ही दूध का सेवन हानिप्रद है, अतिसार या हैजा होने का भय है आसपास हैजा फैला हो तो इसे खाना ठीक नहीं इसके सेवन से दांतों का मल साफ होकर है मजबूत होते है। इसके हानिकारण प्रभाव के निवारणार्थ शुद्ध शहद और अनार रस सिरका का सेवन किया जाता है।

मूत्र रोगों की होमियोपैथिक चिकित्सा

होमियोरत्न डा. बनारसी दास दीक्षित

श्री दीक्षित जी के लेखों का रसास्वादन 'धन्वन्तरि' के पाठक पर्याप्त समय से करते रहे हैं, लेकिन हमें हार्दिक दुःख है कि उनके समीपस्थ कुछ सम्बन्धियों के स्वर्गवास के कारण तथा उनकी अधिक कार्य व्यस्तता के कारण यह क्रम अवरुद्ध हो गया। 'धन्वन्तरि' के अनेकों पाठकों के पत्र हमें आपके लेख पुनः चालू करने हेतु प्राप्त हुए और हमने आपसे अनेकों बार लेख भेजने हेतु अनुरोध किया। अनेकों पाठक तो स्वयं जाकर आपसे मिले और 'धन्वन्तरि' में अपने लेख चालू करने का अनुरोध किया। आप हमारे एवं पाठकों के अनुरोध को टाल नहीं सके और अत्यन्त कार्य व्यस्त रहने पर भी लेख नियमित रूप से भेजना स्वीकार किया है। आपके लेख व्यर्थ की ऊहापोह से परे, भाषा सरल तथा अपने विषय का स्पष्ट ज्ञान कराने वाले होते हैं। आप नैपाल में वीरगंज में प्रातः से रात्रि तक रोगियों को देखने में व्यस्त रहते हैं तथा प्रतिदिन सैकड़ों नये रोगी देखते हैं। उन्हीं से प्राप्त अनुभवों का निचोड़ आपके लेखों में रहता है। आशा है पाठक इस लेख से लाभान्वित होंगे।

—दाऊदयाल गर्ग (सम्पादक-धन्वन्तरि)
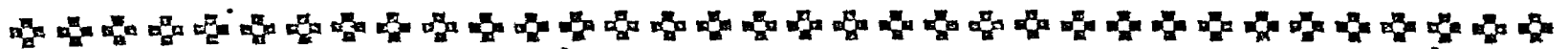
होमियोपैथिक में रोग की चिकित्सा न होकर रोगी की चिकित्सा होती है अतः लक्षण संग्रह करते समय रोगी के मानसिक लक्षण, विशेष लक्षण, वंशगत इतिहास, रोग की ह्रास वृद्धि आदि का विशेष ध्यान रखना चाहिये। साधारण लक्षणों में सफलता मिलना असम्भव है। प्रत्येक लक्षणों की विशेषता पर ध्यान रखना आवश्यक है। अतः हम दवा के साधारण लक्षणों को न लिखकर विशेष लक्षणों को लिखेंगे। रोगों के कारण आदि विषय पर न लिख कर चिकित्सा ही लिख रहे हैं। कारण आदि अन्य लेखक बन्धु अपने अपने लेखों में लिख ही चुके हैं। आवश्यक स्थानों पर हम संक्षेप में कारण और उदाहरण एवं होमियोपैथिक महापुरुषों के अनुभव भी लिखेंगे।

१. मूत्ररोध (पेशाब रुकना)

मूत्राशय में किसी कारणवश मूत्र न निकलने को मूत्ररोध या मूत्र स्तम्भ कहते हैं। जहां गुर्दों से ही मूत्र नहीं आता उसे मूत्रनाश कहते हैं। इसकी पहिचान यह है कि जहां मूत्राशय फूला हुआ होवे उसे मूत्ररोध समझना चाहिये और मूत्राशय फूला हुआ न हो वहां मूत्रनाश होता है अर्थात् पेशाब तैयार ही नहीं हो रहा है।

चिकित्सा—

एकोनाईट नेप ३०,२००—

यह दवा आयुर्वेद की चिरपरिचित बच्छनाग है। जन्म के समय बच्चे को मूत्र त्याग न होने में यह अति लाभप्रद है। यदि मूत्ररोध का कारण सर्दी लगना होवे तो इसकी १-२ मात्रा से ही मूत्र त्याग हो जाता है। सन् १९५१ दिसम्बर का महीना था, उस समय मैं श्री सत्य-नारायण दातव्य चिकित्सालय खुलना (बंगला देश) में चिकित्सक के पद पर कार्य करता था। स्थानीय उच्च डिग्रीधारी एलोपैथिक चिकित्सक की स्त्री को बच्चा हुआ। १२ घण्टे तक मलमूत्र त्याग न होने से डाक्टर साहब को बड़ी चिन्ता हुई। डाक्टर साहब ने पहले सभी उपाय किये पर सफल नहीं हो सके। उनकी बहिन होमियोपैथिक की भक्त थीं। २-४ बार कहने से डाक्टर साहब क्रोध करके बोले, अच्छा भाई मीठी गोली वाले डाक्टर

को भी बुला लो, उस मीठी गोली से कुछ होना तो है नहीं और मैं गया और बच्चे को १ ड्राम डिस्टिल वाटर में २ गोली एकोनाईट ३० की डालकर ५-५ मिनट पर ४-४ बूंद दी गई। १० मिनट बाद मल मूत्र त्याग हो गया। उसके बाद डाक्टर साहब को होमियोपैथिक पर विश्वास हुआ और उस बच्चे को कोई भी बीमारी होने पर होमियोपैथिक चिकित्सा होती है। इस प्रकार के अनेकों बच्चों पर हम प्रयोग कर चुके हैं।

सर्दी लगने के कारण वयस्कों का भी मूत्ररोध होने पर एकोनाईट के लक्षण मृत्युभय, बेचैनी आदि होने पर इसका प्रयोग होता है।

कैनेबिस सैटाइवा Q, ३ × —

यह दवा भांग से तैयार होती है। इसको मूत्र यन्त्र के रोगों में देने से बहुत लाभ होता है। जहां मूत्राशय में मूत्र भरा प्रतीत होता है पर होता नहीं है वहां इसको ३ × या ३ या ६ शक्ति में प्रयोग करने पर लाभ होता है।

आर्सेनिक एल्ब ३०—

डा० जार का कहना है कि जहां कैनाबिस इन्डिका से लाभ न होवे और रोगी में आर्सेनिक के लक्षण जलन, प्यास, बेचैनी, मृत्युभय, शीत कातरता होवें तो इससे विशेष लाभ होता है।

स्ट्रैमोनियम् ३०—

जहां मूत्रनाश होवे, किडनी से मूत्राशय में मूत्र ही नहीं आता होवे। उस अवस्था में मेटेरिया मेडिका में यह एक सर्वोत्तम दवा है।

ओपियम ३०,२००—

स्नायविक कारण से या भय के कारण मूत्रावरोध होवे और उसके साथ भयङ्कर कब्ज हो तो इस दवा से विशेष लाभ होता है। जहां देखें कि किसी कारणवश मूत्राशय का पक्षाघात हो गया है, उसकी मूत्र निःसारक शक्ति लोप हो गई है वहां ओपियम उसे पुनः सक्रिय कर देगा।

उदाहरण—दो माम पूर्व एक ६५ वर्षीय वृद्ध व्यक्ति को देखने गया, वह पटना से चिकित्सा कराकर आया था। उसे कब्ज था, पाखाना तीन दिन से नहीं हुआ था, अचेतन अवस्था में था। ओपियम् ३० शक्ति की तीन मात्रा १-१ घण्टा पर देने पर काफी मात्रा में मूत्र त्याग हुआ एवं ६ घण्टे बाद पाखाना भी हो गया।

उपरोक्त दवाइयों के अलावा लक्षणों के अनुसार हेलोनियस, नक्स वोमिका, डलकामारा रसटक्स आदि का भी प्रयोग होता है।

२. रक्तमूत्र (Haematuria)

पेशाब के साथ खून निकलने को रक्तमूत्र या हिमाचूरिया कहते हैं। यह रक्त किडनी, मूत्राशय, मूत्र नली आदि स्थानों से आ सकता है। होमियोपैथिक चिकित्सा में यह जानने से चिकित्सा में कोई लाभ नहीं होता कि रक्त कहां से आ रहा है। हमें रोग के विशेष लक्षणों पर और रोगी के सर्वाङ्गिक, मानसिक, विशिष्ट लक्षणों की लक्षण समष्टी के अनुसार दवा निश्चित करनी होती है और उसी दवा से सफलता की आशा की जा सकती है। किन्तु अभिभावक के पूछने पर यह बताना आवश्यक हो जाता है कि रोगी को रक्त क्यों आ रहा है? कहां से आता है? अतः संक्षेप में हम इस विषय पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। विस्तारपूर्वक अन्य लेखकों के लेख में पढ़ें। संक्षेप में परीक्षा निम्न प्रकार से करें—

(१) मूत्रनली से रक्तस्राव—मूत्रनली से रक्तस्राव होने पर पहले रक्त आयेगा और पीछे मूत्र आयेगा। इसमें बूंद-बूंद रक्त निकलता है, पेशाब करने में कोई कष्ट नहीं होता है। मूत्रनली में कभी-कभी सिर्फ रक्त ही निकलता है मूत्र निकलता ही नहीं है। सुजाक (गैनोरिया) के प्रदाह से या बाहरी चोट लगने से भी इस तरह का रक्तस्राव होता है।

(२) मूत्राशय से रक्तस्राव—मूत्राशय से रक्त आने पर पहले पेशाब होगा, पीछे रक्त आवेगा। पेशाब करते के समय दर्द होगा और एक प्रकार की तकलीफ बनी रहेगी। मूत्रमार्ग से रक्त के थक्के निकलेंगे। कभी-कभी यह थक्के बड़े होने पर मूत्राशय पर दबाव देकर या यन्त्र की सहायता से तोड़ करके भी निकालने पड़ते हैं।

मूत्राशय में पथरी, चोट, मासिक बन्द होने आदि कारणों से रक्तस्राव होता है।

(३) किडनी (गुर्दे) से रक्तस्राव—रक्त पेशाब के साथ मिलकर निकलता है और उसमें रक्त के थक्के भी रह सकते हैं।

नोट – किसी किसी स्त्री को मासिक के समय पेशाब के साथ रक्त आता है। यह हिमाचूरिया नहीं है बल्कि ऋतु का रक्त ही है। यह ४-५ दिन में स्वतः ही ठीक हो जाता है।

रक्त मूत्रता के कारण—

(१) मूत्राशय प्रदाह, कोरण्ड घटित मूत्रग्रन्थि प्रदाह आदि बीमारियों में, पीठ में चोट लगने के कारण, किडनी (गुर्दे) में प्रदाह होने के कारण या रक्त की अधिकता से, ट्यूमर आदि होने पर रक्त मूत्र हो सकता है।

(२) किडनीं या मूत्राशय में कैंसर या ट्यूबरकिल, प्रमेह (गनोरिया), घाव आदि भी कारण हो सकते हैं।

(३) मूत्रवहा नली (यूरेटर) अथवा यूरेथ्रा में पथरी अटक जाने पर भी रक्त आ सकता है।

(४) मूत्रनली में कैथीटर का प्रयोग करने या चोट से

(५) पीतज्वर, मलेरिया, स्कर्वी, पर्प्युरा आदि रोगों से भी रक्तमूत्रता हो सकती है।

(६) एक प्रकार के कीटाणु रक्त में होने पर भी मूत्र में रक्त आने लगता है।

(७) तारपीन, कार्बोलिक एसिड, कैंथाइडिस आदि दवाइयों के अधिक प्रयोग से भी हिमाचूरिया हो सकता है।

चिकित्सा और पथ्य —

आर्सेनिक एल्ब ३०,२००—

पेशाब का रङ्ग काला, उसमें सड़ी बदबू, पेशाब में थक्का थक्का रक्त, किडनी, मूत्राशय में जलन, दर्द उसके साथ उद्वेग, बेचैनी, मृत्युभय, शीत भाव, गरम से उपशम, रोग की बढ़ी हुई अवस्था, रोगी अति दुर्बल हो जाता है।

आर्सेनिक हाइड्रोजेन ३,६,३०—

ब्राइट्स डिजिज या नेफ्राइटिस की बीमारी में मूत्राशय से रक्तस्राव होने पर इससे लाभ होता है।

कैंथारिस ३,६,३०—

इस दवा का निर्माण एक प्रकार की मक्खी से होता है जो कि स्पेन देश में बहुत होती है। इस दवा की प्रधान क्रिया मूत्र यन्त्र पर होती है। मूत्र यन्त्र की इसे विशिष्ट दवा भी कही जावे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस दवा के बारे में सविस्तार लिखा जावे तो शायद लेख इसी में पूरा हो जायेगा, फिर भी हम इस दवा के बारे में कुछ विस्तारपूर्वक लिखने को बाध्य हैं—

मुख्य लक्षण—(१) पेशाब करने के समय, पेशाब करने के पहले और पेशाब हो जाने के बाद में भी भयङ्कर जलन। (२) पेशाब का बार बार वेग और कुन्थन। (३) हर समय पेशाब करने की इच्छा बनी रहना, बूँद-बूँद पेशाब के साथ रक्तस्राव। (४) रक्त मिला जलन के साथ मूत्रत्याग।

मूत्रनली में प्रदाह बार बार पेशाब की इच्छा का होना, बूँद-बूँद पेशाब होता है, उसके साथ में रक्त रहता है। पेशाब करने के समय भयङ्कर जलन होती है। पेशाब करने के बाद भी रोगी दर्द के कारण बेचैन रहता है। यदि पथरी के कारण दर्द होता है तो वह गुर्दे में होकर मूत्रनली में फैलता है। इस दवा ने कितने ही पथरी के रोगियों को आरोग्य किया है। पेशाब में रक्तस्राव के साथ ही यदि बार बार पेशाब की इच्छा, बूँद बूँद मूत्र त्याग और भयंकर जलन का लक्षण होने पर सर्व प्रथम इसका प्रयोग करना चाहिये।

चिमाफिला Q ३X—

पेशाब करने के समय कांटा चुभने की तरह दर्द, पेशाब के साथ बहुत ज्यादा मात्रा में चमकीला लसदार या सूत की तरह श्लेष्मा और पीव की तरह का पदार्थ निकलता है। पेशाब गाढ़ा बदबूदार, उसमें सुर्खी की तरह की लाल रङ्ग की तली जमती है। बार बार पेशाब करने की इच्छा होती है। मूत्र त्याग के बाद भी ऐसा अनुभव होता है कि पेशाब और होवेगा, लिंग मुण्ड से मूत्रनली तक खुजलाहट होती है। बहुत दिनों की पुरानी गनोरिया के कारण हिमाचूरिया, जिसमें खून के थक्के निकलते हैं।

आर्निका मोन्ट ६,३०,२००—

बाहर से चोट लगने के कारण रक्तस्राव की प्रथमावस्था में इसका प्रयोग करना चाहिये।

क्रोटेलस ३०,२००—

शरीर के किसी भी अङ्ग से रक्त क्यों न होवे, यदि खून काले रङ्ग का होवे, तरल न जमने वाला, जिसका थक्का न बनता होवे, उसमें यह लाभप्रद होता है। यह दवा सर्प के विष से तैयार होती है।

लेकेसिस ३०,२००—यह दवा भी सर्प के विष से तैयार होती है। जहां पेशाब गंदला, काले रंग का होवे जैसे कॉफी घुले हुए पानी की तरह दिखाई देवे। रोगी को जलन, बेचैनी होवे, श्वास में कष्ट हो तो इसका प्रयोग होता है।

हेमामेलिस Q १X३X६, ३०—इस दवा का सभी प्रकार के रक्तस्राव में प्रयोग होता है। पेशाब में जलन नहीं होती है, रक्त कुछ कालापन लिये होता है।

मिलिफोलियम् ३X६X६,३०—लाल रंग का रक्त स्राव, उसके साथ ही गुर्दे के स्थान पर दर्द, वर्तन में रखने पर खून का थक्का नीचे जम जाता है। मूत्र निकलने के समय मूत्रनली में दर्द होता है।

एसिड नाइट्रिक ६,३०,२००—उपदंश विष दूषित एवं पारा के अपव्यवहार के कारण पेशाब से रक्तस्राव, बार बार पेशाब का वेग।

टेरिविन्थिना ६,३०,२०० —यह दवा तारपीन के तैल से तैयार होती है। इसकी प्रधान क्रिया मूत्र यन्त्र पर होती है। पेशाब करने के समय जलन यन्त्रणा बूंद बूंद पेशाब होता है। पेशाब करने में अति कष्ट होता है। खून मिला हुआ पेशाब होता है, गुर्दे की जगह पर दर्द, पेशाब में एल्व्यूमिन, धुंआ की तरह पेशाब का रंग। दर्द गुर्दे से आरम्भ होकर मूत्र नली तक आता है। यह मूत्र में खून आने की सर्वोत्तम दवा है।

चिनिनम सल्फ ३X,३०—मूत्र में खून आता है पर किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है। पेशाब अधिक मात्रा में होता है। उसमें एल्व्यूमिन, यूरिक एसिड ज्यादा मात्रा में होता है।

थ्लैप्सीवर्सा Q—रक्तस्राव के लिये इसका प्रयोग अधिक होता है। जहां रक्त का रंग काला होवे और उसमें थक्के थक्के होवें, साथ ही बदबू होने पर यह लाभप्रद है।

कैनाबिस सैटाईवा Q,३,६,३०—डा. जार लिखते हैं कि अगर पेशाब में खून आने पर किसी औषधि के कोई विशेष निर्दिष्ट लक्षण नहीं मिलने पर मैं कैनाबिस का प्रयोग करता हूं। इससे सफलता न मिलने पर कैन्थारिस देता हूं। यदि रोग का कारण अधिक शराब पीना हो तो नक्स का प्रयोग करके बहुत रोगियों को आरोग्य किया है। यदि मूत्र में रक्त आने के साथ गुर्दों में दर्द भी हो, पेशाब की रंगत हरी सी होवे और मूत्र में कफ भी आवे तो कल्केरिया कार्ब देना चाहिये। यदि मूत्राशय में दर्द हो, तल पेट में गर्मी प्रतीत हो, अति दुर्बलता हो, रक्त का रंग लाल होने पर इपिकाक का प्रयोग करें। मूत्रनली में भयंकर जलन होने पर लक्षणों के अनुसार—आर्सेनिक, कैंथारिस, सल्फर या पल्सेटिला में से किसी का चुनाव करना होगा। मूत्राशय की नली में काटने या डंक मारने की तरह का दर्द होने पर सलफर, मार्कसोल या कैंथारिस में से किसी का चुनाव करें। मूत्राशय से निम्न कटि प्रदेश और जंघास्थली तक प्रसव वेदना के समान दर्द होने पर पल्सेटिला, सल्फर, नक्स पर ध्यान देवें। यदि भयंकर विष्टब्धता हो, रक्त मिश्रित मुट्ठे (थक्के) आवें तो लाईकोपोडियम् देवे।

उदाहरण—रोगी की उम्र २५ वर्ष की, अचानक ही पेशाब से रक्तस्राव होने लगा। दर्द, जलन, किसी भी प्रकार की तकलीफ नहीं थी। रक्त का रंग लाल था। लक्षणों का संग्रह करके उसे मिलीफोलियम् ३X शक्ति में प्रति घण्टा पर देने पर ५-६ मात्रा देने से ही रक्तस्राव बन्द हो गया।

३. मूत्रपथरी

हाईड्रन्जिया Q—इसका प्रभाव मूत्रनली पर विशेष रूप से होता है। साथ ही गुर्दे की नली पर भी क्रिया होती है। मूत्रपथ में जलन, पेशाब की बार बार इच्छा, पेशाब बहुत कष्ट से उतरता है। पेशाब में कफ की तरह का तलछट जमता है। बायें जांघ में दर्द होता है। गुर्दे में जो प्रायः बायीं तरफ होता है। रक्त भी आता है।

मात्रा—५ से १० बूंद मदर टिंचर दिन में ३-४ बार देवें।

सोलिडैगो Q—पेशाब का रुक जाना या रुक रुककर होना। गुर्दे का दर्द जोकि पेट और मूत्राशय तक जाता है। पेशाब रुकने पर इससे कैथीटर लगाने की आवश्यकता नहीं रहती है।

कैन्थारिस ३०—मूत्र रुक रुककर होता है, मूत्र करने के समय भयंकर जलन और दर्द। यह मूत्र पथरी की बहुत ही उत्तम दवा है, इससे पथरी के टुकड़े टूटकर निकल जाते हैं।

सार्सापरेला ६—यह भी पथरी रोग के लिये और गुर्दे के दर्द के लिये उत्तम दवा है। इस दवा का विशेष

—शेषांश पृष्ठ ३५८ पर देखें।

मूत्रवह संस्थान के रोगों की आधुनिक औषधियाँ

डा. हरेन्द्रकुमार प्रवीण

मूत्रकृच्छता (Dysuria)

इन्जेक्शन (एन्टीबायोटिक्स)—

(१) टेरामाइसीन—नि.-फाईजर, बड़ों को २५०-५०० मि. ग्रा. प्रति ६ घण्टे पर मांसपेशी में। बच्चों को २५-१०० मि. ग्रा.। प्रति कि.ग्रा. शरीर भार के अनुसार प्रति दिन की मात्रा को कई खुराक में बांटकर मांसपेशी में। या

डूपेन (Dupen 5 or 10) नि.—डूमेक्स मात्रा—५-१० लाख यूनिट को डि. वाटर में घोलकर सुबह शाम मांसपेशी में आवश्यकतानुसार मात्रा को कम-अधिक किया जा सकता है।

क्रिस-फोर—नि.—सारामाई, डि. वाटर में घोलकर प्रतिदिन मांसपेशी में।

कैप.—एन्टीबायोटिक्स—टेरामाइसीन नि.—फाइजर या एम्पीलीन या साइक्लोसन—बायोकेम १-२ कैप × ४ बार।

टेब.—लैसिक्स टेब० नि—हेक्स्ट १ टेब. × २ बार। बारालगन टेब—नि०—हेक्स्ट १-२ टेब. × ३ बार।

मूत्राघात (Anuria)

चिकित्सा - शिरामार्ग द्वारा बूंदपात विधि से ५% डेक्स्ट्रोज, १०% डेक्स्ट्रोज (५% या १० %) या, सोडियम क्लोराइड + डेक्स्ट्रज आवश्यकतानुसार चढ़ाएं।

बो. नोल कं. का कैलिशयम डायुरेटीन टेब. वयस्कों को आधा-१ टेब × ३-४ बार। बच्चों को चौथाई टेब. × ३ बार।

अल्कासोल नि.—स्टेडमेड—१ वर्ष तक के शिशु को चौथाई-आधा चम्मच × ३बार। १२ वर्ष तक के बच्चों को आधा-१ चम्मच × ३ बार। वयस्कों को २ चम्मच × ३ बार पानी में घोलकर। आवश्यकतानुसार इसकी मात्रा रोगानुसार बढ़ाई जा सकती है।
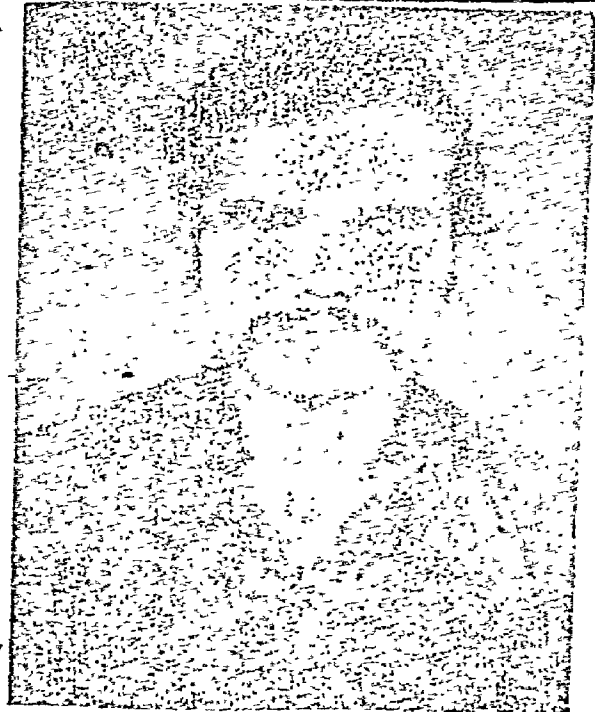
मूत्र विषमयता (Uraemia)

तीव्र यूरीमिया (Acute Uraemia)—

इन्जेक्शन + कैपसूल—

'एन्टीबायोटिक्स' का प्रयोग करें। एन्टीबायोटिक्सों का वर्णन 'पूर्व' के अन्य लेखों से प्राप्त करें।

डायनाबोल इन्जेक्शन (सीबा) १ ऐम्पुल नित्य या सप्ताह में १-३ बार मांसपेशी में या ड्युराबोलीन इंजेक्शन (आर्गेनन) १०-१५ मि. ग्रा. का १ एम्पुल सप्ताह में १ बार दे देना लाभकर है।

बूंदपात विधि से शिरामार्ग द्वारा ५० % डेक्स्ट्रोज आवश्यकतानुसार दें। ५० % डेक्स्ट्रोज ५०० मि. ली. आमाशय में नली प्रवेश करा कर दें।

चिरकारी यूरीमिया (Chronic Uraemia)—

(१) जितना मूत्र त्याग हो उससे ६०० मि. ली. अधिक जल पिलावें।

(२) एन्टीबायोटिक्स दवाओं का व्यवहार इन्जेक्शन के रूप में करें।

(३) अतिरक्तदाब के लिए रक्तदाब को कम करने हेतु सर्पासिल इन्जेक्शन (सीबा) १-२.५ मि. ग्रा. मांसपेशी में या शिरामार्ग द्वारा बहुत ही धीमी गति से ८-१० घण्टे के अन्तराल से तब तक दें जब तक कि रोगी मुंह से औषधि लेने के लायक नहीं हो जाये।

(४) आक्षेपों के लिए लार्गेक्टिल इन्जेक्शन १ एम्पुल ६-६ घण्टे पर मांस में दें।

पूयमेह (Pxuria)

चिकित्सा—एन्टीबायोटिक्स द्वारा—

नोट—मूत्र रोग खण्ड में वर्णित मधुमेह रोग को छोड़कर मूत्रकृच्छ्रता, मूत्राघात, मूत्रविषमयता, बहुमूत्रता, अल्पमूत्रता, अमूत्रता, इक्षुमेह, सुरामेह, शुक्रमेह, सिकतामेह शीतमेह, शनैर्मेह, लालामेह, क्षारमेह, नीलमेह, अम्लमेह, हरिद्रामेह, मज्जामेह, वसामेह, हरितमेह, रक्तमेह, पूयमेह, जीवाणुमेह, ऐल्बुमिनमेह—कोई स्वतन्त्र रोग नहीं हैं बल्कि यह भिन्न-भिन्न रोगों के लक्षण हैं। अतः जिस बीमारी के साथ ऐसे लक्षण होते हैं, उनकी चिकित्सा रोगानुसार तथा उनके कारणों के अनुसार की जाती है।

मधुमेह (Diabetes Mellitus)

प्रौढ़ता-प्रारंभिक मधुमेह (Maturity onset diabetes)

स्थूल रोगी—भोजन द्वारा शरीर का वजन तथ ब्लड सुगर को आवश्यकतानुसार घटावें। यदि ऐसा नहीं हो तो स्थूलता की चिकित्सा करानी चाहिए।

टेबलेट—डायबीनीज २५० मि. ग्रा. (फाईजर) या डायोनिल (नि. हेक्स्ट), या इयुग्लुकोन टेबलेट ५ मि.-ग्राम १ टेबलेट नाश्ता के साथ। यदि इतने से नियंत्रित न हो तो इन्सुलीन दें।

कृश रोगी को—टेबलेट डायबीनीज २५० मि.ग्रा. या डायोनिल या इयुग्लुकोन या ग्लाइनेज आधा टेबलेट नाश्ता के साथ। मूत्र में सुगर की मात्रा के अनुसार इसकी मात्रा बढ़ाई जा सकती है।

यदि इतने से नियंत्रित न हो तो डायबीनिज ५०० मि. ग्रा. नाश्ता के साथ। दो सप्ताह के बाद यदि नियंत्रित नहीं हो तब डायोनिल या इयुग्लुकोन २ टेबलेट नाश्ता के साथ १ टेबलेट रात को भोजन के बाद। इसके बाद भी नियंत्रित नहीं होने पर इन्जेक्शन लेन्टि इन्सुलीन (Lente Insulin) १५ यूनिट चर्मान्तर्गत नाश्ता से पूर्व। (यह हूमेक्स कम्पनी का इन्सुलीन नोवो लेन्टि (Insulin Novo Lente) के नाम से आता है।)

विटामिन बी कम्पलेक्स यथा बीकाडेक्स फोर्ट १ कैपसूल रोज दें, यदि लेन्टि इन्सुलीन की मात्रा ५० यूनिट प्रतिदिन से अधिक हो।

इन्जेक्शन सोल्युबिल इन्सुलीन २० यूनिट + एन. पी. एच. या लेन्टि इन्सुलिन २० यूनिट १ बार नाश्ता से पहले। यदि दिन के भोजन से पहले पेशाब में सुगर ++ है तो सोल्युबिल इन्सुलीन २ यूनिट नाश्ता के पहले बढ़ाकर दें। यदि पेशाब में सुगर ++ रात के पहले हो तब एन. पी. एच. या लेन्टि इन्सुलीन २ यूनिट नाश्ता के पहले। यदि फिर भी नियंत्रित न हो सके तब इन्जेक्शन प्लेन इन्सुलीन २० यूनिट नाश्ता से पहले, २० यूनिट दिन के भोजन से पहले २० यूनिट रात के भोजन से पूर्व।

वृद्धावस्था जन्य डायबिटिज (Juvenile diabetes)

इन्जेक्शन—N P H. Insulin ०.२५-०.५ यूनट प्रति कि. ग्राम शा. वजनानुसार नाश्ता के बाद। इसकी मात्रा पेशाब तथा रक्त में सुगर की मात्रा के अनुसार निर्धारित करें।

कीटोसिस एवं मधुमेह जन्य संन्यास—

घर पर की जाने वाली चिकित्सा—

घुलनशील इन्सुलिन इंजेक्शन २० यूनिट मांसपेशी में नोर्मल सैलाईन बून्दपात विधि से शिरा द्वारा दें। इसके बाद रोगी को अस्पताल भेजने में विलम्ब नहीं करें।

वृक्क रोग

तीव्र वृक्क शोथ (Acute Nephritis)—

[१] डूपेन (५ या १०) ग्लैक्सो का क्राइस्टापेन इसीके समान है जो बैंजाइल पैंसलीन है। (डूमेक्स) ५ लाख यूनिटका १इन्जेक्शन परिस्रुत जल में घोलकर प्रत्येक

६-६ घण्टे पर मांसपेशी में लगायें।

[२] क्राइस (साराभाई)

समकक्ष—[i] पी पी एफ [ii] सेक्लोपेन (ग्लैक्सो) [iii] प्रोनापेन (फाइजर) [iv] पेनप्रोड्यूरल (एम. एस. डी.) परिस्रुत जल में घोलकर १ इन्जेक्शन प्रतिदिन मांसपेशी में १० दिनों तक लगायें। यह फोर्टिफायड प्रोकेन पेनिसिलिन है।

[३] यूनी मैनिटोल (यूनीकैम) ६ मि. ली. / प्रति कि. ग्राम शारीरिक वजनानुसार वुन्द निपात विधि (drip method) से शिरामार्ग द्वारा दें। यदि अतिरक्तदावी मस्तिष्क विकृति हो तो दावह्रास करने हेतु उत्तम है।

[४] लैसिक्स (हेक्स्ट)

समकक्ष—[i] डायुरल (एलेम्बिक) [ii] फ्रूसिक्स १ ऐम्पुल शिरा या मांसपेशी में। बच्चों को--०·५ मि.ग्रा. १·३ मि. ग्रा. । प्रति कि. ग्रा शारीरिक वजनानुसार। यदि वृक्क निपात हो तब न दें। इसके २ मि.लि. के ऐम्पुल में २० मि. ग्रा. फ्यूरोसेमाइड होता है।

[५] वैलियम १० (रोश)

समकक्ष—१. कम्पोज २. साइकोकैम (यूनीकैम) १ ऐम्पुल शिरा मार्ग द्वारा। इसे २-३ बार तक दिया जा सकता है। बच्चों को वयानुसार कम दें।

टेबलेट—

[१] एल्थ्रोसीन (एलेम्बिक) २५० मि. ग्रा. × ३-४ बार बच्चों को वयानुसार। पेनसिलिन के इन्जेक्शन न सह सकने की स्थिति में इसका प्रयोग करें।

समकक्ष—१ एरिथ्रोसिन (एब्बोट)

[२] एडेल्फेन-एसीड्रेक्स (सीबा) आधा-१ टेबलेट × २ बार तब तक जब तक रक्तदाब सामान्य न हो जाये। यदि रक्तचाप बढ़ा हुआ हो तो दें।

[३] लैसिक्स (हेक्स्ट), फ्रूमेक्स (डोल्फीन कं.), सैलीनेक्स (आ. डी. पी. एल.) २ मि. ग्रा.। प्रति किलो ग्राम शारीरिक वजनानुसार। यदि वृक्कपात हो तब नहीं दें।

पेय—इसके लिये किसी भी कम्पनी का विटामिन बी कम्पलेक्स सीरप प्रयोग में लायें यथा—बी. जो फॉस मर्क शार्प डोह्म कंपनी, विटाहेक्स्ट(Vitahext)-हेक्स्ट फार्मा., पोलिबियोन ई. मर्क इत्यादि।

जीर्ण वृक्क शोथ (Chronic Nephritis)

इसकी चिकित्सा हेतु पूर्व वर्णित 'डूपेन' क्राइस-फोर इत्यादि इन्जेक्शनों का व्यवहार करें। अन्य एन्टीबायोटिक्स जैसे-एम्पीसिलिन के योग यथा सिन्थोसिलिन इन्जे. पी. सी. आई कं., एम्पीलिन लायका इत्यादि के इन्जेक्शन दिये जा सकते हैं।

मात्रा—बड़ों को—२५०-५०० मि. ग्रा. प्रति ६ घंटे पर मांसपेशी या शिरा में।

बच्चों को—२५-१०० मि. ग्रा. प्रति कि. ग्राम शारीरिक भार के अनुसार एक दिन की मात्रा को कई खुराक में बांटकर मांस में या शिरा में।

इसका पेय बच्चों को—

१ वर्ष तक के बच्चों को—६२·५-१२५ मि. ग्रा.।
५ वर्ष ,, ,, ,, १२५·-१८७·५ ,, ,,
१२ वर्ष ,, ,, ,, १८७·५-२५० मि. ग्राम
प्रत्येक ६-६ घन्टे पर।

बड़ों को कैपसूल के रूप में—

१-२ ग्राम आवश्यक खुराक में बांटकर।

ऑक्सी टेट्रासाइक्लीन के योग भी इन्जेक्शन, पेय तथा कैपसूल के रूप में व्यवहृत किये जा सकते हैं। यथा टेरामाइसीन फाईजर कम्पनी, अलसाइक्लीन तथा अलसाइक्लीन ओ (एलेम्बिक कम्पनी) आदि।

मात्रा—इन्जेक्शन के रूप में—

बच्चों में—१०-२० मि. ग्रा. / प्रति किलो ग्राम शारीरिक भार के अनुसार।

वयस्कों में—१५०-५०० मि. ग्रा. १२ घन्टे के अन्तर पर मांसपेशी में।

कैपसूल—बड़ों को—१-२ग्रा. कई खुराकों में बांट कर

पेय—१ वर्ष तक के बच्चों को—६२.५-१२५ मि. ग्राम
५ वर्ष ,, ,, १२५-१८७·५ ,, ,,
१२ वर्ष ,, ,, १८७-२५० मि. ग्राम
प्रत्येक ६-६ घन्टे पर।

इसके अलावा इस रोग में कभी-कभी हलका जुलाब भी देना चाहिए। इसके लिये ग्लैक्सो कम्पनी का ग्लै-

वसीना टेवलेट दे सकते हैं ।

मात्रा—बच्चोंको आधा टेवलेट रात को सोते समय । इसे १-२ टेवलेट की मात्रा भी आवश्यकता पड़ने पर दे सकते हैं यदि जरूरत आ पड़े ।

बड़ों को—१ टेवलेट रात को सोते समय, आवश्यकतानुसार मात्रा बढ़ाया जा सकता है ।

सिपला कम्पनी का सिनेड (Senade tab)—सिपला भी इस हेतु १-१२ वर्ष के बच्चों को-१ टेवलेट रात को सोते समय ।

वयस्कों को—१-३ टेवलेट रात को सोते समय ।

इस रोग में पेय के रूप में ग्लुकोनेट कम्पनी का अल्कासाइट्रन या स्टेडमेड कम्पनी का अल्कासोल भी दें ।

मात्रा—१ वर्ष तक के बच्चों को—चौथाई-आधा चम्मच । १२ वर्ष तक के बच्चों को आधा-१ चम्मच ।

वयस्क—२ चम्मच को पानी में घोलकर × ३ वार देना चाहिये । २-३ दिनों तक इसे २-३ घण्टों के अन्तराल पर भी दे सकते हैं ।

अपवृक्कीय संलक्षण (Nephrotic Syndrome)

इस रोग में संपूर्ण शरीर यथा—पैर, हाथ, मुंह तथा पेट में काफी शोथ (सूजन Oedema) होता है ।

चिकित्सा—

(१) प्रेडनीसोलोन के योग यथा—वाइसोलोन टेवलेट वाइथ कम्पनी या होस्टाकोर्टिन-एच—हेक्स्ट या प्रेसिन—एलेम्बिक ।

मात्रा—२ मि. ग्राम / प्रति कि. ग्राम । प्रति दिन की खुराक को ३ खुराक में बांटकर × २८ दिन तक । २८ दिन के बाद १ दिन बीच देकर २८ दिन तक ।

(२) मूत्रल दवा—इसके लिये लैसिक्स २ मि. ग्राम / प्रति कि. ग्राम । प्रति दिन की खुराक कई मात्रा में बांटकर दें ।

(३) एन्टीबायोटिक्स—पूर्व वर्णित 'डूपेन' देखें । इसमें प्रेडनीसोलोन के बदले डेक्सामिथासन (पेटेन्ट नाम—डेकाड्रॉन) टेवलेट;-मार्क-शार्प एण्ड डोह्म कम्पनी, मिलिकोर्टिन टेवलेट-सीबा कम्पनी एवं वाइसेलोन—वाइथ कं० इत्यादि ।

मात्रा—बड़ों को—३ मि. ग्राम प्रति दिन (१ मि. ग्राम × ३ वार) बच्चों को उम्रानुसार या वेटामिथासान के योग जैसे—ग्लैक्सो कम्पनी का वेटनेसोल टेवलेट भी दिया जा सकता है ।

मात्रा—बड़ों को—थोड़े दिन की चिकित्सा के लिये—१-२ टेवलेट × ३ वार । प्रति दो दिन पर धीरे-२ मात्रा घटावें । लम्बी अवधि की चिकित्सा के लिये—१-२ टेवलेट से शुरू करके ३-४ वार तक १-२ सप्ताह तक बच्चों के वयानुसार ।

पेय—इसके लिये 'विटामिन बी कम्पलेक्स' के योग दें ।

अनुतीव्र सारऊतक वृक्कशोथ

इसकी चिकित्सा प्रेडनिसोलोन अथवा डेक्सामिथासोन से करें । पेनसिलीन (डूपेन, क्राइस-फोर) इत्यादि को पूरी मात्रा में दें । पेट को साफ रखने के लिए रेचक—यथा ग्लैक्सैना टेवलेट दें ।

तीव्र गोणिका वृक्कशोथ

इसकी चिकित्सा में—एन्टीबायोटिक्स—'एम्पीसिलिन' तथा 'ऑक्सीटेट्रासाइक्लीन' के योग देवें । या सेप्ट्रान टेवलेट (वरोज वेल्कम)—२ टेवलेट × २ वार, समकक्ष वैक्ट्रीम नि-रोश गारामाइसीन—सी.ई. बुलफोर्ड कम्पनी के इन्जेक्शन को ३ मि. ग्राम / कि. ग्राम । प्रति दिन की खुराक को ३ मात्रा में बांटकर मांसपेशी में ।

पाइरीडेसिल एन एफ टी—इथनर कम्पनी द्वारा निर्मित इस टेवलेट को वयस्कों को—२ टेवलेट × ३-४ बार । बच्चों को आयु के अनुसार । या—

फ्यूराडेन्टीन टेवलेट—यह एस. के. एफ (S.K.F.) कम्पनी द्वारा प्रस्तुत नाइट्रोफ्यूरान्टोइन है ।

मात्रा—वयस्कों को—१०० मि. ग्राम × ३ बार बच्चों को—वयानुसार ।

गैन्ट्रीसिन—रोश कम्पनी द्वारा प्रस्तुत यह सल्फोनामाइड है । इसे इस रोग में वयस्कों को—१ ग्राम प्रत्येक ६ घण्टे पर तथा बच्चों को वयानुसार कम देते हैं ।

पेट साफ करने के लिए हल्के जुलाब का प्रयोग करें । पेशाब को साफ लाने हेतु 'अल्का साइट्रान' या 'अल्कासोल' का व्यवहार आवश्यक है ।

जीर्ण गोणिका शोथ—

इसके इलाज के लिये 'एम्पीसिलिन' तथा 'नाइट्रोफ्युरान्टोन' (फ्युराडेन्टीन) का सहारा लें । रक्तचाप अधिक

होने पर एडेल्फेन दें ।

वृक्क विद्रधि

इसकी चिकित्सा एन्टीबायोटिक्स यथा—एमीसिलिन, ऑक्सीटेट्रासाइक्लीन, पेनिसिलिन के योग इन्जेक्शन द्वारा दें। मुख द्वारा—एम्पीसिलिन, आक्सीटेट्रासाइक्लीन, क्लोरमफेनिकोल पेटेन्ट—क्लोरोमाइसेटीन, इन्टेरोमाइसेटीन, पाराक्सीन इत्यादि को वयस्कों को आवश्यकतानुसार १-२ ग्राम (कैपसूल रूप में) को कई बराबर भागों में बांट कर दें। बच्चों को उनकी आयु के अनुसार।

इसके अलावा मुख द्वारा पेनिसिलिन के योग भी दिये जा सकते हैं। यथा—क्रिस्टापेन वी टेबलेट (ग्लैक्सो) को वयस्कों को २५० मि. ग्रा. × प्रति ४-६ घण्टे पर बच्चों को—१२५ मि. ग्राम × प्रति ३ घण्टे पर तथा छोटे बच्चों एवं शिशुओं को ६५-१२५ मि.ग्रा. × ३-४ बार।

पेनिवोरल—फ्रैंको इन्डियन—वयस्क—१ टेबलेट × ६ बार प्रतिदिन। बच्चों को आधा टेबलेट × ६ बार प्रति दिन।

पेन्टेड सल्फाज—१-१ टेबलेट × ४ बार बच्चों को वयानुसार।

वृक्क यक्ष्मा

इन्जेक्शन—

१. एम्बीस्ट्रीन-एस (०.७५ ग्राम, १ग्राम) निर्माता—साराभाई केमिकल ४० मि. ग्राम / प्रति कि. ग्राम प्रतिदिन। मांसपेशी में रोज प्रथम १ महीना, दूसरे महीने में—१ दिन बीच देकर मांस में। तीसरे महीने में-सप्ताह में २ बार मांस में। यह स्ट्रेप्टोमाइसीन सल्फेट का इन्जेक्शन है।

२. आइसोनेक्स टेबलेट एवं आइसोनेक्स फोर्ट टेबलेट (डूमेक्स)। यह आसोनियाजाइड है जो क्रमश: १०० और ३०० मि. ग्राम में प्राप्य है।

मात्रा—वयस्क--३०० मि. ग्राम की फोर्ट टेबलेट १ बार या १०० मि. ग्राम की १ टेबलेट × ३ बार। बच्चों को—३-५ मि. ग्राम प्रति कि. ग्राम। प्रति दिन इसे आवश्यकतानुसार १ वर्ष या डेढ़ वर्ष तक देते हैं।

समकक्ष—नाइड्राजाइड—साराभाई केमिकल्स
पेलाजाइड—ग्लैक्सो
एल्जाइड—एलेम्बिक
थेमिजाइड—थेमिस

३. मायाम्ब्युटोल टेबलेट— यह इयाम्ब्युटोल (Ethambutol) है जिसे लेडरले ने उपरोक्त नाम से पेटेन्ट किया है। यह २०० एवं ४०० मि. ग्राम के टेबलेट के रूप में प्राप्य है।

मात्रा—२५ मि. ग्राम प्रति कि. ग्राम प्रतिदिन की मात्रा। १ खुराक के रूप में × २ महीने तक, बाद में १५ मि. ग्राम। प्रति कि. ग्राम। प्रति दिन की मात्रा १ खुराक के रूप में × ६ महीने तक।

(१) विटामिन्स के योग कैपसूल एवं पेय (सीरप) के रूप में प्रयोग करायें।

वृक्कघात (Renal Failure)

तीव्र वृक्कघात—

इन्जेक्शन मैनीटोल—इसे अन्य कई कम्पनियों के साथ-साथ यूनीकेम कम्पनी तैयार करती है। २५० मि. ली. (२-३ मि. ली. प्रति कि. ग्राम शारीरिक वजन के अनुसार) ३० मिनट में शिरामार्ग से बून्दपात विधि द्वारा।

लैसिक्स इन्जेक्शन—हेक्स्ट २० मिलीग्राम प्रति किलो ग्राम शिरा मार्ग द्वारा २०० मिली लीटर ५ % डेक्स्ट्रोज सोल्युशन में मिलाकर।

जीर्ण वृक्कघात—

लैसिक्स—दें (१००० मिलीग्राम तक दिया जा सकता है)।

आपातकालीन उपाय—

१०% कैल्शियम सैन्डोज—१० मिली लिटर-शिरा मार्ग में देने के बाद डेक्स्ट्रोज १० प्रतिशत या ५ प्रतिशत ३०० मिली लिटर, सोडाबाईकार्ब—७५ प्रतिशत १०० मिली लिटर, ग्लुकोज ५० प्रतिशत १०० मिली लिटर, रेगुलर इन्सुलीन २० यूनिट्स। शिरा मार्ग द्वारा बून्दपात विधि से।

यदि अम्लमयता (Acidosis)—लक्षण—अतिसंवातन (Hyperventilation), मितली एवं वमन हो तब—सोडाबाईकार्ब पावडर ३ ग्राम। प्रतिदिन मुख द्वारा दें। या सोडामिन्ट टेबलेट—४ टेबलेट × ३ बार दें।

वृक्कशूल

इन्जेक्शन

[१] बारालगन—हैक्स्ट (Hoechst) २-५ मि. ली. शिरा मार्ग द्वारा धीरे-२ इसे ८ घंटेपर दुहरावें। या

एवाफोर्टन (खण्डेलवाल लैब्स)—३ मि. ली. शिरा मार्ग द्वारा धीरे-धीरे। यदि दर्द (शूल) घातक रूप में हो—तो पैथीडिन १०० मि. ग्रा.+सिम्बिल १ मि. ग्रा. टेबलेट + कैपसूल्स

[१] नियो ओक्टीनम टेबलेट (बी. नोल) १ २ टेब. ×२ ३ बार।

[२] स्पाज्मो प्राक्सीभान कैपसूल (बोकार्डट)१ कैप× २ ३ बार।

[३] एवाफोर्टन टेवलेट (खण्डेलवाल लैब्स) १ से २ टेबलेट २-३ बार।

[४] स्पाज्मो सीवालजिन टेब.-१ टेब.×२-३ बार।

[५] बारलगन टेबलेट—२-२ गोली तीन बार।

[६] वेलाडिनल- रिटार्ट १-१ गोली दो बार।

वृक्क के संक्रमण

क्लोक्सासिलिन-बायोकेम— यह बायोकेम फार्मा का बना क्लोक्सासिलिन है, जिसे अन्य कम्पनियां भी तैयार करती है। यह कैपसूल, एवं ड्राईसील के रूप में प्राप्त है।

मात्रा—इन्जेक्शन—२५०. मि. ग्राम×प्रति ४ घंटे पर मांसपेशी या शिरामार्ग द्वारा इसे ५०० मि. ग्राम+४-६ घन्टे पर दे सकते हैं। बच्चों को—२५ मि. ग्राम। प्रति कि. शारीरिक वजन के अनुसार।

कैप.—१-२ कैप. प्रत्येक ४-६ घण्टे पर।

अन्य इन्जेक्शन गारामाइसीन—सी. ई. बुलाफोर्ड— समकक्ष-बायो गारासीन (बायोकेम), जेन्टीसिन, निकोलास लाइरामाइसीन (लाइका लैब्स) जेन्टास्पोरिन(पी.सी.आई) को ३ मि. ग्राम प्रति कि. ग्राम शारीरिक वजन के अनुसार प्रतिदिन की खुराक को ३ बराबर भागों में बांट कर मांस में दें।

—डा. हरेन्द्रकुमार प्रवीण आर. सी. एम. एस.
पचहरवा वाया मेजर गंज (सीतामढ़ी) बिहार

मूत्र रोगों की होमियो चिकित्सा —पृष्ठ ३५२ का शेषांश—

लक्षण है कि मूत्र करने के पहले और करते समय दर्द नहीं होता है, मूत्र समाप्त होते ही दर्द होता है। मूत्र को रखने पर सफेद रंग की बालू की तरह पदार्थ जमता है। पथरी और गुर्दे के दर्द में रोगी के रोग लक्षण गरम चीज खाने पर बढ़ जाते हैं पर गरम सेंक से आराम मिलता है।

ओसिमम कैनम ६,३०,२००— इसका निर्माण तुलसी से होता है। मूत्रपथ और गुर्दे की बीमारियों में इसका प्रयोग होता है। यूरिक एसिड की प्रवृत्ति होवे, मूत्र में लाल रंग की रेत की तरह का पदार्थ आवे, मूत्र में कस्तूरी की तरह की गन्ध आवे।

लाईकोपोडियम् ३०,२००,१०००—लाईकोपोडियम् पर २०० शक्ति देने से पथरी बनने की प्रवृत्ति रुक जाती है। मूत्र में लाल रंग की तली जमती है। मूत्र करने के पहले कमर में दर्द होता है पर मूत्र कर चुकने पर ठीक हो जाता है। मूत्र धीरे-२ आता है और जोर लगाना पड़ता है। कभी कभी रुक भी जाता है। यह एक दीर्घ क्रियाशील दवा है।

कल्केरिया कार्ब ३०,२००—यह पथरी बनने की प्रवृत्ति को रोकती है और दर्द के समय भी लाभप्रद है।

आर्टिका इयूरेन्स Q—लाईकोपोडियम् से लाभ न होने पर और रोगी के मूत्र में यूरिक एसिड मिलने पर इसका प्रयोग करना चाहिए।

वार्बेरिस वल्गेरिस Q—मूत्र पथरी और गुर्दे के दर्द में लाभप्रद है। १०-१० बूंद पानी में दो-तीन बार देवें।

क्षमा याचना—मेरे साले पं. लक्ष्मीनारायण जोशी की १५ अगस्त को, एवं ता. १५ नवम्बर को उनके पिता जी स्व. माधव प्रसाद जी जोशी की पुत्र शोक से दीपावली को रात १ बजे हार्टफेल होकर मृत्यु होगई। ता. २१ नवम्बर को मेरे पुत्र डा. काशीनाथ की पत्नि के बड़े भाई कंचनपुर(सीकर)निवासी वैद्य मालीराम जी मिश्र का स्वर्गवास होगया। वह राजकीय चिकित्सालय में वैद्य थे। उपरोक्त तीनों दुर्घटनाओं के कारण मैं पाठकों की उचित सेवा नहीं कर सका। पाठक कृपया क्षमा करेंगे।

—होमियो रत्न डा. बनारसीदास दीक्षित एच.एम.डी.एस.
दीक्षित मैडीकल स्टोर्स, रक्सौल (चम्पारण) बिहार

मूत्ररोग हर........ शास्त्रीय योग शतक

कवि. गिरिधारी लाल मिश्र ए. एन. बी. एस., आयु. बाच.

आयुर्वेद शास्त्र में मूत्ररोगनाशक असंख्य महार्घ्य योग रत्न यत्र-तत्र विकीर्ण हैं जिनका संकलन चिकित्सकों के लिए परमोपादेय है। इनसे चिकित्सक अपने चिकित्सा चातुर्य एवं प्रत्युत्पन्नमतित्व द्वारा योग कल्पना कर असाध्य रोगियों को रोगमुक्त करें। असंख्य योग रत्नों में से केवल १०० प्रयोगों का संकलन यहां प्रस्तुत है —

[१] ओजोमेहान्तक रस (भैष. रत्ना.)— प्रवाल भस्म २ तोले, स्वर्णभस्म १ तोले, मुक्ताभस्म १ तोले, लौहभस्म शतपुटी १ तोले। इन्हें एकत्र मिश्रित कर जल से घोटकर १-१ रत्ती की गोली बनावें। अनुपान–मधु। यह रस ओजोमेह (Albuminuria) में लाभप्रद है।

[२] कन्दर्प रस (भै. र.)—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, प्रवाल भस्म, स्वर्ण भस्म, स्वर्ण गैरिक, वैक्रान्त भस्म, रौप्य भस्म, शंख भस्म और मुक्ता भस्म इन ९ औषधियों को समभाग लें। पहले पारद+गन्धक की कज्जली करे फिर शेष भस्म आदि मिलाकर बड़ जटा अथवा बड़ की छाल के क्वाथ की ७ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। १-१ गोली को त्रिफला क्वाथ, शीतल मिर्च क्वाथ अर्जुनत्वक क्वाथ, व बब्बूल क्वाथ से दिन में ३ वार दें। इसके सेवन से औपसर्गिकमेह (सुजाक) व पूयमेह के कीटाणुओं का नाश होता है।

[३] कामधेनु रस (भै. र.)-शुद्ध गन्धक और आंवला चूर्ण दोनों को समभाग लेकर आंवला रस और सेमलमूसली के रस की ७-७ भावना देकर २-२ रत्ती की गोली बनालें।

मात्रा–अनुपान—१-२ गोली सुबह-शाम दूध व मधु से सेवन करें। उपयोग–सभी प्रकार के प्रमेह, विशेषतः शुक्रमेह में विशेष उपयोगी है। बल वीर्य वर्द्धक, कामोद्दीपक, ध्वज भंग नाशक उत्तम पौष्टिक रसायन है।

[४] चन्द्रकला रस (सि. यो. सं.)—शुद्ध पारा, ताम्र-भस्म, अभ्रक भस्म १-१ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, मोती पिष्टी २ तोले, कुटकी, गिलोयसत्व, पित्तपापड़ा, खस, छोटी पीपल, श्वेत चन्दन, अनन्तमूल, वंशलोचन—सबका कपड़छन चूर्ण १-१ तोले लेवें। प्रथम पारा गंधक की कज्जली कर भस्म आदि द्रव्यों का मिश्रण करें तथा नागरमोथा, मीठा अनार, दूब, केवड़ा, कमल, सहदेई, शतावर, पित्त पापड़ा इनके क्वाथ व जिनका स्वरस मिल सके उनका स्वरस बना प्रत्येक की १-१ भावना और फिर मुनक्का की ७ भावनाएं देकर अन्त में १ तोले चन्द्रकला (कपूर) मिलाकर चने के बराबर गोलियां बना छाया में सुखाकर शीशी में सुरक्षित रखलें। १-२ गोली सुबह-शाम अनार रस, उशीरासव व पानी से दें। मूत्रकृच्छ्र व मूत्राघात में जलन के साथ थोड़ा-थोड़ा पेशाब होना, मूत्रनली में दाह तथा अन्तर्दाह, मूत्र में रक्त आना आदि लक्षणों में अत्यन्त लाभदायक योग है। पित्त विकृति जन्य सभी विकारों, आन्तरिक एवं बाह्य दाह, रक्तचाप वृद्धि, भ्रम, मूर्च्छा, रक्त वमन, रक्तातिसार, रक्तप्रदर, रक्तपित्त में अनुपान भेद से परमोपयोगी है। पैत्तिक प्रमेह में—कालमेह, नीलमेह, हारिद्रमेह की सभी अवस्थाओं में यह अत्यन्त लाभदायक बहुशः परीक्षित योग रत्न है।

[५] चन्द्र कान्ति रस (भै. र.)—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म, रौप्यभस्म, शुद्ध हरिताल, कांस्य भस्म, लौह भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, स्वर्णभस्म—प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग, वंग भस्म ६ भाग लेकर प्रथम पारा+गन्धक की कज्जली कर अन्य भस्मों को मिलाकर आमला स्वरस लज्जालु स्वरस, तथा आम छाल बड़ जटा सेमल छाल के क्वाथ एवं कुलथी क्वाथ की ३-३ भावना देकर, पश्चात सुखा कर जितना सब द्रव्यों का वजन हो उतना जायफल, लौंग, नागरमोथा, दालचीनी, छोटी इलायची, जावित्री ये प्रत्येक द्रव्य समभाग का चूर्ण मिलाकर पुनः आमला स्वरस की १ भावना देकर १-१ रत्ती की गोलियां बनालें। १-१ गोली आमला स्वरस के अनुपान से सुबह शाम सेवन करें। यह रसायन समस्त प्रकार के प्रमेहों में लाभदायक है। मूत्राघात, मूत्राश्मरी, मूत्रातिसार और मधुमेह आदि रोगों में अत्यन्त लाभदायक है।

[६] चन्द्रप्रभावटी (सि. यो. सं.)—कपूर, वच, नागरमोथा, चिरायता, गिलोय, देवदारु, हल्दी, अतीस, दारुहल्दी, पिपरामूल, चित्रकमूल-छाल, धनियाँ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, चव्य, वायविडङ्ग, गजपीपल, छोटी पीपल, सोंठ, कालीमिरच, स्वर्ण माक्षिक भस्म, सज्जीखार, यवक्षार, सेंधानमक, सोंचर नमक, सांभर नमक, छोटी इलायची के बीज, कबाबचीनी, गोखरू और श्वेत चन्दन प्रत्येक ३-३ माशे, निशोथ दन्तीमूल, तेजपात, दालचीनी, बड़ी इलायची, वंशलोचन प्रत्येक १-१ तोले, लौह भस्म २ तोले मिश्री ४ तोला, शुद्ध शिलाजीत और शुद्ध गुग्गुल ८-८ तोले। गुग्गुल, शिलाजीत, भस्में तथा काष्ठौषधियों का कपड़छन चूर्ण मिलाकर गिलोय के स्वरस में ३ दिन मर्दन कर ३-३ रत्ती की गोलियां बनाकर रखें। १-१ गोली सुबह शाम धारोष्ण दूध, बिल्वपत्र गोखरू क्वाथ व दारु हल्दी क्वाथ, गुरूची क्वाथ व हल्दी स्वरस से रोगानुसार देवें। विस्तृत विवरण पृष्ठ १६५ पर देखें।

[७] चन्द्रकला वटी (सि०यो०सं०)—छोटी इलायची के बीज, कपूर, शुद्ध शिलाजीत, आंवला, जायफल, केशर रससिंदूर, वंगभस्म और अभ्रक भस्म सब समान भाग लें। प्रथम रससिंदूर को खरल में महीन पीस उसमें शिलाजीत और भस्में तथा अन्य द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण मिला गुरुची स्वरस और सेमलमूल में ३-३ दिन मर्दन कर ३-३ रत्ती की गोलियां बना, छाया में सुखाकर रखलें। १-२ गोली, गो दुग्ध व प्रमेह नाशक क्वाथ से सुबह-शाम दें। बीसों प्रकार के प्रमेहों में उपयोगी है। विशेषतः शुक्रमेह और स्वप्नदोष में अत्यन्त लाभदायक पौष्टिक बल वीर्य-वर्धक रसायन है।

[८] चन्दनादि वटी—श्वेत चन्दन का बुरादा, छोटी इलायची के बीज, कबाब चीनी, सफेद राल, गन्धाविरोजा सत्व, कत्था और आमला प्रत्येक ४-४ तोले, गेरू दो तोले और कपूर १ तोले लें, कपड़छन चूर्ण लेकर उसमें रसौत ४ तोला तथा चन्दन तैल १५ मि०लि० मिलाकर घोटकर ३-३ रत्ती की गोलियां बनालें। २-४ गोली दिन में ३-४ बार ठण्डे पानी, दूध की लस्सी, व डाभ से दें। मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग मूत्र साफ और खुलकर लाने के लिये किया जाता है। सुजाक की प्रारम्भिक अवस्था में मूत्रनली में सुरसुराहट और खुजलाहट होकर मूत्र मार्ग से भयङ्कर

यन्त्रणा के साथ मवाद आने लगता है। ऐसी स्थिति में इसका प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद है।

[९] तारकेश्वर रस (भै. र.)—रससिंदूर, लौह भस्म, वंग भस्म, अभ्रकभस्म सबको समान भाग लेकर प्रथम रस सिन्दूर को खरल में घोटकर अन्य भस्में मिलाकर खूब मर्दन कर मधु में घोट कर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। १-१ गोली सुबह शाम मधु से या गूलरफल चूर्ण+मधु से दें। बहुमूत्र में लाभदायक योग है।

[१०] तालकेश्वर रस (भै. र.)—शुद्ध हरताल, शु. पारद, शु. गन्धक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, वंग भस्म इन्हें समभाग लेकर मर्दन कर मधु की सहायता से २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। १-२ रत्ती सुबह शाम पक्वगूलर चूर्ण २ तोले के साथ मधु से। यह योग बहुमूत्र में अत्यन्त लाभदायक है। पौरुषग्रन्थि शोथ तथा तज्जन्य बहुमूत्र में विशेष उपयोगी है।

[११] त्रिविक्रम रस (भै. र.)—ताम्र भस्म २० तोले को बकरी के २० तोले दूध में मन्दाग्नि पर पकावें। जब सब दूध सूख जाय तब २० तोले पारा और २० तोले गन्धक की कज्जली बना, सबको मिला कर निर्गुण्डी पत्र स्वरस की भावना देकर गोला बना सुखाकर सम्पुट में बन्द कर बालुका यन्त्र में १ पहर तीव्राग्नि देकर पकावें। जब स्वांग शीतल हो जाय तो औषधि को निकाल पीस कर रख लेवें। १-२ रत्ती सुबह शाम मधु से दें ऊपर से बिजोरा नीम्बू मूल क्वाथ पिलावें या हरड़, बहेड़ा, पाषाण भेद, धमासा, धनिया, गोखरू, ककड़ी बीज मगज क्वाथ से दें। मूत्राश्मरी में अत्यन्त लाभदायक है। त्रिविक्रम रस लेने से यदि बेचैनी हो तो नीबू की शिकञ्जी बनाकर पिलावें तथा इस रस के सेवन करने पर १ घण्टे तक गर्म चाय या गर्म दूध नहीं लेना चाहिए।

[१२] पञ्चानन रस (भै र.)- पारद, गन्धक, लौह भस्म, अभ्रक, प्रत्येक १-१ तोले, वंगभस्म ८ तोले एकत्र कर मिलाकर मधु के साथ घोटकर २-२ रत्ती की गोलियां बनालें। १-२ गोली शीतल जल से प्रातः सायं सेवन करें। सम्पूर्ण प्रमेह, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी प्रभृति रोग इसके सेवन से नष्ट होते हैं।

[१३] पाषाण भिन्न रस (भै. र.)—शुद्ध पारद एक तोले, शुद्ध गन्धक दो तोले की कज्जली बनाकर शिलाजीत एक तोले मिलाकर श्वेत पुनर्नवा, वासा तथा श्वेत विष्णुकांता के रस से पृथक पृथक ३-३ दिन मर्दन करें। पश्चात् इसे एक पात्र में रख दूसरे पात्र के बाहर कपड़-मिट्टी कर पहले पात्र को दोलायन्त्र की तरह इसमें लटका दें और नीचे से आग दें। इस प्रकार शुष्क ताप द्वारा वह और भी शुष्क हो जायेगा। सुबह शाम २-२ रत्ती कुलथी के क्वाथ से सेवन करावें। यह अश्मरी नाशक योग है।

[१४] पाषाण भेदी रस (र. र. स.)—शुद्ध पारद १० तोले और शुद्ध गन्धक २० तोले की कज्जली बनाकर फिर श्वेत पुनर्नवा, रक्तपुनर्नवा, वासा और सफेद कोपल (गोकर्णी) के स्वरस से ३-३ दिन मर्दन कर गोला बना सुखा कर सराव सम्पुट में सम्पुटित करके भाण्डपुट (एक बड़ी हांडी के चारों तरफ छिद्र कर धान की भूसी भर उसके बीच सराव-सम्पुट कर अग्नि दे) देवें। स्वांग शीत होने पर निकाल ले। २-४ रत्ती प्रातः काल एक समय ही मधु से दे ऊपर से पपीता और कुलथी का यूष पिलावे, सायंकाल भी पपीता और कुलथी का यूष पिलावे। अश्मरी नाशक योग है। धैर्यपूर्वक १-२ मास सेवन करने से मूत्राशय की असाध्य पथरी भी टूट-टूट कर निकल जाती है।

[१५] पाषाण वज्र रस (भै.र.)—विशुद्ध पारद एक भाग, गन्धक दो भाग की कज्जली बनाकर श्वेत पुनर्नवा के रस से १ दिन मर्दन कर—भूधर यन्त्र में १२ घंटे पाक करे। स्वांग शीत होने पर खरल करके रखें। २-४ रत्ती सुबह शाम मधु से लेकर कुलथी का क्वाथ पीवे।

अश्मरी को भेदन करने एवं उसकी उत्पत्ति को रोकने के लिये इसका प्रयोग करते हैं। वृक्क शूल में भी उपयोगी है। इससे यकृत पित्त की रचना सुधरती है अतः वमन और आमाशय की उष्णता भी इससे शान्त होती है।

[१६] प्रमेह कुञ्जर केशरी (र. यो. स.)—सुवर्ण भस्म १ तोले, जसदभस्म २ तोले, लौह भस्म ३ तोले, अभ्रक भस्म ४ तोले तथा वंग भस्म, रससिंदूर और अमृता सत्व ५-५ तोले लें। सबको मिलाकर सफेद मूसली क्वाथ केले के स्तम्भ के रस, सेमल की छाल के क्वाथ और गोखरू क्वाथ, इनकी २-२ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियां बना कर रखले। १-२ गोली सुबह शाम मधु से देकर

ऊपर से आंवले और गोखरू का क्वाथ पिलावे। अतिजीर्ण प्रमेह रोगों में भी यह रसायन आशुफलप्रद है। अश्मरी में इसके सेवन के साथ बिजौरे की जड़ गर्म करके शीतल किये हुए जल में घिस कर पिलाये।

[१७] प्रमेहान्तक रस (र. यो. सा.)—वंग भस्म, नागभस्म शतपुटी, अभ्रक भस्म, लोह भस्म, कांतलोह भस्म, रससिंदूर, ताम्रभस्म, तीक्ष्ण लोहभस्म, शुद्ध हिंगुल, शुद्ध गन्धक, सोहागे का फूला और जसद भस्म इन १२ औषधियों को १-१ तोले प्रमाण में लेके खरल में महीन पीस कर हंसराज रस में ३ दिन खरल कर सुखावे। फिर आतशी शीशी में भरके बालुका यन्त्र में रख कर ६ घण्टे अग्नि देने से औषधि पक कर एक पिण्ड बन जायेगा। इसे स्वांगशीतल होने पर निकाल कर पीस लेवे पश्चात् उसमें कपूर, केशर, दालचीनी, नागकेशर, तेजपात, छोटी इलायची मिला के मर्दन कर कंडूरीपात (बिम्बी पत्र) के स्वरस में ३ दिन खरल कर २-२ रत्ती की गोलियां बना कर सुखा लेवे। १-२ गोली मधु अथवा मक्खन मिश्री के साथ सेवन करे। यह रसायन सब प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करता है। मधुमेह और इक्षुमेह पर भी यह सफलता पूर्वक प्रयुक्त होता है। काम शक्ति वर्धक, बलवीर्य-वर्धक कान्तिदायक दिव्य रसायन है।

[१८] प्रमेह सेतु (भै. र.)—रससिंदूर, अभ्रक भस्म, इन्हें एकत्र मिश्रित कर बड़ के दूध से दो प्रहर मर्दन कर मूषा में बन्द कर रखलें। २-२ रत्ती सुबह-शाम त्रिफला क्वाथ तथा मधु से दें।

[१९] पुनर्नवा, निशोथ, सोंठ, पीपल, मिर्च, वाय-विडङ्ग, देवदारु, चित्रक, पोहकर मूल, हल्दी, दारु हल्दी, दन्तीमूल, हर्र, बहेड़ा आंवला, चव्य, इन्द्र जौ, कुटकी, पीपलामूल और नागरमोथा १-१ तोले लेकर कूट छान चूर्ण कर रखलें तथा शुद्ध मण्डूर ४० तोले लेकर अठगुने गोमूत्र में पकाकर पुनर्नवा आदि के चूर्ण का प्रक्षेप देकर घोटकर ३-३ रत्ती की गोलियां बना सुरक्षित रखें। २-२ गोली सुबह शाम गोमूत्र व त्रिफला क्वाथ से दें। मूत्र विकारों, मूत्र विषमयता में उपयोगी योग है। वृक्कों की क्रियाशीलता को बढ़ा कर अपने मूत्रल गुण के कारण मूत्र रोग जन्य विकारों यथा शोथ रोग में नमक का त्याग कर इसका सेवन करने से शीघ्र लाभ होता है रक्त कणों की वृद्धि करता है।

[२०] बहुमूत्रान्तक रस (र. च.)—रस सिंदूर, लोहभस्म, वंग भस्म, अफीम सार, गूलर के बीज, बेलछल और पीली चमेली के फूल इन ७ औषधियों को समभाग मिला के गूलर के फूलों के रस में ३ दिन खरल करके आधी आधी रत्ती की गोलियां बना लेवें।

मात्रा-अनुपात—१-२ गोली सुबह शाम गूलर के फलों के रस या नारियल के जल से दें। यह बहुमूत्रांतक रस बहुमूत्र (उदकमेह) और उससे उत्पन्न तृषाधिक्य आदि सब उपद्रवों को दूर करता है। यह अहिफेन प्रधान योग है।

विशेष—अफीमयुक्त होने के कारण कोष्ठबद्धताकारक है अतः रोगी को मलावरोध न हो इसका ध्यान रखे। मलावरोध को दूर करने के लिये सनाय व छोटी हरड़ का चूर्ण व इनका क्वाथ व पंचसकार चूर्ण आदि से विरेचन करना चाहिये।

(२१) बहुमूत्रघ्न रस (सिद्ध भै. म.)—बीजबन्द, तालमखाना, मुलहठी सत्व, वंशलोचन शुद्ध बिरोजा, सालम मिश्री, शुक्ति भस्म, प्रवाल भस्म, बहेड़े की गिरी, हरड़ की गिरी, शुद्ध शिलाजीत, छोटी इलायची के दाने और वंगभस्म इन १३ औषधियों को समभाग लें। काष्ठौ-षधियों का चूर्ण कर सबको मधु से तीन घण्टे तक स्वरस करके १-२ रत्ती की गोलियां बना लेवें। ४-४ गोली दिन में तीन बार पानी से देना चाहिये। बहुमूत्र को दूर करता है। सुजाक या अन्य हेतु से मूत्र प्रसेक नलिका में प्रदाह हो जाने पर मूत्र बूंद बूंद बार बार आता रहता है, ऐसी स्थिति में इसका प्रयोग उत्तम लाभदायक है। जीर्ण रोगों में कुछ दिनों तक धैर्यपूर्वक सेवन करना चाहिये। मधुमेहजन्य बहुमूत्र व उदकमेह में यह विशेष उपकारी नहीं है उसके लिये तो यकृत् पर कार्यकारी तृषाशामक गुणयुक्त तथा वातसंस्थान क्षोभ की शामक औषधि के रूप में अफीमयुक्त बहुमूत्रान्तक रस ही हितावह है।

(२२) बृहत् वंगेश्वर रस (भै. र.)—वंग भस्म, चांदी भस्म, कपूर, अभ्रक भस्म १-१ तोले, कज्जली २ तोले, स्वर्ण भस्म और मोती भस्म तीन-तीन माशा ले; सबको भांगरे के रस में खरल कर १-१ रत्ती की गोलियां बना लें।

मात्रा–अनुपान—१-१ गोली सुबह शाम गाय या बकरी के दूध से सेवन करें।

उपयोग—नये पुराने सब प्रकार के प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, बहुमूत्र, मूत्रातिसार, टट्टी, पेशाब के रास्ते वीर्य जाना, स्वप्नदोष और वीर्य विकार तथा शुक्रक्षयजन्य मन्दाग्नि, ग्रहणी, रक्तपित्त आदि में परमोपयोगी तथा आयुर्वेद का सुप्रसिद्ध योग है। स्वप्नदोष में शुद्ध शिलाजीत के साथ देने से उत्तरोत्तर धातुएं पुष्ट हो जाती हैं।

(२३) बृहत्सोमनाथ रस (र. सा. सं.)—हिंगुलोत्थ पारद को पारिभद्र रस में (नीमपत्र स्वरस) ७ दिन मर्दन करें। गंधक को मूषाकानी के रस में ७ बार शुद्ध करें फिर दोनों को ४-४ तोले लेकर कज्जली करें। उसमें ८ तोले लौह भस्म मिलाकर १ दिन घी क्वार के रस में खरल करें, फिर अभ्रक भस्म, वंग भस्म, रजत भस्म, शुद्ध खर्पर (जसद भस्म), स्वर्ण माक्षिक भस्म और स्वर्ण भस्म दो-दो तोले मिलाकर १ दिन घी क्वार के रस में तथा १ दिन ब्राह्मी स्वरस में मर्दन कर १–१ रत्ती की गोलियां बनाकर रखे।

मात्रा–अनुपान—एक-दो गोली शहद, पक्का केला व आंवला के स्वरस से सुबह शाम देवें।

गुण–उपयोग—समस्त प्रकार के सोमरोग, वीर्यदोष, बीसों प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करता है। बहुमूत्र, मूत्रातिसार, मूत्रकृच्छ्र, मधुमेह, हस्तिमेह, इक्षुमेह और लालामेह आदि सब प्रमेहों को दूर करता है। सोमरोग की उत्पत्ति मूत्राशय प्रदाह होने पर होती है और यह प्रयोग मूत्र संस्थान के रोगों को नाश करने में प्रशस्त है। यह रस यकृत् और अग्न्याशय के लिये शक्तिवर्द्धक होने से इसका उपयोग मधुमेह और इक्षुमेह में शकर कम कराने में उत्तम है।

(२४) मधुमेह नाशिनी गुटिका (रसामृत)—त्रिवंग भस्म ४ तोले, गुड़मार पत्ती १२ तोले, छाया में सुखाई हुई नीम की पत्ती १२ तोले, शु० शिलाजीत २४ तोले, जामुन मींगी चूर्ण १२ तोले लेकर प्रथम चूर्ण करने योग्य द्रव्यों का चूर्ण कर गूलर पत्र स्वरस, गिलोय स्वरस और विजयसार के क्वाथ की १-१ भावना देकर मटर समान (३-३ रत्ती) गोलियां बनालें। इसमें यदि १ तोला स्वर्ण भस्म डाली जाय तो यह विशेष गुणकारी बनती है। २-३ गोली दिन में २-३ बार करेला स्वरस व गुरुची स्वरस, तथा आंवला स्वरस या बिल्व पत्र स्वरस तथा विजयसार क्वाथ से सेवनीय है। मधुमेह नाशक उत्तम द्रव्यों से निर्मित प्रस्तुत योग निश्चय ही मधुमेह रोग में आशुगुणकारी है। नवीन मधुमेह में कुछ दिनों तक पथ्यपूर्वक लेने पर शीघ्र लाभ होता है। इन्सुलीन की लम्बी चिकित्सा लेकर भी निराश हुए रोगी इस प्रयोग का सेवन कर रोगमुक्त हुए हैं।

[२५] मधुमेह दर्पहारी (औ. गु. ध. शा.)—अफीम, और शुद्ध शिलाजीत समप्रमाण में मिलाकर अदरख स्वरस की २१ भावना देकर, आधी-आधी रत्ती की गोलियां बनायें। १-१ गोली दिनमें १-२ बार धारोष्ण दूध, गुड़मार अर्क व जल से दें। यह योग इक्षुमेह और मधुमेह में मूत्र के साथ जाने वाली शर्करा को शीघ्र कम करता है। इसके प्रयोग से थोड़े ही दिनों में तृषा का ह्रास होने लगता है जिससे मूत्र का परिमाण कम हो जाता है। क्वचित किसी विलक्षण मानसिक आघात-चोरी डकैती, अग्नि प्रकोप, व्यापार में हानि, कर्ज, मानहानि आदि कारणों से हुए मधुमेह पर यह आशुगुणकारी है। आशुगणकारिता में यह निश्चय ही इन्सुलिन का प्रतिद्वन्दी है पर अफीम युक्त होने से इसका व्यसन होने की भीति है अतः अल्प मात्रा में ही प्रयोग करना चाहिए तथा कब्ज के रोगियों को तथा जिन के रुधिर में शर्करा की मात्रा अत्यधिक बढ़ गयी हो और मूत्र की मात्रा न्यून हो उन्हें नहीं देना चाहिए।

[२६] माहेश्वर वटी (भै. र)—विशेष विवरण पीछे श्री महेश्वर प्रसाद उमाशंकर के लेख में देखें।

[२७] मूत्रकृच्छ्रान्तक रस (र. सा. सं.)—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक और यवक्षार-प्रत्येक समान भाग लेकर, पहले पारद-गन्धक की कज्जली बनाकर फिर यवक्षार डालकर खरलकर सुरक्षित रखें। २-४ रत्ती दूध की लस्सी, डाभ पानी, व मिश्री मिश्रित जल से दें। सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्र और मूत्र विकारों को नष्ट कर मूत्र प्रवर्तन करता है। मूत्राघात, अश्मरी, वृक्कशूल, वस्तिशूल, तूनी-प्रतितूनी शर्करा–सिकता, आंत्र वृद्धि आदि किसी भी कारण से हुए मूत्रावरोध में इसे दूध की लस्सी व ठण्डे पानी से व फलों के रस से लेने पर मूत्र साफ होने लगता है।

[२८] मूत्रकृच्छ्रहर (भै. र.)—पारद भस्म १ रत्ती को विदारीकन्द, गोखरू, मुलहठी, नाग केशर के क्वाथ में मधु मिलाकर— इसके साथ देने से मूत्रकृच्छ्र नाशक है। विशेषत: पैत्तिक मूत्रकृच्छ्रनाशक है। एक सप्ताह में पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र का नाश करता है।

[२९] मेघनाद रस (भै. र.)—रससिंदूर, कान्तलोह-भस्म, अभ्रक भस्म, शिलाजीत, स्वर्ण माक्षिक भस्म, मनःशिला, त्रिकटु, त्रिफला, अङ्कोठ, जीरा, कार्पास बीज (बिनौले), हल्दी चूर्ण सबको समानभाग मर्दन कर चित्रक क्वाथ से ७० भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियां बना कर रख लें। १-१ गोली सुबह-शाम मधु से देने पर सभी प्रकार के प्रमेहों का नाश करता है।

[३०] मेहकुलान्तक (भै. र.)—वंग भस्म, अभ्रक, पारद, गन्धक चिरायता, पिप्पलीमूल, त्रिकटु, त्रिफला निशोत रसौत, वायविडङ्ग, मोथा, बिल्वफल मज्जा, गोखरु बीज, अनारदाना प्रत्येक १-१ तोले, शिलाजीत ८ तोले। पहले शुद्ध पारद+शुद्ध गन्धक की कज्जली बनाकर भस्मों को मिलाकर काष्ठौषधियों का महीन चूर्ण मिलाकर इन्द्रायण मूल के रस से मर्दन कर २-२ रत्ती की गोलियां बनावें। २-३ गोली सुबह-शाम बकरी का दूध, आमलकी स्वरस व जल से दें। इस योग से प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, हलीमक, कामला, पांडु मूत्राघात और अरुचि प्रभृति रोग नष्ट होते हैं।

[३१] मेह केशरी रस (भै. र.)—वंग भस्म, स्वर्ण भस्म, लौहभस्म, रससिंदूर, मुक्ता भस्म, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेशर, इन्हें समभाग में मिश्रित कर घीक्वार के रस की भावना देकर २-२ रत्ती की वटी बनावें। १-२ गोली सुबह-शाम दूध से सेवन करावें। यह प्रमेह रोगों में आशुगुणकारी सफल योग है। जिस प्रकार सिंह हाथी को मारता है उसी तरह यह योग शुक्रमेह को तीन दिन में नष्ट करता है।

[३२] मेह वज्र (भै. र.)—रससिन्दूर, कान्तलौह भस्म, शिलाजीत, स्वर्णमाक्षिक भस्म, मनःशिला त्रिकटु त्रिफला, बेल का गूदा, जीरा, कैथ, हल्दी चूर्ण इन्हें समभाग मिश्रित कर भृंगराज स्वरस की ३० भावना देकर ३-३ रत्ती की गोलियां बनालें। १-२ गोली बकायन बीज १ माशा, तण्डुलोदक—२ तोले, घी २ माशे. से देवें। इस रस के सेवन से सभी प्रकार के प्रमेह और मूत्रकृच्छ्र रोग नष्ट होते हैं।

[३३] मेहमुद्गर रस (भै. र.)—रसौत, विडनमक, देवदारु, बेलगिरी, गोखरु, अनार की छाल, चिरायता, पीपरामूल, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़ बहेड़ा, आमला और निसोत इन १५ औषधियों को १-१ तोले, लोहभस्म १५ तोले और शुद्ध गुग्गुल ४ तोले लेकर काष्ठौषधियों के चूर्ण में भस्म और गुग्गुल मिलाकर खूब घोटकर तथा आवश्यतानुसार (गोली बनने लायक) घी मिलाकर ३-३ रत्ती की गोलियां बनालें। १-१ गोली प्रात सायं बकरी दूध अथवा जल से सेवन करावें। यह रसायन २० प्रकार के प्रमेहरोग और पेशाब के साथ वीर्य जाना तथा स्वप्नदोष और वीर्य सम्बन्धी सभी विकार नष्ट होते हैं। मूत्राघात और मूत्रकृच्छ्र में भी यह योग फायदेमन्द है। कामला, पांडु, हलीमक, अरुचि, अर्श, कुष्ठ, धातुगत ज्वर, रक्तपित्त, ग्रहणी, आम दोष आदि रोग भी इसके सेवन से नष्ट होते हैं। प्रमेह रोग वालों को पांडु और अर्श विकार हो तब यह रसायन अच्छा लाभ पहुंचाता है।

[३४] मेहानल (भै. र.) रससिन्दूर तथा वंगभस्म १-१ रत्ती मधु से चटावें तो नवीन पुरातन प्रमेह नष्ट होते हैं। मधु से चाटकर ऊपर से गुञ्जामूल क्वाथ व दूध पिलाना चाहिए।

[३५] योगीश्वर रस (भै र.)—रससिन्दूर, अभ्रक भस्म, नाग भस्म प्रत्येक १ भाग, बकायन बीज ३ भाग, इन्हें मिश्रित कर २-२ रत्ती की मात्रा में, हल्दी चूर्ण ३ मासे तथा मधु से सेवन करने से सम्पूर्ण प्रमेह नष्ट होते हैं।

[३६] लौह शिलाजतु वटी—शुद्ध शिलाजीत ८ तोले, लौह भस्म २ तोले, अभ्रक भस्म १ तोले, वंगभस्म ६ माशे ले, तीनों भस्मों को खरल कर शिलाजीत मिलाकर घोट १-१ रत्ती की गोलियां बनालें। १-२ गोली दिन में दो बार सुबह शाम दूध से देनी चाहिए। इस वटी का धैर्य पूर्वक १-२ माह तक सेवन करने से प्रमेह—शुक्रस्राव स्वप्नदोष, पांडु रोग, अग्निमांद्य आदि विकार ठीक होते हैं। बचपन के कुटेवों से ग्रसित नवयुवकों के इन्द्रिय शैथिल्य और वीर्य दौर्बल्य विकार इस से दूर होते हैं।

[३७] वरुणाद्यलौह (भै. र.)—वरुणछाल और

आंवला ८-८ तोले, धाय के फूल ४ तोले, हर्र २ तोले, पृश्नपर्णी १ तोले, इनको चूर्ण कर लौह भस्म १ तोले और अभ्रक भस्म १ तोले मिलाकर खरल कर सुरक्षित रखें। १-२ माशा सुबह शाम अश्मरी में यवक्षार आधा तोला तथा कुलथी क्वाथ से, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र में गोखरू क्वाथ या पंचतृणमूल क्वाथ तथा सूजाक में दूध या दही की लस्सी या डाभ जल से दें। मूत्रल एवं अश्मरीभंजक प्रसिद्ध योग है जो पेशाब की नली में गड़बड़ी होजा ने अथवा पथरी या अन्य किसी कारण से पेशाब रुक जाने, उचित अनुपान से देने पर पथरी को टुकड़े टुकड़ेकर पेशाब साथ आसानी से निकाल देता। अश्मरी मूत्रकृच्छ्र और सूजाक आदि रोगों में पेशाब न होने के कारण असह्य वेदना होने पर इसके सेवन से शीघ्र लाभ होता है। इसके साथ हजरुलयहूद भस्म मिलाकर दी जाय तो अश्मरी में विशेष लाभदायक है।

[३८] वसन्तकुसुमाकर रस (सि. यो. सं.)—प्रवाल भस्म या पिष्टी चन्द्रोदय या रस सिंदूर, मोती पिष्टी, अभ्रक भस्म प्रत्येक ४-४ तोले, रौप्य (चांदी) भस्म, स्वर्ण भस्म २-२ तोले, लौह भस्म, नागभस्म, वंग भस्म प्रत्येक ३-३ तोले लेकर खरल में डालकर वांसा पत्र स्वरस, हल्दी स्वरस, गन्ने का रस, कमल के फूलों का रस, मालती के फूलों का रस, शतावरी स्वरस केले के कन्द का स्वरस और चन्दन क्वाथ की ७-७ भावना देकर अन्त में कस्तूरी दो तोले मिलाकर ३ घन्टे मर्दन कर १-१ रत्ती की गोलियां बना कर छाया में सुखालें। इसमें दो तोले अम्बर मिलाना विशेष गुणकारी है।

विशेष विवरण पृष्ठ १८१ पर के लेख में देखें।

[३९] वैक्रान्त वसन्तकुसुमाकर (आ० सं०)—वैक्रांत भस्म १ तोले, सुवर्ण भस्म, अभ्रक भस्म, मुक्तापिष्टी और प्रवाल पिष्टी दो दो तोले, वंग भस्म ३ तोले और रस सिन्दूर ४ तोले लेवें, सबको खरलाकर नीबू के रस, गोदुग्ध खस के क्वाथ, वासामूल क्वाथ और ईख के रस की क्रमशः ७-७ भावनाएं देकर १-१ रत्ती की गोलियां बनालेवें। १-२ गोली शहद या रोगानुसार अनुपान से देवें। यह योग मूत्रातिसार, प्रमेह, मूत्राघात, अश्मरी में परमोपयोगी हैं। जिस उदकमेह (बहुमूत्र) पीड़ित रोगी को अफीम का सेवन नहीं करा सकते, उसे बहुमूत्रान्तक रस या हेमनाथ रस नहीं दे सकते उसे वृक्क क्रिया नियमित होने पर यह दिया जाता है जिससे सेन्द्रिय विष को नष्ट कर रोग को दूरकर देता है और मूत्राशय प्रदाह तथा मूत्रातिसार को नष्ट कर देता है। यह योग तृषा, दाह, तालुशोष, श्वास, क्षय, कशता को दूर कर बल्य, वृष्य रसायन गुण की प्राप्ति कराता है।

[४०] वेदविद्या रस (भै. र.)—रससिन्दूर १ भाग, अभ्रक भस्म एक भाग, कान्त लौह भस्म एक भाग, सांखिक भस्म १ भाग, इन्हें दिन भर ब्राह्मी के रस से मर्दन कर यथाविधि बालुका यन्त्र में पाक करें। पश्चात् औषध को बाहर निकाल खरल में बारीक पीसलें और इसमें अभ्रक भस्म, शिलाजीत, स्वर्ण माक्षिक भस्म, मण्डूर वैक्रान्त भस्म तथा कसीस भस्म प्रत्येक १-१ भाग मिश्रित करें। तदन्तर मोथा, लाल चन्दन, सुपारी, नारियल की जड़, कैथ, हल्दी, प्रत्येक उपर्युक्त मिश्रित चूर्ण के समान मिला कर जम्बीरी के रस से दो प्रहर मर्दन कर गोली बनावें। ४ रत्ती, अनुपान—आंवले का रस, गिलोय का रस या शहद। यह सभी प्रकार के प्रमेह में गुणकारी हैं।

[४१] वंगेश्वर रस (भै. र.)—वंग भस्म, कान्तलौह भस्म, अभ्रक भस्म, नाग केशर चूर्ण प्रत्येक १-१ भाग लेकर खरल कर ग्वारपाठा स्वरस की ७ भावना देकर १-१ रत्ती की गोलियां बना लें। १-२ गोली सुबह शाम मधु से। यह रसायन सभी प्रकार के प्रमेह रोग में उपयोगी है। इसके सेवन से उदकमेह, मूत्रातिसार, मूत्रकृच्छ्र, मधुमेह, क्षय, कास कुष्ठ पांडु, हलीमक, शूल, श्वास, हिचकी, अग्निमान्द्य, अरुचि का नाश होता है। सर्दियों में शिलाजीत के साथ मिलाकर वीर्य वृद्धि हेतु इसका सेवन किया जाता है। धातु क्षीणता, स्वप्नदोष या बहुमूत्र में बहुप्रचलित सुप्रसिद्ध योग है।

[४२] वृक्कशूलान्तक वटी (सि० यो० सं०)—कालानमक, सज्जीखार, नौसादर, यवक्षार सोहागे का फूला; हींग, अकरकरा और पिपरमेंट, इन आठ औषधियों को समभाग लें। पिपरमेंट को छोड़कर शेष औषधियों के चूर्ण को घृतकुमारी के रस में खरल करें। फिर पीपरमेंट मिला के ५-१० मिनट खरल कर ४-४ रत्ती की गोलियां बना बोतल में सोडबाई कार्ब के भीतर डालते जायें, बोतल में सोडा लगने से गोलियां सूख जायेंगी। चौड़े मुंह की शीशी में सोडा पहले से डाल लें। यह गोलियां कुछ गीली सी

रहती है व वर्षा आदि की नमी से गीली सी हो जाती हैं। अतः मशीन से गोली बनाना हो तो विना भावना दिये भी गोली बनाई जा सकती हैं। वृक्क शूल में यह गोली यथा नाम तथा गुण है। वृक्क शूल की असह्य वेदना में यह तत्काल शूल का नाश कर अमृत के समान लाभ करती है। वृक्क में फंसी अश्मरी को तोड़-तोड़ कर एक सप्ताह में निकाल देती है। मूत्रल, स्वेदल और मूत्र मार्ग अवरोध हर है, यकृत्शूल, पौरुषग्रन्थि शोथ, लिंग शूल, वस्ति शूल और तज्जन्य वमन को भी दूर करती है। सामान्य औषधि होते हुए भी आश्चर्यजनक लाभ पहुँचाती है। अश्मरी के रोगियों को शल्य क्रिया कराने से पूर्व इसका प्रयोग अवश्य कर के देखना चाहिए। तम्बाखू के व्यसनी को तम्बाखू छोड़ देनी चाहिये या कम कर देनी चाहिये।

[४३] शिलाजित्वादि लौह (भै.र.)—शुद्ध शिलाजीत, मुलैठी, सोंठ, मिर्च, पीपल, स्वर्ण माक्षिक प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग, लौह भस्म सबके बराबर (६ भाग) लेकर प्रथम काष्ठौषधियों का चूर्ण कर शिलाजीत और भस्में मिला कर पानी के साथ मर्दन कर २-२ रत्ती की गोलियां बना सुखाकर सुरक्षित रखें। २-२ गोली सुबह शाम दूध के साथ या उचित अनुपान से दें। बहुमूत्र और प्रमेह रोग नाशक, बल, वर्ण, वीर्य वर्धक उत्तम रसायन है। राजयक्ष्मा, रक्तक्षय, रक्ताल्पता, जीर्ण ज्वर, पांडुरोग, रक्त पित्त नाशक है।

[४४] शिलाजित्वादिवटी (सि. यो. सं.)—त्रिबङ्ग ३ तोले, छाया में सुखाई हुई नीम की पत्ती तथा गुड़मार की पत्ती का चूर्ण १०-१० तो. और शिलाजीत १५ तो.। प्रथम शिलाजीत और त्रिवंग भस्म मिला, अन्य चूर्ण मिला ४-४ रत्ती की गोलियां बनावे। इस योग में आधा तोला स्वर्ण भस्म मिला, गोलियां बनाने से विशेष गुणकारी बनती है। ४-४ घण्टे से ३-३ गोलियां पानी या करेले के रस से देवें। मधुमेह, इक्षुमेह, बहुमूत्र में इस योग से उत्तम लाभ होता है। मधुमेह में करेले के रस से देने पर यह शीघ्र ही शर्करा पर नियन्त्रण करता है। मधुमेह एवं बहुमूत्र में बहुप्रचलित सुप्रसिद्ध योग है।

[४५] श्वेत पर्पटी (सि.यो.)—कलमीशोरा ४० तोले, फिटकरी ५ तोला और नौसादर २॥ तोले लें सबका मोटा चूर्ण कर मिट्टी की हांडी में या कड़ाही में अग्नि पर पकावें। जब सब एक हो द्रव (पतला) हो जाय तब जमीन पर गोबर बिछा, ऊपर केले का बड़ा पत्ता रख कर उस पर डाल दें और तुरन्त ऊपर से केले का दूसरा पत्ता रख दबा दे। ठण्डा होने पर खरल में महीन चूर्ण कर के शीशी में भर कर रखें। ५-१० रत्ती सुबह शाम ठण्डे पानी या कच्चे नारियल का पानी (डाभ) अथवा दूध या दही की लस्सी के अनुपान से दें। उत्तम मूत्रल, स्वेदल, वातानुलोमक योग है। मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, मूत्र की उत्पत्ति कम होना, अम्लपित्त, उदरशूल और अश्मरी में इसका प्रयोग अत्यन्त लाभ दायक आशुफलप्रद है। मूत्र के साथ लवण, क्षार, अम्लादि पेशाब में घुलकर शरीर से मूत्र द्वारा बाहर निकलते रहते हैं। वृक्कों की क्रियाशीलता में कमी आने पर ये दूषित पदार्थ मूत्र में शरीर के बाहर न निकल कर मूत्र विषमयता (युरीमिया) उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थिति में श्वेतपर्पटी के प्रयोग से मूत्र की मात्रा वृद्धि होकर मूत्र के साथ शरीर के विजातीय पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। अतः मूत्र विकारों को दूर करने और पेशाब साफ के लिये यह सुप्रसिद्ध योग है।

[४६] श्रेष्टादि वटी (सि. यो. सं.)—त्रिफला ८ तोले, शुद्ध गन्धक ४ तोले, हल्दी, गुडमार, कपूर, वंग भस्म निम्बत्वक, गुग्गुल और आंवला इन ७ औषधियों को २-२ तोले लेवें। इन सबको कूट कूट कर कपड़छान कर गुड़मार, पान और गूलर की छाल के क्वाथ की ७-७ भावना देकर ४-४ रत्ती की गोलियां बनालें। पित्तज और कफज प्रमेह, मधुमेह और तज्जन्य प्रमेह आदि उपद्रवों को गुड़मार क्वाथ से देने पर लाभप्रद है। प्रमेह पिटिका में रामबाण परीक्षित योग है।

[४७] सर्वतोभद्र वटी (र. यो. सा.)—स्वर्ण भस्म, रौप्यभस्म, अभ्रक भस्म, लौहभस्म, शुद्ध शिलाजीत, गन्धक और स्वर्णमाक्षिक भस्म इन ७ औषधियों को समभाग मिला ३ दिन वरुण छाल क्वाथ में घोट कर १-१ रत्ती की गोलियां बनावें। १-१ गोली सुबह शाम वरुणछाल के क्वाथ से देवें। यह सम्पूर्ण वृक्क रोगों एवं वस्ति के रोगों को नष्ट करती है। वृक्कों की क्रियाशीलता को बढ़ाकर मूत्रविषमयता को दूर करती है तथा वृक्क की अश्मरी टुकड़े-टुकड़े होकर निकल जाती है।

[४८] सर्वेश्वर रस (भै.र.)—स्वर्ण भस्म, मुक्ताभस्म,

शुद्ध शिलाजीत, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, मुलहठी, पिप्पली, कालीमिर्च, सोंठ, सबको समभाग खरल में काजल के समान महीन कर भृङ्गराज स्वरस और भांग स्वरस से पृथक पृथक मर्दन कर २-२ रत्ती की बटी बनावें। इसके सेवन से वात पित्तज एवं कफज प्रमेह और दारुण मधुमेह रोग नष्ट होते हैं।

[४६] सोमनाथ रस (भै. र.)—लौहभस्म १ तोला, शु० पारा, शु० गन्धक, छोटी इलायची, तेजपात, हल्दी, दारुहल्दी, जामुन की छाल, खस, गोखरू, वायविडंग, जीरा, पाठा, आंवला, अनार की छाल, रसौत, सुहागे की खील, सफेद चन्दन, शुद्ध गुग्गुल, लोध, शालवृक्ष की छाल, अर्जुन छाल ६-६ माशा प्रथम पारद-गन्धक की कज्जली कर उसमें लौहभस्म और अन्य औषधियों का चूर्ण मिला, बकरी के दूध में खरल करके ४-४ रत्ती की गोलियां बनावें। १-२ गोली सुबह शाम बकरी दूध दार्व्यादि क्वाथ मधु से दें। यह स्त्रियों के सोमरोग की प्रसिद्ध औषधि है।

[५०] सारिवादि लौह (भै. र.)—काली अनन्तमूल, नील, रास्ना, गिलोय, छोटी इलायची के दाने, चित्रकमूल, मानकंद, सूरण, शंखिनी, निसोत, शुद्ध भिलावा और हरड़ इन १२ औषधियों को समभाग लेकर, कपड़छान चूर्ण कर उसमें सबके समान भाग लौहभस्म मिलाकर खरल में घोट कर शीशी में भर कर रखें। २-४ रत्ती सुबह शाम सारिवाद्यासव भृङ्गराजासव के साथ देवे।

सब प्रकार की प्रमेह पिड़िका में लाभकारी योग है। अर्श वातरक्त तथा सम्पूर्ण त्वचा रोगों को दूर करता है। इसका सेवन पथ्य पालन से १-२ मास तक करना चाहिये।

[५१] हरिशङ्कर रस (र० र० स०)—अभ्रक भस्म, तथा रससिन्दूर २-२ तोले और नीले थोथे का फूल १ तो. को खरल कर आंवले के स्वरस और हल्दी स्वरस में क्रमशः ७-७ दिन ७-७ भावना देकर १-१ रत्ती की गोलियां बनावें। १ गोली से प्रारम्भ कर ३ गोली तक बढ़ावें, अनुपान में पानी, त्रिफला और शहद, अडूसे का रस, मिश्री और नागरपान अथवा तिल का तेल दें।

पूयमेह में यह योग विशेष लाभदायक है।

विशेष—इसमें नीलाथोथा वामक गुण युक्त है जिसका आमले के स्वरस की भावना देने से शमन होता है। गोली देकर ऊपर से ४ तोले तैल (तिल का तैल) या आंवला-स्वरस व फाण्ट या नीम्बू का रस पिलाने से वमन घबराहट आदि नहीं होती। इस औषधि के सेवन के पश्चात् ३ घण्टे तक भोजन, दूध, चाय कुछ न लें, ठण्डा पानी ले सकते हैं।

[५२] हेमनाथ रस (भै० र०)—शु० पारद, शु० गन्धक, सुवर्ण भस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म प्रत्येक १-१ तोले, तथा लौह भस्म, कपूर, प्रवाल भस्म और वंग भस्म प्रत्येक ६-६ माशे लें। प्रथम पारद-गन्धक की कज्जली करें। फिर शेष औषधियों को मिलाकर अफीम का पानी, केले के खम्भे का रस और गूलर का रस से पृथक-पृथक ७-७ भावनायें देकर १-१ रत्ती की वटी बना लें। १-२ रत्ती सुबह शाम दूध, मिश्री या धात्रीघृत के साथ।

यह रसायन दारुण बहुमूत्र, सब प्रकार के प्रमेह, मधुमेह सोमरोग, स्वप्नदोष, कास, श्वास, क्षय, उरःक्षत आदि दूर करता है।

[५३] हिमांशु रस (भै० र०)—रससिंदूर २ तोले को खरल में घोट कर अगस्तिये के फूल के रस तथा दूर्वा स्वरस की ७-७ भावना देकर टंकण १ तोले कत्था २ तो., कपूर २ तो० डाल कर चन्दनोदक से अच्छी तरह घोटकर ३-३ रत्ती की वटी बनालें। १ २ वटी सुबह शाम पानी अथवा चन्दनोदक व चन्दनादि फाण्ट से दें।

प्रमेह नाशक योग है। मूत्र की जलन तथा रुक रुक कर मूत्र त्याग होने में उपयोगी है। सोम रोग तथा सम्पूर्ण पिडिकाओं का नाश करता हैं, मुखशोष को हटाता है।

[५४] हजरुलयहूद भस्म—हजरुलयहूद एक लम्बा और ऊपर से रेखा वाला, बेर के सदृश एक-सवा इंच लम्बा, गोलाकार खाकी रङ्ग का पत्थर जैसा कठिन होताहै, बेर की गुठली जैसा होने से 'पत्थर बेर' भी कहते हैं, यूनानी दवा विक्रेताओं के यहां मिलता है।

शोधन विधि—हजरुल यहूद के पत्थर को आग में तपा तपा कर ७ बार कुलथी क्वाथ में बुझाने से शुद्ध हो जाता है।

भस्म विधि—हजरुलयहूद पत्थर को कूट कर ३ दिन मूली स्वरस में मर्दन कर टिकिया बना शराव सम्पुट में दें स्वांग शीत होने पर अर्क पीसकर शीशी में भर लें।

पिष्ट विधि—हजरुलयहूद को गर्म पानी से धोकर सुखाकर, पीस कर अर्क गुलाब व चन्दनादि अर्क से ७दिन तक मर्दन कर छाया में सुखाकर शीशी में भरलें। यह पिष्ट मूत्रल, पित्तशामक अश्मरीशूलहर, अश्मरीभेदक है इसको पेडू पर लेप भी किया जाता है।

गुण और उपयोग—हजरुलयहूद भस्म यूनानी वैद्यक में मूत्रल और अश्मरी को तोड़ कर मूत्र मार्ग से से निकाल ने के लिए सुप्रसिद्ध है। यदि पथरी अधिक बड़ी हो तो कुछ दिन तक इसका लगातार प्रयोग करने से बिना आपरेशन के पथरी मूत्र के साथ निकल जाती है। मूत्राव रोध, मूत्रकृच्छ्र और शर्करा आदि में पेशाब साफ होने में यह अप्रतिम शतशोनुभूत सुप्रसिद्ध बहुप्रचलित है।

[५५] गोक्षुरादि गुग्गुल (शा० सं०)—११२ तोले गोखरू के पंचाङ्ग को कूटकर छ गुने पानी में पकावें, आधा पानी शेष रहने पर उसमें २८ तोले शु. गुग्गुल मिला कर गुड़पाक के समान गाढ़ा होने पर सोंठ, मिर्च, पीपल, हरड़ बहेड़ा आंवला, नागरमोथा का चूर्ण ४-४ तोले डाल कर घी-एरण्डतैल के साथ गुण कर ३-३ रत्ती की वटी बनाकर रखलें।

मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी प्रमेह नाशक सुप्रसिद्ध मूत्रल योग हैं। आयुर्वेद का बहुप्रचलित सुप्रसिद्ध योग है। पृष्ठ १६० भी देखें।

मूत्र रोग हर चूर्ण

[५६] अश्मरीभेदन चूर्ण (भै. र.)—गोखरू मूल, तालमखाना की मूल, एरण्डमूल, छोटी कटेरी समभाग का चूर्ण बनाले। दूध व दही की लस्सी से २-२ माशा की मात्रा में देने से अश्मरी का भेदन होता है।

[५७] एलादि चूर्ण (च. द.)—छोटी इलायची के दाने, पाषाणभेद, शु० शिलाजीत और पीपल चारों को समभाग मिलाकर चूर्ण करें। १-१ माशा कुलथी के यूष व जल से देने पर वृक्कस्थान और मूत्राशय में रही हुई अश्मरी का भेदन कर निकाल देता है।

[५८] उष्णवातघ्न चूर्ण—(सि॰यो॰सं॰)—फिटकरी का फूला, कल.मीशोरा, छोटी इलायची, संगजराहत, सफेद चन्दन, रेवन्द चीनी, शीतलचीनी और सफेद जीरा एक एक तोले गन्ध बिरोजे का सत्व २ तोले, सफेद राल ३ माशे और मिश्री सबके बराबर मिलाकर चूर्ण बनालें। आधे से १ तोले प्रातःकाल दूध की लस्सी के साथ दें। सूजाक (पूयमेह) में लाभदायक है। सूजाक की मूल व्याधि रक्त में लीन विष, प्रसेक नलिका में क्षत और मूत्र विकारों को नष्ट करता है।

[५९] कर्कटी बीज चूर्ण (वृ नि. र.)—ककड़ी के बीज सैन्धानमक, त्रिफला समभाग लेकर महीन चूर्ण बना कर रखें। ३ माशा सुबह और शाम पानी से दें। यह चूर्ण पित्तशामक तथा मूत्र प्रवर्तक है। पित्त की अधिकता के कारण मूत्र नली में उचित परिणाम में मूत्र नहीं आता, बूंद बूंद पेशाब आता है। इस चूर्ण का प्रयोग करना लाभदायक है, पित्त शान्त होकर मूत्रविरेचन होता है।

[६०] गोक्षुरादि चूर्ण (यो० त०)—गोखरू, तालमखाना, शतावर, कोंच के बीज, नागबला और अतिबला समभाग का कूटकर चूर्ण बनालें। १ २ माशा सुबह शाम अथवा रात को सोते समय दूध से दें। शुक्रमेह में उपयोगी है स्वप्नदोष धातु दौर्बल्य दूर कर स्तम्भन शक्ति बढ़ाता है। बल, वीर्य वर्धक कामोत्तेजक योग है। साधारण सा होते हुए भी अत्यन्त लाभदायक है।

[६१] चन्दनादि चूर्ण—सफेद चन्दन, खस, कमल-केशर, नागकेशर, बेलगिरी, नागरमोथा, मिश्री, नेत्रबाला, पाठा, कुडा की छाल, इन्द्रजौ, सोंठ, अतीस, धाय के फूल, रसौत, आम और जामुन की गुठली की मींगी, मोचरस, नीलोफर, मजीठ, छोटी इलायची और अनारदाना समान भाग लेकर चूर्ण बनाले। — (भै. र)

मात्रा—३-६ माशे शहद, अशोक छाल क्वाथ या ठंडे पानी से दें। पित्तज रोग नष्ट होते हैं। मूत्र में रक्त आना रक्त और श्वेतप्रदर, हाथ-पांव व सर्वाङ्ग में जलन, दाह, प्यास, कण्ठ शोष आदि में लाभदायक है। यह चूर्ण शीत वीर्य होने के कारण पैत्तिक रोगों में विशेष लाभदायक है।

[६२] प्रमेहान्तक चूर्ण—तालमखाना ५ तो., गिलोय सत्व और जायफल २॥-२॥ तो० तथा मिश्री १० तो०, चूर्ण बनावे। ३ माशे सुबह शाम गोदुग्ध से सेवन करावे। यह चूर्ण कफज, पित्तज प्रमेह नाशक है वृक्कों को शक्ति देता है। वृक्क, मूत्राशय, और मूत्र नलिका आदि अवयवों की श्लैष्मिक कला का प्रदाह दूर होकर मूत्र में वीर्य श्लेष्मा, पित्त और क्षार जाना बन्द हो जाता है। वीर्य को शीतल और गाढा बनाता है मूत्राशय की उष्णता को शांत

करता है। स्वप्नदोष भी दूर होता है। प्रमेह रोगी के लिए घूमना, व्यायाम और लघु भोजन पथ्य है।

[६३] मधुमेहदमन चूर्ण—गुड़मार ८ तोले, विनोले की मींगी ४ तोले, जामुन की गुठलियों की मींगी ४ तो०, सूखे विल्वपत्र ६ तोले तथा शुष्क नीम्ब पत्र २ तो०, चूर्ण वनाले। २-३ माशा पानी से दिन में २ बार सेवन करावे। अग्न्याशय और यकृत् के विकारों को दूर कर मधुमेह का शमन करता है। मूत्रगत तथा रक्तगत शर्करा पर अतिशीघ्र नियन्त्रण हो जाता है। यदि वसन्तकुसुमाकर रस के सहपानरूप से इसका प्रयोग करें तो मधुमेह में निश्चित लाभदायक है।

[६४] मूत्रदाहान्तक चूर्ण—प्रवालपिष्टी २० तो०, अमृतासत्व ४० तोले, सगेयहूद पिष्टी ६० तोले, सोनभिख ८० तो शीतलचीनी ८० तो लेकर चूर्ण वना कर रखें। मात्रा—२-४ रत्ती दिन में ३ बार चन्दनादि अर्क से देवें। मूत्रदाह किसी भी कारण से हो, यह योग अत्यन्त लाभ दायक है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्यताप में अधिक भ्रमण करने करने और मिर्च आदि के अधिक प्रयोग से हुई पेशाव की जलन को तत्काल दूर करता है। मूत्रदाह पूयमेह की तीव्रावस्था के कारण हो तो भी यह योग अत्यन्त लाभदायक है।

[६५] मूत्रविरेचन चूर्ण—शीतलचीनी, रेवन्दचीनी, छोटी इलायची और जीरा १-१ तो., कलमीशोरा २ तो., मिश्री ४ तो० सवको कूटछान कर चूर्ण वनाले। २-३ माशा दूध की लस्सी से दें। यह चूर्ण मूत्रोत्पत्ति को खूब वढ़ाता है। सूजाक में पीप दूर करने और मूत्रमार्ग साफ करने के लिये अति उत्तम है। सूजाक की तीव्रावस्था तीन दिन में शांत होती है। भोजन में केवल दूध भात खाने से इन्द्रिय जुलाव अच्छा हो जाता है।

[६६] वृहच्छतावर्यादि चूर्ण—शतावर, गोखरू, कौच के वीज की गिरी, गंगेरन की छाल, खरैंटी की छाल तालमखाना, सफेद मूसली, उंटङ्गन के बीज, ऊंटकटेरे के मूल की छाल, वीजवंद, समुद्रशोष, कमरकस, सूखा सिंघाडा गिलोयसत्व, सेमल के मूल छाल और आंवले, इन १६ औषधियों को समभाग मिलाके कूटकर कपछान चूर्ण करे ४ से ६ मासे समान मिश्री मिलाकर दिन में दो वार देवें। इस चूर्ण का २१ दिन तक सेवन करने से प्रमेह, धातुक्षीणता, स्वप्नदोष और अधिक शुक्रपात से आई हुई निर्वलता दूर होकर वीर्य गाढ़ा वन जाता है।

[६७] यवक्षारादि चूर्ण (भा० भै० र०)—यवक्षार और मिश्री समान भाग लेकर चूर्ण वनाले। १ से ३ माशा सुवह शाम जल, डाभ जल तथा छाछ से सेवन करावें। इसका प्रभाव वृक्क पर अधिक पड़ता है। मूत्रकृच्छ, मूत्राघात और मूत्रदाह में गुणकारी पित्तशामक और मूत्रल योग है।

[६८] सफूफ इन्द्री जल्साव—गन्धक से शुद्ध किया हुआ कलमी शोरा १ माशे, जवाखार ४ रत्ती दोनों को मिलाकर चूर्ण वनाले। ६ रत्ती चूर्ण को गोखरू के फांट और शर्वत वजूरी के साथ देने से पूयमेह (सूजाक) में लाभदायक है, व्रण को धोकर शुद्ध करता है। (कलमीशोरा शोधन— कलमीशोरा १ पाव को पिघला कर उसमें गन्धक २ तोले के चूर्ण को चुटकी-चुटकी डालते जाय जव गन्धक विलकुल मिल जाय तव दूसरी चुटकी दें)।

[६९] सफूफ मासिकुल वौल—खीरा और कद्दू के वीज की गिरी ३-३ तोले, खुब्बाजी के वीज, खत्मी के वीज १-१ तोले, मीठे वादाम की गिरी ४ माशे, समन आलु स्याह (एक गोंद विशेष) और कतीरा ८ ८ माशा तथा मुलेठी का सत ८ माशा चूर्ण वनालें। १-१ माशे चूर्ण तरवूज का रस ८ तोला के साथ सेवन करावें। कष्ट के साथ वूंद-२ पेशाव होना और मूत्रदाह में गुणकारक है।

मूत्र रोग हर क्वाथ कषाय

[७०] अभया क्वाथ—हरड़, आंवला, देवदारु, धनियां सोंठ, काली मुनक्का, सारिवा, वेलपत्र, कड़वीनाई और पोदीना के पान, इन १० औषधियों को समभाग मिलाकर जौकुट चूर्ण करे। १-१ तोले का क्वाथ कर दिन में तीन वार देते रहें। भैष. रत्ना का मूल योग है जिसमें आवश्यकतानुसार वेलपत्र, कड़वीनाई और पोदीना ये ३ औषधियां वढ़ाली गई हैं। यह अग्न्याशय (Pancreas) की निर्वलता और विकृति को दूर करता है तथा मधुमेह और इक्षुमेह में मूत्र में जाने वाली शक्कर को कुछ ही दिनों में नियन्त्रित करता है। शारीरिक निर्वलता वढ़ जाने और ५-७%शर्करा हो जाने पर वसंत कुसुमाकररस, प्रमेह गजकेशरी या अन्य औषधियों के साथ अनुपान रूप से व्यवहृत किया जाता है।

[७१] अश्मरीहर कषाय—पाषाणभेद, सागौन के फल,

पपीते की जड़, शतावर, गोखरू, वरुण छाल, कुश की मूल कांस की जड़, चावलधान के मूल, पुनर्नवा, गिलोय, अपामार्ग खीरा ककड़ी के बीज इन १३ औषधियों को १-१ तोले तथा जटामासी और खुरासानी अजवायन २-२ तोले लेकर सबको मिलाकर जौकुट चूर्ण कर लें। १ तो. चूर्ण को १६ तो पानी में पकावें तथा चतुर्थांश क्वाथ छानकर उसमें ५ रत्ती शिलाजीत या १० रत्ती श्वेतपर्पटी व यवक्षार मिलाकर आवश्यकतानुसार २-२ घण्टे पर या दिन दिन में ३-४ बार देवे। इस क्वाथ के साथ "हजरुल यहूद भस्म" देना विशेष लाभदायक है। यह कषाय अश्मरी (पथरी), सिकता (रेती) तथा उससे होने वाले वृक्कशूल, उदरशूल से व्यवहृत होता है। यह कषाय सौम्य गुणयुक्त है पर इसमें श्वेतपर्पटी और यवक्षार का मिश्रण हो जाने से तीक्ष्ण हो जाता है तथा अश्मरी को गलाकर मूत्रमार्ग से बाहर निकाल देता है, पेशाब खुलकर लाता है। यदि पेट में गैस भर गयी हो, दर्द और भारीपन हो तो इस कषाय से शीघ्र लाभ होता है।

[७२] कुलत्थ क्वाथ (वृ० नि० र०)—कुलथी का क्वाथ १०० मि० लि० में सैंधव लवण मिलाकर पिलाना अश्मरीनाशक है।

कुलथी यूष—कुलथी २५० ग्राम को जौकुट कर दो लिटर पानी में डालकर चतुर्थांश शेष रखे तो यूष तैयार हो जायेगा। इसमें थोड़ा सा घी और सैंधव लवण मिलाकर चाय की तरह गर्म-२ पीना चाहिये। तीव्र वृक्कशूल में 'वृक्कशूलांतक वटी' के साथ पीने से वृक्कशूल का तत्काल शमन होता है। कुलथी पथरीली जमीन में होती है एतदर्थं अश्मरी नाशक है।

[७३] गोक्षुरादि क्वाथ (भै० र०)—गोखरू २ तो० का क्वाथ विधि से क्वाथ बनाकर उसमें यवक्षार और मिश्री १-१ माशा मिलाकर पिलावें। प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात में अनुपान रूप में इसका व्यवहार होता है। यह वृक्क में अधिक रक्त लाकर गुच्छिकाओं से निकलने वाले द्रव्य की मात्रा बढ़ाकर मूत्र की वृद्धि करता है एतदर्थ जब कभी मूत्र सरलतापूर्वक नहीं उतरता तो इसके प्रयोग से मूत्र अधिक निकलने लगता है। बहुमूत्र रोग में इसे न दें तथा अन्य आकस्मिक कारण से मूत्रकृच्छ्र हो तो वहां भी इसका प्रयोग न करें।

[७४] चन्दनादि क्वाथ—श्वेत एवं लाल चन्दन, मुलहठी, आंवला, गिलोय, खस, द्राक्षा, समभाग का क्वाथ विधि से क्वाथ बनाकर २-३ रत्ती फिटकरी का प्रक्षेप डाल कर पिलाने से ओजोमेह को नष्ट करता है। उपद्रव युक्त प्रमेहों को विशेषतः रक्तमेह, हारिद्रमेह तथा मञ्जिष्ठादिमेह को जड़ से नष्ट करता है।

[७५] तृणपंचमूल क्वाथ—कुश, कांस, सरकण्डा क्वाथ (डाभ) और गन्ना इन पांचों तृणों की जड़ से सिद्ध क्वाथ वस्ति शोधन तथा 'पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र में सेवन किया जाता है।

[७६] दूर्वादि क्वाथ—दूब, मूर्वामूल की जड़, कांस जड़, दन्तीमूल, मञ्जिष्ठा, सोमल की जड़ समान भाग लेकर क्वाथ विधि से क्वाथ बनावें। इसके सेवन से रक्तमेह और शुक्रमेह रोग का नाश होता है।

[७७] पाषाणभेदादि क्वाथ (वं० से०)—पाषाणभेद, वरुणत्वक्, गोखरू, ब्राह्मी समभाग के २।। तो० क्वाथ में गुड़ डालकर उसे शिलाजीत २-४ रत्ती की गोली के साथ पिलावें तो मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात और अश्मरी का निष्कासन होता है।

[७८] पुनर्नवाष्टक क्वाथ (चक्रदत्त)—पुनर्नवा, हरड़, नीम की छाल, दारुहल्दी, कुटकी, परवल का पंचाङ्ग, गिलोय, सोंठ-प्रत्येक समान भाग लेकर जौकुट करलें तथा क्वाथ विधि से क्वाथ बनावें। यह क्वाथ सर्वाङ्ग शोथ उदर-रोग यकृत्प्लीहा वृद्धि तथा आमवात में उपयोगी है। यह अपने रेचन और मूत्रल गुण के कारण शरीर का शोधन कर देता है। वृक्क द्रोणियों (Glomeruli) के भीतर जो उपांग आलसी हो गये हों उनको प्रेरणा देकर मूत्रोत्पत्ति में सहायता देता है। इस हेतु से इस क्वाथ के सेवन से सर्वाङ्ग शोथ और उदर रोग का निवारण होता है तथा लक्षण रूप या उपद्रव रूप से उत्पन्न कास, शूल, पांडु भी नष्ट होते हैं।

[७९] मूत्रल कषाय – पुनर्नवामूल, ईख का मूल, कांस का मूल, छोटे गोखरू, सौंफ धनिया सागौन के फल, मकोय, कासनी के बीज ककड़ी (खीरा) के बीज का मगज, गिलोय, पाषाणभेद, काकनुज और कमल के फूल इन १५ औषधियों को १-१ तो० मिलाकर जौकुट करलें। क्वाथ निर्माण विधि

से क्वाथ बनावें। वृक्कविकार जनित शोथ पर विशेष उपयोगी है। मूत्र में एल्ब्युमिन जाना, मुख पर शोथ, शोथ जीर्ण होने पर रक्त वाहिनियों का विकृत होना और हृदय निर्बल होना, पेशाब कम उतरना आदि पर विशेष लाभदायक है। मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रकुण्डलिका, तूनी, प्रतितूनी, मूत्रोदावर्त आदि में रुके हुए मूत्र को उतारता है।

[८०] वरुणादि कषाय—वरुण की छाल, सोंठ, गोखरू पाषाणभेद प्रत्येक १-१ तोला लेकर जोकुट करलें। १ तो. चूर्ण को १६ तो० पानी में क्वाथ बनाकर ४ तो० शेष रहने पर इसमें क्षार पर्पटी या, यवक्षार ५ रत्ती मिलाकर पिलाने से अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र वृक्क शूल में लाभ होता है।

[८१] शतावर्यादि क्वाथ (भा. प्र.)—शतावरी, गोखरू कसेरु, कुश, कास, ईखमूल समान-२ का क्वाथ-शहद मिला कर पिलावें। अश्मरी जनित वृक्क शूल, वृक्कमूत्राशय में शोथ के कारण उत्पन्न या मूत्रामार्ग में शोथ के कारण उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

मूत्ररोगहर आसव-अरिष्ट—

(८२) उशीरासव (भै.र.)

खस, सुगन्धवाला, कमल, गम्भारीफल, नीलोफर, फूल प्रियंगु, पद्माख, लोध, मजीठ, जवासा, चिरायता, बड़ की छाल, गूलर की छाल, कचूर, पित्तपापड़ा, सफेद कमल, पटोल पत्र, कांचनार छाल, जामुन छाल, मोचरस प्रत्येक का चूर्ण ४—४ तोले, मुनक्का कुटा हुआ ८० और धाय का फूल ६४ तोले लेकर जौकुट करें। फिर निवाया जल २०४८ तोले, मिश्री ५ सेर, शहद २॥ सेर मिला अमृत वान में भर मुखमुद्रा करके १ मास तक रख दें, बाद में छानकर काम में लेवें।

गुण और उपयोग—यह उशीरासव शामक, मूत्रल, पित्तशामक, दाहनाशक और प्रसादक है, यह अधोग रक्तपित्त में विशेषतः मूत्रमार्ग से रक्त जाने पर अति उपयोगी है। मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात में मूत्र की मात्रा बढ़ाना और मूत्र में होने वाले दाह को दूर करना, ये दोनों कार्य इस आसव से सम्पन्न होते हैं। कालमेह, नीलमेह, मांजिष्ठमेह आदि पित्तज प्रमेहों पर यह विशेष उपयोगी तथा उपदंश, उष्णवात, पेशाब में जलन होना आदि विकार शमन हो जाने पर भी रक्त में कुछ विष अवशिष्ट रह जाता है जिसका निवारण इसके सेवन से किया जा सकता है। इसके सेवन से ऊर्ध्वगत और अधोगत दोनों प्रकार के रक्तपित्त का शमन होता है। नाक, कान, आंखें, मलमूत्र द्वार से होने वाला रक्तस्राव, रक्तप्रदर, रक्तार्श तथा तथा शरीर के किसी भी मार्ग से रक्तस्राव होता है। यह अपने सौम्य गुण प्रभाव से उसका शमन करता है अतः यह रक्तरोधक, मूत्रदाहशामक एवं वीर्यवर्धक है। पुरुषों के स्वप्नदोष, पेशाब में धातु जाना तथा वीर्य विकार में तथा स्त्रियों के गर्भाशय दोष, रक्तप्रदर, सोमरोग आदि में इसके साथ चन्द्रप्रभावटी का उपयोग करने से अत्यन्त लाभदायक है।

(८३) चन्दनासव (भै. र.)

सफेद चन्दन, नेत्रवाला, नागरमोथा, गम्भारी के फूल, नील कमल, फूलप्रियंगु, पद्माख, लोध, मजीठ, लालचन्दन, पाठा, चिरायता, बड़ की छाल, पीपल वृक्ष की छाल, कचूर, पित्तपापड़ा, मुलहठी, रास्ना, पटोलपत्र, कंचनार छाल, आम की छाल और मोचरस इन बाईस औषधियों का जौकुट चूर्ण ४-४ तोले, धाय के फूल ६४ तोले, मुनक्का ८० तोले, शक्कर ४१० तोले और गुड़ २०० तोले लेवें। सबको २०४८ तोले जल में मिला अमृतवान में भर मुखमुद्रा करके १ मास तक रख दें, बाद में छानकर काम में लावें।

मात्रा—१-२ तोला, बराबर जल मिलाकर दिन में दो बार भोजन के बाद देवें।

उपयोग- यह शुक्रमेहनाशक, बलकारक, पौष्टिक, हृद्य और अग्निवर्धक है। मूत्र विषमयता, मूत्राशय दाह, मूत्रकृच्छ्र और मूत्रावरोध तथा सुजाक, उपदंश में दाह सहवेदना में यह आसव अपने शामक तथा मूत्रल गुण के कारण दाह का शमन कर मूत्र प्रवृत्त करता है तथा मूत्रोत्पत्ति की वृद्धि होकर पूय का स्राव होता रहता है। मूत्र मार्ग में जीर्णव्रण हो तो उसका त्रास कम हो जाता है। पेशाब में धातु जाना स्वप्नदोष, प्रमेह, पेशाब की जलन तथा स्त्रियों के श्वेत प्रदर में लाभदायक है। यह आसव शीतवीर्य होने के कारण शुक्रस्थान की उष्णता तथा शरीर के दाह को नष्ट कर वीर्य की वृद्धि करता है। पेशाब पीला या लाल हो तो उसे भी दूर कर पेशाब साफ लाता है।

सिकतामेह में चन्दनासव का प्रयोग उत्तम है, इससे

अश्मरी के छोटे छोटे टुकड़े द्रवीभूत होकर मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाते हैं। अश्मरीजन्यशूल में इसका उपयोग होता है।

द्रष्टव्य—यदि मूत्र मार्ग संकुचित हो गया हो तो इस आकुन्चन को उत्तरवस्ति की नली मूत्र मार्ग में पहुँचा कर शनैः शनैः कम करना चाहिये तथा चन्दनासव या अन्य मूत्रल औषधियों का प्रयाग नहीं करना चाहिये अन्यथा मूत्राशय में मूत्रसंचय होकर कष्ट वढ़ जाता है।

(८४) देवदार्वाद्यरिष्ट

देवदारु २०० तोले, अड़से के पत्ते ८० तो., मंजिष्ठा, दन्तीमूल, इन्द्र जौ, तगर, दारुहल्दी, हल्दी, रास्ना, वायविडङ्ग, नागरमोथा, सिरस की छाल, खैर छाल, अर्जुन छाल प्रत्येक ४०-४० तोले, गिलोय, चित्रकमूल, अजवायन, रक्तचन्दन, कुटकी, कुटज छाल प्रत्येक ३२-३२ तोले लें। सबको जौकुट कर ८१९२ तोले जल मिलाकर क्वाथ करें। अष्टमांश जल शेष रहने पर उतार कर छान लें। शीतल होने पर शहद १२०० तोले, धाय के फूल ६४ तोले, दालचीनी, तेजपात, इलायची तीनों मिलाकर १६ तोले, सोंठ मिर्च पीपल तीनों मिलाकर ८ तोले, नाग केशर ८ तोले और फूल प्रियंगु १६ तोले लेकर मोटा-मोटा चूर्ण कर मिला अमृतवान में भर मुखमुद्रा करके १ मास सन्धान के लिये रखें, फिर छान लें।

मात्रा—१-२ तोला वरावर पानी मिलाकर दिन में दो वार भोजन के वाद लें।

उपयोग—एक प्रकार के कठिन वातज प्रमेह, पूयमेह, उपदंश, सुजाक आदि अन्य मूत्रकृच्छ्र दद्रु, कुष्ठ, वात रोग, संग्रहणी, अर्श, प्रदर, गर्भाशयदोष, कण्डू आदि रोगनाशक हैं। यह आसव रक्तशोधक और मूत्रदोष नाशक है। जीर्ण उपदंश और सुजाक के उपद्रवों को नष्ट करता है और मलशोधन कर तथा पाचन क्रिया को व्यवस्थित करता है। स्त्रियों के प्रसवोपरांत होने वाले उपद्रवों में लाभकारी है।

(८५) पुनर्नवारिष्ट

सफेद और रक्त पुनर्नवा, वला, अतिवला, पाठा, गिलोय, चित्रकमूल, छोटी कटेरी और वासा प्रत्येक १२-१२ तो. का जौकुट चूर्ण कर १ मन ११ सेर १६ तो. पानी में पकावें। चौथाई (१२॥ सेर ४ तो.) पानी शेष रहने पर छान लें फिर उसमें १० सेर गुड़ और ६४ तो. शहद मिलाकर पात्र में डालकर नाग केशर, दालचीनी, इलायची वड़ी, कालीमिर्च, खश और तेजपात का चूर्ण २-२ तो. लेकर मिलाकर १ मास तक संधान करके रखें फिर छान कर काम में लें।

मात्रा—१-२ तो. दिन में २ वार, भोजन के बाद वरावर पानी से सेवन करावें।

गुण और उपयोग—इस आसव का प्रभाव वृक्क, यकृत्, प्लीहा और हृदय पर विशेष रूप से होता है अतः वृक्क की विकृति के कारण व यकृत् प्लीहा की विकृति के कारण शोथ हुआ हो तो यह रामबाण महौषधि है। यह उत्तम मूत्रल एवं हृद्य तथा वलवर्धक, वर्णकारक, आयु और तेजस्कर है तथा इसके सेवन से हृदय रोग, पाण्डु रोग, हिक्का, श्वास(कास, गुल्म, अर्श, भगन्दर, ग्रहणी, कुष्ठ, शाखागत वात आदि रोग नष्ट होते हैं। शरीर से मल मूत्र विसर्जन कर शोथ रोग को समूल नष्ट करने में यह सुप्रसिद्ध योग है।

(८६) सारिवाद्यासव

सारिवा, मोथा, लोध, वरगद की छाल, पीपल की छाल, कचूर, अनन्तमूल सफेद, पद्माख, सुगन्धवाला, पाठा, आमला, गिलोय, खश, दोनों चन्दन, अजवायन, कुटकी प्रत्येक ४-४ तो., छोटी और बड़ी इलायची, कूठ, सनाय, हरड़ प्रत्येक १६-१६ तो. लेकर जौकुट चूर्ण कर जल २०४८ तो., गुड़ १२०० तो., धाय के फूल ४० तो. और मुनक्का २४० तो. मिला अमृतवान में भर कर मुखमुद्रा कर १ मास रहने दें। फिर छानकर प्रयोग में लेवें।

मात्रा—१-२ तो. दिन में दो वार भोजन के बाद वरावर पानी से सेवनीय है।

उपयोग—यह आसव २० प्रकार के प्रमेह, प्रमेह पिडिका, उपदंश, नाड़ीव्रण, पीप वाले व्रण आदि में लाभदायक है। शामक, मूत्रल, दाहशामक उत्तम रसायन है। विशेषतः पित्तज प्रमेहों एवं पुराने सुजाक, उपदंश के उपद्रवों, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, मूत्रदाह में विशेष उपयोगी है। मूत्राश्मरी मूत्रकृच्छ्र तथा पूयमेह में इसके प्रयोग से लाभ होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के उपदंश, सुजाक रोग अधिक घातक होते हैं जिसमें सारिवाद्यासव का कुछ दिन लगातार सेवन करने से आशातीत लाभ

होता है। मस्तिष्क विकार, वातवाहिनियों, मूत्रेन्द्रिय, जननेन्द्रिय और अन्तःस्रावक ग्रन्थियों पर इसका शामक प्रभाव है।

—मूत्ररोगहर अवलेह, खमीरा, माजून, शर्बत—

(८७) कुशावलेह (भै.र.)—कुशा, काश खस, इक्षु, खराड (रामशर-तृण विशेष) की जड़ प्रत्येक चालीस-चालीस तो. लेकर ३२ सेर पानी में क्वाथ, कर अष्टमांश शेष रहने पर छान लें। फिर कड़ाही में लेकर अग्नि पर चढ़ाकर चौसठ तो. खांड डालकर दो तार की चाशनी बनावें। जब कुछ गाढ़ा होने लगे तो उसमें मधुयष्टि, खीरा कुष्मांड एवं ककड़ी के बीज-गिरी, वंशलोचन, आंवला, तेजपात, दालचीनी, इलायची, नागकेशर, वरुण की छाल, गिलोय सत्व, प्रियंगु प्रत्येक १-१ तो. अच्छी तरह आलोडित कर पाक कर लें।

मात्रा—१ तो. प्रातः सायं दूध से सेवन करावें।

[उपयोग]ण—सभी प्रकार के प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात में लाभप्रद है।

(८८) खमीरा संदल—सन्दल (सफेद चन्दन) का चूर्ण ८ तो. और धनियां का मगज १॥ तो. जौकुटकर रात्रि को १ सेर पानी में भिगो देवें। सुबह उबाल कर आधा पानी जला देवें। फिर छानकर उसमें अंगूर, तुर्श का अर्क, गुलाबजल और वेदमुश्क का अर्क बीस बीस तो., अंगूर का सिरका २॥ तो. और मिश्री ३॥ सेर मिलाकर चाशनी करें। पश्चात् सफेद चन्दन को पानी में घिसकर सुखाया हुआ चूर्ण और वंशलोचन ढाई ढाई तो., चांदी का वर्क और प्रवाल पिष्टी ६-६ माशे, मोती पिष्टी और संगेयशब पिष्टी ३-३ माशे मिलालें। मात्रा—आधा से १ तो. तक सुबह दूध की लस्सी के साथ तथा रात में दूध के साथ देवें। उपयोग—यह खमीरा सन्दल पूयमेह (गोनोरिया), वस्तिव्रण, मूत्र नलिका क्षत आदि में मल शुद्धि कराता है। मूत्रदाह और पूय को दूर करता है। मस्तिष्क के लिये शामक, मूत्र संशोधक, मूत्र में दाह, घबराहट, तृषा आदि को नष्ट करता है। पित्त विकार नाशक तथा मूत्रदाह एवं प्रबल व्यथा शामक, सुजाक में लाभप्रद है।

(८९) माजून हिजरुल यहूद कद्दू, ककड़ी, खीरे के बीजों का मगज और काकनुज ५-५ माशे और हिजरुल यहूद पिष्टी ५० माशे लें। बीजों को कूट कपड़छन कर उसमें हजरुल यहूद पिष्टी को खूब घोटकर चाटने लायक शहद मिलाकर माजून बना लें। मात्रा—१ से २ माशे सुबह पानी के अथवा गोखरू या चने के क्वाथ के साथ दें। उपयोग—यह माजून मूत्राशय की अश्मरी को निकालने में गुणकारी है। इससे अश्मरी श्वेत की तरह टुकड़े टुकड़े होकर बिना कष्ट के मूत्र के साथ निकल जाती हैं।

(९०) शर्बत सन्दल (चन्दन का शर्बत)—आधा पाव श्वेत चन्दन के टुकड़े को आधा सेर गुलाब जल में रात को भिगो दें। सवेरे हलका सा जोश देकर (उबाल कर) डेढ़ पाव पानी शेष रहने पर मलकर छान लें फिर आधा सेर मिश्री मिलाकर शर्बत बना लें। उबालने पर ढक्कन लगा दें अन्यथा तेल उड़ जाता है। मात्रा—दो से पांच तो. दिन में दो बार पानी के साथ देवें। उपयोग—यह शर्बत सुमधुर और अतीव श्रेष्ठ जायकेदार, शीतवीर्य और दिल दिमाग को तरावट पहुंचाने वाला है। हृदयोल्लासकारी और हृदय को बल देने वाला है। तृषा, दाह, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, पेशाब का पीलापन, पेशाब में जलन होना, नाकमुख में खुश्की रहना, नकसीर फूटना और ग्रीष्म ऋतु में होने वाले पित्त विकारों को नष्ट करता है। सुजाक रोग में पेशाब साफ लाता है। गर्मी, प्यास, लू, बेचैनी से रक्षा करता है। एतदर्थ बहुत से मनुष्य गर्मियों के दिनों में इस सुमधुर शर्बत का नित्य प्रयोग करते हैं। उत्तम शीतपेय है।

मूत्ररोगहर घृत—

(९१) कुलत्थादि घृत (भै. र.)—वरुणत्वक आठ सेर को चौसठ सेर पानी में तैयार किया क्वाथ सोलह सेर में घृत चार सेर तथा कुलथी, यवक्षार, विडङ्ग, शीतल चीनी, गोखरू, पेठा बीज, सेंधानमक, चीनी समभाग का मिलित कल्क १ सेर डालकर घृतपाक विधि से तैयार करें। मात्रा—आधा से १ तो. सेवन करने से कष्टसाध्य अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात तथा मूत्रविबन्ध तथा वृक्क शूल शीघ्र ही नष्ट होते हैं।

(९२) कुशादि घृत (भै.र.)—कुश, काश, शर (सरकण्डे की जड़), गिलोय, रक्त गन्ना, गन्ने की जड़, पाषाणभेद, दर्भ की जड़, विदारी कन्द वाराही कन्द शालिकी जड़ गोखरू श्योनाक पाढ़ल वाछ शालि पीली भिण्डी

रक्त पुनर्नवा शिरीष इनको सम्मिलित जौकुट चूर्ण २ सेर पानी चौसठ सेर अवशिष्ट क्वाथ १६ सेर घृत चार सेर तथा शिलाजीत मुलहठी कमलबीज खीरे के बीज ककड़ी के बीज सम्मिलित कर कल्क १ सेर डालकर घृत पाक विधि से तैयार करें। मात्रा—आधा तो. से १ तो. पित्ताश्मरी में सेवनीय है। पैत्तिक अश्मरी के सभी उपद्रव मूत्रदाह, मूत्र में रक्त जाना मूत्रकृच्छ्र मूत्राघात में उपयोगी है।

[९३] पाषाणभेदादि घृत (अ. हृ.) - पाषाणभेद बड़े बकुल (मोलसुरी) के पुष्प अपामार्ग की जड़ सिरहरा (अश्मन्तक—मराठी में आपटा) शतावर ब्राह्मी नतिबला श्योनाक खश केतकी की जड़ अन्दाल सागौन के फल छोटी कटेरी रोहिष घास (कतृण) गोखरू जव कुलत्थ बेर बरुणा की छाल और निर्मली के फल इन बीस औषधियों को १६–१६ तो. लेकर यवकुट कर ८ गुने पानी में चतुर्थांश क्वाथ करें। फिर क्वाथ को छानकर दो सेर गौ या बकरी के घृत तथा ऊपर (रेह मिट्टी) सैंधालमक शिलाजीत हींग रक्त कासीस हरी कासीस और तुत्थक (खपरिया) इन ७ औषधियों के चार चार तो. कल्क में मिलाकर घृत पाक विधि से सिद्ध करें। मात्रा—१–२ तो. भोजन के प्रारम्भ में (दो तीन ग्रास के साथ) दिन में दो बार दें। उपयोग—यह घृत वात प्रकोपज अश्मरी वस्ति स्थान में शूल पेशाब में रेती जाना आदि विकार एक दो मास में दूर हो जाते हैं। रोग की प्रारंभिक अवस्था में यह अत्यन्त लाभदायक है। हजरल यहूद भस्म के अनुपान रूप में भी इस घृत का प्रयोग करना उत्तम है। भोजन में द्विदल धान्य बिलकुल नहीं देना चाहिये।

[९४] वरुणादि घृत (भै. र.)—वरुणादि गण के क्वाथ से तथा गुग्गलु छोटी इलायची रेणुका कूठ मोथा कालीमिर्च चित्रक देवदारु तथा ऊषकादि गण के कल्क से यथाविधि घृत सिद्ध कर प्रयोग करने से कफज अश्मरी नष्ट होती है। मात्रा—६ से ८ बूंद मूत्रकृच्छ्र शर्करा अश्मरी नाशक है।

सूत्ररोग हर तैल-लेप—

[९५] उशीरादि तैल (भै. र.)—तिल तैल २ प्रस्थ (१२८ तो०). क्वाथार्थ—गोखरू पंचांग १० सेर, पानी ४० सेर शेष क्वाथ १० सेर तथा खस १० सेर, पानी ४० सेर शेष १० सेर, दोनों को मिलाकर। कल्क द्रव्य—खस, तगर, कूठ, मुलेठी, लाल चन्दन, बहेड़ा, हरड़ शतावर, पद्माख, नीलोत्पल, अनन्त मूल, वला, असगंध, दशमूल, शतावर, विदारी कन्द, काकोली अतिबला, गोखरू सोये, श्वेतवला, सौंफ प्रत्येक २-२ तो० तथा तक्र और तिल तैल १२८-१२८ तो. लेकर घृतपाक विधि से सिद्ध करलें। इस तेल के अभ्यङ्ग से मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी प्रकुपित वात नष्ट होते हैं। यह वय और वर्ण को बढ़ाता है तथा वृष्य है।

[९६] चन्दन तैल—सफेद चन्दन के बुरादे को पानी में भिगोकर बड़े बड़े भबका यन्त्र से परिस्रवण विधि द्वारा यह तैल निकाला जाता है। बाजारों में बना बनाया बिकता है। १ चम्मच चीनी में १०-२० बूंद डाल फांक ऊपर ठण्डा पानी पीलें। यह उत्तम मूत्रमार्ग शोधक है, मूत्र की जलन को पहली ही मात्रा शांत कर देती है। सुजाक की नई पुरानी अवस्था में जब पूयस्राव व बूंद बूंद मूत्र त्याग तीव्र कष्ट एवं जलन के साथ हो तो इसके प्रयोग से तत्काल शमन होता है।

[९७] प्रमेह मिहिर तैल (भै. र.)—सोया, देवदारु, नागरमोथा, हल्दी, दारुहल्दी मूर्वा, कूठ, असगन्ध, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, रेणुका, कुटकी, मुलेठी, रास्ना, दालचीनी, छोटी इलायची के दाने, भारङ्गी, चव्य, धनियां, इन्द्र जौ, करंज बीज, अगर, तेजपात, हरड़ बहेड़ा आंवला, नालुका (सुगन्धित द्रव्य अभाव में खस) नेत्र वाला, खरैटी, कंघी, मजीठ, सरल काष्ठ, कमल लोध्र सौंफ वच कालाजीरा, खश, जायफल, वासा और तगर इन ४१ औषधियों को १-१ तो० लेकर कल्क करें फिर इस कल्क को तिल तैल १२८ तोले, शतावर का रस १२८ तो०, लाख क रस ५१२ तो०, दही का जल ५१२ तो० और दूध १२८ तो० में मिलाकर मन्दाग्नि पर सिद्ध करे। इस तेल की मालिश से वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज मेदोगत और मांसगत ज्वर नष्ट होवें हैं। शुक्रक्षय के कारण दुर्बल व्यक्तियों के लिये तथा विशेषतः ध्वजभंग (नपुंसकता) में विशेष लाभदायक है एवं दाह, पित्त प्रकोप, प्यास, छर्दि, मुख शोष और २० प्रकार के प्रमेह रोग, इसके मर्दन से निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं।

[९८] वरुणादि तैल (भै. र.)—तिल तैल ४ सेर।

—शेषांश पृष्ठ ३७६ पर देखें।

(१) पाषाणभेद (पत्थर फोड़) १ तो. के पंचांग को पत्थर की सिला पर पानी के साथ पीसकर, और उसे पानी में घोलकर प्रातः मध्याह्न और सायं पीने से ७२ घंटे के अन्दर अश्मरी गलकर मूत्र के साथ बाहर निकलने लगती है। १५ दिन के सेवन से कफज अश्मरी तथा शुक्राश्मरी का नाश होता है। १ माह में पित्ताश्मरी और ४५ दिन में वाताश्मरी निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाती है। इस औषधि के सेवन करते हुए केवल जव की दलिया कुलथी का यूष और भेड़ का दूध सेवन करना चाहिए। खटाई लाल हरीमिर्च सेवन बिल्कुल बन्द रखना चाहिए। नमक प्रति दिन चार रत्ती से अधिक नहीं खाना चाहिए।

(२) शर्करांकुश—जामुन की छाल की सफेद भस्म, गुड़मार बूटी, निर्मली का महीन चूर्ण, बब्बूल की कोमल पत्तियों का महीन चूर्ण, आमकी गुठली की मींगी का चूर्ण, स्फटिका भस्म, जामुन की गुठली का चूर्ण, सत्व गंधा बिरोजा, राल, मुक्तासीप भस्म, कांतलौह भस्म (हिंगुल योगेन जारित ६० पुटी जलतर), बंगभस्म (तबकिया हरताल योगेन जारित १० पुटी जलतर), नाग भस्म (तिलपर्णी के रस के योग से जारित हरित वर्ण जलतर), शुद्ध कुचला चूर्ण, प्रत्येक ४-४ तोले। सूर्यतापी शुद्ध लौह शिलाजीत ८ तोले—सब द्रव्यों को खरल में डालकर खूब मर्दन करे, फिर करेला वा करेला पत्र के स्वरस की भावना देकर चार-चार रत्ती की वटी बनालें। मात्रा १ वटी से २ वटी तक। अनुपान—विजयसार का हिम, अमृता स्वरस व ताजा पानी। समय प्रातः सायं।

गुण—मधुमेह वा शर्करामेह नाशक है। १० दिन में शर्करा निरस्त हो जाती है, रक्त में बढ़ी हुई शर्करा कम होकर स्वाभाविक मात्रा मे स्थित होजाती है। ६ माह तक इस औषधि के सेवन करने से शर्करामेह का आक्रमण सदा के लिये स्थाई रूप से रुक जाता है, इसमे संदेह नहीं।

(३) मधुसूदन वटी—आम्रत्वक् घनसार, मधुपुष्प (मौहा) त्वक् घनसार, उदुम्बरत्वक् घनसार, वटत्वक् घनसार, पीपलत्वक् घनसार, जामुनत्वक् घनसार, बीज बन्द, बरियार (खरैटी) की जड़ का चूर्ण, विजयसार वृक्ष की लकड़ी का घनसार, निर्मली के बीज का चूर्ण, महा निम्ब के बीज का चूर्ण, अर्जुनत्वक् घनसार, तुलसी बीज चूर्ण, बिल्वबीज चूर्ण, ईसबगोल का चूर्ण, आमला बीज चूर्ण, प्रत्येक ४-४ तो०, सिद्ध मकरध्वज स्वर्णयुक्त ८ तोले सब द्रव्यों को पत्थर के खरल में डालकर खूब मर्दन करे। फिर एक सेर बिल्व स्वरस, १ सेर अमृता स्वरस, १ सेर करेला स्वरस, १ सेर ब्राह्मीपत्र स्वरस की क्रमशः भावना देकर एक माशे के वटक बनावें। मात्रा—१ वटक प्रातः धारोष्ण किन्तु शर्करा रहित गो दुग्ध से सेवन करें।

गुण—यह योग मूत्र शर्करा को सर्वथा निरस्त करने वाला सर्वोत्तम योग है। रक्त में भी शर्करा की मात्रा स्वाभाविक से अधिक नहीं बढ़ने पाती।

(४) कांत लौह भस्म (जलतर) १ रत्ती मधु के साथ चाटकर ऊपर से वरुणा* का सुखोष्ण क्वाथ पीने से ३ दिन में मूत्रकृच्छ्र और मूत्र बाधा मिटती है। परंतु स्थायी लाभ के लिये इसे १ माह तक सेवन कराना चाहिए। इसका सेवन प्रति दिन प्रातः सायं भोजन के पूर्व उपयुक्त है।

(५) निर्मलीबीज के २ माशा कल्क को नित्य मधु के

—शेषांश पृष्ठ ३७६ पर देखें।

* वरुण वृक्ष की छाल हरेक को हर समय उपलब्ध नहीं होती। मेरे विचार से छाल उपलब्ध न होने पर किसी अच्छी फार्मेसी का वरुणासव २ तो. बराबर जल मिलाकर अनुपान रूप में प्रयोग करें। —दाऊदयाल गर्ग

मूत्रकृच्छ्रता निवारण के लिये अनुभूत योग

वैद्य श्री हर्षवर्धन सिंह शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, बी.ए.एल.एल.बी., इन्द्र भवन, आगरा।

(१) गोखरू, तृणपञ्चमूल, जवासा और चन्दन इनको सम भाग लेकर चूर्ण बना लें, इसमें से १॥-१॥ तो. पानी या दूध में औटाकर पीने से शीघ्र ही कृच्छ्रता का नाश होता है।

(२) पाषाणभेद, वरुणछाल, गोखरू, बड़ी इलायची सबको १-१ तो. लें। जौकुटकर २ मात्राएं बनावें। प्रत्येक मात्रा को आधा सेर पानी में औटाकर आधा शेष रहने पर १ तो. मिश्री मिलाकर दोनों समय पीवें।

(३) जौ, ककड़ी बीज का छिलका, खरबूजे के बीज व छिलका, गोखरू प्रत्येक २-२ तो. लेकर २ मात्राएं बनावें। एक मात्रा १० गुने पानी में पकाकर पीवें, इतनी मात्रा सायं पीवें। निर्बल व्यक्ति इसकी आधी-२ मात्रा पीवें।

(४) मूत्रकृच्छ्र में विविध क्षारों का प्रयोग कराया जाता है। क्षार तीव्र होते हैं अतएव १ रत्ती या २ रत्ती से अधिक एक बार में न दें, लस्सी या शर्बत के साथ दिन में दो बार पिलाना हितावह है।

(५) त्रिफला १ तो. को आधा सेर पानी में रात्रि में भिगो दें। मिट्टी के पात्र में भीगा यह जल प्रातः मसल कर छान कर पीवें, इसमें १ तोले मिश्री मिला लें।

(६) इक्षुरस, मौसमीस्वरस, अनार, शर्बत, ग्लुकोस, देशी घी ठण्डाई आदि का सेवन भी बार-२ करना चाहिए।

(७) गोखरू १ तो. चन्दन असली का चर्ण १ तो. खसनई का चूर्ण १ तो. इनमें से किसी एक का हिम ११ दिन तक पीवें। चूर्ण को रात्रि में आधा सेर ठण्डा पानी में भिगो दें, प्रातः मसल छान कर पीवें। ※

—पृष्ठ ३७५ का शेषांश—

साथ चाटने से सभी प्रकार के प्रमेह दूर होते हैं।

(६) महा निम्ब के फलों की मींगी का चूर्ण ३ माशा नित्य चावल के प्रथम धोवन के साथ सेवन करें।

(७) स्फटिका भस्म ४ रत्ती से १ माशे तक मधु मिश्रित सुखोष्ण जल के साथ लेने से रक्तमेह मिटता है। २४ घंटे में मूत्र के साथ रक्त का स्राव होना रुक जाता है।

(८) सत्व गंधा विरोजा चूर्ण १ माशे प्रातः सायं मधु के साथ चाटने से उष्ण वात, सुजाक, पूयमेह १५ दिन में ही स्थाई रूप से आराम हो जाते हैं। यह स्त्रियों के गनोरिक योनि स्रावों को भी तत्काल बन्द करता है।

(९) वरुणत्वक् का क्षार २ रत्ती, लशुन स्वरस १ तो. और असली मधु १ तो. के साथ प्रातः सायं चाटकर ऊपर से गुड़ मिश्रित गाय के दुग्ध के दही का तोय (जल) पीने से वृक्कों में सिक्ताश्मरियों का निर्माण निःसंदेह रुकता है।

(१०) वरुणत्वक् के ५ तो. काढ़े में १ माशे सूर्यतापी लौह शिलाजीत और १ तो. गुड़ घोलकर नित्य प्रातः पीने से वृक्कों में सिक्ताश्मरी का निर्माण बंद होजाता है। इससे वृक्क स्थित अति पीड़ाकर बड़ी सिक्ताश्मरी भी मूत्र के साथ घुलकर अनुलोम गति से शरीर से बाहर निकल जाती है।

—प्राणाचार्य पं. हर्पुल मिश्र B.A

आयुर्वेद प्रवीण, आयुर्वेदाचार्य, रायपुर (म० प्र०)

—पृष्ठ ३७४ का शेषांश —

वरुण पंचांग तथा गोखरू पंचाग दोनों ८ सेर, क्वाथार्थजल ६४ सेर शेष १६ सेर। इस क्वाथ से यथाविधि तैल सिद्ध कर वस्ति तथा आस्थापन द्वारा प्रयोग करावें। इसके प्रयोग से शर्करा, अश्मरी शूल तथा मूत्रकृच्छ्र नष्ट होता है।

[९९] शिलोद्भिदादि तैल—तैल ४ सेर, पुनर्नवा तथा शतावरी का रस, १६ सेर। कल्कार्थ–पाषाणभेद, एरण्डमूल शालपर्णी मिलित १ सेर यथाविधि तैल सिद्ध कर दूध के साथ देने से मूत्रकृच्छ्रादि रोग शांत होते हैं। मात्रा आधा तोले।

[१००] श्वदंष्ट्रादि लेप—गोखरू बीज, गोखरू की जड़, ककड़ी के बीज, इन्हें एकत्र कांजी में पीस कर वस्तिस्थल पर लेप करने से शीघ्र ही मूत्राशय से मूत्र बाहर निकल जाता है। इसमें कलमी शोरा मिलाकर लेप करने से और भी शीघ्र मूत्र प्रवर्त्तन हो जाता है।

मूत्ररोग एवं प्रमेह पर उपयोगी प्रयोग

मेह वज्र रस (र. सा. सं.)—रस सिन्दूर, कान्तलोह भस्म शतपुटी, शुद्ध शिलाजतु, स्वर्ण माक्षिक भस्म, शुद्ध मनःशिला, सोंठ, मिर्च, पीपल, हर्र, बहेड़ा, आमला, वेल की जड़ की छाल या कच्चे वेल की गिरी, श्वेत जीरा, कैथ का गूदा, हल्दी समभाग ले, भस्मों को अलग खरल कर छान लें। दोनों को मिलाकर भांगरा के रस की २१ भावना देकर ४-४ रत्तीकी वटियां बना रखें। मात्रादि १-२ वटियां। यह सर्व प्रमेह, अशक्ति, श्वास, उषसिप्रियता, चर्मरोग, श्वेतकुष्ठ, रक्तविकृति व्रण, भगन्दर, अनुषयता, अनूर्जता, योनिकण्डू नाशक।

मेहकेशरी रस (र. सा. सं.)—वंग भस्म, स्वर्ण भस्म, कान्तलोह भस्म, रस सिन्दूर, मुक्तापिष्टी, दालचीनी, छोटी इलायची, नागकेशर सबको समभाग लें। उचित रूप से खरल करें। घी कुमार के रस से ७ भावनायें दें। दो दो रत्ती की वटियां बना रखें। मात्रा एक-दो वटी दूध से सेवन करें। मधुमेह में विल्वस्वरस, जामुन पत्र स्वरस या गिलोय स्वरस से सेवन करें। यदि लाभ प्रतीत न हो तो करेला स्वरस १-१ तो. प्रतिदिन पिलावें। शुक्रमेह, मधुमेह, क्षय रोग, जीर्ण ज्वर, रक्तपित्त कास, प्रतमक श्वास, रक्त वमन अशक्ति, प्रदर, योनिर्शैथिल्य अनुपशयता और अनूर्जता से उत्पन्न विकृतियां, धातुक्षय, वात संस्थान की निर्बलता।

मधुनाशिनीवटी—शीतलचीनी ३ ग्राम, मेंथी का चूर्ण ६ ग्राम, गुड़मार चूर्ण ६ ग्राम, सूखा करेला ६ ग्राम, वेलपत्रचूर्ण ६ ग्राम, नागरमोथा ६ ग्राम, त्रिफला ६ ग्राम, अश्वगंधा ६ ग्राम, हल्दी ६ ग्राम, गिलोय सत्व ६ ग्राम, त्रिकटु ६ ग्राम, वंशलोचन ६ ग्राम छोटी इलायची के दाने ३ ग्राम, रजत भस्म ३ ग्राम, अभ्रक भस्म, त्रिवङ्ग भस्म, लौह भस्म शतपुटी ६-६ ग्राम, शिलाजतु ३६ ग्राम, कुचला ३ ग्राम, लशुनकली ६ ग्राम, सबको खरल करें। फिर करेलापत्र स्वरस और बिल्वपत्र स्वरस से खरल कर ६-६ रत्ती की वटियां बनाए या रजतदल मर्दित करलें। मात्रा एक-दो वटियां दूध से दशमूलार्क से, अपामार्ग स्वरस या करेला स्वरस से दिन में २ बार सेवन करावें। साधारण रोग में आधी मात्रा या १ वटी दें। गम्भीर अवस्था में वसंत कुसुमाकर रस १ रत्ती प्रति मात्रा मिलाकर दें और मामज्जघनवटी अनुयोग के रूप में दें। ७ दिनों बाद मूत्र परीक्षा करावें। मधुमेह, सर्व प्रमेह, स्वप्नदोष, अशक्ति, आलस्य, बहुमूत्र, इन्द्रिकण्डू, सन्यास, मूर्च्छानाशक है।

तुत्थरसांजन द्रव (वै. स.)—उष्ण जल २ किलो, रसौत २ तोला, शुद्ध तूतिया ६ माशे, सबको घोलकर छान लें। कांच की पिचकारी से पेशाब की नली में धीरे-धीरे डालकर मूत्र मार्ग को स्वच्छ करलें। यदि रोग का ज्ञान हो जाय आरम्भिक अवस्था में उपदंश-सुजाक, व्रण-मेह और फिरंग एक-दो बार के प्रयोग से ही ठीक हो जाते हैं। रेचन देने के बाद खाने की दवा भी दे देनी चाहिए। उक्त प्रक्षालन से जीवाणु विनाश हो जाते हैं। शूलशमन होजाती है व्रण भर जाते है। दाह दूर होजाती है मूत्रमार्ग खुल जाता है। फिरंग, व्रणमेह लिङ्ग व्रण।

उष्ण वातघ्नी वटी—शिलाजतु ४ तोला, माजूफल, कत्था, विरोजासत्व, सफेद इलायची, राल, तालमखाना बीज, छोटे गोखरू, कौड़ी भस्म, प्रवालपिष्टी, मोचरस, शीतलचीनी, सफेद चन्दन का बुरादा पाषाण भेद प्रत्येक १-१ तोले चन्दन का तैल ६ माशे मिश्री १६ तोला। शिलाजीत चन्दन का तैल विरोजा सत को छोड़ कर सबको पीसकर पानी से खरल कर मिलाले फिर शेष तीनों द्रव्यों को मिलाकर ४-४ रत्ती की वटियां बना रखें मात्रा १-२ वटियां कच्चे दूध या शीतल जल से। सायं-प्रातः सुजाक, पूय दाह, मूत्ररोध, शूल शोथ, व्रण क्षत पुरस्थ ग्रन्थि वृद्धि प्रमेह, स्वप्नप्रमेह।

पित्ताश्मरी हर वटी—शुद्ध शिलाजतु, गोखरू, शरपुंखा, वरुणा की छाल, पाषानभेद सब सम भाग लेकर खरल करें गोखरू स्वरस से ३ दिन मर्दन कर ४-४ रत्ती की वटियां बना रखें। मात्रा १-४ वटियां गोखरू पाचित दूध से सेवन करावें या ५ तोला गोमूत्र से दें। पित्ताश्मरी, यकृत विकार शूल शोथ, मूत्र रोधा।

—श्री जगदम्बाप्रसाद श्रीवास्तव
पो. अरौल, कानपुर (उ० प्र०)

* * *

मूत्ररोग पर स्वानुभूत प्रयोग

मूत्रकृच्छ की दवा—

शीतल मिरच पीसकर दिन में ३-४ बार मधु के साथ लेनी है। शतवीर्यादि क्वाथ दुग्ध सिद्ध हुये कलमी और

मूत्र रोग चिकित्सा

घृत कुमारी अर्क एवं छोटी दुधी पीसकर तैयार रक्खें। उशीरासव भी मंगवाना होगा।

मूत्रावरोध पर चूर्ण— इसमें गोक्षुर पंचाङ्ग को दुग्ध सिद्धकर रौप्य भस्म १-१ रत्ती से दें तो आश्चर्यजनक ही फायदा होता है। साधारण दृष्टि से इसमें व्रण-को रात्रि में दुग्ध-पानी में भिगोकर सुबह उसके साथ चन्द्रप्रभा देने से भी विशेष फायदा होते देखा है। अथवा मूत्ररोगों में कहरवा पिष्टी को दूर्वारस शर्करा मिलाकर अनुपान से देने मात्र से ही दाह व कृच्छता वगैर नहीं रहती है। ताप्यादि लौह चन्दनासव के साथ देते रहने से यह जीर्ण मूत्रदाह वगैर ठीक होते हैं। वैसे मेरा निजी अनुभव प्रयोग इस प्रकार है—

कर्पूर कलमी सोरा स्वर्ण गैरिक मिसरी का बनाया हुआ योग हर मूत्ररोग में दाह कृच्छता मूत्राघात एवं मूत्रनली में व्रण व शोथ सबमें हितकर है। इस प्रकार की व्याधिजन्य रोगी के लिए अपने यहां गोरक्ष- कर्मठी (गोल काकड़ी) नाम से प्रसिद्ध बेल की जड़ को ठंडे पानी में पीस छानकर अजमोदादि- चूर्ण के साथ दें। यवक्षार ४-६ रत्ती घी में चटाकर ऊपर से गाय का ठंडा किया हुआ दूध की लस्सी दें और शीत जल पीना चाहिए। सुलभ रक्तपुनर्नवा घोटकर पिलानी चाहिए और मुनक्का १०-१५ बीज निकालकर प्रवाल पिष्टी ४ रत्ती के साथ पीसकर मधु मिला चटाते रहें। कीकर के बिरछा कच्चा को कूटकर चूर्ण किया हुआ हो तो दुग्ध की लस्सी से दिलावें या गिलोय सत्व ६ रत्ती कुशा की जड़ का क्वाथ कर चासनी बनाकर उसमें चटावें। घृत कुमारी का रस एवं कलमी सोरा मिलाकर रक्खें। १-१ तोला पानी से देवें।

प्रमेह की चिकित्सा क्रम में सर्वप्रथम उदर शुद्धि का ध्यान रखना आवश्यक है चूंकि विशेषकर मलावरोध की चिकित्सा किये बिना चिकित्सक सफल नहीं होते, कहा है जायन्ते विविधाः रोगाः प्रायशः मल संचयात्। अतः सर्वप्रथम उसे खाने में घृत का प्रयोग करावे जिससे उसकी आंतें स्निग्ध हो जावे। बाद में उसे सूखे विरेचनीय जैसे इन्द्रायण की जड़ पसरकटाई नीम की छाल विरछा आदि का क्वाथ बनाकर दें और भोजन में खूब घी दिया जावे। मेहों की अलग चिकित्सा क्रम न कर कफज प्रमेह की चिकित्सा में यही उपचार ठीक है। हरड़, हल्दी, अजमोद, चित्रकमूल और लोध— इनका चूर्ण कर मधु से दें। पित्तजमेह के लिये— नागरमोथा, खस, चन्दन, आमलकी सबका चूर्ण कर शर्करा मिला शीतल जल से पिलायें और वातज प्रमेह के लिए— शीशम और बबूल की छाल कूट लेवें, इसमें कुटकी पीस मिलाय, हींग शुद्धकर पीसी जाय, गुडूची चूर्ण मधु के साथ दीजे। वातजमेह जड़ से खो दीजें।

सामान्य चिकित्सा प्रमेह की जो बीस प्रकार के प्रमेहों में उपयोगी है। त्रिफला चूर्ण सुबह शाम दीजें। शिलाजीत तो दूध में पीवे। सितोपला तथा क्षीरी एला हल्दी मधु में चटाय दीजें।

इसके अलावा वंग भस्म, वगेश्वर, चन्द्रप्रभा, चन्द्रोदयादि चूर्ण, गोक्षरादि चूर्ण, वटपत्रघन वटी, बड़ के पीले पत्तों को लेकर उन्हें कूटकर १६ गुने पानी में उबालकर क्वाथ कर छान लें बाद उस पानी को जलाकर घन जो बचे उसकी वटी करके प्रयोग करें अनुपान- दूध रहे। मूसली आदि पौष्टिक चूर्ण उनका प्रयोग कर सकता है। शतावरी घृत, अश्वगन्धा पाक, बृहत्पूर्णचन्द्ररस बसन्त कुसुमाकर शिवा गुटिका, चन्द्रप्रभा, लक्ष्मी विलास, मनमथ रस वगैर बहुत औषध हैं।

—आचार्य गिरिजेन्द्रलाल शर्मा वैद्य
उपाध्यक्ष राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन जयपुर,
प्रधान चिकित्सक श्री महेश्वरी आयुर्वेदीय औषधालय,
मु०पो० इस्लामपुर (झुंझुनू). राज०

☆ ☆ ☆

मूत्र प्रदाह की अनुभूत चिकित्सा

हमारे स्वर्गीय पितामह शतवर्षीय पं० मन्नूलाल मिश्र राजवैद्य निम्न औषधियों का प्रयोग करते थे—

१. पाषाण भेद, हजरत जहूर गुखरू छोटी, इन्द्र जव, बड़ी इलायची बीज, राजन १२-१२ ग्राम, मिश्री २४ ग्राम सब औषधियों को कूट कर वस्त्र से छान लें और ३ मात्रा बनाकर सुबह साम दूध से लें। ४० दिन के प्रयोग से मूत्र-प्रदाह पूर्ण रूप से अच्छा होता है।

२. चन्दन का तैल १० बूंद एक पाव शीतल जल में मिलाकर दोपहर को पीये। जलन में आराम तथा पेशाब खुलकर होता है।

मूत्र रोग चिकित्सा

३. गोक्षुर छोटी ५० ग्राम को कूटकर पानी आधा लीटर में पका वे जब ५० ग्राम रहे तब छानकर शहद मिला रोगी को पिलावें। मूत्रप्रदाह में तुरन्त लाभ होता है।

पथ्य—गर्म एवं मिर्च मसाला से बने पदार्थों का त्याग, साइकिल या स्कूटर की अधिक सवारी से बचें तथा शीतल पेय (शर्वत आदि) दूध भात, खिचड़ी सेवन करें।

—वैद्य व्रजविहारी मिश्र एम. ए. (द्वय) आयुर्वेद रत्न संगठन मंत्र—अ. भा. आयु. महासम्मेलन (उ.प्र.) दिल्ली पो० बिन्दकी जिला—फतेहपुर

☆ ☆ ☆

बहुमूत्र और सोम रोग

बहुमूत्र को प्रमेह में अन्तर्गत जल प्रमेह कहा जा सकता है। परन्तु सोम रोग प्रायः स्त्रियों को ही कहा है। कारण इसे मेहत न हैं। अतः सोम रोग स्त्री की जो बहुमूत्र है उसे कहा जाता है।

प्रातः—१ गोली हेमनाथ रस अथवा बसन्तकुसुमाकर, मधु के साथ चाटकर ५० ग्राम गूलर फल का रस पीवें।

दोपहर—केले का पका फल एक, आमला के रस १२ ग्राम मधु ४ ग्राम मिश्री १० ग्रा. गाय का दुग्ध १०० ग्रा., एकत्रित कर अवलेह की तरह चाट जावें।

रात में सोते समय—इस रोग में केला, आमला विदारीकन्द, शतावर ताल वृक्ष के कन्द, खजूर पका, गाय दुग्ध, मधु, वंग भस्म उपयुक्त औषधि हैं।

औपसर्गिक मेह (सुजाक)—१ गोली प्रातः कन्दर्परस (भै. र.) अनन्तमूल २ माशा, यवक्षार १ माशा, नौसादर आधा माशा या त्रिफला, बबूल की गोंद या छाल, पीपर की छाल क्वाथ की व्रण में पिचकारी दें या कच्चे दुग्ध में जल मिश्री मिलाकर पीवें प्रातः सायं।

दोपहर—खाने के बाद श्वेत पर्पटी (फिटकिरी सोरा समभाग की पर्पटी बनायें) १ ग्रा. चूर्ण (चूना) के निथरा जल पीये ४० ग्रा.।

शामको—गंधा विरोजा (सत्व) बतासे में १० बूंद देकर नित्य सेवन—बाद चन्दनासव ५० ग्रा. बराबर जल सहित पान करे चमेली त्रिफला क्वाथ से पिचकारी धोने से जलन शांत होती है।

—वैद्यरत्न द्वारका मिश्र आयुर्वेदाचार्य मंत्री—बिहार प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन वैद्य सेवासंघ, ओड़ो (नवादा) बिहार

मूत्र कृच्छता एवं मूत्रावरोध

वृक्क, वृक्क गवीनी और मूत्राशय आदि किसी भी मूत्र सम्बन्धी अवयव या संस्थान में उपसर्ग, अश्मरी या पौरुष ग्रंथि प्रदाह के कारण उक्त परेशानी हो सकती है। उपसर्ग होने पर—

रस माणिक्य २०० मि० ग्रा०, मुक्ता शुक्ति भस्म ४०० मि० ग्रा०, दिन में दो बार सुबह शाम।

चन्दनासव १ तोला, जल १ तोला दिन में दो बार भोजन बाद।

छोटी अश्मरी चने से कुछ बड़ी होने तक की अवस्था में—

गोक्षुरादि गुग्गुल ४०० मि० ग्रा०। श्वेत पर्पटी ४०० मि० ग्रा०।

सुबह, शाम वरुणादि क्वाथ के साथ दो बार लम्बे समय तक देने से अश्मरी कट कट कर बाहर आ जाती है।

बहुत बड़ी अश्मरी और पौरुष ग्रन्थि बढ़ जाने पर शल्य क्रिया ही अन्तिम उपाय है।

प्रमेह

वातज प्रमेह—वातज प्रमेह में यह योग बहुत ही आशु गुणकारी पाया गया है—

बसन्तकुसुमाकर १२५ मि. ग्रा., गूलर पत्र स्वरस ७ माशा, जामुन पत्र स्वरस ७ माशा, शहद १० ग्रा. सुबह शाम दें।

पित्तज प्रमेह—प्रवाल भस्म २२५ मि. ग्रा., वंगभस्म २० मि. ग्राम, हरिद्राचूर्ण आधा माशा—गाय या बकरी के दूध के साथ सुबह शाम देना चाहिए।

श्लेष्मज प्रमेह चन्द्रप्रभा गोली पीस या आमल की रसायन १ तोला के साथ मिलाकर चटाना श्रेयस्कर है।

मधुमेह—मधुमेह का ज्ञान होते ही प्रारंभिकावस्था में चिकित्सा शुरु करदेनी चाहिए। क्योंकि द्वितीयावस्था में यह कष्टसाध्य होता हुआ असाध्य स्थिति में पहुंचता है।

ताजे जामुन रोजाना खाने से यह प्रारम्भिक काल में ही समाप्त हो जाता है। जामुन का मौसम न होने या जामुन उपलब्ध न होने की स्थिति में निम्न योग कूल फल देता है।

जामुन की गिरी २ मा[illegible]

दोनो वक्त जल [illegible]

उपदंश

रसमाणिक्य २०० मि.ग्रा., मुक्ताशुक्ति भस्म ४०० मि. ग्रा., महा मंजिष्ठादि क्वाथ के साथ भोजन के बाद दोनों वक्त देना चाहिए।

मूत्रातिसार

बार-बार पेशाब आने पर और अधिक पेशाब आने पर राई चूर्ण ४०० मि. ग्रा. और बङ्गभस्म २०० मि. ग्रा. दिन में दो या तीन बार कई दिन देने से लाभ दिखाई देता है। बच्चों को सोने में मूत्र त्याग करने की आदत में भी इस योग को अल्प मात्रा (वयानुसार) में देने से अच्छा लाभ करता है।

—कवि. ब्रजमोहन वशिष्ठ ए. एम. बी. एस.
डी. एस-सी. ए., एम. ए. एम. एस.
प्रधान चिकित्सक, राजकीय आयुर्वेदिक
चिकित्सालय, मन्नीवाली (श्रीगंगानगर)

★ ★ ★

अमूत्रता पर मेरा अनुभव

बारहसिंगा सींग, कलमी सोडा, समान भाग लेकर पहले बारहसिंगा सींग को शीतल जल से घिसे फिर उसमें कलमी सोडा मिलाकर नाभी पर लेप करे।

—मूत्रकृच्छ, मूत्रा घात एवं मूत्रावरोध पर—

स्वर्ण वङ्ग २ रत्ती, वंग भस्म १ रत्ती, स्वर्ण माक्षिक भस्म १ रत्ती, यह एक मात्रा है। ऐसे दिन में २ मात्रा प्रातः शाम शहद के साथ दें।

चन्द्रप्रभावटी या चन्दनासव भोजनपरान्त दुग्ध या पानी से लेवें।

—वैद्य बद्रीनारायण शर्मा
ग्राम-सायपुर त. जमवा रामगढ़ जि. जयपुर (राज.)

★ ★ ★

मधुमेहारि योग

लोह भस्म, नाग भस्म वंग भस्म, १-१ तोला, अभ्रक भस्म ४ तो., शुद्ध शिलाजीत ५ तो.. वासा की फूलों की केसर ६ तो. सबको एकत्र मिलाकर नींबू के स्वरस से [illegible] खरल करे और एक रत्ती की गोलियां बना लें। १-३ गोली दिन में २ बार जल, गुड़मार रोगानुसार अनुपान के साथ दें। प्रमेह में घी, शहद के साथ दें। मधुमेह में शर्करा की मा[illegible] ही कम होती हैं।

—ठा. गजाननसिंह भुंवाल आत्मज [illegible]
आयुर्वेद विशारद, आयुर्वेदिक औषधालय, [illegible]
पोस्ट नवागढ़ त. बेमेतरा जि. दु[illegible]

★ ★ ★

मधुमेह चिकित्सा

सर्व प्रथम साधारण विरेचन एवं मूत्र[illegible] शरीर को शुद्ध कर लेना आवश्यक है। तत्पश्[illegible] औषधियों का प्रयोग निरन्तर आरम्भ कर देना[illegible]

(१) करेले का सूखा चूर्ण ८ तो., गुड़मार का चूर्ण २ तो., जामुन की गुठली का चूर्ण शिलाजीत शुद्ध ३ तोला, शुद्ध अहिफेन ६ माशा, भस्म २ तोला, लोह भस्म १ तोला, सबको [illegible] रस में घोंटकर ३-३ रत्ती की गोली बनावें। [illegible] दिन २ से ४ गोली प्रातः साय फीके दुग्ध के स[illegible] करें।

(२) बसन्त कुसुमाकर रस १ रत्ती शिलाजी[illegible] १ माशा प्रातःसायं करेला के १ औंस रस के [illegible] जावे।

(३) चन्द्रप्रभावटी १ ग्रा., शुद्ध शिलाजीत त्रिवंग भस्म १ रत्ती, २ मात्रा फीके दुग्ध से प्रातः

(४) यह एक आश्चर्य जनक प्रयोग पूर्ण[illegible] इसे निम्न प्रकार से प्रयोग करे-निखालिस दूध का ३ किलो लें और उसे स्टील की थाली में [illegible] के बाद छोटी-२ चक्की काट कर २-४ दिन धूप[illegible] कर उसका पाउडर बनालें और शीशी में रखलें। १ चम्मच पाउडर सुबह शाम जल के साथ लेने में ही आश्चर्यजनक लाभ हो जावेगा। आवश्यक[illegible] एक-दो मास तक प्रयोग किया जा सकता है।

—वैद्य मिश्रीलाल गुप्त आचार्य भारतीय
मु. पो. आष्टा जि. सीहोर